# योगवासिष्ठ

## निर्वाण-प्रकरण

( जनोपयोगी सरल हिन्दी भावार्थ सहित )

सम्पादक:

वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद, षट् दर्शन,

२० स्मृतियाँ और १८ पुराणों के

प्रसिद्ध भाष्यकार

प्रकाशक:

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब ( वेद नगर ) बरेली

प्रकाशक :

डा० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब ( वेद नगर )
बरेली ( उ० प्र० )



सम्पादक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य







मुद्रक :

दाऊदयाल गुप्त
सस्ता साहित्य प्रेस
मथुरा



# दो-शब्द

योगवासिष्ठ के छै प्रकरणों में से अंतिम "निर्वाण प्रकरण" सबसे बड़ा है। यदि यह कहा जाय कि सम्पूर्ण ग्रन्थ का आधा भाग यही है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं। यह जितना बड़ा है उतना ही अधिक महत्त्व-पूर्ण भी माना जाता है। इसमें भारतीय अध्यात्म के सभी सिद्धान्त विवेचन सहित वर्णित हैं, साथ ही स्पष्ट करने वाले विविध उपाख्यान भी सम्मिलित किये गये हैं। चूड़ाला का उपाख्यान अधिक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि स्त्री को भी अध्यात्म विद्या में प्रवेश करने और उन्नति करने का वैसा ही पूर्ण अधिकार है जैसा कि पुरुष को। इसमें गीता की कथा तक सम्मिलित कर ली गई है और कृष्ण-अर्जुन संवाद संक्षेप में पाया जाता है। गीता में "न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाऽयं भूत्वा, भावतो वा न भूयः" और योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय जैसे श्लोक ज्यों की त्यों पाये जाते हैं। इसमें अर्जुन को भी विष्णु का ही दूसरा अवतार बतलाया गया है जो अधिकांश पाठकों के लिये एक नई बात जान पड़ेगी। भगीरथ द्वारा गंगावतरण का उपाख्यान भी इसमें पाया जाता है।

अन्त में सब का सारांश यही निकाला है कि इस जगत में जो कुछ है वह ब्रह्म ही है और यह तीनों लोक ब्रह्ममय ही हैं। मनुष्यों को जो विविध प्रकार के सुख-दुःख के अनुभव होते हैं वे सब संकल्प के परिणाम हैं। दूसरे शब्दों में यह समस्त जगत केवल एक माया है, वास्तविकता कुछ नहीं। इसी को तरह-तरह के उपाख्यानों द्वारा सिद्ध किया गया है। अनेक उपाख्यान तो इतने लम्बे हो गये है कि उनको पूर्वापर समझकर याद रखना भी कठिन होता है। इससे उनको संक्षेप में ही प्रस्तुत ग्रंथ में दिया गया है और आशा है इससे वे पाठकों के लिये अधिक समझ सकने लायक सिद्ध होंगे।

—प्रकाशक

विषय-सूची

# योगवासिष्ठ

## निर्वाण प्रकरण ( पूर्वार्द्ध )



# योगवासिष्ठ

## (द्वितीय खण्ड)

# निर्वाण-प्रकरण (पूर्वार्द्ध)

## १—मुनिवचन से श्रोताओं का उत्थान

उपशमप्रकरणादनन्तरमिदं शृणु।
त्वं निर्वाणप्रकरणं ज्ञातं निर्वाणदायि यत् ॥१
कथयत्येवमुद्दामवचने मुनिनायके।
श्रवणैकरसे मौनस्थिते राजकुमारके ॥२
मुनिवागर्थनिक्षिप्तमनस्यस्ततपःक्रिये।
राजलोके गतस्पन्दे चित्रार्पित इव स्थिते ॥३
वसिष्ठवचसामर्थं विचारयति सादरम्।
लसदङ्गुलिभङ्गेन मुनिसार्थे स्फुरद्भ्रुवि ॥४
एवं प्रक्षुभिते तस्मिन्गृहे दाशरथे तदा।
प्राप्ते वासरवृद्धत्वे शान्तशङ्खस्वने शनैः ॥५
संहरन्प्रस्तुतं वस्तु वचो मधुरवृत्तिमत्।
उवाच मुनिशार्दूलः सभामध्ये रघूद्वहम् ॥६

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भद्र! उपशम प्रकरण के अनन्तर अब आप इस मोक्ष-फल के देने वाले निर्वाण प्रकरण को सुनिये ॥१॥ यह उस समय का वर्णन है जब कि मुनि नायक वसिष्ठजी उस गंभीर अर्थ

का प्रतिपादन कर रहे थे, उनकी वाणी के आनन्द में विभोर राजकुमार श्रीराम मौन अवस्थित थे और राजाओं सहित सम्पूर्ण सभा उन महर्षि वसिष्ठ के वाणी-सामर्थ्य और इंगति करती हुई तर्जनी अंगुली के संकेत तथा भ्रूभंगिमा को देखते हुए मुनिगण भी चित्रार्पित के समान निश्चल बैठे थे ॥२-४॥ इस प्रकार महाराज दशरथ के भवन में यह कार्यक्रम चल रहा था। दिवस का चौथापन उपस्थित हो रहा था, शंख ध्वनि धीरे-धीरे शान्त हो रही थी, उस समय उपस्थित विषय का उपसंहार करते हुए मुनिशार्दूल वसिष्ठजी मधुर वाणी से श्रीराम के प्रति बोले ॥५-६॥

राघवाऽनघ वाग्जालं मयैतत्प्रविसारितम् ।
तेन चित्तखगं बध्वा क्रोडीकृत्याऽऽत्मतां नय ॥७
विचार्यैतदशेषेण स्वधियैवं पुनः पुनः ।
अनेनैव पथा साधो गन्तव्यं भवताऽधुना ॥८
अनयैव धिया राम विहरन्नैव बध्यसे ।
अन्यथाऽधः पतस्याशु विन्ध्यखाते यथा गजः ॥९
असङ्गेन यथाप्राप्तो व्यवहारोऽस्य सिद्धये ।
इत्येव शास्त्रसिद्धान्तमादायोदारवान् भव ॥१०
हे सभ्या हे महाराज रामलक्ष्मणभूमिपाः ।
सर्व एव भवन्तोऽद्य तावद्व्यापारमाह्निकम् ॥११
कुर्वन्त्वयं हि दिवसः प्रायः परिणताकृतिः ।
शेषं विचारयिष्यामो विचार्यं प्रातरागताः ॥१२

वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! हे अनघ ! वाणी विलास पूर्वक यह जो तत्त्वोपदेश मैंने किया है, उनके सहारे चित्त रूपी पक्षी को बांध कर आत्मरूपता की प्राप्ति में तत्पर कीजिए ॥७॥ अपनी बुद्धि से बारम्बार विचार करके पूर्व उपदिष्ट पथ पर ही अब आपको चलना चाहिये ॥८॥ हे राम ! इस बुद्धि के विलास द्वारा ही आप कभी बंधन में नहीं पड़ेंगे। इसके अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग पर जाने से अधःपतन संभव है, जैसे कि विन्ध्यपर्वत के गर्त्त में हाथी गिर जाता है ॥९॥ मेरे

वचन पर चलना सिद्ध करने के लिए आपको संग-रहित व्यवहार करना चाहिये। सब शास्त्रों के सिद्धान्त रूप इस उपदेश को मन में दृढ़ता पूर्वक स्थिर कर उदारवान् हो जाइये ॥१०॥ हे सभ्यगण ! हे महाराज ! हे राम—लक्ष्मण आदि भूपतिवर्ग ! अब आप सभी अपने-अपने आह्निक कर्मों का अनुष्ठान करिये, क्योंकि दिवस समाप्ति पर है। अवशिष्ट विचार का प्रारम्भ कल प्रातः काल आने पर किया जायगा ॥११-१२॥

इत्युक्ता मुनिना तेन सा सर्वैव तदा सभा।
प्रोत्तस्थौ पद्मवदना सविकासेव पद्मिनी ॥१३
राजानः स्तुतराजानः कृतराघववन्दनाः।
परिष्टुते वसिष्ठे ते जग्मुरात्मनिवेशनम् ॥१४
विश्वामित्रेण सहितो वसिष्ठो गन्तुमाश्रमम्।
उत्तस्थावासनाच्छ्रीमान्नमस्कृतनभश्चरः ॥१५
ततः प्रहरमात्रेण निद्रामामुद्रिताननाः।
उत्स्वप्नसुन्दरीमीयुः पद्मा इव दिनार्थिनः ॥१६
रामलक्ष्मणशत्रुघ्नाः प्रहरत्रयमेव तत्।
वासिष्ठमुपदेशं ते चिन्तयामासुरक्षतम् ॥१७
प्रहरस्यार्धमात्रं ते तत आमुद्रितेक्षणाः।
उत्स्वप्नमाययुर्निद्रां क्षणाद्विद्रावितश्रमाम् ॥१८
इति शुभमनसां विवेकभाजामधिगतसारतयोदिताशयानाम्।
अभजतविरतिंतदात्रियामामलिननिशाकरवक्त्रतांजगाम॥१९

वाल्मीकिजी बोले—महर्षि वसिष्ठ के इस प्रकार कहने पर कमल के समान आयोजित अथवा विकसिक कमलिनी के समान व्यवस्थित वह सभा उठ गई ॥१३॥ अन्यान्य राजाओं ने महाराज दशरथ की स्तुति एवं श्री राम की वन्दना की और महर्षि वसिष्ठ की प्रशंसा करते हुए चले गए ॥१४॥ आकाश में विचरण करने वाले देवताओं को नमस्कार करते हुए वसिष्ठजी भी विश्वामित्रजी के साथ अपने आश्रम के लिए जाने को उठे ॥१५॥ फिर दिन के आगमन की इच्छा वाले सभी व्यक्ति प्रहर मात्र रात्रि में शयन को प्राप्त होकर सुन्दर स्वप्न देखने लगे ॥१६॥ राम,

लक्ष्मण और शत्रुघ्न यह तीनों भाई महर्षि के उपदेश पर निरन्तर तीन प्रहर तक विचार करते रहे ॥१७॥ वे केवल आधे प्रहर मात्र ही शयन कर सके, उस समय उन्हें श्रेष्ठ स्वप्न युक्त निद्रा की प्राप्ति हुई ॥१८॥ फिर उन पवित्र मन एवं विस्तृत हुए आशय वाले पुरुषों की रात्रि का गमन हुआ, तब वह रात्रि सूर्य किरणों से मलीनता को प्राप्त हुए चंद्रमा के अंक में मुख छुपा कर विदा होगई ॥१९॥

## २—आत्मतत्व में विश्रान्ति

ततः क्लिन्नेन्दुवदना पर्याकुलतमःपदा ।
क्षीयमाणा बभौ श्यामा विवेक इव वासना ॥१
रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना उत्थायाऽनुचरैः सह ।
ययुर्वन्दितसन्ध्यास्ते पुण्यं वासिष्ठमाश्रमम् ॥२
तत्र वन्दितसन्ध्यस्य निर्गतस्याऽपि सद्मतः ।
मुनेर्ववन्दिरे पादौ पदोर्दत्वाऽर्घ्यसन्ततिम् ॥३
क्षणात्तत्सदनं मौनं मुनिब्राह्मणराजभिः ।
हस्त्यश्वरथयानैश्च शनैर्नीरन्ध्रतां ययौ ॥४
अथाऽसौ मुनिशार्दूलस्तथैव सह सेनया ।
गृहं दाशरथं काले रामाद्यनुगतो ययौ ॥५
तत्रैनं पूर्वसम्बन्धः कृतसन्ध्यो महीपतिः ।
दूरमार्गं विनिर्गत्य पूजयामास सादरम् ॥६
पुष्पमुक्तामणिव्रातैर्भूयोऽस्त्यधिकभूषिताम् ।
सभां प्रविश्य ते सर्वे विविशुर्विष्टरालिषु ॥७

वाल्मीकिजी बोले—उपरोक्त प्रकार चन्द्रमा रूपी मुख और अन्धकार रूपी पाँवों को प्राप्त हुई रात्रि उसी प्रकार नष्ट होगई जिस प्रकार विवेक के उदय होने पर वासना नष्ट हो जाती है ॥१॥ उस समय राम, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि अपने-अपने अनुचरों सहित उठकर नित्य कर्म—स्नान सन्ध्या आदि से निवृत्त होकर महर्षि वसिष्ठ के आश्रम पर पहुंचे ॥२॥ महर्षि वसिष्ठ उस समय आश्रम से निकलने वाले ही थे, तभी

इन्होंने पहुंच कर अर्घ्य आदि पूर्वक उनके चरणों में प्रणाम किया ॥३॥ वसिष्ठजी का वह आश्रम क्षण भर में ही मुनियों, ब्राह्मणों, राजाओं तथा गज, अश्व, रथ आदि अन्यान्य वाहनों से खचाखच भर गया ॥४॥ तब वे मुनिशार्दूल श्रीराम आदि सहित सम्पूर्ण सेना के साथ महाराज दशरथ के भवन पर जा पहुँचे ॥५॥ उस समय संध्या कर्म से निवृत्त एवं वसिष्ठजी के आगमन के लिए उत्सुक महाराज दशरथ ने मार्ग मे पहुंच कर ही महर्षि का पूजन किया ॥६॥ तब पुष्पों एव मणि-मुक्ताओं से विशेष प्रकार से सजाई गई उस सभा में प्रविष्ट हुए और सभी श्रोतागण अपने-अपने स्थानों पर जा बैठे ॥७॥

अथ तस्मिन्नवसरे ह्यस्तनाः सर्व एव ते ।
श्रोतारः समुपाजग्मुर्नभश्चरमहीचराः ॥८
विवेश सा सभा सौम्या कृतान्योन्याभिवन्दना ।
बभौ राजसमाभोगा शान्तवातेव पद्मिनी ॥९
मुनिस्त्वनुज्ञितेनाऽथ तेनैव रघुनन्दनम् ।
क्रमेणोवाच वाक्यज्ञो वाक्यं वाक्यार्थकोविदम् ॥१०
कच्चित्स्मरसि यत्प्रोक्तं ह्यो मया रघुनन्दन ।
वाक्यमत्यन्तगुर्वर्थं परमार्थावबोधनम् ॥११
इदानीमवबोधार्थमन्यच्च रिपुमर्दन ।
उच्यमानं मयेदं च शृणु शाश्वतसिद्धये ॥१२
वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वाववोधनात् ।
संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाऽभ्यासमाहर ॥ ३
सम्यक्तत्त्वाववोधेन दुर्बोधे क्षयमागते ।
गलिते वासनावेशे विशोकं प्राप्यते पदम् ॥१४

इसके पश्चात् आकाशगामी तथा पृथिवी पर विचरण करने वाले एवं अन्यान्य जो भी श्रोता थे, वे सभी वहाँ आ पहुँचे ॥८॥ परस्पर अभिवादन करते हुए सभी अपने-अपने स्थान पर आसीन हुए, उस समय वह सौम्य सभा कमलिनी के समान शोभा पाने लगी ॥९॥ अब वाणी-विशारद मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी पूर्व क्रम के संदर्भ में ही वाक्यार्थ के जानने

वाले श्रीरामजी से कहने लगे ॥१०॥ वसिष्ठजी बोले—हे रघुनन्दन ! मैंने कल जो परमार्थ का बोध कराने वाला एवं गूढ़ वाक्य जिस शैली में कहा था, क्या उसका आपको स्मरण है ? ॥११॥ हे अरिमर्दन ! अब आप मोक्ष स्वरूप नित्य फल को प्राप्त कराने वाले इस अन्य ज्ञान के कारण रूप का श्रवण कीजिए, जिसे मैं आपके प्रति कहता हूँ ॥१२॥ देखिये, वैराग्य का अभ्यास और आत्मतत्व का ज्ञान यह संसार से पार करने वाले हैं, आप इन्हीं के अभ्यास में सचेष्ट हों ॥१३॥ सम्यक् तत्व का अवबोध होने से अज्ञान नष्ट होता है और तब वासना-संस्थान का भी नाश होजाता है । ऐसा होने पर ही शोक-रहित मोक्ष पद की प्राप्ति सम्भव है ॥१४॥

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभयकोटिकम् ।
एकं ब्रह्मैव हि जगत्स्थितं द्वित्वमुपागतम् ॥१५
सर्वभावानवच्छिन्नं यत्र ब्रह्मैव विद्यते ।
शान्तं समसमाभासं तत्राऽन्यत्वं कथं भवेत् ॥१६
इति मत्वाऽहमित्यन्तमुक्त्वा मुक्तवपुर्महान् ।
एकरूपः प्रशान्तात्मा साक्षात्स्वात्मसुखो भव ॥१७
नाऽस्ति चित्तं न चाऽविद्या न मनो न च जीवकः ।
एताः स्वकलना राम कृता ब्रह्मण एव ताः ॥१८
याः सम्पदो याश्च दृशो याश्चितो यास्तदेषणाः ।
ब्रह्मैव तदनाद्यन्तमब्धिवत्प्रविजृम्भते ॥१९
पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च ।
दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नाऽन्यदस्ति हि ॥२०
यावदज्ञानकलना यावदब्रह्मभावना ।
यावदास्था जगज्जाले तावच्चित्तादिकल्पना ॥२१

दिशा, काल और तीनों प्रकार के परिच्छेद से रहित, सीमाओं अथवा द्वैत-दर्शन से विनिर्मुक्त एक ब्रह्म ही जगत् रूप से स्थित है, द्वैत की प्रतीति तो अज्ञान के कारण ही होती है ॥१५॥ जब कि सभी भावों में अनवच्छिन्न, शान्त और एक रूप से भासित ब्रह्म का अस्तित्व ही

सर्वत्र विद्यमान है, तब अन्यत्व की सिद्धि किस प्रकार संभव है ?॥१६॥ इसलिए आप अहम् को त्याग कर अद्वैत ब्रह्म का निश्चय मानते हुए मुक्त, महान्, एक रूप, प्रशान्तात्मा तथा साक्षात् आत्मस्वरूप होजाइये ॥१७॥ न चित्त है, न अज्ञान है, न मन है और न जीव ही है, हे राम! यह सब तो उस ब्रह्म की विशिष्ट कल्पनाएँ ही हैं ॥१८॥ भोग्य पदार्थ, भोग का सम्पूर्ण व्यापार अथवा उनमें प्रतिविम्बित चिदाभास एवं उन भोगों की कामनाएँ, इन सभी रूपों में आदि-अन्त-रहित ब्रह्म ही समुद्र के समान लहरा रहा है ॥१९॥ पाताल, पृथिवी, स्वर्ग, तृणादि वस्तुएँ, जीव एवं आकाश, यह सभी चिद्रूप ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ॥२०॥ जब तक अज्ञान का अंश रहता है, तभी तक अब्रह्म की भावना रहती है। संसार के जाल में आस्था रहने तक ही चित्त आदि की कल्पना रही आती है ॥२१॥

देहे यावदहम्भावो दृश्येऽस्मिन्यावदात्मता ।
यावन्ममेदमित्यास्था तावच्चित्तादिविभ्रमः ॥२२
यावन्नोदितमुच्चैस्त्वं सज्जनासङ्गसङ्गतः ।
यावन्मौर्ख्यं न संक्षीणं तावच्चितादिनिम्नता ॥२३
भोगेष्वनास्थमनसा शीतलामलनिर्वृतेः ।
छिन्नापाशजालस्य क्षीयते चित्तविभ्रमः ॥२४
तृष्णामोहपरित्यागान्नित्यशीतलसंविदः ।
पुंसः प्रशान्तचित्तस्य प्रवुद्धा त्यक्तचित्तभूः ॥२५
भावितानन्तचित्तत्त्वरूपरूपान्तरात्मना ।
स्वान्तावलीनजगता क्षान्तो जीवादिविभ्रमः ॥२६
असम्यग्दर्शने शान्ते मिथ्याभ्रमकरात्मनि ।
उदिते परमादित्ये परमार्थैकदर्शने ॥२७
अपुनर्दर्शनायैव दग्धसंशुष्कपर्णवत् ।
चित्तं विगलितं विद्धि वन्हौ घृतलवं यथा ॥२८

शरीर में अहंभाव रहने तक दृश्य जगत् में आत्म-रूपता का अस्तित्व रहता है। 'तेरा-मेरा' की भावना रहने तक ही चित्त आदि

विभ्रम संभव है ॥२२॥ पूर्णता का उदय न होने तक सज्जनों का संग नहीं मिलता और तब तक मूर्खता भी नष्ट नहीं होती और चित्त-वृत्ति भी अधःपतन की ओर गतिगामिनी रहती है ॥२३॥ जिसका अन्तःकरण भोगों से विरत हो गया है, जिसको शीतल एवं निर्मल वृत्ति प्राप्त हो गई है, जिसका आशा जाल टूट फूट गया है, उसका चित्त-विभ्रम नष्ट हो जाता है ॥२४॥ तृष्णा रूपी मोह का त्याग करने से ही शीतल आत्मज्ञान उपलब्ध होता है,तभी चित्त में भी शान्ति प्राप्त होती है और परित्यक्त चित्तभूमि ज्ञान रूपी फल से युक्त हो जाती है ॥२५॥ जो अनन्त चित्तस्वरूप एवं दृश्य जगत् से भिन्न रूप वाला अर्थात् आत्म-स्वरूप हो गया है, अथवा यह विश्व जिसके अपने चित्त में ही विलीन होगया है, उसके जीवादि सम्पूर्ण विभ्रम नष्ट होजाते हैं ॥२६॥ मिथ्या भ्रम का दर्शन कराने वाले अन्धकार का नाश एवं आत्मज्ञान रूपी सूर्य का उदय होने पर विगलित हुआ चित्त उस प्रकार ही फिर दिखाई नहीं देता, जिस प्रकार अग्नि में सूखा पत्ता अथवा घृत गिर कर फिर दिखाई नहीं देता ॥२७-२८॥

जीवन्मुक्ता महात्मानो ये परावरदर्शिनः ।
तेषां या चित्तपदवी सा सत्त्वमिति कथ्यते ॥२९
जीवन्मुक्तशरीरेषु वासना व्यवहारिणी ।
न चित्तनाम्नी भवति सा हि सत्त्वपदं गता ॥३०
शान्ता व्यवहरन्तोऽपि सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
नित्यं पश्यन्ति तज्ज्योतिर्न द्वैतैक्ये न वासना ॥३१
अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वह्नौ त्रिजगत्तृणम् ।
जुह्वतोऽन्तर्निवर्तन्ते मुनेश्चित्तादिविभ्रमाः ॥३२
विवेकविशदं चेतः सत्वमित्यभिधीयते ।
भूयः फलति नो मोहं दग्धबीजमिवाङ्कुरम् ॥३३
संरोहतीषणाविद्धं यथा परशुनाऽग्निना ।
न तु ज्ञानाग्निनिर्दग्धं प्रबोधविशदं मनः ॥३४

सत्य-असत्य का अनुभव प्राप्त किये हुए जीवन्मुक्त महात्मा हैं, उनकी चित्त पदवी ही सत्व कही जाती है ॥२६॥ उन जीवन्मुक्तों के देहों में व्यवहृत वासना, चित्त नाम की नहीं होती, क्योंकि वह सत्वपद में अवस्थित होगई है ॥३०॥ सत्व में स्थित, संयतेन्द्रिय, शान्त व्यवहार वाले महात्मा द्वित्व अथवा वासना से रहित होते हैं, क्योंकि ब्रह्म ज्योति के साक्षात् दर्शन से उनकी बाधा नष्ट हो चुकी होती है ॥३१॥ सर्वात्म भावना से युक्त होकर त्रिजगत्-रूपी उपेक्षणीय तिनके को चिदात्मक अग्नि में आहुति देते हुए मुनि के चित्त आदि विभ्रम अतिक्रमण कर जाते हैं ॥३२॥ विवेक द्वारा शोधित चित्त ही सत्व है, क्योंकि दग्ध हुए बीज में अंकुर न फूटने के समान ही उसमें मोह रूपी फल नहीं लग पाता ॥३३॥ फरसे से छिन्न और अग्नि से दग्ध हुए तृण आदि तो आन्तरिक बीज शक्ति रहने पर पुनःपुन अंकुरित हो सकते हैं, परतु ज्ञान की अग्नि में भस्म हुए वासना बीज वाले अन्तःकरण में पुनः फल नहीं लग पाते ॥३४॥

चिदात्माऽसि निरंशोऽसि पारावारविवर्जितः ।
रूपं स्मर निज स्फारं माऽस्मृत्या संमितो भव ॥३५
तां स्वसत्तां गतः सर्वमसर्वं भावयोदयी ।
तादृग्रूपोऽसि शान्तोऽसि चिदसि ब्रह्मरूप्यसि ॥३६
यः पदार्थविशेषोऽन्तर्न त्वं न ह्येव सोऽस्ति ते ।
तदस्यतदसि स्वस्थश्चिद्घनाऽऽत्मन्नोमऽस्तु ते ॥३७
आद्यन्तवर्जितविशालशिलान्तराल-
संपीडचिद्घनवपुर्गगनामलस्त्वम् ।
स्वस्थो भवाऽऽजठरपल्लवकोशलेखा-
लीलास्थिताखिलजगज्जय ते नमस्ते ॥३८

हे राम ! आप चित्स्वरूप को भूल कर परिच्छिन्न मत होओ, अपने विशाल रूप का स्मरण करो, आप निरंश एवं पारावार-रहित चिदात्म रूप ही तो हैं ॥३५॥ हे रघुनन्दन ! आप चित्स्वभाव में स्थित एवं सर्वातिशायी आनन्द के लाभ से महान् अभ्युदय युक्त होकर परि-

च्छिन्न जगत् में अपरिच्छिन्न भावना करिये । आप परिपूर्ण रूप, शान्त, चैतन्य और ब्रह्मरूप हैं ॥३६॥ हे राम ! आप असत्पदार्थ रूप नहीं है, अर्थात् सत्स्वरूप हैं । परन्तु असत् व्यावृत्ति से कल्पित जो सत्ता शब्द है, उससे आप परे हैं। अतः असत् स्वरूप के आशय से आपको मत् और असत् कहा जाता है । हे अपने ही स्वरूप में अवस्थित रहने वाले चिद्घन ! आपको नमस्कार है ॥३७॥ आदि-अन्त रहित, विशाल स्फटिकशिला जैसे अन्तराल के समान चिद्घन जैसे स्वभाव वाले आप दुःखादि से युक्त नहीं हैं, यह सोच कर आप स्वस्थ होइये । सब ओर से विस्तृत चित्शिला रूपी आपके जठर में पल्लवकोश के समान कल्पित अपनी ही लीला में स्थित अखिल विश्व को जय करने वाले रघुनन्दन ! ऐसे आपको नमस्कार है ॥३८॥

## ३—द्वैतभ्रम की शान्ति से एकरूप में स्थिति

भाविभूरितरङ्गाणां पयोवृन्दमिवाऽम्बुधौ ।
या चिद्वहत्यनन्ता न जगन्त्यनघ सो भवान् ॥१

भव भावनया मुक्तो भावाभावविवर्जितः ।
चिदात्मनस्संस्थिताः क्वेव वद ते वासनादयः ॥२

जीवोऽयं वासनादीदमिति चित्कचति स्वतः ।
इतरोवत्यर्थयोरत्र कः प्रसङ्गोऽङ्ग कथ्यताम् ॥३

एवं प्रवर्तितमिदं महच्चक्रमिदं चिरम् ।
न च प्रवर्तितं किञ्चिन्न च शीघ्रं च नो चिरम् ॥४

स्ववेदनमनन्तं च सर्वमेवमखण्डितम् ।
विद्यते व्योमनि व्योम न कस्मिश्चिन्न किञ्चन ॥५

शून्यं शून्ये समुच्छूनं ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहितम् ।
सत्यं विजृम्भते सत्ये पूर्णे पूर्णमिव स्थितम् ॥६

रूपालोकमनस्कारान्कुर्वन्नपि न किञ्चन ।
ज्ञः करोत्यनुपादेयान्न ज्ञस्यैव हि कर्तृता ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे अनघ ! हे राम ! जिस प्रकार समुद्र की असंख्य तरंगों का कारण सामान्य जल है, उसी प्रकार चैतन्यात्मक चित् ही असंख्य लोकों के वहन में कारण है अर्थात् वही आप हैं, वही आत्मा है ॥१॥ आप भाव-अभाव वाली कल्पना को त्याग कर द्वैत भावना से मुक्त हो जाइये। बताओ तो कि आप में वासना आदि का वास कहाँ पर है ? ॥२॥ जीव, वासना और जगत् रूपी भेद चित् की ही कल्पना मात्र है। इसलिए असत् रूपी शब्द और अर्थ की प्राप्ति चिद्रूप में किस प्रकार संभव है ? ॥३॥ यह दिखाई पड़ने वाला विश्व रूपी चक्र अभ्यास परम्परा से चिति ने ही प्रस्तुत किया है, परमार्थ दृष्टि से तो न्यून अथवा चिरकाल से प्रस्तुत नहीं किया है ॥४॥ यथार्थ में तो यह सभी अखंडित एवं स्वचैतन्य स्वरूप व्योम ही निज में स्थित है, अन्य कुछ भी नहीं है ॥५॥ शून्य में शून्य तथा ब्रह्म में ब्रह्म ही महान् है, सत्य के द्वारा ही सत्य प्रकाशित है तथा पूर्ण में भी पूर्ण के समान ही विद्यमान है ॥६॥ अनुपादेय बुद्धि के द्वारा बाह्य इन्द्रियों और उनके साथ ही मन के व्यापार में प्रवृत्त हुआ ज्ञानी स्वयं कुछ भी नहीं करता, इसीलिए उसमें कर्तृता का अभाव है ॥७॥

यदुपादेयबुद्ध्या च तद् दुःखाय सुखाय ते।
भावाभावेन नाऽऽदेयमकर्तृ सुखदुःखयोः ॥८
यथा नानाऽप्यनानैव ख खे खानोति वाग्गणः।
सार्थकोऽप्यतिशून्यात्मा तथाऽऽत्मजगतोःक्रमः ॥९
अन्तर्व्योमामलो बाह्ये सम्यगाचारचञ्चुरः।
हर्षामर्षविकारेषु काष्ठलोष्टसमस्थितिः ॥१०
यस्य नाऽहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥११
यन्नाऽस्ति तस्य सद्भावप्रतिपत्तिरुदाहृता।
मायेति सा परिज्ञानादेव नश्यत्यसंशयम् ॥१२
निःस्नेहदीपवच्छान्तो यस्याऽन्तर्वासनाभरः।
तेन चित्रकृतेनेव जितं ज्ञेनाऽविकारिणा ॥१३

यस्याऽनुपादेयमिदं समस्तं
पदार्थजातं सदसद्दशासु ।
न दुःखदाहाय सुखाय नैव
विमुक्त एवेह स जीव एव ॥१४

उपादेय बुद्धि द्वारा ग्रहण किये गये विषय ही आपके दुःख अथवा सुख के निमित्त हैं। यदि उपादेय बुद्धि नहीं तो करने योग्य भी नहीं रहते। अगृहीत कभी सुख या दुःख का निमित्त नहीं हो सकता और इसीलिए ज्ञानीजन को सुख-दुःख की प्राप्ति नही होती ॥८॥ जैसे घट-पटादि नाना उपाधियों के रूप में अनेक रूप होता आकाश अनेक नहीं, एक रूप ही है तथा आकाश में भी अनेक आकाश हैं, ऐसे वाक्य प्रयोग शून्यार्थक होते हुए अपनी विभिन्न उपाधियों के कारण सार्थक हैं, वैसे ही आत्मा और जगत का क्रम समझना चाहिए ॥ ॥ हे राम !, आप अन्तर में आकाश के समान स्वच्छ तथा बाह्य रूप से अपने श्रेष्ठ आचरणों में निरत रह कर हर्ष और अमर्ष रूपी विकारों के मध्य काष्ठ और लोष्ट के समान स्थित होइये ॥१०॥ जिसमें अहं की भावना नहीं है, वह यदि इन लोकों को विनाश भी कर दे तो भी वह विनाशकारी न होता हुआ, विनाश के दोष से भी आक्रान्त नहीं होता ॥११॥ तीनों काल में जिसका अस्तित्व नहीं, उसके व्यावहारिक ज्ञान के लिए 'माया' शब्द प्रयुक्त हुआ है और उस माया की निवृत्ति आत्मज्ञान से ही संभव है ॥१२॥ घृत, तैलादि से रहित बुझे हुए दीपक के समान जिसकी वासनाएँ मर गई हैं, उसने सब कुछ जीत लिया समझो, तब क्या यह विजय यथार्थ नहीं है ? जैसे राजा अपने शत्रु को जीत लेता है, वैसे ही अविकारी ज्ञानी रागादि पर विजय प्राप्त कर लेता है ।१ ॥ जिसके लिए यह सब भोग पदार्थ मिथ्या अथवा आत्म रूप होने से, सदा प्राप्त होते रहने के कारण प्राप्ति-अप्राप्ति रूप सुख-दुःख के निमित्त नहीं होते, वह जीवित प्राणी भी यथार्थ रूप से तो मुक्त ही है ॥१४॥

---

## ४—आत्मज्ञान से अज्ञान का नाश

मनो बुद्धिरहङ्कार इन्द्रियादि तथाऽनघ।
अचेत्यचिन्मयं सर्वं क्व ते जीवादयः स्थिताः ॥१
एकेनैवाऽऽत्मना दत्ता नानातेयं महात्मना।
यथैकेनैव चन्द्रेण तिमिराप्पात्रदर्पणैः ॥२
भोगतृष्णाविषावेशो यदैवोपशमं गतः।
तदैवमस्तमज्ञानमान्ध्यं ध्वान्तक्षयादिव ॥३
अध्यात्मशास्त्रमन्त्रेण तृष्णाविषविपूचिका।
क्षीयते भावितेनाऽन्तः शरदा मिहिका यथा ॥४
मौर्ख्ये क्षीणे क्षतं विद्धि चित्तं राम सबान्धवम्।
विलीनाम्बुधरे व्योम्नि जाड्यं शाम्यत्यविघ्नतः ॥५
अचित्तत्वं गते चित्ते क्षीयते वासनाभ्रमः।
हारमुक्तासमावेशाश्छिन्ने तन्ताविवाऽनघ ॥६

वसिष्ठजी बोले—हे अनघ ! हे राम ! मन बुद्धि, अहङ्कार और इन्द्रयादि विषय, शून्य एवं चित्स्वरूप है तो आपके जीव आदि की स्थिति कहाँ होगी ? ॥१॥ जलपात्र या दर्पण के सम्बन्ध से चन्द्रमा अथवा तिमिर रोग जैसे अनेक रूपता का आभास कराते हैं, वैसे ही वह महान् आत्मा अपनी सत्ता-संसर्ग के अध्यास से अनेक रूपता प्राप्त कराता है ( अर्थात् अनेक रूप दिखाई देता है ) ॥२॥ आत्मसाक्षात्कार से विषयोद्रेक का शमन होने पर अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाश होने पर नेत्रों का अन्धकार दूर हो जाता है ॥३॥ शरत्काल की प्राप्ति पर वर्षा नष्ट होने के समान अध्यात्म शास्त्र के विचार में तृष्णा रूपी विष विपूचिका का नाश हो जाता है ॥४॥ हे राम ! मेघ के शान्त होने पर जैसे आर्द्रता नष्ट होती है, वैसे ही अज्ञान के विनाश से बान्धव सहित चित्त की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं ॥५॥ हे निष्पाप ! जैसे सूत्र के टूट जाने पर हार में गुँथे हुए

मोतियों की एक लिप्तता नष्ट होती है। वैसे ही चित्त के अचित्तत्व प्राप्त कर लेने पर वासना रूपी भ्रम नष्ट हो जाता है ॥६॥

रघुनाथ विघाताय शास्त्रार्थं भावयन्ति ये ।
कृमिकीटत्वयोग्याय चेतसा संमिलन्ति ते ॥७
नवतामरसाकारकान्तलोचनलोलता ।
शान्ते मौर्ख्येऽक्षता वाते चलता सरसो यथा ॥८
स्थिरतामुपयातोऽसि भावाभावविवर्जितः ।
पदे परमविस्तारे नभसीव प्रभञ्जनः ॥९
मन्ये मद्वचनैर्बोधमागतोऽसि रघूद्वह ।
विगताज्ञाननिद्रोऽन्तर्नृपतिः पटहैरिव ॥१०
सामान्ये च लगन्त्येव जने कुलगुरोर्गिरः ।
अत्युदारमतौ राम न लगन्ति कथं त्वयि ॥११
वयमिह हि महानुभाव नित्यं
कुलगुरवो भवतां रघूद्वहानाम् ।
मदुदितमिदमाशु धायमार्यं
शुभवचनं हृदि हारवत्त्वयेति ॥१२

हे रघुनाथ ! मेरे द्वारा कहे हुए उक्त शास्त्रार्थ की उपेक्षा कर जो व्यक्ति उसे नष्ट करना चाहते हैं, वे कृमि कीट आदि की योनि प्राप्त कराने वाली बुद्धि से सम्पर्क करते हैं ॥७॥ जैसे वायु का वेग शान्त होने पर जल की तरंगें शान्त हो जाती हैं, वैसे ही अज्ञान के नष्ट होने पर वासना जनित चंचलता का शमन हो जाता है ॥८॥ जिस प्रकार प्रभंजन वायु आकाश में स्थिर रहता है, वैसे ही आप भाव-अभाव से विमुक्त रहते हुए परम पद में स्थिर रहते हैं ॥९॥ हे रघूद्वह ! मैं समझता हूँ कि अब आप मेरे वचनों के द्वारा अज्ञान रूपी निद्रा को छोड़ कर आत्म ज्ञान को ऐसे ही प्राप्त कर चुके हैं जैसे कि वन्दीजनों के शस्ति गान को सुनता हुआ राजा निद्रा को त्याग देता है ॥१०॥ हे म ! जब कि सामान्य मनुष्य भी अपने कुलगुरु के वचनों से बोध को प्त हो जाते हैं, तो आप जैसे उदार एवं विशिष्ट पुरुषों को उसकी

उपलब्धि क्यों न हो ॥११॥ हे रघुनन्दन ! मैं अपनी वंश परम्परा से आपका कुलगुरु हूँ, अतः आप मेरे वचनों को बार-बार विचारते हुए हार के समान हृदय में धारण कीजिए ॥१२॥

## ५—उपदेश से जीवन्मुक्तता की प्राप्ति

अहो अहं गतश्चित्त्वं भवद्वाक्यार्थभावनात् ।
शान्तं जगज्जालमिदमग्रस्थमपि नाथ मे ॥१
परामन्तः प्रयातोऽस्मि परमात्मनि निर्वृतिम् ।
दीर्घावग्रहसन्तप्तं वृष्ट्येव वसुधातलम् ॥२
शाम्यामि शीतलाकारः सुखं तिष्ठामि केवलम् ।
प्रसादमनुयातोऽहं सरो निर्वारणं यथा ॥३
जातोऽस्मि गतसन्देहः शान्ताशामृगतृष्णिकः ।
रागनीरागनिर्मुक्तो मृष्टजङ्गलशीतलः ॥४
आत्मनैवाऽन्तराऽऽनन्दं तत्प्राप्तोऽस्म्यन्तवर्जितम् ।
रसायनरसास्वादो यत्र नाथ तृणायते ॥५
अद्याऽहं प्रकृतिस्थोऽस्मि स्वस्थोऽस्मि मुदितोऽस्मि च ।
लोकारामोऽस्मि रामोऽस्मि नमो मह्यं नमोऽस्तु ते ॥६

श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! आपके उपदिष्ट वाक्यों द्वारा मैं चैतन्यरूपता को प्राप्त हो गया हूँ, अब यह प्रत्यक्ष उपस्थित जगत् रूपी जाल विलीनता को प्राप्त हो चुका है ॥१॥ जैसे अनावृष्टि से सन्तप्त पृथिवीतल वर्षा से शान्त हो जाता है, वैसे ही आपके उपदेश रूपी वर्षा से मेरा अन्तस्तल परम शान्ति को प्राप्त हुआ है ॥२॥ समय शान्ति का अनुभव करता हुआ मैं आनन्द और सुख से परिपूर्ण हूँ, जैसे विक्षुब्ध करने वाले हाथियों के चले जाने पर सरोवर शान्त रहता है, वैसी ही शान्ति मुझे प्राप्त हो गई है ॥३॥ मैं सन्देह-रहित हो गया, मृग तृष्णा जैसी आशा नष्ट हो गई, विषय-विकार एवं उसके विरोध वाली वैराग्य-वृत्तियाँ भी मुझ में नहीं रहीं। शरत्काल की प्राप्ति पर वन जैसे स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही मैं भी निर्मल हो गया हूँ ॥४॥ मैं अपने द्वारा ही

उस अविनाशी आनन्द को प्राप्त हो गया हूँ, जिसके समक्ष अमृत का स्वाद भी तृण के समान फीका और उपेक्षा योग्य प्रतीत होता है ॥५॥ आज मैं प्रकृतिस्थ, स्वस्थ और प्रसन्न हूँ, लोकों के विश्रान्ति स्थल रूपी सुख का मैं ही मूल भूत हूँ, अतः मैं राम, स्वयं को और आपको भी नमस्कार करता हूँ ॥६॥

कोऽभवं प्रागहं तादृक् तृष्णानिगडयन्त्रितः ।
अन्तराऽऽत्मानमेवेति विहसामि विकासवान् ॥७
आ इदानीं स्मृत सम्यग्यथैष सकलोऽस्म्यसौ ।
यस्त्वद्वागमृतापूरस्नातेनाऽयमहं स्थितः ॥८
अहो नु विततां भूमिमधिरूढोऽस्मि पावनीम् ।
इहस्थ एव यात्राऽर्को न पातालमिव स्थितः ॥९
मह्यं सत्तामुपेताय भावाभावभवार्णवात् ।
नमो नित्यं नमस्याय जयाम्याऽऽत्मात्मनाऽऽत्मनि ॥१०
अनुभववशतो हृदब्जकोशे स्फुटमलितां समुपागतेन नाथ ।
तववरवचसेहवीतशोकांचिरमुदितांचदशामुपागतोऽस्मि॥११

अब मैं ज्ञानी होकर सर्वधर्मों से रहित आत्मा के अतिरिक्त तृष्णा-रूपी बन्धनों में बँधा हुआ वह अन्य कौन था ? यह विचार कर हँसता हूँ ॥७॥ आपके अमृत-प्रवाह में स्नान करके, परमार्थरूप से मैं जैसा था, वह सब मैं ही हूँ, यह मुझे स्मरण होता है ॥८॥ अहा ! यहाँ रहता हुआ भी मैं किसी पवित्र भूमि पर चढ़ गया हूँ, वहाँ जहाँ कि सूर्य पाताल के समान अधःस्थिति में नहीं रहता ॥९॥ मैं भाव-अभाव वाले संसार-समुद्र से पार होकर सर्वाधिष्ठान रूप ब्रह्म को प्राप्त हो चुका हूँ तथा अपनी महिमा में सर्वोत्कृष्ट स्थित हूँ । अतः सबके नमस्कार योग्य अपने आत्मा को नमस्कार करता हूँ ॥१०॥ हे प्रभो ! अपने हृदय कमल के कोश में भौंरे के समान स्थिर हुए आपके श्रेष्ठ वचनामृत से मैं इसी लोक में रहता हुआ शोकादि से विमुक्त, चिर प्रसन्न जीवन्मुक्त स्थिति में स्थित हो गया हूँ ॥११॥

## ६—अज्ञानवृक्ष का उच्छेद

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१
यस्याऽज्ञानात्मनोऽज्ञस्य देह एवाऽऽत्मभावना ।
उदितेति रुषैवाऽक्षरिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥२
यस्य ज्ञानात्मनो ज्ञस्य सत्येवाऽऽत्मनि संस्थितिः ।
सन्तुष्ट्यं वाऽक्षसुहृदो न घ्नन्ति तमनिन्दितम् ॥३
सर्वैर्भावविकारैस्तु नित्योन्मुक्तस्त्वलेपकः ।
नाऽऽत्माऽस्तमेति भगवन्न चोदेति सदोदितः ॥४
जडस्याऽज्ञस्य तुच्छस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकोपलस्याऽस्य यद्भवत्यस्तु तत्तथा ॥५

वसिष्ठजी बोले—हे महाबाहो ! अब आप पुनः मेरे परम वाक्यों को सुनिए । इन वचनों को मैं निरतिशय आनन्दरूप आत्मा की प्रीति के लिए, आप सबके हित की इच्छा से कहता हूं ॥१॥ अज्ञान के कारण देह में उत्पन्न हुई आत्म भावना क्रोध को उत्पन्न करती है, जिससे इन्द्रियाँ शत्रु रूप धारण कर आत्मा पर अधिकार कर लेती हैं ॥२॥ जो ज्ञानी पुरुष तीनों काल में, आत्मा में ही स्थित रहता है, उसे आत्म-दर्शन जनित सन्तोष के कारण इन्द्रियाँ नष्ट नहीं कर सकतीं, अपितु मित्रवत् ज्ञान की अभिवृद्धि में सहायिका रहती हैं ॥३॥ सभी भाव विकारों से निर्लिप्त आत्मा कभी उदय और अस्त को प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह तो सदा उदित ही रहता है ॥४॥ जड़, ज्ञान-रहित, तुच्छ कृतघ्न और नाशवान् इस देह रूपी पत्थर का चाहे कुछ हो, पर आत्मा पर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता ॥५॥

तद्गतस्याऽप्यतद्वृत्तेरम्बरस्येव वायुतः ।
जरामरणमापच्च सुखदुःखे भवाभवौ ।
मनागपि न सन्तीह तस्मात्त्वं निर्वृतो भव ॥६

स्थितो देहतयाऽप्युच्चैः पातोत्पातमयो भ्रमः ।
दृश्यते केवलं ब्रह्मण्यप्सु वीचिचयो यथा ॥७
आत्मसत्तोपजीवित्वादात्माऽनुभवतीह हि ।
देहयन्त्रं पयःसत्तामात्रादूर्मिमिव स्थितम् ॥८

आधारस्पन्दनेनाऽङ्ग यथा क्षोभो न वा भवः ।
सूर्यादेः प्रतिबिम्बस्य तथा देहेन देहिनः ॥९
सम्यग्दृष्टे यथाभूते वस्तुन्येवाऽभिजायते ।
स्थितिर्देहमयोऽज्ञानविभ्रमो लयमेति च ॥१०

हे राम ! निर्लिप्त स्वभाव होने से जैसे आकाश का वायु, शोष, कम्प, आदि विकारों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही जीव वृद्धावस्था, मरण आदि सुख-दुःख वाले देहादि से तथा नाशवान् संसार आदि से आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं होता। इस लिए आप निवृत्त चित्त हो जाइये क्योंकि देह में आत्मा का भ्रम होने से ही इन विकारों की, जल में उठती हुई तरंगों के समान उपस्थिति है। यथार्थ में वह ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ॥६-८॥ जैसे प्रतिबिम्ब वाले दर्पण के हिलाने पर सूर्य आदि नहीं हिल सकते, वैसे ही देहादि के क्षोभ से आत्मा क्षुब्ध नहीं होता ॥९॥ आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार होने से सत्य-स्वरूप उस आत्मा में ही स्थिति होकर अज्ञान से उत्पन्न हुए भ्रम का नाश हो जाता है ॥१०॥

असम्यग्दर्शिनो देहस्याऽऽवर्तपरिवर्तनैः ।
अन्तःशून्याः स्फुरन्तीह ते मोहार्जुनपादपाः ॥११
अपर्यालोचितात्मार्था अपरामृष्टसंविदः ।
स्पन्दन्ते चेतितोन्मुक्तास्तृणवन्मूढबुद्धयः ॥१२

अज्ञानमापदां निष्ठा का हि नाऽऽपदजानतः ।
इयं संसारसरणिर्वहत्यज्ञप्रमादतः ॥१३
अज्ञस्योग्राणि दुःखानि सुखान्यपि दृढानि च ।
पुनः पुनर्निवर्तन्ते युगं प्रत्यचला इव ॥१४

शरीरधनदारादावास्थां समनुबध्नतः ।
इदं दुदु :खमज्ञस्य न कदाचन शाम्यति ॥१५

जिसे आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ, उसमें शरीर के आवागमन के द्वारा मोह रूपी असंख्य अर्जुन वृक्षों का स्फुरण होता रहता है ॥११॥ जो आत्म-स्वरूप का पर्यालोचन सम्यक् न कर सके, वह मूढ़ बुद्धि पुरुष चैतन्य-शून्य रह कर तृण के समान प्रस्फुरित होते हैं। अर्थात् अचेतन देह को चेतन कभी नहीं कहा जा सकता ॥१२॥ विपत्तियों का आश्रय स्थान अज्ञान ही है। ऐसी कौन सी विपत्ति है जो अज्ञानी को प्राप्त नहीं हो सकती ? इस संसार-सरणि का प्रवाह अज्ञानी के प्रमाद से ही तो प्रवाहित है ॥१३॥ अज्ञानी को घोर कष्टों और क्षणिक सुखों की भी बारम्बार प्राप्ति होती रहती है, जैसे हल अथवा रथ पर्वतों को पार नहीं कर सकते वैसे ही अज्ञानी पुरुष उन सुख-दुःखों से पार नहीं जा सकते ॥१४॥ शरीर, धन और स्त्री आदि में जो आसक्ति रखता है, उस अज्ञानी पुरुष के दुःखों का कभी शमन नहीं होता ॥१५॥

नरकश्रीरिहाऽज्ञानं दुष्कृतव्यालवेष्टितम् ।
परिपालयति प्रीता मयूरी वारिदं यथा ॥१६
नेत्रलोलालिनीलोला स्फुरिताधरपल्लवा ।
मूर्खार्थमेव विकसत्यङ्गना विषवल्लरी ॥१७
अज्ञस्य हृदि सद्भूमावेव पेलवपल्लवः ।
विद्यते मतगच्छायो रागविद्रुमद्रुमः ॥१८
जन्म बाल्यं व्रजत्येतद्यौवनं युवता जराम् ।
जरा मरणमभ्येति मूढस्यैव पुनः पुनः ॥१९
जगज्जीर्णारघट्टेऽस्मिन्रज्ज्वा संसृतिरूपया ।
मज्जनोन्मज्जनैरज्ञो यन्त्रे कलशतां गतः ॥२०

पाप रूपी नागों द्वारा लपेटे हुए अज्ञानी पुरुष की नरकश्री वैसे ही प्रतीक्षा करती है, जैसे कि मोरिनी मेघ की प्रतीक्षा करती है ॥१६॥ चंचल नयन-भ्रमरियों वाली, स्फुरित अधरपल्लवों वाली नारी रूपिणी विष-वेल मूर्खों के लिए ही बढ़ती जाती है ॥१७॥ अज्ञानी पुरुष के

मन रूपी उर्वरा भूखंड में पत्तों से युक्त, पाप आदि पक्षियों की छाया से ओतप्रोत राग रूपी वृक्ष फलता-फूलता है ॥१८॥ अज्ञानी पुरुष ही बाल रूप में बारम्बार जन्म लेता, बारम्बार यौवनावस्था प्राप्त करता, बारम्बार बुढ़ापे की ओर अग्रसर होता और बारम्बार ही मृत्यु को प्राप्त होता है ( अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है ) ॥१९॥ अज्ञानी पुरुष ही संसार रूपी इस पुराने रहँट में, तृष्णा रूपी रस्सी से बँध कर कलश के समान ही जल में, डूबता-उतराता रहता है ॥२०॥

जयत्यनल्पसङ्कल्पकल्पनाकल्पपादपः ।
अज्ञानात् प्रसृता यस्माज्जगत्पर्णपरम्पराः ॥२१
यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते विशन्ति विलसन्ति च ।
विचित्ररचनोपेता भूरिभोगिविहङ्गमाः ॥२२
यत्र जन्मानि पर्णानि कर्मजालं च कोरकम् ।
फलानि पुण्यपापानि मञ्जर्यो विभवश्रियः ॥२३
अज्ञानेन्दूदयेनैता योषिदोषधयः स्फुटम् ।
संसारवनखण्डेऽस्मिन् परां शोभामुपागताः ॥२४
आपातमात्रमधुरत्वमनर्थसत्त्व-
माद्यन्तवत्त्वमखिलस्थितिभङ्गुरत्वम् ।
अज्ञानशाखिन इति प्रसृतानि राम ।
नानाकृतीनि विपुलानि फलानि तानि ॥२५

असीम संकल्प-विकल्प रूपी कल्पवृक्ष अत्यन्त ऊँचा प्रतीत होता है क्योंकि वह असत् पदार्थों द्वारा सब कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ है, उसी वृक्ष से, अज्ञान के कारण, संसार रूपी पत्तों का विकास होता है ॥२१॥ उस कल्पवृक्ष पर अद्भुत वर्ण-आकार वाले तथा भोगों में अत्यन्त आसक्त पक्षी रहते, निकलते, घुसते तथा विलास करते हैं ॥२२॥ उस कल्पवृक्ष के पत्ते जन्म रूप, कलियाँ कर्म-समूह रूप तथा फल पाप-पुण्य रूप हैं, उन पर लगने वाली मंजरियाँ वैभव और सम्पत्तियाँ हैं ॥२३॥ इस जगत् रूपी वन में जब अज्ञान रूपी चन्द्रमा उदय होता है, तब स्त्री रूपी लताएँ परम शोभा को प्राप्त हुई प्रतीत

होती हैं ॥२४॥ विषयों में प्रतीत होने वाला माधुर्य्य, अनर्थ पर्यवसाय, आदि-अन्त, परिच्छिन्नत्व और सभी दशाओं में अनित्यत्व है, वह सब अज्ञान-रूपी वृक्ष के फल ही हैं। क्योंकि विभिन्न आकृति उसके वे फल जगदाकार रूप से फैलते जाते हैं, अतः उनका जो मूल भूत अज्ञान है, उसे ही उखाड़ फेंकना चाहिए ॥२५॥

## ७—अज्ञान की विभूतियाँ

यन्मुक्तावलिता रत्नभूषिता भान्ति योषितः ।
मदेन्दावुदिते क्षुब्धकामक्षीरार्णवोर्मयः ॥१
सौवर्णाम्भोजकोशस्थलोलालिपटलश्रियम् ।
धारयन्ति दृशः स्त्रीणां कपोलतलदोलिताः ॥२
उद्यानवनखण्डेषु भूमौ कृतमदा मधौ ।
हृद्या सुमनसो भान्ति दासा इव मनोभुवः ॥३
क्रव्यादगृध्रगोमायुकौलेयकवलाङ्गिकाः ।
स्त्रियः समुपमीयन्ते चन्द्रचन्दनपङ्कजैः ॥४
सौवर्णकलशाम्भोजकलिकामातुलुङ्गवत् ।
दृश्यते स्त्रीस्तनश्रेणी रक्तपूतिसुगन्धिका ॥५

वसिष्ठजी बोले—जो मद रूपी मयंक के उदय होने पर मुक्ताओं और रत्नों से सुशोभित एवं क्षुब्ध हुए कामक्षीर समुद्र जैसी दिखाई पड़ती हैं, वे स्त्रियाँ अज्ञान की विभूति ही समझो ॥१॥ कपोल-तल-दोला से दोलित नारियों की दृष्टि स्वर्णिम कमल-कोश में स्थित चंचल भौंरों के पटल जैसी शोभा पाती हैं, उन स्त्रियों को अज्ञान का ऐश्वर्य ही समझना चाहिए ॥२॥ वसन्त ऋतु को प्राप्त वन-उपवन खण्डों में कामियों में मद की उत्पत्ति करने वाले सुन्दर पुष्प रूप जो कामदेव के अनुचर दिखाई देते हैं, वह सब अज्ञान ही की लीला है ॥३॥ माँस भोजी गृध्र, शृगाल, श्वान आदि के कलेवा के योग्य कोमल अंगों वाली कामिनियाँ चन्द्रमा, चन्दन और कमल की उपमा से सुशोभित की जाती है, वह सब अज्ञान का ही प्रभाव है ॥४॥ रक्त-पूति गन्ध वाली

नारियों के जिस स्तन मंडल को सुवर्ण-कलश, कमल-कुड्मल अथवा बिजौरे जैसा बताया जाता है, वह सब अज्ञान की ही पराकाष्ठा है ॥५॥

व्याधूतजर्जराकीर्णजनतापर्णराजय: ।
स्वकर्मपवना वान्ति नानाऽवकररेणव: ॥६
काल: कवलितानन्तजगत्पक्वफलोऽप्ययम् ।
वस्मराचारजठर: कल्पैरपि न तृप्यति ॥७
मोहमारुतमापीय त्वचा विषमचारिण: ।
स्फुरन्तीहाऽहयश्चित्रा: शीतलाचलदीप्तय: ॥८
क्षुब्धैर्युगपरावर्तैर्वासनाशृङ्खलोम्भिता ।
महाशनिनिपातैश्च न भग्नाऽबुद्धघोरता ॥९
शतशो विद्रुतारिघ्नैर्दनुपुत्रैरभिष्टुताम् ।
भवभग्नतयामैन्द्रीं तनुं वहति वासना ॥१०

व्याधियों से सन्तप्त पुत्रादि कुटुम्बी रूपी पत्ते, अविवेक रूपी धूलि-कण और दुष्कर्म रूपी पवन का प्रवाह, यह सब अज्ञान ही तो है ॥६॥ परन्तु जगत् रूपी पके हुए फलों का कलेवा करने वाला और सदा भूखे पेट से युक्त रहने वाला काल कल्पों तक तृप्त नहीं हो पाता इसका कारण भी अज्ञान ही है ॥७॥ मोह रूपी वायु का सेवन करते हुए, देह रूपी विभिन्न त्वचाओं से दिखाई देते हुए और कुटिल गति वाले प्राणी, ब्रह्म के प्रकाश रूपत्व को प्राप्त हुए भी, इस संसार में आकर तो एक प्रकार से सर्प ही समझो और इसका कारण भी अज्ञान ही है ॥८॥ वासना रूपी शृंखलाओं से बंधी हुई वज्रमूर्खता रूपी घोरता क्षुब्ध युगों के परिवर्तन तथा वज्राघातों से भी नष्ट नहीं होती अर्थात् अज्ञानी पुरुषों के हृदय में वैराग्य की उत्पत्ति नहीं होती ॥९॥ इन्द्र के समान दानव-पुत्रों से ( बलवानों ) प्रशंसित इस शरीर का सैकड़ों पराजित शत्रुओं का पुन: युद्ध की इच्छा से पालन करता हुआ, वासना में प्रवाहित एवं मुक्ति विषय में नष्ट वेग वाला होना अज्ञान ही विलास है ॥१०॥

रागद्वेषसमुत्थेन भावाभावमयेन च ।
जरामरणरोगेण जीर्णा जङ्गमजातयः ॥११
सुदुष्कृतोत्तमध्यानचारिण्यो धरणीतले ।
नियत्या नियतं कालं पीड्यन्ते कीटपङ्क्तयः ॥१२
क्षणेनाऽदृश्य एवेदं निगिरत्यखिलं सुखी ।
सुदुर्लक्ष्यविलः कालव्यालो विपुलभोगवान् ॥१३
कालेन किञ्चिदालक्ष्य स्वशरीराकुलीकृताः ।
शीतवातातपप्रौढाः प्रोल्लसत्पुष्पदीप्तय ।
फलप्रदाश्चरन्तीह शोलिनः श्वभ्रविग्रहाः ॥१४
मग्नमग्नैरथोन्मग्नं भीमे कालमहार्णवे ।
प्रतिकल्पक्षणं क्षीणैर्ब्रह्माण्डस्फुटबुद्बुदैः ॥१५
कालेऽगाधरसस्यन्दे स्थित्वा स्थित्वा पुनः पुनः ।
कल्पमात्रनिमेषेणोड्डीनाः कारणसारसाः ॥१६

राग द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःखात्मक जरा-मृत्यु रूपी रोग के कारण सभी जंगम जातियाँ जीर्ण हो गई हैं ॥११॥ भयंकर पाप-कर्मों के भोग में ही जो प्रवृत्त हैं, ऐसे कीटों के समूह नियति के द्वारा सदा पीड़ित किये जाते हैं ॥१२॥ अप्रत्याशित बिल में निवास करने वाला (अर्थात् अदृश्य), विशाल फण वाला एवं विपुल भोग वाला काल रूपी व्याल सम्पूर्ण जगत् को क्षण भर में ही निगल लेता है ॥१३॥ परन्तु जिसके देह का मूल भाग पृथिवी में समाया हुआ है, ऐसे वृक्षादि स्थावर जीव, मनुष्य-पक्षी आदि से ( फल आदि देते हुए ) पीड़ा को प्राप्त होकर भी विकसित पुष्पों से शोभित हुए शीत, वात, धूप आदि को सह कर प्रौढ़ता को प्राप्त हुए तपस्वी के समान काल का अतिक्रमण करते हैं ( अर्थात् परोपकारी जीव काल को भी जीत लेते हैं ) ॥१४॥ प्रत्येक कल्प में क्षीण होते हुए ब्रह्माण्ड रूपी जो बुलबुले काल रूपी भयंकर महासागर में उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, वह सब अज्ञान की ही लीला है ॥१५॥ जिस काल रूपी महासमुद्र में भ्रम और तृष्णा रूपी अथाह जल प्रवाहित है, उसमें कल्प रूपी निमेष में जो

कारण भूत पारस पक्षी ( हिरणगर्भ ) स्थित हो होकर उड़ जाते हैं, वह भी अज्ञान का ही कार्य है ॥१६॥

उत्पत्त्योत्पत्त्यनाशिन्यः सन्तप्ताः सृष्टिविद्युतः ।
कालमेघे स्फुरन्त्येताश्चित्प्रकाशवनोद्यमाः ॥१७
उन्मेषकृतवैरिञ्चसृष्टयो देवनायकाः ।
निमेषकृतसंहाराः सन्ति केचन कुत्रचित् ॥१८
निमेषोन्मेषसंक्षीणकल्पजालाः सहस्रशः ।
रुद्राः केचन विद्यन्ते तस्मिश्चित्परमे पुनः ॥१९
तेऽपि यस्य निमेषेण भवन्ति न भवन्ति च ।
तादृशोऽप्यस्ति देवेशो ह्यनन्तेयं क्रियास्थितिः ॥२०
अनन्तसङ्कल्पमये शून्ये च ब्रह्मणः पदे ।
न सम्भवन्ति का नाम शक्तयश्चित्रपूरकाः ॥२१
याः सम्पदो यदुत सन्ततमापदश्च
यद्बाल्ययौवनजरामरणोपतापाः ।
यन्मज्जनं च सुखदुःखपरम्पराभि-
रज्ञानतीव्रतिमिरस्य विभूतयस्ताः ॥२२

चित्प्रकाश से प्रकाशित सृष्टि-रूपी प्रतप्त यह विद्युत काल रूपी मेघ में चमक-चमक कर लुप्त हो जाती है, वह अज्ञान का विलास ही है।१७।इस ब्रह्मचैतन्य में ब्राह्मी सृष्टि को निमेषमात्र उत्पन्न और संहार करने वाले तथा देवताओं के भी नियामक जो ब्रह्मा, विष्णु, शंकर हैं, वे भी अज्ञान का लीला-विलास ही है ॥१८॥ सहस्रों बार निमेष उन्मेप मात्र समय में ही जिन परमचित् में स्थित रुद्रों ने कल्पों के समूह नष्ट कर डाले हैं, वह भी अज्ञान का ही विलास है ॥१९॥ जिस देवाधिदेव के निमेष से वे रुद्रादि देवनायक भी उत्पन्न होते और नष्ट होजाते हैं, क्योंकि क्रियाओं की स्थिति सभी के लिए अनन्त फल वाली है। परन्तु यह भी अज्ञान ही है ॥२०॥ अनन्त, प्रचुर संकल्प, सभी विकल्पों से रहित उस ब्रह्मपद में असंख्य आश्चर्यों को पूर्ण करने वाली कौन-सी शक्ति नहीं है ? ॥२१॥ यह सभी सम्पत्तियाँ, निरन्तर प्राप्त आपत्तियाँ,

बाल्यावस्था, यौवन, बुढ़ापा और मृत्यु रूपी घोर संताप तथा प्राणी का सुख-दुःख रूपी परम्पराओं में मज्जन, यह सब अज्ञानांधकार की ही विभूतियां हैं ॥२२॥

## ८—अविद्या के नाश से मोक्ष-प्राप्ति

संसारवनखण्डेऽस्मिञ्चित्पर्वततटे स्थिता ।
कीदृशी सृष्टयविद्याख्या लता विकसिता कदा ॥१
बृहत्पर्वतपर्वाढ्या ब्रह्माण्डत्वक्समावृता ।
देहयष्टिरियं यस्यास्त्रिलोकी लोककासिनी ॥२
सुख दुःखं भवो भावो ज्ञानमज्ञानमेव च ।
अत्रैतान्युरुवृत्तानि मूलानि च फलानि च ॥३
नानाविधोल्लासवती वासनामोदशालिनी ।
घनप्रवालतरला तनुरस्या विजृम्भते ॥४
दिवसव्यूहकुसुमा यामिनीलोलषट्पदा ।
अजस्रं स्पन्दमानैषा प्रगतद्भूतपल्लवा ॥५
विकसन्त्य: प्रतिदिनं चन्द्रर्कावलयोऽभितः ।
व्योम्नि वातविलोलानि पुष्पाण्यस्याः किल ग्रहाः ॥६
चन्द्रार्कदहनालोका यस्यास्तत्कौसुमं रजः ।
अनेनेयं हि गौराङ्गी स्त्रीव चेतांसि कर्षति ॥७

वसिष्ठजी ने कहा—हे रघुनन्दन ! इस जगद्रूप वन के एक खण्ड में कूटस्थ चिद्रूप पर्वत स्थिय है, उस पर्वत-तट में कार्य-अविद्या कब और कैसे विकसित हुए,यह मुझसे सुनो ॥१॥ यह कार्याविद्या लता बृहदाकार पर्वत रूपी पर्वों से युक्त, ब्रह्माण्ड रूपी त्वचा से आवृत्त और त्रैलोक्य रूपी देहयष्टि अर्थात् अवयवों वाली है ॥२॥ इस लता में प्रतिदिन विकसित होने वाले सुख-दुःख, जन्म, स्थिति तथा ज्ञान-अज्ञान रूपी फल लगते हैं ॥३॥ विभिन्न प्रकार से उल्लसित, वासना-गंध से सुरभित, घनीभूत पत्रों से पल्लवित इस लता का देह जँभाई ले रहा है ॥४॥ यह लता दिवस रूपी पुष्पों से युक्त, रात्रि रूपी चपल भौरों से वेष्ठित,रागादि

विकारों स्पन्दित प्राण रूपी पल्लवों से समन्वित हुई निरन्तर काँपती रहती है ।।५।। आकाश में विकाश को प्राप्त होने वाली चन्द्रमा, सूर्य आदि के सहित नवग्रह रूपी ज्योति की जो पंक्तियाँ हैं, वे ही इस सृष्टि रूपी लता के वायु के कारण हिलते हुए पुष्प हैं ।।६।। चन्द्र, सूर्य और अग्नि का प्रकाश ही इस लता के पुष्प-पराग हैं। इन परागों से ही यह गौरांगी नारी के समान आकर्षक प्रतीत होती है ।।७।।

महाविषलतैषा हि संसारविषमूर्च्छनाम् ।
ददाति रभसाश्लिष्टा परामृष्टा विनश्यति ।।८
स्फोतेऽन्तर्गलिता तस्य अज्ञेऽन्तः संस्थितान्विता ।
इतो जलमितः शैला इतो नागाः सुरा इतः ।।९
इतः पृथ्वीत्वमायाता तथेतो द्युतया स्थिता ।
इतश्चन्द्रार्कतां प्राप्ता तथेतस्तारकाकृतिः ।।१०
इतस्तम इतस्तेज इतः खमित उर्वरा ।
इतः शास्त्रमितो वेदा इतो द्वयविवर्जिता ।।११
क्वचित् खगतयोड्डीना क्वचिद्द्रवतयोत्थिता ।
क्वचित् स्थाणुतया रूढा क्वचित् पवनतां गता ।।१२
क्वचिन्नरकसंलीना क्वचित् स्वर्गविलासिनी ।
क्वचित् सुरपदं प्राप्ता क्वचित् कृमितया स्थिता ।।१३
क्वचिद्विष्णुः क्वचिद् ब्रह्मा क्वचिद्रुद्रः क्वचिद्रविः ।
क्वचिदग्निः क्वचिद्वायुः क्वचिच्चन्द्रः क्वचिद्यमः ।।१४
यत्किञ्चनाऽङ्ग भुवनेषु महामहिम्ना
व्याप्तं जरत्तृणलवत्वमुपागतं वा ।
दृश्यं स्फुरन्ननु हराद्यपि तामविद्यां ।
विद्धि क्षयाय तदतीतयाऽऽत्मलाभः ।।१५

यह कार्याविद्या महती विषलता ही है, क्योंकि यह अविचार से सम्बंधित होने के कारण संसार रूपी विष से उत्पन्न होने वाली मूर्च्छा प्रदान करती है और पूर्वापर का विचार करने पर, उसी समय नाश को प्राप्त होती है ।।८।। तत्त्वज्ञानी के आत्मा में विलीन हुई यह लता अज्ञानी

तुरूप के सब ओर अनुवृत्त रहती है। यह कहीं जल से, कहीं पर्वतों मे, कहीं सर्पों से और कहीं देवताओं से युक्त है ।।६।। यह कहीं पृथिवी रूप है तो कहीं आकाश रूप, कहीं वह चन्द्र—सूर्य रूप से और कहीं तारों के रूप से अवस्थित है ।।१०।। यह कहीं अन्धकार रूप, कहीं तेज रूप और कहीं आकाश रूप है, कहीं उर्वरा है तो शास्त्र और वेद रूप है तथा कहीं यह प्रलय और सुषुप्ति से विवर्जित भी है ।।११।। यह कहीं पक्षी रूप से उड़ती है, कहीं देव रूप से अवस्थित रहती है, कहीं स्थाणु रूप और कहीं वायुरूप से गतिमान है ।।१२।। कहीं यह नरक रूप है तो कहीं पाताल में लीन रहती है, कहीं स्वर्ग में विलास करती हुई है तो कहीं देवपद में स्थित है और कहीं यही कृमि रूप होगई है ।।१३।। कहीं विष्णु कहीं ब्रह्मा, कहीं रुद्र और कहीं सूर्य रूप से स्थित है। यही कहीं अग्नि, कहीं वायु, कहीं चन्द्रमा तो कहीं यम स्वरूपा होगई है ।।१४।। हे राम! सब लोकों अपनी महिमा से व्याप्त तथा सभी पदार्थों के संहारक शंकर से अव्याकृत पर्यन्त अथवा अल्प प्रभाव से जरजर तृण स्वरूप वाला यह जो कुछ दिखाई देरहा है वह सब तत्वज्ञान को नष्ट करने वाला, अविद्या का स्वरूप ही है। इसका अतिक्रमण होने पर ही आत्मलाभ (मोक्ष) सम्भव है ।।१५।।

## ६—ब्रह्म ही ज्ञातव्य है

आकारजातमुदितं शुद्धं हरिहराद्यपि ।
अविद्यवेत्यहं श्रुत्वा ब्रह्मन् भ्रमभिवाऽऽगतः ।।१

संवेद्येनाऽपरामृष्टं शान्तं सर्वात्मकं च यत् ।
तत्सच्चिदाभासमयमस्तीह कलनोज्झितम् ।।२

समुदेति स्वतस्तस्मात् कला कलनरूपिणी ।
जलादावर्तलेखेव स्फुरज्जलतयोदिता ।।३

सूक्ष्मा मध्या तथा स्थूला चेति सा कल्पयते त्रिधा ।
पश्चान्तनस्तया तेन ज्ञातैव वपुषा पुनः ।।४

इस नवधा अविद्या में ही आश्रित है ॥८॥ हे राघव ! ऋषि, मुनि, सिद्ध, नाग, विद्याधर और देवगण—यह सभी उस अविद्या के सात्विक अंश हैं ॥९॥ इस सात्विक अंश में भी नाग विद्याधर तामसिक, मुनि और सिद्ध राजसिक तथा शिव आदि देवता सात्विक हैं ॥१०॥

तेन रुद्रादयो ह्येते सत्त्वभागा महामते ।
तिष्ठन्ति मुक्ताः पुरुषा यावद्देहं जगत्स्थितौ ॥११
यावद्देहं महात्मानो जीवन्मुक्ता व्यवस्थिताः ।
विदेहमुक्ता देहान्ते स्थास्यन्ति परमेश्वरे ॥१२
भाग एष त्वविद्याया एवं विद्यात्वमागतः ।
बीजं फलत्वमायाति फलमायाति बीजताम् ॥१३
उदेत्यविद्या विद्यायाः सलिलादिव बुद्बुदः ।
विद्यायां लीयतेऽविद्या पयसीव हि बुद्बुदः ॥ १४
पयस्तरङ्गयोर्द्वित्व भावनादेव भिन्नता ।
विद्याविद्यादृशोर्भेदभावनादेव भिन्नता ।
पयस्तरङ्गयोरैक्यं यथैव परमार्थतः ॥१५
नाऽविद्यात्वं न विद्यात्वमिह किञ्चन विद्यते ।
विद्याविद्यादृशौ त्यक्त्वा यदस्तीह तदस्ति हि ॥ १६

हे महामते ! उक्त रुद्रादि देवता जगत् के स्थित रहने पर जब तक मुक्त ही रहे आते हैं ॥११॥ जब तक देह धारण रखते हैं, तभी तक जीवन्मुक्त रहते हैं, फिर देह से मुक्त होने पर परब्रह्म में लीन होजाते हैं ॥१२॥ इस प्रकार विद्यात्व को प्राप्त यह अविद्या का सात्विक स्वरूप है, वह बीज रूप होता हुआ उसके फल रूप कार्याविद्या के स्वरूप को प्राप्त होता है और उसका अन्त होने पर कारणाविद्यात्व को प्राप्त हो जाता है ॥१३॥ कारणाविद्या शुद्ध सत्व अंश विद्या है, उसी विद्या से जल में उठे बुद्बुदे के समान उत्पन्न हुई अविद्या, बुद्बुदे के समान ही विद्या में फि लीन हो जाती है ॥१४॥ जैसे जल अथवा दुग्ध और उसी के दूसरे रूप तरंग में भिन्नता प्रतीत होती है, वैसे ही विद्या और अविद्या में भेद दिखाई देता है, यथार्थ में तो जल और उसकी तरंग में कोई

संवित्ति रश्मियों का कोश अविनाशी ब्रह्म है ॥२१॥ यह विश्व उस एक बीज रूप ब्रह्म में वासना जनित कल्पना से उसी प्रकार स्थित रहता है, जिस प्रकार अद्भुत तरंगें जल में स्थित रहती हैं। उस परब्रह्म के जान लेने पर फिर जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता ॥२२॥

## १० —ब्रह्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति

तस्मान्न किञ्चिदेवेदं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
न किञ्चिद् भूततां प्राप्तं यत्किञ्चिदिति विद्धि हे ॥१
यत्र काचिन्न कलना भावाभावमयात्मिका ।
तदिदं राम जीवादि सर्वं व्यर्थं किमोहसे ॥२
सम्बन्धोऽयमसावन्तर्हृदि यो व्यपदिश्यते ।
न तं लभामहे सर्पं रज्जुसर्पभ्रमादिव ॥३
अपरिज्ञात आत्मैव भ्रमतां समुपागतः ।
ज्ञात आत्मत्वमायाति सीमान्तः सर्वसंविदाम् ॥४
गच्छन्पश्यति गच्छन्तं स्थितं तिष्ठञ्छिशुर्यथा ।
भ्रान्तमेवमिदं चेतः पश्यत्यात्मानमाकुलम् ॥५
कोशकारवदात्मानं वासनातनुतन्तुभिः ।
वेष्टयन्नेव चेतोऽन्तर्वलितत्वान्नाऽवबुध्यते ॥६

वसिष्ठजी बोले—हे राघव ! ब्रह्म के ज्ञात होने पर यह स्थावर-जंगम स्वरूप दिखाई पड़ने वाला जगत् कुछ भी नहीं रहता। भूत स्वरूप को कुछ भी प्राप्त नहीं होता यह समझ लीजिए ॥१॥ जिस ब्रह्म में भाव-अभाव की कल्पना नहीं होती, यह जीव आदि उसी के पदार्थ हैं। हे राम ! आप मिथ्या पदार्थों की इच्छा क्यों करते हैं ? ॥२॥ जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम होने पर भी वह सर्प नहीं हो सकता, वैसे ही देह के प्रति हृदय में उत्पन्न आत्म-भाव, विचार करने पर नहीं रहता ॥३॥ अज्ञात आत्मा जगत् रूपी भ्रम को तो प्राप्त होगया है, परन्तु भले प्रकार जान लेने पर उसकी वह भ्रान्ति नष्ट होजाती है ॥४॥ अनजान शिशु के समान अज्ञान से उपहित हुआ यह आत्मा चित्त की चंचलता से अपने को

चलता हुआ तथा चित्त के स्थिर होने पर स्वयं को स्थिर हुआ देखता है। इस भ्रान्त होकर चित्त को आत्म स्वरूप मान बैठता है ॥५॥ यह चित्त अविवेकी बालक के समान है, इसलिए मकड़ी के जाले के समान वासना-जाल में बँधता हुआ भी स्वयं को नहीं जान पाता ॥६॥

मौर्ख्यमत्यन्तघनतामागतं समवस्थितम् ।
स्थावरादितनुप्राप्तं कीदृशं भवति प्रभो ॥७
अमनस्त्वमसम्प्राप्तं मनस्त्वादपि च च्युतम् ।
तटस्थं रूपमाश्रित्य स्थितैषा स्थावरेषु चित् ॥८
तत्र दूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेद्यविदां वर ।
सुप्तपुर्यष्टका यत्र चित्स्थिता दुःखदायिनी ।
मूकान्धजडवत्तत्र सत्तामात्रेण तिष्ठति ॥९
बुद्धिपूर्वं विचार्येदं यथाऽवस्त्ववलोकनात् ।
सत्तासामान्यबोधो यः स मोक्षश्चेदनन्तकः ॥१०
विचार्याऽऽर्यैः सहाऽऽलोक्य शास्त्राण्यध्यात्मभावनात् ।
सत्तासामान्यनिष्ठत्वं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥११
अन्तः सुप्ता स्थिता मन्दा यत्र बीज इवाऽङ्कुरः ।
वासना तत्सुषुप्तत्वं विद्धि जन्मप्रदं पुनः ॥१२

श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! अत्यन्त घनता को प्राप्त हुआ वह अविवेक स्थावरादि शरीरों में अवस्थान करता हुआ किस प्रकार टिका रहता है ? ॥७॥ वसिष्ठजी बोले—अतनस्त्व को प्राप्त हुए और मनस्त्व से च्युत हुए, इन दोनों के मध्य में तटस्थता को प्राप्त कर यह जीवचित् स्थावर जीवों में स्थित होती है ॥८॥ हे ज्ञातव्य के ज्ञाताओं में प्रमुख राम ! चित् और अचित् के जानने में असमर्थ तथा बाह्याभ्यांतरिक इन्द्रियों से युक्त होने से दुःखदायिनी चित् जहाँ रहती है, उन शरीरों से मुक्ति बहुत दूर रहती है। क्योंकि वहाँ मूक, अन्धे अथवा जड़ के समान चित् की ही सत्ता होती है ॥९॥ वसिष्ठजी बोले—बुद्धि पूर्वक शास्त्र विचार और आत्मावलोकन से जिस सत्ता का सामान्य बोध होता है, वही अनन्त मोक्षपद है ॥१०॥ अध्यात्म भावना से शास्त्रों के विचार से

तत्व का साक्षात्कार करने पर सत्ता में जो सामान्य निष्ठा होती है, ज्ञानीजन उसी को ब्रह्मपद कहते हैं ॥११॥ बीज में अंकुर के समान दिखाई न पड़ने वाली तथा सुप्त के समान जो वासना है, वही पुनर्जन्म-दात्री सुषुप्ति है, ऐसा जानिये ॥१२॥

यत्राऽस्ति वासनाबीजं तत्सुषुप्तं न सिद्धये ।
निर्बीजा वासना यत्र तत्तुर्यं सिद्धद स्मृतम् ॥१३
वासनायास्तथा वह्न्ेर्ऋणव्याधिद्विषामपि ।
स्नेहवैरविषाणां यः शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥१४
रक्तमांसास्थियन्त्रेऽस्मिकः स्यामहमिति स्वयम् ।
यावद्विचार्यते तावन् सर्वमाशु विलीयते ॥१५
आद्यन्तयोरसद्रूपे नूनं परिहृते हृदा ।
सर्वस्मिन्नेव यः शेषस्तमविद्याक्षयं विदुः ॥१६
रूपं स्वनाम्न एवाऽस्या ज्ञायते निःस्वभावकम् ।
न हि जिह्वागतस्वाद्य स्वादोऽन्यस्मात् प्रतीयते ॥१७
नाऽविद्या क्वचिदप्यस्ति ब्रह्मैवेदमखण्डितम् ।
सदसत्कलनास्फारमशेषं येन मण्डितम् ॥१८
घटपटशकटावभासजालं
न विभुरितीत्युदितेह सा त्वविद्या ।
घटपटशकटावभासजालं
विभुरिति चेद्गलितैव सा त्वविद्या ॥१९

जहाँ वासना का बीज है, वहीं सुषुप्ति अर्थात् जन्म है वह सिद्धि के निमित्त नहीं है, परन्तु जहाँ वासना का बीज नहीं है, वहीं तुर्यपद की सिद्धि है ॥१३॥ वासना, अग्नि, ऋण, रोग, शत्रु, स्नेह, वैर और विष का यदि किंचित् भी अवशेष है तो वह स्वल्प होने पर भी अनर्थकारी हो जाता है ॥१४॥ रक्त और हाड़-माँस के बने देह रूपी इस यन्त्र में मैं स्वयं कौन हूँ ? इसका जैसे-जैसे विचार किया जाता है, वैसे-वैसे ही अविद्या-परिवार विलीन होता जाता है ॥१५॥ उस प्रकार के विचार पूर्ण मन के द्वारा आदि-अन्त वाले सद्रूप दृश्य के परिहृत होने पर जो

चिदात्मा शेष रहता है, उसे ही ज्ञानीजन अविद्या का क्षय कहते हैं ॥१६॥ अविद्या नाम से ही उसके अस्वाभाविक रूप का ज्ञान होजाता है, जिस प्रकार कि जिह्वा द्वारा लिये गये स्वाद की अनुभूति किसी अन्य प्रकार से नहीं होती ॥१७॥ अविद्या का कहीं अस्तित्व नहीं है, यह विश्व अखण्डित ब्रह्म-रूप ही है, उसी ब्रह्म ने सत्-असत् के विस्तृत रूप जगत् की रचना की है ॥१८॥ घट, पट, शकट आदि के रूप में दिखाई पड़ने वाला यह जगज्जाल ब्रह्मरूप नहीं है, ऐसा मानने पर ही अविद्या का उदय हुआ समझो और जब यह विवेक जागृत हुआ कि घट, पट, शकट आदि रूपों वाला यह संसार अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्म से भिन्न नहीं है, तभी समझलो कि अविद्या का नाश होगया ॥१९॥

## १०—चिदात्मा का ज्ञान

पुनः पुनरिदं राम प्रबोधार्थं मयोच्यते ।
अभ्यासेन विना साधो नाऽभ्युदेत्यात्म भावना ॥१
अज्ञानमेतद्बलवदविद्येतरनामकम् ।
जन्मान्तरसहस्रोत्थं घनं स्थितिमुपागतम् ॥२
त्वमविद्यालतामेतां प्ररूढां हृदयद्रुमे ।
ज्ञानाभ्यासविलासासिपातैश्छिन्धि स्वसिद्धये ॥३
यथा विहरति ज्ञातज्ञेयो जनकभूपतिः ।
आत्मज्ञानाभ्यासपरस्तथा विहर राघव ॥४
निश्चयेन हरिर्येन विविधाचारकारिणा ।
योनिब्वतरत्युर्व्यां तत्तज्ज्ञत्वमुदाहृतम् ॥५

वशिष्ठजी बोले—हे राम ! हे साधो ! आत्म-स्वरूप के परिज्ञानार्थ ही मैं इस रहस्य को बारम्बार कहता हूं, क्योंकि अभ्यास के बिना आत्म भावना का अभ्युदय नहीं हो सकता ॥१॥ इस महाबली अज्ञान का नाम ही अविद्या है, जन्म-जन्मान्तर से चला आने के कारण दृढ़ता को प्राप्त होगया है ( इसलिए यह सीधे तरह नष्ट नहीं हो सकता ) ॥२॥ हृदय रूपी वृक्ष पर चढ़ी हुई इस अविद्या रूपिणी लता को ज्ञानाभ्यास रूपी

असि से काट डालो, तभी आत्मसिद्धि सम्भव है ॥३॥ हे राघव ! जैसे महाराज जनक ज्ञाततत्त्व रूप में पृथिवी पर स्थित हैं, वैसे ही आत्मज्ञान के अभ्यास में तत्पर होकर आप भी विहार कीजिए ॥४॥ अपने जिस निश्चय से भगवान् विष्णु अवतरण-काल में गर्भ-वासादि दुःखों से असम्बद्ध रहते हैं, वही निश्चय आत्मज्ञान का स्वरूप कहा गया है ॥५॥

निश्चयो यस्त्रिनेत्रस्य कान्तया सह तिष्ठतः ।
ब्रह्मणो वाऽप्यरागस्य स ते भवतु राघव ॥६
यो निश्चयः सुरगुरोर्वाक्पतेर्भार्गवस्य च ।
दिवाकरस्य शशिनः पवनस्याऽनलस्य च ॥७
नारदस्य पुलस्त्यस्य मम चाऽङ्गिरसस्तथा ।
प्रचेतसो भृगोश्चैव क्रतोरत्रेः शुकस्य च ॥८
अन्येषामेव विप्रेन्द्राराजर्षीणां च राघव ।
यो निश्चयो विमुक्तानां जीवतां ते भवत्वसौ ॥९
येनैते भगवन् धीरा निश्चयेन महाधियः ।
विशोकाः संस्थितास्तन्मे ब्रह्मन्प्रब्रूहि तत्त्वतः ॥१०

हे राघव ! जो निश्चय पार्वतीजी के साथ रहने वाले त्रिनेत्र शिव का है, अथवा जो निश्चय वीतराग ब्रह्माजी का है, आप भी उस निश्चय पर रहें ॥६॥ हे राम ! देवगुरु बृहस्पति, दैत्य-गुरु शुक्राचार्य, सूर्य, चंद्रमा, वायु, अग्नि, नारद, पुलस्त्य, मैं, अंगिरस, प्रचेता, भृगु, क्रतु, अत्रि, शुक्र तथा इन्हीं के समान अन्यान्य जीवन्मुक्त विप्रेन्द्र और राज-ऋषियों का जो निश्चय आत्मा के विषय में है, वही आपको हो ॥७-९॥ राम बोले—हे ब्रह्मन् ! उपरोक्त महा बुद्धिमान महानुभाव जिस निश्चय के कारण शोक-रहित होकर स्थित हैं, उस निश्चय को तात्विक रूप से मुझे बताइये ॥१०॥

राजपुत्र महाबाहो विदिताखिलवेद्य हे ।
स्फुटं शृणु यथा पृष्टमयमेषां हि निश्चयः ॥११
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते ।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्व्यवस्थितम् ॥१२

गृह्यते ब्रह्मणा ब्रह्म भुज्यते ब्रह्म ब्रह्मणा।
ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहाभिर्ब्रह्मशक्त्येव बृंहति ॥१३
ब्रह्म मच्छत्रुरूपं मे ब्रह्मणोऽप्रियकृद्यदि।
तद्ब्रह्मणि ब्रह्मनिष्ठं किमन्यत् कस्यचित्कृतम् ॥ ४
रागादीनामवस्थानं कल्पितानां खवृक्षवत्।
असङ्कल्पेन नष्टानां कः प्रसङ्गोऽत्र वर्धते ॥१५

वसिष्ठजी बोले—हे राजकुमार ! हे महाबाहो ! हे सम्पूर्ण ज्ञातव्य के ज्ञाता ! आपने जो प्रश्न किया, उसका उत्तर अर्थात् उनका जो निश्चय है, वह स्पष्ट रूप से श्रवण कीजिए ॥११॥ यह जो भोग रूप सम्पूर्ण जगज्जाल दिखाई पड़ रहा है, वह निर्मल, ब्रह्मरूप तथा परमार्थ रूप में स्थित है ॥१२॥ ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म का ग्रहण होता है, ब्रह्म द्वारा ब्रह्म ही उपभुक्त होता है, ब्रह्म शक्ति के द्वारा ब्रह्म से ही ब्रह्म की वृद्धि होती है ॥१३॥ यदि ब्रह्म मेरे शत्रु के रूप में है, यदि ब्रह्म के द्वारा ही मेरा अप्रिय होता है, तब ब्रह्मनिष्ठ के लिए तो ब्रह्म के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? ॥१४॥ जब इस ब्रह्म में आकाश वृक्ष के समान, असंकल्प से नष्ट होजाने वाले कल्पित विषयों का प्रसंग ही नहीं है तो उनकी वृद्धि ही कैसी ? ॥१५॥

ब्रह्मण्येव हि सर्वस्मिश्चरणस्पन्दनादिकम्।
स्फुरति ब्रह्म सकलं सुखिताद्ःखिते कुतः ॥१६
ब्रह्म ब्रह्मणि संतृप्तं ब्रह्माणि सस्थितम्।
स्फुरति ब्रह्मणि ब्रह्म नाऽहमस्मीतरात्मकः ॥१७
घटो ब्रह्म पटो ब्रह्म ब्रह्माऽहमिदमाततम्।
अतो रागविरागाणां मृषेव कलनेह का ॥१८
मरणब्रह्मणि स्वैरं देहब्रह्मणि सङ्गते।
दुःखितानाम कैव स्याद्रज्जुसर्पभ्रमोपमा ॥१९
सम्भोगादौ सुखं ब्रह्मण्यास्थिते देहब्रह्मणि।
सम्पन्नमेतन्म इति मुधा स्यात्कलना कुतः ॥२०

इस सर्वात्मक ब्रह्म में ही चलना-फिरना आदि है, और क्योंकि वही सुख से स्फुरित होता है, इसलिए उसमें दुःख-सुख कहाँ से आये ॥१६॥ ब्रह्म ब्रह्म में ही संतृप्त है, ब्रह्म ब्रह्म में ही स्थित है, ब्रह्म का स्फुरण भी ब्रह्म से ही होता है, अतः मैं ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ ॥१७॥ घट और पट ब्रह्म है,मैं ब्रह्म हूँ,यह विश्व ब्रह्म है अतः मिथ्या राग-विरागादि की इसमें कल्पना ही कैसो ? ॥१८॥ देह रूपी ब्रह्म में मरणधर्मा ब्रह्म की जब स्वयं उपलब्धि होगई, तब रस्सी में सर्प-भ्रम के समान वह दुःखमयी झूठी कल्पना के सिवाय और क्या हो सकता है ? ॥१९॥ सम्भोग आदि से युक्त ब्रह्म में जब देह रूपी ब्रह्म सुख से स्थित हो तो 'मुझे यह उप-लब्धि हुई' ऐसी मिथ्या कल्पना कहाँ से आई ? ॥२०॥

कटकत्वं यथा हेम्नो यथाऽऽवर्तो जलस्य च ।
तदतद्भावरूपेयं तथा प्रकृतिरात्मनः ॥ १
इदं हि जीवभूतात्म जडरूपमिदं भवेत् ।
इत्यज्ञानात्मनो मोहो न च ज्ञानात्मनः क्वचित् ॥२२
अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्याऽऽनन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सचक्षुषः ॥२३
अस्मिन्ब्रह्मघटे नित्यमेकस्मिन्सर्वतः स्थिते ।
न किञ्चिन्म्रियते नाम न च किञ्चन जीवति ॥२४
यथोल्लासविलासेषु न नश्यति न जायते ।
तरङ्गादिमहाम्भोधौ भूतवृन्दं तथाऽऽत्मनि ॥२५

जैसे स्वर्ण में कटकत्व और जल में आवर्तत्व होना स्वाभाविक है, वैसे ही जड और अजड रूप होना प्रकृतिरात्मक ब्रह्म का स्वभाव है ॥२१॥ यह जीव भूतात्मा है अथवा यह पदार्थ जड है, इस प्रकार के मोह की प्राप्ति अज्ञानात्मा को ही होगी, ज्ञानात्मा को कभी नहीं हो सकती ॥२२॥ जैसे अंधे को यह विश्व अंधेरा और दृष्टिवान् को प्रकाश रूप दिखाई देता है, वैसे ही अज्ञानी को यह संसार दुःख रूप तथा ज्ञानी को आनन्द रूप, प्रतीत होता है ॥२३॥ सर्वत्र स्थित इस ब्रह्म रूप घट में न किसी का मरण है,न जीवन है ॥२४॥ जैसे महासागर में उल्लास-

विलास की स्थिति में तरंगादि न मरते हैं, न उत्पन्न होते हैं, वैसे ही आत्मा में भूतों का उत्पत्ति-मरण नहीं होता ॥२५॥

मनो बुद्धिरहङ्कारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
ब्रह्मैव सर्वं नानात्म सुखं दुःखं न विद्यते ॥२६
अयं सोऽहमिदं चित्तमित्याद्यर्थोत्थया गिरा ।
शब्दप्रतिश्रवेणाऽद्राविवाऽऽत्माऽऽत्मनि जृम्भते ॥२७
अभावितं ब्रह्मतया ब्रह्माऽज्ञानमलं भवेत् ।
अभावितं हेमतया यथा हेम च मृद्भवेत् ॥२८
स्वयंप्रभुर्महात्मैव ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ।
अपरिज्ञातमज्ञानमज्ञानामिति कथ्यते ॥२९
ज्ञातं ब्रह्मतया ब्रह्म ब्रह्मैव भवति क्षणात् ।
ज्ञातं हेमतया हेम हेमैव भवति क्षणात् ॥३०

जब मन, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा और इन्द्रियादि सब ब्रह्म रूप हैं, उससे भिन्न नहीं, तब सुख-दुःख रह ही नहीं सकते ॥२६॥ जैसे पर्वत की सन्निधि में एक ही शब्द प्रतिध्वनित होता रहता है, वैसे ही यह मैं, यह चित्त इत्यादि विषयों के सहित वाणी से आत्मा ही स्व-आत्मा में जँभाई लेता रहता है ॥२७॥ ब्रह्म को ब्रह्मस्वरूप न जानने पर वह वैसे ही अज्ञान स्वरूप होजाता है, जैसे स्वर्ण का ज्ञान स्वर्ण रूप से न हो तो वह मिट्टी के समान ही है ॥२८॥ ब्रह्मज्ञानियों का कथन है कि स्वयं शक्तिमान्, अज्ञात महानात्मा ब्रह्म ही अज्ञानियों के द्वारा 'अज्ञान' कहा जाता है ॥२९॥ ब्रह्म के ब्रह्मरूप का ज्ञान होते ही ब्रह्म उसी प्रकार स्पष्ट होजाता है, जिस प्रकार स्वर्ण के स्वर्णत्व के जान लेने पर तुरन्त ही स्वर्ण उपलब्ध हो जाता है ॥३०॥

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
यो मतः सर्व एकात्मा परं ब्रह्मेति निश्चयः ॥३१
चिदात्मा ब्रह्म सत्सत्यमृतं ज्ञ इति नामभिः ।
प्रोच्यते सर्वगं तत्त्वं चिन्मात्रं चेत्यवर्जितम् ॥३२

भूवार्यनिलबीजानां सम्बन्धेऽङ्कुरकर्मसु ।
शक्तिरुद्गमनीयान्तस्तच्चिद्ब्रह्माऽहमाततम् ॥३३
सर्वगा प्रकृता स्वच्छरूपा भानोरिव प्रभा ।
आलोककारिणी कान्ता चिद्ब्रह्मेदमहं ततम् ॥३४
संभोगानन्दलववदमृतास्वादशक्तिवत् ।
स्वानुभूत्येकमात्रं यच्चिद्ब्रह्माऽस्मि तदव्ययम् ॥३५

जिसमें सब अवस्थित है, जिससे इस सब की उत्पत्ति हुई है, जिसमें यह सब विलीन हो।ा है, जो सर्व व्यापक, सर्वात्मा, एकात्म स्वरूप है निश्चय ही वह ब्रह्म है ॥३१॥ चिदात्मा, ब्रह्म, सत्, सत्य, ऋत और ज्ञ आदि नामों वाला, चेत्य-रहित, चिन्मात्र रूप ब्रह्म की ही सर्वत्र चर्चा है ॥३२॥ पृथिवी, जल, पवन और बीजों के सम्पर्क से अंकुरादि फूटने में जो चिति शक्ति भीतर अवस्थित है, वही सर्वव्यापी ब्रह्म है और वही मैं हूँ ॥३३॥ सूर्य के सर्वत्र व्याप्त, स्वाभाविक स्वच्छ प्रभा के समान प्रकाश देने वाली चिति शक्ति ही ब्रह्म है, दिखाई पड़ने वाले पदार्थों के रूप में यही विस्तार को प्राप्त हुई है, मैं भी उसी का स्वरूप हूं ॥३४॥ संभोग-आनन्द से सम्पन्न, अमृतमयी स्वादशक्ति से युक्त स्वानुभव रूप, जो एकमात्र अव्यय ब्रह्म है, मैं वही हूँ ॥३५॥

घटे पटे तटे कूपे स्पन्दमानं सदा तनौ ।
जाग्रत्यपि सुषुप्तस्थं चिदात्मानमुपास्महे ॥३६
उष्णमग्नौ हिमे शीतं मृष्टमन्ने शितं क्षुरे ।
कृष्णं ध्वान्ते सितं चन्द्रे चिदात्मानमुपास्महे ॥३७
आलोकं बहिरन्तस्थं चितं च स्वात्मवस्तुनि ।
अदूरमपि दूरस्थं चिदात्मानमुपास्महे ॥३८
माधुर्यादिषु माधुर्यं तीक्ष्णादिषु च तीक्ष्णताम् ।
गतं पदार्थजातेषु चिदात्मानमुपास्महे ॥३९
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्यातुर्यातिगे पदे ।
समं सदैव सर्वत्र चिदात्मानमुपास्महे ॥४०

घट, पट, तट एवं कूप आदि में स्थित, चतुर्विध जीवों में स्पन्दनशील एवं जाग्रत अवस्था में सुषुप्त के समान अवस्थान करने वाला जो चिदाकार आत्मा है, हम उसी की उपासना करते हैं ।।३६।। जो अग्नि में उष्णता, हिम में शीतलता, अन्न में मधुरता, छुरे में तीक्ष्णता, अँधेरे में कालापन, चन्द्रमा में श्वेतता रूप जो चिदात्मा है,हम उसकी उपासना करते हैं ।।३७।। जो बाहर और भीतर आलोक रूप से स्थित है, स्वात्म पदार्थ में जो चित्-रूप होने के कारण निकट ही स्थित होते हुए भी अज्ञान वश दूर प्रतीत होता है, उस चिदात्मा की हम उपासना करते हैं ।।३८।। मिष्ठान्नों में माधुर्य रूप और तीखे पदार्थों में तीक्ष्णता रूप जो चिदात्मा है, हम उसकी उपासना करते हैं ।।३९।। जाग्रत् स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में एक रूप से स्थित, तुरीय और अतुरीय पदों का उल्लंघन कर परमपद में अवस्थित एवं सर्वत्र सदा समान रूप से रहने वाले चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ।।४०।।

अक्षीरार्णवसम्भूतमशशाङ्कमुपस्थितम् ।
अहार्यममृतं सत्यं चिदात्मानमुपास्महे ।।४१
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धैराभासमागतम् ।
तैरेव रहितं शान्तं चिदात्मानमुपागतः ।।४२
आकाशकोशविशदं सर्वलोकस्य रञ्जनम् ।
न रञ्जनं न चाऽऽकाशं चिदात्मानमुपागतः ।।४३
महामहिम्ना सहितं रहितं सर्वभूतिभिः ।
कर्तृत्वे वाऽप्यकर्तारं चिदात्मानमुपागतः ।।४४
अखिलमिदमहं ममैव सर्वं
त्वहमपि नाऽहमथेतरच्च नाऽहम् ।
इति विदितवतो जगत्कृतं मे
स्थिरमथवाऽस्तु गतज्वरो भवामि ।।४५

क्षीर सागर से उत्पन्न हुए अमृत से भी अद्भुत, चन्द्रमा में स्थित सुधा से विलक्षण, सर्वदा प्राप्य जो सत्य चिदात्मा है, हम उसी की उपासना करते हैं ।।४१।। शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध की अभि-

व्यक्ति जिससे प्राप्त होती है, परन्तु जो उन विषयों से निर्लिप्त है उस शान्त चिदाकार आत्मा के स्वरूप को मैं प्राप्त हो गया हूँ ॥४२॥ आकाश के समान विशाल, सब लोकों का रंजन कर्त्ता, परन्तु जो न रंजन रूप है, न आकाश रूप ही है, मैं उसी चिदात्मा के स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ ॥४३॥ महती महिमाओं से सम्पन्न एवं सभी विभूतियों से रहित भी जगत्-कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता जो चिदात्मा है, मैं उसी रूप को प्राप्त हो गया हूँ ॥४४॥ यह सम्पूर्ण सृष्टि मैं ही हूँ, यह सभी कुछ मेरा है, मैं देहादि जड़ रूप नहीं हूं, इसका ज्ञान होने पर, फिर चाहे जगत् कृत्रिम रहे अथवा अकृत्रिम, उसके प्रति मैं किसी प्रकार से सन्तप्त नहीं हूँ ॥४५॥

## ११—स्थिरबुद्धि से भ्रान्ति-निवारण

इति निश्चयवन्तस्ते महान्तो वितैनसः ।
सत्याः सत्ये पदे शान्ते समे सुखरवस्थिताः ॥१
इति पूर्णधियो धीराः समनीरागचेतसः ।
न निन्दन्ति न नन्दन्ति जीवितं मरणं तथा ॥२
इत्यलक्ष्यचमत्कारा नारायणभुजा इव ।
ऋजवः सर्वालताकारा अपरा इव मेरवः ॥३
रेमिरे वनखण्डेषु द्वीपेषु नगरेषु च ।
देवोपवनमालासु स्वर्गषु च सुरा इव ॥४
भ्रेमुः कुसुमपूर्णासु दोलान्दोलचलासु च ।
विचित्रवनलेखासु मेरुश्रृङ्गशिखासु च ॥५

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! उपरोक्त प्रकार से निश्चयवान् पाप-रहित, सत्यस्वरूप, सत्यपद में स्थित एवं शान्त हुए महात्मा ज्ञानीजन परम सुख में अवस्थान कर गये ॥१॥ इस प्रकार पूर्ण बुद्धि वाले महात्मा समान चेता, राग-विराग से रहित तथा जीवन-मरण की निन्दा-प्रशस्ति से मुक्त रहते हैं ॥२॥ इस प्रकार ब्रह्म रूपी लक्ष्य-वेधन में चमत्कार-हस्त व महात्मा भगवान् नारायण की भुजाओं के समान

चक्रं विजितशत्रूणि चामरच्छत्रवन्ति च ।
विचित्रार्थानि राज्यानि चित्राचारमयानि च ॥६
अनुजग्मुरिमान् सर्वान्नानाचारविचेष्टितान् ।
श्रुतिस्मृत्युदितारम्भामितिकर्तव्यतामिति ॥७
ईदृशीरमणीयेषु ललनाहास्यहारिषु ।
विहाराहाररम्येषु भोगाभोगेषु भूषिताः ॥८
विविशुश्चारुचूतासु मन्दारवलितासु च ।
अप्सरोगीतपूर्णासु नन्दनोद्यानभूमिषु ॥९
सचराचरभूतेषु विश्रान्ताखिलजन्तुषु ।
यज्ञक्रियाकलापेषु गार्हस्थ्येषु यथाक्रमम् ॥१०

जिन राज्यों में शत्रुओं पर विजय पाई गई, जिनके राज्य सिंहासन सदा छत्र चमर आदि से शोभा पाते रहे, जिनमें विचित्र अर्थ आदि की व्यवस्था रही, ऐसे उन राज्यों को भी इन महात्माओं ने भोगा है ॥६॥ उन्होंने सभी धर्माचरणों का पालन किया था और श्रुति-स्मृति आदि से सम्मत यज्ञादि का भी अनुष्ठान किया था ॥७॥ उन्होंने दृष्ट अदृष्ट वैभव और रमणियों के हास-परिहास के समान मनोहारी आहार-विहार का भी उपभोग किया था ॥८॥ आम के सुन्दर वृक्षों से सम्पन्न उद्यानों में, मन्दार पुष्प के सुगन्धित हारों से लिप्त होकर अप्सराओं के नृत्य-गान से युक्त नन्दन कानन की सुरम्य भूमि में प्रविष्ट होकर उन जीवन्मुक्तों ने विहार किया था ॥९॥ चराचर प्राणियों से परिपूर्ण लोकों में अखिल जीवों के सुख-साधन रूप क्रिया कलाप में और गृहस्थ जीवन में भी वे प्रविष्ट हो चुके थे ॥१०॥

तेरुर्हतगजेन्द्रासु भ्रान्तभूरिशिवासु च ।
भेरीभाङ्कारभीमासु संग्रामार्णववीथिषु ॥ ११
तस्थुः परुषचित्तासु हृतवित्तोद्धतासु च ।
संरम्भक्षोभरौद्रीषु सर्वासु द्वन्द्वरीतिषु ॥१२
मनस्तेषां तु नीरागमनुपाधि गतभ्रमम् ।
असक्तं मुक्तमाशान्तं परं सत्त्वपदं गतम् ॥१३
न ममज्जुः क्वचिदपि सङ्कटेषु महत्स्वपि ।
महदप्युपयातेषु कुलशैलाः सरस्स्विव ॥१४
नोल्ललास विलासिन्या श्रिया परमकान्तया ।
परिपूर्णेन्दुलक्ष्म्येव जलराशी रघूद्वह ॥१५

जिन भयंकर संग्रामों में वृहदाकार हाथी मारे गये, जिनमें शृगाल नर-मादा उन्मुक्त विचरण करते रहे, जो भेरी के स्वरों से भयंकरता को प्राप्त हुए, ऐसे उन घोर युद्ध रूपी समुद्र-मार्गों को भी उन महात्माओं ने पार कर लिया ॥११॥ चित्तों को क्लेश देने वाली, धन-हरण करने वाले शत्रुओं से पराभूत हुई, क्रोध-क्षोभादि से रौद्र रूप वाली हुई द्वन्द्व वृत्तियों में भी यह महात्मा अटल रहते थे ॥१२॥ उन महात्माओं का मन राग-रहित, उपाधि-रहित, भ्रम-रहित, आसक्ति शून्य, मुक्त, शान्त और श्रेष्ठ परम सत्वपद को प्राप्त हो गया ॥१३॥ वे घोर संकट अथवा महान् ऐश्वर्य प्राप्त करके भी उसी प्रकार विचलित नहीं हुए, जिस प्रकार सरोवरों के वृद्धि-ह्रास से कुल पर्वत विचलित नहीं होते ॥१४॥ हे रघुवर ! जिस प्रकार समुद्र पूर्ण चन्द्रमा की कान्ति से उल्लसित होता है, उस प्रकार इन आत्मज्ञानियों का मन लक्ष्मी और कान्ता को प्राप्त करके भी उल्लास को प्राप्त नहीं होता था ॥१५॥

न मम्लौ दुःखशोकेन ग्रीष्मेणेव वनस्थलम् ।
जहर्ष च न भोगौघैरवश्यायैरिवौषधिः ॥१६
ते हि केवलमव्यग्राः कुर्वन्तः काममञ्जरीः ।
इष्टानिष्टफलं राम नाऽभिलेषुन तत्यजुः ॥१७

नोदगुः कार्यसंपत्ताविवाक्रान्ता नाऽस्तमाययुः ।
जहृषुर्न सुखप्राप्तौ मम्लुर्नैव च सङ्कटे ॥१८
मुमुहुर्न विमोहेषु न ममज्जुर्विपत्क्रमैः ।
न जहृषुः शुभैः शोके रुरुदुर्न भवानिव ॥१९
प्राकृताचारसंप्राप्ते कुर्वन्तः कर्म केवलम् ।
स्थिता विगतसंरम्भमपरा इव मेरवः ॥२०

जैसे ग्रीष्म ऋतु में वनस्पति मलीनता को प्राप्त हो जाता है, वैसे तत्वज्ञानी का मन दुःख-शोक से मलीन नहीं होता। उसी प्रकार जैसे सोम से औषधियाँ उल्लास को प्राप्त होती हैं, वैसे उसका मन भोगों से प्रसन्न भी नहीं होता ॥१६॥ हे राम! वे तत्वज्ञानी पुरुष कर्तृत्व के अभिमान से बचाते हुए, काम मंजरियों का सेवन करते हुए भी इच्छित अनिच्छित की अभिलाषा नहीं करते थे और न उनका त्याग ही करते थे ॥१७॥ वे शत्रु-सेना न तो सम्पत्ति की प्राप्ति पर हर्षित होते थे और न संकट प्राप्त होने पर दुःखित होते थे, उन्हें सुख से हर्ष या दुःख से खिन्नता नहीं होती थी ॥१८॥ मोह के कारणों से न तो मोहित होते थे और न विपत्तियों से विचलित ही। उन्हें शुभ कार्यों से भी कोई हर्ष नहीं होता था और न शोक की प्राप्ति से वे आपके समान रुदन ही करते थे ॥१९॥ आचार से युक्त कर्मों को करते हुए, क्रोध रहित एवं पर्वत के समान दृढ़ रहते थे ॥२०॥

तां त्वं दृष्टिमवष्टभ्य राघवाऽविनाशिनीम् ।
अनहंकृत्यहङ्कारो विहरस्व यथाक्रमम् ॥२१
यथाभूतामिमामेव पश्यन्सर्गपरम्पराम् ।
मेरुस्थितोऽग्निगम्भीरः सममास्स्व गतभ्रमः ॥२२
चिन्मात्रं सर्वमेवेदमित्यमाभासतां गतम् ।
नेह सत्यमसत्यं वा क्वचिदस्ति न किञ्चन ॥२३
महत्तामलमालम्ब्य त्यजस्वेदमवहेलया ।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र भव भव्य भवक्षयी ॥२४

किं रोदिषि घनोद्वेगं मूढवच्चाऽनुशोचसि ।
भ्रमस्युद्भ्रान्तचित्तश्च सौम्यावर्ते तृणं यथा ॥२५

हे राघव ! आप जीवन्मुक्तों की पापनाशिनी उस दृष्टि के अवलम्बन द्वारा अहं-दोष से रहित चिन्मात्र में ही आत्मबुद्धि रखते हुए यथाक्रम विहरिये ॥२१॥ इस सृष्टि परम्परा को देखते हुए आप मेरु के समान दृढ़, समुद्र जैसे गम्भीर एवं समदृष्टि हो जाइये ॥२२॥ यह सभी इस दृश्यमान् जगत् चिन्मात्र रूप ही हैं, इसमें सत्य-असत्य नहीं है, और न चित्स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य का अस्तित्व ही है ॥२३॥ हे राम ! अवहेलना पूर्वक जगत् का त्याग और ब्रह्मरूपत्व का अवलम्बन कीजिए तथा अनासक्त बुद्धि रख कर भवसागर का नाश करने वाले हो जाइये ॥२४॥ अत्यन्त उद्वेग के कारण आप रुदन क्यों कर रहे हैं ? मूढ़ के समान शोक-संतप्त क्यों हो रहे हैं ? जल की भ्रमरों में जैसे तृण उद्-भ्रान्त होता है, वैसे आप भ्रान्त एवं चंचल क्यों हो रहे हैं ॥२५॥

अहो नु भगवन्नून सम्यग्जातमलक्षयः ।
त्वत्प्रसादात्प्रबुद्धोऽस्मि सूर्यसङ्गादिवाऽम्बुजम् ॥२६
भ्रान्तिरस्तं गता नूनं मिहिका शरदीव मे ।
संशान्ताखिलसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥२७
व्यपगतमदमोहो मानमात्सर्यमुक्त-
श्चिरतरमुदितात्मा शान्तशोकश्चिरेण ।
पुनरसुखमगच्छन्स्वच्छयंकान्तबुद्ध्या
यदिह वदसि साधो तत्करिष्येऽविशङ्कम् ॥२८

श्रीराम बोले—हे भगवन् ! आपके प्रसाद से मेरा अज्ञान रूपी मल नष्ट हो गया है और जैसे सूर्य के सम्पर्क से कमल खिल जाता है, वैसे ही मेरी बुद्धि विस्तृत हो गई है ॥२६॥ जैसे शरत्काल की प्राप्ति पर वर्षा नष्ट हो जाती है, वैसे ही मेरी भ्रान्ति दूर हो चुकी है, अब मैं सन्देह रहित एवं शान्त होकर आपके वचनों के अनुसार चलूँगा ॥२७॥ मेरा मद, मोह, मान, मात्सर्य मिट चुका, चिरकाल के पश्चात् मेरी आत्मा शोक-संताप से रहित, शान्त एवं प्रमुदित हुई है । अब मैं भ्रम

रूपी दुःख में कभी नहीं पड़ूँगा, अतः निश्चित बुद्धि वाला मैं अब हे साधो ! आप जिस कर्त्तव्य का उपदेश करेंगे, उसका निःशंक रूप से पालन करूँगा ॥२८॥

## १२—काकभुशुण्ड का प्रसंग वर्णन

सम्यग्ज्ञानविलासेन वासनाविलयोदये ।
जीवन्मुक्तपदे ब्रह्मन्नूनं विश्रान्तवानहम् ॥१
प्राणस्पन्दनिरोधेन वासनाविलयोदये ।
जीवन्मुक्तपदे ब्रह्मन्वद विश्रम्यते कथम् ॥२
संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।
तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशमधर्मिणीम् ॥३
आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि ।
द्वितीयः प्राणसंरोधः शृणु योऽयं मयोच्यते ॥४
सुलभत्वाददुःखत्वात् कतरः शोभनोऽनयोः ।
येनाऽवगतमात्रेण भूयः क्षोभो न बाधते ॥५

श्रीराम बोले—हे ब्रह्मन् ! सम्यग्-ज्ञान के द्वारा वासना के विलीन होने पर जीवन्मुक्तपद में मुझे विश्रान्ति की प्राप्ति हुई है ॥१॥ हे भगवन् ! अब आप यह बताइए कि प्राण का स्पन्दन रोकने पर वासना का नाश होकर जीवन्मुक्तपद में विश्रान्ति की प्राप्ति किस प्रकार होती है ॥२॥ वसिष्ठजी बोले—संसार से पार करने वाला उपाय ही 'योग' कहा जाता है। चित्त को लीन करने वाले इस उपाय के दो भेद हैं—प्रथम आत्मज्ञान और दूसरा प्राण-निरोध। अब इनके विषय में कहता हूँ ॥३-४॥ श्रीराम ने पूछा—हे प्रभो ! उन दोनों में से कौन-सा उपाय ऐसा है जो सुलभ, कष्ट-रहित और श्रेष्ठ है, जिसके जान लेने पर क्षोभ से बाधा की प्राप्ति नहीं होती ? ॥५॥

प्रकारौ द्वावपि प्रोक्तौ योगशब्देन यद्यपि ।
तथापि रूढिमायातः प्राणयुक्तावसौ भृशम् ॥६

एको योगस्तथा ज्ञानं संसारोत्तरणक्रमे ।
समावुपायौ द्वावेव प्रोक्तावेकफलप्रदौ ॥७
असाध्यःकस्यचिद्योगःकस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः ॥८
द्वावेव किल शास्त्रोक्तौ ज्ञानयोगौ रघूद्वह ।
तत्रोक्तं भवते ज्ञानमन्तस्थं ज्ञेयनिर्मलम् ॥९
प्राणापानतया रूढो दृढदेहगुहाशयः ।
अनन्तसिद्धिदः साधो योगोऽयं बुद्धिदः शृणु ॥१०

वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! यद्यपि शास्त्रों में दोनों को ही 'योग' कहा गया है, फिर भी प्राण के निरोध में ही 'योग' की अधिक प्रसिद्धि है ॥६॥ ज्ञानीजन यह भी कहते हैं कि संसार-सागर से पार करने में योग और ज्ञान दोनों ही समान फल के देने वाले हैं ॥७॥ किसी सुकुमार चेता पुरुष के लिए योग असाध्य है तो किसी के लिए ज्ञान कठिन है, परन्तु हे साधो ! मेरी सम्मति में तो ज्ञान-योग ही सुसाध्य है ॥८॥ हे रघुवर ! शास्त्रों में उक्त दोनों उपायों का वर्णन है। उनमें ज्ञेय को स्पष्ट करने वाला अनंतज्ञान आत्मज्ञान है ॥९॥ हे साधो ! प्राण-अपान की समता वाला योग दृढ़ देह रूपी गुफा का आश्रय करता है, सिद्धि चाहने वालों को अनन्त सिद्धियों का देने वाला और ज्ञानेच्छुकों को आत्मज्ञान का दाता है ॥१०॥

अस्ति तावदनन्तस्य तस्य क्वचिदयं किल ।
जगद्रूपः परिस्पन्दो मृगतृष्णा मराविव ॥११
तत्र कारणतां यातो ब्रह्मा कमलसंभवः ।
स्थितः पितामहत्वेन सृष्टभूतभयभ्रमः ॥१२
तस्याऽहं मानसः पुत्रो वसिष्ठः श्रेष्ठचेष्टितः ।
ऋक्षचक्रे ध्रुवधृते निवासमि युगं प्रति ॥१३
सोऽहं कदाचिदास्थाने स्वर्गे तिष्ठञ्छतक्रतोः ।
श्रुतवान्नारदादिभ्यः कथां सुचिरजीविनाम् ॥१४

कथाप्रसङ्गे कस्मिश्चिदथ तत्राऽभुवाच ह ।
शातातपो नाम मुनिर्मौनी मानी महामतिः ॥१५

हे राम ! उस अनन्त परमपद में कहीं, जैसे मरुभूमि में मृगतृष्णा है, वैसे ही यह जगद्रूप है ॥११॥ उसमें कारणरूपता को प्राप्त हुए एवं प्राणि-समूह में भ्रम उत्पन्न करने वाले कमलयोनि पितामह ब्रह्माजी अवस्थित हैं ॥१२॥ उन्हीं पितामह ब्रह्मा का मानसपुत्र एवं श्रेष्ठ-आचार वाला मैं वसिष्ठ ध्रुव द्वारा धारण किये हुए सप्तर्षिलोक में वैवस्वत मन्वन्तर तक स्थित रहता हूँ ॥१३॥ कभी मैंने स्वर्ग स्थित इन्द्र-सभा में स्थित रह कर देवर्षि नारद से दीर्घजीवी प्राणियों की कथा श्रवण की थी ॥१४॥ उस कथा के प्रसङ्ग में शातातप नाम के एक मितभाषी, सम्मानीय एवं मेधावी मुनि कहने लगे ॥१५॥

मेरोरीशानकोणस्थे पद्मरागमये दिवि ।
अस्ति कल्पतरुः श्रीमाञ्छृङ्गे चूत इति श्रुतः ॥१६
तस्य कल्पतरोर्मूर्ध्नि दक्षिणस्कन्धकोटरे ।
कलधौतलताप्रोते विद्यते विहगालयः ॥१७
तस्मिन्निवसति श्रीमान्भुशुण्डो नाम वायसः ।
वीतरागो बृहत्कोशे ब्रह्मेव निजपङ्कजे ॥१८
स यथा जगतां कोशे जीवतीह सुराश्चिरम् ।
चिरञ्जीवी तथा स्वर्गे न भूतो न भविष्यति ॥१९
स दीर्घायुः स नीरागः स श्रीमान् स महामतिः ।
स विश्रान्तमतिः शान्तः स कान्तः कालकोविदः ॥२०

शातातप बोले—मेरु पर्वत के ईशानकोण में पद्मराग मणि के समान प्रकाशित शिखर पर एक कल्पतरु वृक्ष सुशोभित है ॥१६॥ उस कल्पतरु के ऊपर स्वर्ण-रजतमय कल्पलताओं से सम्पन्न दक्षिण तने के कोटर में पक्षियों का एक घोंसला है ॥१७॥ उस घोंसले में ऐश्वर्यवान् एवं वीतराग एक कौआ रहता है, उसका नाम भुशुण्ड है । जैसे ब्रह्माजी विशालकोश वाले अपने कमल में निवास करते हैं, वैसे ही काकभुशुण्ड वहाँ निवास करते हैं ॥१८॥ हे देवताओ ! वह पक्षीराज इस विश्व-

कोश में जिस प्रकार चिरकाल से जीवित है, उस प्रकार का चिरजीवी तो इस स्वर्गलोक में भी न कोई हुआ, न होगा ॥१९॥ वह काकभुशुण्ड दीर्घायु,, राग-शून्य, ऐश्वर्यवान, महान् एवं स्थिर बुद्धि वाला, शान्त, कमनीय तथा काल की गति का ज्ञाता है ॥२०॥

इति तेन भुशुण्डोऽसौ भूयः पृष्टेन वर्णितः।
यथावदेव देवानां सभायां सत्यमुक्तवान् ॥२१
कथावसरसंशान्तावथ याते सुरव्रजे।
भुशुण्डंविहगं द्रष्टुमहं यातः कुतूहलात् ॥२२
भुशुण्डः स स्थितो यत्र मेरोः शृङ्गं तदुत्तमम्।
संप्राप्तवान् क्षणेनाऽहं पद्मरागमयं बृहत् ॥२३
सुरकिन्नरगन्धर्वविद्याधरवरान्वितम्।
जगज्जालमिवाऽनन्तं दशाशाकाशपूरकम् ॥२४
नीरन्ध्रकलिकाजालं नीरन्ध्रमृदुपल्लवम्।
नीरन्ध्रविकसत्पुष्पं नीरन्ध्रवनमालितम् ॥२५

उस काकभुशुण्ड के विषय में मैंने कुछ कालोपरान्त उन शातातप से पुनः पूछा था तो उन्होंने पूर्व प्रकार से ही उसका वर्णन किया। इससे उनके वर्णन की सत्यता में सन्देह नहीं रहा ॥२१॥ कथा-प्रसंग की समाप्ति पर सब देवता अपने-अपने स्थान को गए और मैं भी उत्कंठा पूर्वक काकभुशुण्ड को देखने की इच्छा से चल पड़ा ॥२२॥ उस मेरु पर्वत के पद्मरागमणि जैसे चमकते हुए श्रेष्ठ शिखर पर, जहाँ काकभुशुण्ड रहता था, मैं एक क्षण में ही जा पहुंचा ॥२३॥ वह शिखर देवता, किन्नर, गन्धर्व और विद्याधरों आदि से समन्वित था, जगत्-जाल के के समान अनन्त वह शिखर दसों दिशा और आकाश को भी व्याप्त किये हुए था ॥२४॥ वह कलिका-जाल से परिपूर्ण और कमनीय पल्लवों से युक्त था। वहाँ सुन्दर पुष्प खिले हुए थे, जिनसे वनमालाएँ प्रसूत होती थीं ॥२५॥

नीरन्ध्रमञ्जरीपुञ्जं नीरन्ध्रमणिगुच्छकम्।
नीरन्ध्रांशुकरत्नाढ्यं लताविलसनाकुलम् ॥२६

सर्वत्र कुसुमापूरैः सर्वत्र फलपल्लवैः ।
सर्वामोदरजःपुञ्जैः परं वैचित्र्यमागतम् ॥२७
तस्य कक्षेषु कुञ्जेषु लतापत्रेषु पर्वसु ।
पुष्पेष्वालयसंलीनान् विहगान् दृष्टवानहम् ॥२८
निशानाथकलाखण्डमृणालशकलैधितान् ।
अर्जुनाम्भोजिनीकन्दकवलान् ब्रह्मसारसान् ॥२९
विचञ्चेरथ हंसानां पोतकान् सामगायिनः ।
ॐकारवेदसुहृदो ब्रह्मविद्यानुशासनान् ॥३०

सर्वत्र मंजरी-पुंज और मणि जैसे पुष्प गुच्छ लदे थे, रत्न रूपी पल्लवों से आवेष्टित उस शिखर पर लताएँ झूम रही थीं ॥२६॥ सब ओर सुन्दर पुष्प खिले हुए थे, फल-पत्र और परागों से युक्त अद्भुत प्रतीत होने वाले उस कल्पतरु को मैंने देखा ॥२७॥ फिर उस वृक्ष के तने और पुष्प, पत्र, लता आदि से युक्त शाखा के विवरों में घोंसले बना कर रहने वाले पक्षियों को देखा ॥२८॥ वहाँ कमलनाल के समान चन्द्रमा की कला के खण्डों से बढ़ते हुए, कमलिनीकंद का भोजन कराने वाले, ब्रह्माजी के वाहन हंस पक्षी मुझे दिखाई दिये ॥२९॥ वहीं ब्रह्माजी के वाहन वे हंस भी मैंने देखे जो वेद एवं ब्रह्मविद्या में पारंगत थे और वहाँ साम-गान कर रहे थे ॥३०॥

उद्गीर्णमन्त्रनिचयान् स्वाहाकारनिभस्वनान् ।
अस्थिरैकतडित्पुञ्जनीलमेघसमोपमान् ॥३१
देवैर्निरीक्षितान् नित्यं यज्ञवेदिलतादलान् ।
शुकान्काशानिवाञ्छ्यामाञ्छिशुञ्छिखिशिखाशिखान् ॥३२
गौरीरक्षितवर्हौघान् कौमारान् वरवर्हिणः ।
स्कन्दोपन्यस्तनिःशेषशैवविज्ञानकोविदान् ॥३३
द्वितुण्डांश्च भरद्वाजान् हेमचूडान्विहङ्गमान् ।
कलविङ्कत्रलान् गृध्रान्कोकिलान् क्रौञ्चकुक्कुटान् ॥३४
भासचापवलाकादीन् वहूनन्यांश्च राघव ।
भूतौघं जगतीवाऽह दृष्टवांस्तत्र पक्षिणः ॥३५

फिर मैंने मन्त्र-पाठ करते हुए, स्वाहाकार के समान शब्द वाले, शंखोपम, विद्युत और नीलमेघ जैसे उन शुकों को देखा जो अग्नि के वाहन कहे गये हैं उनका देवगण नित्य दर्शन किया करते थे। वे यज्ञ-वेदियों को आच्छादित करने वाले कुशों के तुल्य हरित् वर्ण के थे। फिर अग्निशिखा के समान देदीप्यमान् शिखाओं वाले मयूरों के अर्भक देखे, जिनके परों की रक्षिका पार्वतीजी हैं और जो स्वामी कार्तिकेय द्वारा उपदिष्ट शैवज्ञान में पारंगत थे ॥३१-३३॥ तदनन्तर दो चोंच वाले भरद्वाज नामक पक्षी और सोने की शिखा वाले पक्षी तथा कलविंक, गृध्र, कोयल, क्रौंच और मुर्गा आदि विहंग-समूह को मैंने वहाँ देखा ॥३४॥ हे राघव! वहीं बलाका आदि अन्य अनेक रूप वाले बहुत से पक्षिओं को मैंने उसी प्रकार देखा, जैसे विश्व में यह विविध प्रकार के जीव भरे पड़े हैं ॥३५॥

तत्र पश्याम्यहं यावदेकान्ते स्कन्धकोटरे।
विचित्रकुसुमास्तीर्णे विविधामोदशालिनि ॥३६
पुण्यकृद्योषितां स्वर्गे प्रियस्तवकवासिताः।
अपरिक्षुभिताकाराः सभायां वायसा स्थिताः ॥३७
विभेद्य मेघा वातेन समेनेवाऽपसारिताः।
तेषां मध्ये स्थितः श्रीमान् भुशुण्डः प्रोन्नताकृतिः ॥३८
प्राणस्पन्दावधानेन नित्यमन्तर्मुखः सुखी।
चिरञ्जीवीति विख्यातश्चिरजीवितया तया ॥३९
जगद्विदितदीर्घायुर्भुशुण्ड इति विश्रुतः।
युगागमापायदशादर्शनप्रौढमानसः ॥४०

फिर जैसे ही मेरी दृष्टि फिरी तो एक एकान्त कोटर पर अद्भुत सुगंधित पुष्पों से सुशोभित, अप्सराओं के उपभोग के योग्य स्वर्ग जैसे स्थान में, अक्षुब्ध आकृति वाले बहुत-से काक स्थित हैं। उस पुष्पों से सुगन्धित, शान्त सभा जैसे वातावरण में उन काकों के मध्य में उन्नत देह वाले श्रीमान् काकभुशुण्डजी विराजमान हैं ॥३६-३८॥ प्राणायाम की क्रिया से प्राण के निरोध द्वारा अन्तर्मुख वृत्ति वाला वह काक बड़ा सुखी

था और चिर जीवन प्राप्त करने के कारण 'चिरंजीवी' नाम से विख्यात होगया था ॥३९॥ संसार में विदित वह दीर्घायुष्य काक युगों की उत्पत्ति और विनाशों को देखता-देखता प्रौढ़ हृदय का होगया था ॥४०॥

## १३—काकभुशुण्ड-वसिष्ठ भेंट

अथ तस्याऽहमपतं दीप्यमानवपुः पुरः ।
किञ्चिद्विक्षोभितसभः खान्नक्षत्रमिवाऽचले ॥१
चुक्षोभ वायसास्थानं नीलोत्पलसरःसमम् ।
मत्पातमन्दवातेन भूकम्पेनेव सागरः ॥२
अशङ्कितमपि प्राप्त दर्शनान्मामनन्तरम् ।
भुशुण्डस्तु वसिष्ठोऽयं प्राप्त इत्यवबुद्धवान् ॥३
पत्रपुञ्जात् समुत्तस्थौ मेघशाव इवाऽचलात् ।
हे मुने स्वागतमिति प्रोवाच मधुराक्षरम् ॥४
सङ्कल्पमात्रजाताभ्यां कराभ्यां कुसुमाञ्जलिम् ।
मह्यमाशु तदैवाऽदान्मेघो हैममिवोत्करम् ॥५

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! वहाँ पहुँच कर मैं अपने दीप्तिमय देह से उस काकभुशुण्ड के सामने वैसे ही उतरा जैसे कोई आकाशस्थ नक्षत्र पर्वत पर उतर आवे। मेरे उतरते ही उस सभा में कुछ हलचल-सी उत्पन्न होगई ॥१॥ जैसे भूकम्प के धक्कों से सागर में उथल पुथल मच जाती है, वैसे ही मेरे उतरने के कारण आये हुए मंद वायु के झोंके से, नील कमलों से परिपूर्ण सरोवर जैसी प्रतीत होने वाली उस कौओं की सभा में उथल-पुथल मच गई ॥२॥ फिर उस त्रिकालदर्शी भुशुण्ड ने मुझे देखते ही अशंकित चित्त से यह वसिष्ठजी आगये, ऐसा समझ लिया ॥३॥ तदुपरान्त पर्वत से उठते हुए अल्प मेघ के समान, पत्र-समूह से उठते हुए उस भुशुण्ड ने मधुर शब्दों में कहा—हे मुने ! आपका स्वागत है ॥४॥ यह कहते ही उसने अपने दोनों हाथों से पुष्पांजलि की वर्षा मेरे ऊपर उसी प्रकार की, जिस प्रकार कि मेघ हिम की घोर वर्षा करता है। अंजलि के पुष्प उसके संकल्प मात्र से उत्पन्न होगए थे ॥५॥

इदमासनमित्युक्त्वा नवं कल्पतरुच्छदम् ।
उपानीतवति त्यक्तभृत्ये वायसनायके ॥६
भुशुण्ड उत्थिते स्वीयकलापक्षेषु पक्षिषु ।
उपविष्टं मुनिं दृष्ट्वा स्वासनोन्मुखदृष्टिषु ॥७
समन्तात् खगवृन्देन भुशुण्डेन समं ततः ।
तस्मिन्कल्पलतापुञ्जे ह्य पविष्टोऽहमासने ॥८
अर्घ्यपाद्यादि सम्पाद्य भुशुण्डस्तुष्टमानसः ।
मामुवाच महातेजाः सौहृदान्मधुराक्षरम् ॥९
अहो भगवताऽस्माकं प्रसादो दर्शितश्चिरात् ।
दर्शनामृतसेकेन यत्सिक्ताः सद्द्रुमा वयम् ॥१०

फिर उस काकनायक भुशुण्ड ने भृत्यवर्ग की अपेक्षा स्वयं उठ कर कल्पवृक्ष के नवीन पत्रों का आसन लाकर उपस्थित किया और बोला कि यह आसन है ॥६॥ तब मैं उस आसन पर बैठा, भुशुण्ड भी बैठ गया। मुझे आसन पर स्थित हुआ देखकर सभा में स्थित सभी काक अपने-अपने आसन की ओर देखने लगे इस प्रकार जब सभी उस कल्प॰ लता पुंज में अपने-अपने आसनों पर बैठ गये तब भुशुण्ड ने अर्घ्य, पाद्यादि से मेरा सत्कार किया और अत्यन्त हर्षित चित्त से मधुर वाणी में बोला ॥७-९॥ भुशुण्ड ने कहा—हे भगवन् ! मेरा अहोभाग्य है जो दीर्घकाल के पश्चात् आपका अनुग्रह युक्त दर्शन हमें प्राप्त हुआ है, उस दर्शनामृत से सींचे गये हम आज पुण्यवृक्ष के समान ही पवित्र होगये हैं ॥१०॥

मत्पुण्यचिरसंभारप्रेरितेन त्वयाऽधुना ।
मुने मान्यैकमान्येन कुतश्चाऽऽगमनं कृतम् ॥११।
कच्चिदस्मिन्महामोहे चिरं विहरतस्तव ।
अखण्डितैव समता स्थिता चेतसि पावने ॥१२
किमर्थमद्याऽऽगमनक्लेशेनाऽऽत्मा कदर्थितः
वचनश्रवणोत्कानामाज्ञां नो वक्तुमर्हसि ॥
त्वत्पाददर्शनादेव सर्वं ज्ञातं मया मुने ।
त्वदागमनपुण्येन ययमायोजितास्त्वया ॥१४

चिरञ्जीवितचर्चाभिर्वयं वः स्मृतिमागताः ।
तेनेदमास्पदं पादैस्त्वं पवित्रितवानयम् ॥१५

यद्यपि आपका आगमन मेरे चिर संचित पुण्यों की प्रेरणा से ही हुआ है, फिर भी हे महामान्य ! इस समय आप कहाँ से पधार रहे हैं ॥११॥ हे मुने ! इस महामोह से आच्छन्न विश्व में दीर्घकाल से विचरण कर रहे हैं, आपके पवित्र चित्त में अखण्डता तो समान रूप से स्थित है न ? ॥१२॥ हे प्रभो ! इतने कष्ट सह कर आपका आगमन किस उद्देश्य से हुआ है। हम आपके आदेशपूर्ण वचनों को सुनने के लिए उत्कंठित हो रहे हैं, क्योंकि आज्ञा देने में आप सर्वथा समर्थ हैं ॥१३॥ हे मुने ! आपके चरणों के दर्शन करते ही मैं यह जान गया हूँ कि आपने अपने आगमन रूपी पुण्य से हम पर बड़ा उपकार किया है ॥१४॥ देव-सभा में हमारी चर्चा ही आपके द्वारा हमारी स्मृति का एक मार्ग है और उसी के द्वारा आपने अपने चरणों से मुझे पवित्र किया है ॥१५॥

ज्ञातत्वदागमोऽप्येवं त्वां पृच्छामीह यन्मुने ।
भवद्वाक्यामृतास्वादवाञ्छित प्रविजृम्भते ॥१६
इत्युक्तवानसौ पक्षी भुशुण्डश्चिरजीवितः ।
त्रिकालमलसंवेदी तत्र प्रोक्तमिदं मया ॥१७
विहङ्गम महाराज सत्यमेतत्त्वयोच्यते ।
द्रष्टुमभ्यागतोऽस्म्यद्य त्वामेव चिरजीवितम् ॥१८
आशीतलान्तःकरणो दिष्ट्या कुशलवानसि ।
पतितोऽसि न बुद्धात्मा भीषणां भववागुराम् ॥१९
तदेतं संशयं छिन्धि भगवन्मम सत्यतः ।
कस्मिन्कुले भवाञ्जातो ज्ञातज्ञेयः कथं भवान् ॥२०

हे मुने ! यद्यपि आपके आगमन के विषय में मैंने पहिले से ही सब कुछ जान लिया है, फिर भी आपकी वाणी रूपी अमृत का रसास्वादन करने की उत्कंठा बढ़ रही है, इसीलिए आपसे पूछ रहा हूं ॥१६॥ उस चिरजीवी एवं त्रिकालज्ञ काकभुशुण्ड के इस प्रकार कहने पर मैं बोला ॥१७॥ वशिष्ठजी ने कहा—हे विहंगराज ! आप यथार्थ कह रहे हो, मैं

आज आप चिरजीवी के दर्शनार्थ ही यहाँ आया हूँ ॥१८॥ आपका अन्तःकरण पूर्णतया शान्त है, आप प्रबुद्धात्मा एवं कुशल हो इसीलिए इस भीषण भवजाल से बचे हुए हो। हे भगवन् ! आप सर्वज्ञानी हो, इसलिए मेरे इस संशय का समाधान करो कि आप किस कुल में उत्पन्न हो, इस तत्वज्ञान की प्राप्ति आपको किस प्रकार हुई ॥१९-२०॥

कियदायुश्च ते साधो वृत्तं स्मरसि किञ्च वा ।
केनाऽयं वा निवासस्ते निर्दिष्टो दीर्घदर्शिनः ॥२१
यत्पृच्छसि मुने सर्वं तदिदं वर्णयाम्यहम् ।
अनुद्वेगितया यत्नात्कथा श्राव्या महात्मना ॥२२
अथ राम भुशुण्डोऽसौ न प्रहृष्टो न वक्रधीः ।
सर्वाङ्गसुन्दरः श्यामः प्रावृषीव पयोधरः ॥२३
स्निग्धगम्भीरवचनः स्मितपूर्वाभिभाषणः ।
करस्थविल्वफलवत्प्रतोलितजगत्त्रयः ॥२४
तृणवद्दृष्टसकलः प्रमेयीकृतसंसृतिः ।
लोकाजवं जवोभावे दृष्टज्ञानपरावरः ॥२५

हे साधो ! हे दीर्घदर्शी ! आपकी आयु और इतिवृत्त क्या है ? निवासरूप इस कल्पवृक्ष को आपके लिए किसने निश्चित किया है ? ॥२१॥ भुशुण्ड बोला—हे मुने! आपके पूछे हुए सब को ही बताता हूँ। आप उद्वेग रहित होकर इस कथा को सुनिये ॥२२॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! फिर वह वर्षा के मेघों जैसे श्याम वर्ण वाला, सर्वांग सुन्दर, लाभ-हानि से प्रसन्न या दुःखित न होने वाला काकभुशुण्ड स्निग्ध और गंभीर वाणी में कहने लगा। अभिभाषण से पूर्व उसमें स्मितता थी। हाथों की बिल्वफल के समान इंगित से प्रतीत होता था कि त्रय-लोक की इयत्ता का उसे पूर्णज्ञान था ॥२३-२४॥ उसके लिए विश्व के सम्पूर्ण भोग तृण के समान थे, वासना-भूमि इस संसार के रहस्य को वह भले प्रकार जानता हुआ परापर ब्रह्म का पूर्ण ज्ञाता होगया था ॥२५॥

षट्पदश्रेणिनयना यस्योच्चस्तबकस्तनी ।
विलासिनी शरीरार्धे लता चूततरोरिव ॥२
हिमहारसिता यस्य लहरीस्तबकोम्भिता ।
आवेष्टितजटाजूटा गङ्गाकुसुममालिका ॥३
क्षीरसागरसंभूतः प्रसृतामृतनिर्झरः ।
प्रतिबिम्बकरः श्रीमान्यस्य चूडामणिः शशी ॥४
अनारतशिरश्चन्द्रप्रस्रवेणाऽमृतीकृतः ।
यस्येन्द्रनीलवत्कालकूटः कण्ठे विभूषणम् ॥५

काकभुशुण्ड बोले—हे महामुने ! इस जगती में सभी देवलोक निवासियों के देवाधिदेव एवं सभी देवताओं द्वारा वन्दित भगवान् शंकर ही हैं ॥१॥ आम्र के वृक्ष जैसे उनके देहार्ध में भौरों की पंक्ति जैसे नेत्रों वाली और उन्नत पुष्पगुच्छों के समान स्तनमयी लता शोभा पाती है ॥२॥ जो गङ्गा रूपिणी कुसुम-मालिका हार के समान लहर रूपी स्तबों से गूँथी गई है, उसने उनके जटा-जूट को वेष्टित किया हुआ है ॥३॥ क्षीरसागर से उत्पन्न हुआ अमृत की वर्षा करने वाला चन्द्रमा ही उनके लिए प्रतिबिम्ब दिखाने वाला एवं चूडामणि स्वरूप है ॥४॥ चन्द्रमा के निरन्तर अमृत प्रवाह से विषशक्ति से रहित एवं संजीवनी शक्ति को प्राप्त हुआ, कालकूट विष उनके कंठ में नीलमणि के समान विभूषित है ॥५॥

धूलिलेखामहावर्तं स्वच्छपावकसम्भवम् ।
परमाणुमयं भस्म यस्य ज्ञानजलं सितम् ॥६
निर्मलानि जितेन्दूनि मृष्टानि घटितानि च ।
यस्याऽस्थीन्येव रत्नानि देहकान्तमयानि च ॥७
सुधाकरसुधाधौतं नीलनीरदपल्लवम् ।
तारकाबिन्दुशबलं यस्य चाऽम्बरमम्बरम् ॥८
भ्रमच्छिवाङ्गनापक्वमहामांसोदनाकुलम् ।
बाहभूतं गृहं यस्य श्मशानं हिमपाण्डुरम् ॥९

चित्त विश्व-कल्याण की भावना से प्राणियों को प्रकृतिस्थ रखते हुए ही समाधि में स्थित रहता है। उसी समाधि के टूटने पर उनके हाथ का हिलना मात्र ही विकराल असुरों और बड़े-बड़े नगरों को नष्ट करने में समर्थ होता है ॥१३॥ स्नेह, राग और द्वेष से रहित, रसमय होते हुए भी भोजन जिनके लिए नीरस है, अशनादि से वितृष्णाओं से, जो रहित हैं, एकान्त पर्वत में ही जो ध्यान के योग्य हैं ॥१४॥ त्रिनेत्र, दीप्तिमय मुख वाले उन शंकर का सर्वशक्ति-समन्वित प्रमथगण एवं मातृकागण रूपी परिवार एवं सहायक हैं ॥१५॥

जया च विजया चैव जयन्ती चाऽपराजिता ।
सिद्धा रक्ताऽलम्बुसा च उत्पला चेति देवताः ॥१६
सर्वासामेव मातृणामष्टावेतास्तु नायिकाः ।
आसामनुगतास्त्वन्यास्तासामनुगता परा: ॥१७
तासां मध्ये महार्हाणां मातृणां मुनिनायक ।
अलम्बुसेति विख्याता माता मानद विद्यते ॥१८
वज्रास्थितुण्डश्चण्डाख्य इन्द्रनीलाचलोपमः ।
तस्यास्तु वाहनं काको वैष्णव्या गरुडो यथा ॥१९
इत्यष्टैश्वर्ययुक्तास्ता मातरो रौद्रचेष्टिताः ।
कदाचिन्मलिता व्योम्नि सर्वाः केनाऽपि हेतुना ॥२०

जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, सिद्धा, रक्ता, अलम्बुसा और उत्पला नाम की यह आठ मातृकाएं प्रमुख हैं तथा अन्य मातृकाएं इन्हीं का अनुकरण करती हैं और उन अनुकरण करने वाली मातृकाओं का अनुसरण उनकी अनुगत मातृकाएं करती हैं ॥१६-१७॥ हे मुनिराज ! हे मानद ! उन महिमामयी आठ मातृकाओं में भी 'अलम्बुसा' नाम की मातृका अधिक प्रसिद्ध हैं ॥१८॥ जैसे वैष्णवीशक्ति का वाहन गरुड़ है, वैसे ही अलम्बुसा का वाहन इन्द्रनील पर्वत के समान नीला एवं वज्र जैसी दृढ़ अस्थियों के मुख वाला चण्ड नामक काक है ॥१९॥ एक समय की बात है, जब वे भयंकर चेष्टा वाली एवं अष्टसिद्धि सम्पन्न सभी मातृकाएं गगन मंडल में एकत्रित हुईं ॥२०॥

उत्सवं परमं चक्रुः परमार्थप्रकाशकम् ।
वामस्रोतोगता एतास्तुम्बुरुं रुद्रसाश्रिताः ॥२१
पूजयित्वा जगत्पूज्यौ देवौ तुम्बुरुभैरवौ ।
विचित्रार्थाः कथाश्चक्रुर्मदिरामदतोषिताः ॥२२
अथेयमाययौ तासां कथावसरतः कथा ।
अस्मानुमापतिर्देवः किं पश्यत्यवहेलया ॥२३
प्रभावं दर्शयामोऽस्य पुनर्नाऽस्मांस्त्वसौ यथा ।
दृष्टमात्रमहाशक्तिः करिष्यत्यवधीरणम् ॥२४
इति निश्चित्य ता देव्यो विवर्णवदनाङ्गिकाम् ।
उमामेव वशीकृत्य प्रोक्षयामासुराहृताः ॥२५
माययाऽपहृतां भर्तुरङ्गादङ्गमुपागताम् ।
तामालोलकचां देव्यः शेपुरोदनतां गताम् ॥२६

वाम स्रोत प्रतिपादिता इन अष्ट मातृकाओं ने तुम्बरु नामक रौद्र रूप धारण कर परमार्थ प्रकाशनार्थ उत्सव किया ॥२१॥ जगत्पूज्य तुम्बरु देव और भैरव आदि का पूजन कर मद-पान से सन्तुष्ट हुई वे मातृकाएँ परस्पर वार्तालाप में तत्पर हुईं ॥२२॥ विभिन्न कथाओं के प्रसंग में यह बात भी चल पड़ी कि उमापति विष्णु भगवान् हम मातृकाओं को अवहेलना पूर्वक क्यों देखते हैं ॥२३॥ इसलिए अब हमें अपना प्रभाव दिखलाना चाहिए, जिससे कि वे हमारी महाशक्ति को जान लें और पुनः हमारा तिरस्कार न करें ॥२४॥ इस प्रकार निश्चय करके उन मातृकाओं ने अपने रूपादि परिवर्तन पूर्वक रुद्र-शक्ति उमा को अपने वश में कर समंत्रक जल से उसी प्रकार प्रोक्षित किया, जिस प्रकार यज्ञीय पशु का प्रोक्षण किया जाता है ॥२५॥ फिर उन मातृकाओं ने माया द्वारा अपहरण की हुई चचल केश वाली पार्वती को ओदन रूप करने के लिए अभिशप्त किया ॥२६॥

पार्वती प्रोक्षणादिने तस्मिस्तत्र महोत्सवः ।
बभूव तासां सर्वासां नृत्यगेयमनोहरः ॥२७

अत्यानन्दमनुद्दामरवनेवाऽम्बरं सभौ।
दीर्घात्रयवविक्षेपविकासिजघनोदराः ॥२८
अन्या जहसुरुद्दामतालक्ष्वेडाघनारवम् ।
लसदङ्गविकारं च ध्वनत्सगिरिकानना: ॥२९
अन्या जगुर्ध्वनच्छैलगृहमापानतोषिताः ।
वारीव रववद्रञ्जञ्जगन्मण्डलकोटरे ॥३०
अन्याः पानं पपुः पुष्टचर्चिताङ्गशिरःखुरम् ।
लीलाघुरंघुरारावरणदाकाशकोटरे ॥३१
पपुरुदगुरथोच्चै। सत्वरा जग्मुरूच्चु-
र्जहसुरपुरहौषुः पेतुरुच्चैर्ववल्गुः ।
ननृतुरनिशमादुः स्वादु मांसं च देव्य-
स्त्रिभुवनमपवृत्तं चक्रुरुन्मत्तवृत्ताः ॥३२

पार्वती के प्रोक्षण वाले दिन उन्होंने नृत्य-गान आदि से युक्त मनोहर उत्सव मनाया ॥२७॥ उच्चघोष और उल्लास से परिपूर्ण गगन मंडल उस उत्सव से आलोकित हो उठा। उस समय उन देवियों के अंग दीर्घावयव विक्षेप से विकास को प्राप्त होने लगे ॥२८॥ वनों और पर्वतों को मनोहर शब्द से परिपूर्ण करती हुई कुछ अन्य देवियाँ अपने सिंहनाद और करताल-ध्वनि करती हुई एवं कान्तिमय अंगों को प्रदर्शित करती हुई सविकार अट्टहास करने लगीं ॥२९॥ विश्व-गुहा में पान से परितृप्त कुछ देवियाँ पर्वतों और घरों को प्रतिध्वनित करती हुई चन्द्रमा के उदय से शब्दायमान हुए समुद्र के समान गर्जन करने लगीं ॥३०॥ लीलापूर्वक उत्पन्न शब्द से, मस्तक से खुर तक अपने अंगों को पुष्ट एवं चर्चित करती हुई वे देवियाँ आकाश के एक कोटर पर स्थित हुई पानोत्सव मनाने लगीं ॥३१॥ उनमें कुछ पान करतीं, कुछ उच्च गर्जन करतीं, कुछ द्रुत गति से चलतीं, बोलतीं, हँसतीं परस्पर रक्षा में अवस्थित होतीं और कुछ परस्पर मुख में या अग्नि में होमने लगीं। कुछ गिरतीं, कुछ प्रलाप करतीं कुछ नृत्य करतीं

ददुरोदनतां यातामीश्वराय प्रियामुमाम् ।
भोजनाय महामायां देव्यस्ताः शूलपाणये ॥७
प्रिया मे भोजने दत्तेत्येवं च शशिशेखरः ।
बुध्वा बभूव रुषितो यदा मातृगणं प्रति ॥८
तदा तास्तां समुत्पाद्य स्वाङ्गदानेन वै पुनः ।
ददुर्भूयो विवाहेन पार्वतीमिन्दुमौलये ॥९
ततो देव्यो हरश्चैव परिवारस्तथैतयोः ।
सर्वे सन्तुष्टमनसः स्वां स्वामुपययुर्दिशम् ॥१०
अन्तर्वत्न्यो बभूवुस्ता ब्राह्म्यो हंस्यो मुनीश्वर ।
वृत्तान्तं कथयामासुर्ब्राह्म्या देव्या यथास्थितम् ॥११
हे वत्स्यः साम्प्रतं वत्सवत्यो मे रथकर्मणि ।
न समर्था भवन्त्यो हि स्वैरं चरत साम्प्रतम् ॥१२

वहाँ जाकर ओदन स्वरूप हुई उमा को उन्होंने शूलपाणि भगवान् शंकर को समर्पित किया ॥७॥ ओदन रूप हुई उमा को समर्पित की गई देखकर शंकर क्रोधित हुए, तब उन देवियों ने अपने-अपने शरीर के अवयवों से पार्वती कल्पित की और विवाह-विधि से उसे उनको सौंप दिया ॥८-९॥ तदनन्तर परम सन्तोष को प्राप्त हुए शिवजी अपने परिवार सहित एवं वे देवियाँ—सभी अपनी-अपनी दिशा को गये ॥१०॥ हे मुनिराज ! ब्राह्मी शक्ति के रथ में योजित की जाने वाली वे गर्भवती हंसियाँ भी ब्राह्मी शक्ति के पास पहुँची और उन्होंने अपना सब वृतान्त उन्हें सुना दिया ॥११॥ जिसे सुनकर ब्राह्मी ने कहा कि हे पुत्रियो ! अब तुम रथ-वहन के कार्य में समर्थ नहीं हो, इसलिए इच्छानुसार विचरण करो ॥१२॥

अजनाभिसरोजान्तर्वैरिञ्चकमलाकरे ।
गर्भालसा विचेरुस्ता राजहंस्यो मुनीश्वर ॥१३
एवं विपक्वगर्भास्ता नाभीकमलपल्लवे ।
सुवते स्म मृदून्यण्डान्यथ वल्लय इवाऽङ्कुरान् ॥१४

तानि कालं समासाद्य ततोऽण्डान्येकविंशतिः ।
गर्भक्रान्त्या द्विधा जग्मुर्ब्रह्माण्डानीव सारवत् ॥१५
अण्डेभ्यस्तेभ्य एवं हि जाता वयमिमे मुने ।
भ्रातरश्चण्डतनया वायसा एकविंशतिः ॥१६
मातृभिः सह हंसीभिर्ब्राह्मी भगवती ततः ।
चिरमाराधिता सम्यक्समाधिविरता सती ॥१७
प्रसादपरया काले भगवत्या ततः स्वयम् ।
तथाऽज्ञाऽनुगृहीताः स्मो येन मुक्ता वयं स्थिताः ॥१८

हे मुनीश्वर ! तब वे गर्भ के आलस्य से युक्त राजमरालियाँ भगवान् विष्णु के नाभि-कमल-मूल में, जहाँ से कि ब्रह्माजी उत्पन्न हुए थे, विचरण करने लगीं ॥१३॥ इस प्रकार उनके गर्भ परिपक्व होजाने पर उन्होंने उस नाभि प्रदेश के पत्र-भाग पर वेलों के अंकुर उत्पन्न करने के समान, अण्डे उत्पन्न किये ॥१४॥ उन्होंने कुल इक्कीस अण्डे दिए, जोकि हंसियों के परस्पर पग-प्रहार से, स्वर्ण-रजत के खप्परों के रूप वाले ब्रह्माण्ड के द्विधा विभक्त होने के समान, द्विदल होगए ॥१५॥ हे मुने ! उस प्रकार, हम उन अंडों के द्वारा उत्पन्न चण्ड के पुत्र इक्कीस कौए हुए ॥१६॥ समय पाकर हमने अपनी माता मरालियों के साथ, समाधि से निवृत्त हुई भगवती ब्राह्मीदेवी की दीर्घकाल तक आराधना की ॥१७॥ तब कृपा करने में तत्पर हुई भगवती ब्राह्मी ने स्वयं साक्षात् रूप से हमको जीवन्मुक्त होकर स्थित रहने का अनुग्रह प्रदान किया ॥१८॥

संशान्तमनसः शान्ता एकान्ते ध्यानसंस्थितौ ।
तिष्ठाम इति निश्चित्य पितुः पार्श्वे वयं गताः ॥१९
आलिङ्गितास्ततः पित्रा पूजितालम्बुसा वयम् ।
तया दृष्टाः प्रसादेन संस्थितास्तत्र सयताः ॥२०
पुत्राः कच्चिदपर्यन्तवासनातन्तुगुण्ठितात् ।
भवन्तो निर्गता नूनमस्मात् संसारजालकात् ॥२१

नो चेद्वयं भगवतीं तदिमां भृत्यवत्सलाम् ।
प्रार्थयामो यथा यूयं भवथ ज्ञानपारगाः ॥२२
तात ज्ञातमलं ज्ञेयं ब्राह्मया देव्याः प्रसादतः ।
किन्त्वेकान्तस्थितेः स्थानमभिवाञ्छाम उत्तमम् ॥२३
सर्वरत्नगणाधारः समस्तसुरसंश्रयः ।
अस्ति ह्येव महोत्सेधो मेरुर्नाम महीधरः ॥२४
लसच्चन्द्रार्कदीपस्य भूतवृन्दकलत्रिणः ।
ब्रह्माण्डमण्डपस्याऽन्तस्तम्भः कनकनिर्मितः ॥२५

हमारा मन लीनता को प्राप्त होगया तब एकान्त स्थान में समाधिरत रहने का निश्चय करके हम अपने पिता के पास पहुँचे ॥१६॥ पिता ने हमारा आलिंगन किया। फिर हम सब ने देवी अलम्बुसा की पूजा, तब हम सभी सद्गुणों में संयत होकर वहाँ रहने लगे ॥२०॥ तभी एक दिन पिता ने कहा—हे पुत्रो! असीम वासना रूपी तंतुओं से निर्मित इस संसारजाल से क्या तुम मुक्त होगए हो? यदि नहीं हुए हो तो भगवती अलम्बुसा की प्रार्थना करके भवनाशक ज्ञान में पारंगत हो जाओ ॥२१-२२॥ तब हमने कहा—हे तात! ब्राह्मीदेवी की कृपा से हमको ज्ञातव्य विषय की प्राप्ति होगई है। अब हमें अपने निवास योग्य एकान्त स्थान की आवश्यकता है ॥२३॥ चंड बोला—हे पुत्रो! मेरु पर्वत सर्वोच्च, सभी देवताओं का आश्रय स्थान एवं विविध रत्नों का भंडार है ॥२४॥ चन्द्र-सूर्य रूपी प्रकाशमान दीपों से युक्त और विस्तृत कुटुम्बों से परिपूर्ण ब्रह्माण्ड रूपी गृह का यह स्वर्ण निर्मित स्तम्भ है ॥२५॥

चतुर्दशविधान्येनं गृहस्थमिव वान्धवाः ।
उपजीवन्ति भूतानि मिथोऽदृष्टगुरास्पदम् ॥२६
अस्य त्वीशानदिग्भागे पद्मरागमयं वृहत् ।
विद्यते शृङ्गमपरो दिवाकर इवोदितः ॥२७
अस्याऽस्ति पृष्ठे भूतौघवृतः कल्पतरुर्महान् ।
जगतः शिखरादेश प्रतिविम्वमिव स्थितः ॥२८

तस्याऽस्ति दक्षिणस्कन्धे शाखा कनकपल्लवा ।
रत्नस्तवकनीरन्ध्रा चन्द्रबिम्बोल्यसत्फला ॥२६
तत्र पूर्वं मया नीडं कृतमासीत् स्फुरन्मणि ।
देव्यां ध्याननिषण्णायां यस्मिन्किल रमे सुताः ॥३०
बुद्धिपूर्वसमाचारैः सम्पूर्णं काकपुत्रकैः ।
शीतलाभ्यन्तरं हृद्यं पूरितं कुसुमोत्करैः ॥३१
तद्गच्छत सुता नीडं दुर्गं नाकवतामपि ।
भोगं मोक्षं च तत्रस्था निर्विघ्नमलमाप्स्यथ ॥३२

चौदहों प्रकार के जीव इसका आश्रय प्राप्त किये हुए हैं, जैसे कि एक गृहस्थ के आश्रय में उसके सब परिवारीजन रहते हैं। यह इतना वृहद् है कि एक पर्वत पर निवास करते हुए भी किसी जीव को एक दूसरे का नगर अथवा घर दिखाई नहीं देता ॥२६॥ इसके ईशानकोण में, द्वितीय सूर्य के समान पद्मरागमणि का एक विशाल शिखर है ॥२७॥ इसके पृष्ठ भाग में विविध जीवों को धारण किये हुए एक कल्पवृक्ष है जो शिखर रूपी दर्पण में विश्व के प्रतिबिम्ब के समान परिलक्षित होता है ॥२८॥ उसके दक्षिण तने वाली शाखा पर सुवर्ण के पत्ते लगे हैं, रत्नों के समान फूलों के गुच्छे लटक रहे हैं और चन्द्रमा के बिम्ब के समान चमकते हुए फल लदे हुए हैं ॥२९॥ हे पुत्रो ! जब अलम्बुसा देवी ध्यानावस्थित थीं, तब मैंने मणिमय एवं आलोकित उस शाखा पर एक घोंसला बनाकर रमण किया था ॥३०॥ वह घोंसला काक-पुत्रों से परिपूर्ण शीतल एवं विविध प्रकार के पुष्पों से सम्पन्न है ॥३१॥ हे पुत्रों ! देवताओं के लिए भी दुर्गम उस घोंसले पर जाकर तुम निवास करो, वहाँ रहकर तुम्हें भोग और मोक्ष की निर्विघ्न रूप से प्राप्ति होगी ॥३२॥

इत्युक्त्वाऽस्मान्पिता तत्र चुचुम्बाऽप्यालिलिङ्ग च ।
ददौ देव्या यदानीतमस्मभ्य च तदामिषम् ॥३३
तद्भुक्त्वा चरणौ देव्याः पितुश्चैवाऽभिवाद्य च ।
विन्ध्यकच्छाद्वयं तस्मात्स्थानादालम्बुसात्प्लुताः ॥३४

क्रमेणाऽऽकाशमुल्लङ्घ्य निर्गत्याऽम्बुदकोटरैः ।
पवनस्कन्धमासाद्य वन्दितव्योमचारिणः ॥३५
परिहृत्य दिनाधीशं लोकान्तरपुरं गताः ।
स्वर्गमुल्लङ्घ्य याताः स्मो ब्रह्मलोकं मुनीश्वरः ॥३६
प्रणामपूर्वं तत्रैतद्यथात्तत्पितुर्वचः ।
मात्रे च भगवत्यै च ब्राह्म्यं चाऽऽशु निवेदितम् ॥३७
ताभ्यां सस्नेहमालिङ्ग्य गच्छतेत्याज्ञयैधिताः ।
वयं कृतनमस्कारा ब्रह्मलोकाद्विनिर्गताः ॥३८

यह कह कर हमारे पिता ने हमारा चुम्बन-आलिगन किया और भगवती का प्रसाद लाकर हमें दिया ॥३३॥ उस प्रसाद का भक्षण करके हमने पिताजी का अभिवादन किया और भगवती अलम्बुसा के उस विध्य प्रदेश से चल दिये ॥३४॥ तब हमने आकाश को लांघते और मेघों के कोटरों को पार करते हुए वायुलोक में जाकर वहाँ विचरण करने वाले देवताओं को प्रणाम किया ॥३५॥ हे मुनीश्वर ! फिर हमने सूर्यमण्डल पार किया और स्वर्गलोक में जा पहुंचे । स्वर्ग से चले तो ब्रह्मलोक में पहुंच कर भगवती ब्राह्मीदेवी की सेवा में गए और प्रणाम करके पिता द्वारा कहे हुए वचन उनसे निवेदन किये ॥३६-३७॥ ब्राह्मीदेवी ने हमारा स्नेह पूर्वक आलिंगन किया और 'जाओ' कहते हुए आज्ञा दी । तब उन्हें प्रणाम करके हम वहाँ से भी उड़ चले ॥३८॥

उल्लङ्घ्य लोकपालानां पुरीस्तपनभास्वराः ।
आकाशगामिनो लोलाः पवनस्कन्धचारिणः ॥३९
इमं कल्पतरुं प्राप्य निजं नीडं प्रविश्य च ।
दूरस्थबाधास्तिष्ठामो मुने मौनमवस्थिताः ॥४०
जाता यथा वयमिमे स्थितिमागताश्च
सम्प्राप्य बोधमुपशान्तधियो यथावत् ।
एतत्तदुक्तमखिलं मलं मया ते
शेषेण मां समनुशाधि महानुभाव ॥४१

लीलापूर्वक आकाश में गमन करने के अभ्यस्त हम काकगण पवनलोक आदि में उड़ते हुए और लोकपालों के नगरों को पार करते हुए इस कल्पतरु पर आकर घोंसले में घुसे। हे मुने! हम यहाँ निर्बाध एवं मौन रूप से अवस्थित रहते हैं ॥३९-४०॥ हे महानुभाव! आपने जो तीन प्रश्न किये थे—किस कुल में उत्पन्न हुए? किस प्रकार ज्ञातव्य के ज्ञाता हुए? और इस निवास स्थान की उपलब्धि कैसे हुई? उनका सम्पूर्ण रूप से उत्तर आपको दे दिया है। अब यदि आज्ञा हो तो शेष आयु और अतीत पर भी प्रकाश डालूँ? ॥४१॥

## १६—आत्मज्ञान की उपलब्धि

आसीत्किञ्चित् पुरा कल्पे जगद्यच्चिरमास्थितम्।
सन्निवेशेन चैयद्वदद्यापि च न दूरगम् ॥१
तदेतद्वृत्तमभ्यासाद्वर्तमानेन वर्णितम्।
मया मुनीन्द्र बोधाय प्राग्जन्मसाम्यदर्शिना ॥२
अद्य मे फलितं पुण्यैश्चिरकालोपसंभृतैः।
निर्विघ्नमेव पश्यामि यद्भवन्तं मुने ततः ॥३
इदं नीडमिमां शाखामहं चाऽयमयं द्रुमः।
अद्य पावनतां प्राप्तान्येतानि तव दर्शनात् ॥४
इदमर्घ्यमिदं पाद्यं गृहीत्वा विहगार्पितम्।
नूनं पावनतां नीत्वा शेषेणाऽऽदिश चाऽऽशु भोः ॥५

काकभुशुण्ड बोले—हे मुनिश्रेष्ठ! हमारे जन्म के कल्प में यह भौतिक विश्व अवस्थित था, वह सब अवयव सस्थानादि विशिष्टता से इसी कल्प के समान था, इसमें कोई असमानता नहीं थी ॥१॥ हे मुनीन्द्र! यह सब वृत्तान्त यद्यपि पुराना है, तो भी इस भ्रान्तिभूत जगत् को पूर्व जन्म को समान रूप से देखने का अभ्यस्त होने के कारण ही इसमें समत्व वर्णन किया है ॥२॥ हे मुने! अपने पूर्व संचित पुण्यों के फल स्वरूप ही मैं आपके निर्विघ्न रूप से दर्शन कर रहा हूं ॥३॥ यह घोंसला, यह शाखा, यह कल्पतरु और मैं स्वयं भी आज आपके

दर्शन से अत्यन्त पवित्रता को प्राप्त हुआ हूँ ॥४॥ हे मुने ! हम पक्षियों द्वारा समर्पित इस अर्घ्य, पाद्य को आप स्वीकार करें और हमें पवित्र करते हुए शेष सेवा के हेतु प्रश्न कहने के लिए स्वीकृति दीजिए ॥५॥

इदमर्घ्यं च पाद्यं च भूयो दत्तवति स्वयम् ।
भुशुण्डविहगे तस्मिन्निदं रामाऽहमुक्तवान् ॥६
भ्रातरस्ते विहङ्गेश तादृवसत्वा महाधियः ।
इह कस्मान्न दृश्यन्ते त्वमेवैको हि दृश्यसे ॥७
तिष्ठतामिह नः कालो महानतिगतो मुने ।
युगानां षङ्क्तयः क्षीणा दिवसानामिवाऽनघ ॥८
एतावताऽथ कालेन सर्वं एव ममाऽनुजाः ।
तनूस्तृणमिव त्यक्त्वा शिवे परिणता पदे ॥९
दीर्घायुषो महान्तोऽपि सन्तोऽपि बलिनोऽपि च ।
सर्वं एव निगीर्यन्ते कालेनाऽऽकलितात्मना ॥१०

वसिष्ठजी कहने लगे—हे राम ! इसके पश्चात् उस काकभुशुण्ड ने स्वयं दूसरी बार अर्घ्य-पाद्य निवेदन किया । तब मैंने उससे कहा ॥६॥ हे विहगेश! महान् बुद्धि वाले आपके वे अन्य भाई यहाँ क्यों नहीं दिखाई दे रहे हैं ? आप अकेले ही क्यों दिखाई पड़ रहे हैं ? ॥७॥ काकभुशुण्ड बोले—हे मुने ! यहाँ निवास करते हुए हमें दीर्घ काल व्यतीत होगया । हे निष्पाप ! दिनों की पंक्तियों की तो बात ही क्या, युगों की पंक्तियाँ क्षीण हो चुकीं ॥८॥ इतना दीर्घ समय व्यतीत होने के कारण मेरे सभी भाइयों ने तिनके के समान अपने देह त्याग दिये और शिवपद में लीन होगए ॥९॥ कैसा भी दीर्घायुष्य, महान्, सन्त, बली क्यों न हो, इस अलक्षित रूप वाले काल का कलेवा बन जाता है ॥१०॥

स्कन्धव्यूढार्कशशिषु वहत्स्वविरतं जवात् ।
वातस्कन्धातिवातेषु कच्चित्तात न खिद्यसे ॥११
दग्धोदयास्तशैलेन्द्रस्तव्यूहे रवेः करैः
चिरमत्यन्तमासन्नैः कच्चित्तात न खिद्यसे ॥१२

विषमैर्जागतैः क्षोभैरुच्चैस्तरपदस्थितः ।
कथं न क्षोभमायाति कल्पवृक्षोऽयमुन्नतः ॥१३
निरालम्बास्पदा ब्रह्मन् सर्वलोकवहेलिता ।
तुच्छेयं सर्वभूतानां मध्ये विहगजीविका ॥१४
ईदृशेषु च भूतेषु निर्जनेषु वनेषु च ।
कल्पितास्थास्थितिर्धात्रा शून्ये वा व्योमवर्त्मनि ॥१५
कथमस्यां प्रभो जातौ जातस्य चिरजीविनः ।
आशापाशनिबद्धस्य विहगस्य विशोकिता ॥१६

वसिष्ठजी बोले—हे खगराज ! अपने कन्धों पर माला के समान बारह सूर्यों और चन्द्रमाओं का वहन करने तथा वातस्कन्धों का उल्लंघन करने वाले प्रलय-वात के प्रवाहित होने पर क्या तुम्हारे चित्त में खेद की प्राप्ति नहीं होती ? ॥११॥ चिरकाल से उदयाचल और अस्ताचल के वनों को उत्तप्त करने वाली सूर्य-रश्मियां क्या तुम्हें खेद नहीं पहुँचातीं ? ॥१२॥ सब से ऊँचे स्थान पर अवस्थित एवं अत्यन्त उन्नत यह कल्पतरु जगत् के विषम रूप से क्षुब्ध होने पर भी क्या क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ॥१३॥ काक ने कहा—हे ब्रह्मन् ! हम आलम्ब-रहित पक्षी अत्यन्त तुच्छ, सभी के द्वारा अवहेलना को प्राप्त एवं सभी जीवों में अत्यन्त गर्हित जीवन व्यतीत करने वाले हैं ॥१४॥ विधाता ने हमारी जैसी योनियों के लिए निर्जन अरण्यों और शून्य रूपी आकाश में रहने की व्यवस्था की है ॥१५॥ इस जाति में उत्पन्न एक पक्षी दीर्घजीवी होकर आशा रूपी जाल में बंधा है तो वह शोक-रहित कैसे हो सकता है ? ॥१६॥

वयं तु भगवन्नित्यमात्मसन्तोषमास्थिताः ।
न कदाचन नोरूपे मुह्यामो जातविभ्रमैः ॥१७
न जीवितान्न मरणात् कमदेहस्य राधनम् ।
यथास्थितेन तिष्ठामस्तथैवाऽस्तंगतेहिताः ॥१८
आलोकिता लोकदशा दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ।
नूनं सत्यक्तमस्माकं मनसा चञ्चलं वपुः ॥१९

अनारतनिजालोके नित्यं चाऽऽरितापिनी ।
कल्पागस्योपरि सदा वेद्मि कालकलागतिम् ॥२०
रत्नगुच्छप्रकाशाढ्ये ब्रह्मन् कल्पलतागृहे ।
प्राणापानप्रवाहेण वेद्मि कल्पमखण्डितम् ॥२१

परन्तु, हे भगवन् ! हम अपनी आत्मा को सदा संतुष्ट रखते हुए जीवित हैं, इस तत्त्व-रहित जगत् में उत्पन्न होने वाले विभ्रमों से हम कभी मोह को प्राप्त नहीं होते ॥१७॥ हम जीवन रहने पर न किसी कर्म का फल चाहते हैं और न मर कर देह को ही नष्ट करना चाहते हैं। जिस प्रकार अद्य पूर्ण काम रूप से अवस्थित हैं, उसी प्रकार भविष्य में भी रहेंगे ॥१८॥ हमने इस जगत् की सभी दशाएँ एवं दृष्टान्त-दृष्टियों का पूर्णतया अवलोकन किया है, अतः हमारे मन ने अपनी चंचलता का सर्वथा त्याग कर दिया है ॥१९॥ मैं सदा शान्ति देने वाले अपने तेज स्वरूप में अवस्थित होकर इस कल्पवृक्ष पर रहता हुआ काल की कला से भले प्रकार परिचित होगया हूँ ॥२०॥ हे ब्रह्मन् ! रत्नों से आलोकित इस कल्पलता गृह में रहता हुआ मैं प्राण-अपान के प्रवाह योग द्वारा अखण्डित कल्प को जानता हूँ ॥२१॥

अविज्ञातदिवारात्री ह्यस्मिन्नुच्चैः शिलोच्चये ।
जानामि निजया बुद्ध्या लोककालक्रमस्थितिम् ॥२२
सारासारपरिच्छेदि बोधाद्विश्रान्तिमागतम् ।
निरस्तचापलं शान्तं सुस्थिरं मे मुने मनः ॥२३
परोपशमधर्मिण्या वयमालोकशीतया ।
पश्यन्तो जागतीं मायां धिया धैर्यमुपागताः ॥२४
इयमारम्भसुभगा तरला जागती स्थितिः ।
भूयो भूयः परामृष्टा न च किञ्चन बाधते ॥२५
सर्वाण्येव प्रयान्त्येव समायान्ति च वा नवा ।
भगवन् भूतजालानि भयमस्माकमत्र किम् ॥२६
नोज्झामो न च गृह्णीमस्तिष्ठामो नेह च स्थिताः ।
मृदुपादादृशा क्रूरा वयमस्मिन् द्रुमे स्थिताः ॥२७

यह दिन है, यह रात है, इसको न जानता हुआ मैं इस सर्वोच्च शिखर पर रहता हुआ लोकों के कालक्रम को भले प्रकार जानता हूँ ॥२२॥ सार-असार के विवेकमय बोध से विश्रान्ति में स्थित हुआ मेरा मन अचंचल, शान्त एवं सुस्थिर है ॥२३॥ अत्यन्त शान्ति वाली एवं अपने ही तेज से प्रदीप्त हुई शीतल बुद्धि से हम धैर्य पूर्वक संसार की माया को देखते रहते हैं ॥२४॥ आरम्भ में सुभगा और रसमयी प्रतीत होने वाली संसृति पर हम बारम्बार विचार कर चुके हैं, अतः अब उससे हमें कोई बाधा नहीं है ॥२५॥ सभी जीव व्यावहारिक रूप से ही आवागमन-रत हैं, परमार्थ दृष्टि से तो कोई भी नहीं आता-जाता तो फिर हमारे लिए भय ही कैसा ? ॥२६॥ इस कल्पवृक्ष पर अव-स्थित हुए हम उपलब्ध वस्तु का त्याग अथवा अप्राप्य की कामना नहीं करते। जैसे कोई कोमल पद वाला प्राणी काँटे वाले भूखण्ड पर सावधानी से चले, या काँटे का उच्छेद करके मार्ग निष्कंटक बना ले, उसी प्रकार हम सावधानी से चलने या संसार-मार्ग को निष्कंटक करने वाले क्रूर भी हैं ॥२७॥

वीतशोकभयायासैस्त्वादृशैः पुरुषोत्तमैः ।
तुष्टै रनुगृहीताः स्मः संस्थिता विगतामयाः ॥२८

ततस्ततश्च पर्यस्तं लुठितं न च वृत्तिषु ।
नाऽपरामृष्टतत्त्वार्थमस्माकं भगवन् मनः ॥२९

मास्तः परतरं किञ्चिन्मन्ये कुशलमात्मनः ।
सन्तो यदनुगम्यन्ते सन्त्यक्तसकलैषणाः ॥३०
आपातमात्ररम्येभ्यो भोगेभ्यः किमवाप्यते ।
सत्सङ्गचिन्तामणितः सर्वसारमवाप्यते ॥३१
स्निग्धगम्भीरमसृणमधुरोदारधीरवाक् ।
त्रैलोक्यपद्मकोशेऽस्मिस्त्वमेकः षट्पदायसे ॥३२
अधिगतपरमात्मनोऽपि मन्ये
भवदवलोकनशान्तदुष्कृतस्य ।

मम सफलमिहाऽद्य जन्म साधो
सकलभयापहरो हि साधुसङ्गः ॥३३

शोक, भय और आयास से मुक्त एवं परम सन्तोष को प्राप्त हुए आप जैसे श्रेष्ठ पुरुष जब हम पर अनुग्रह करते रहते हैं, तभी हम दुःखों से मुक्त होकर स्थित हैं ॥२८॥ इसीलिए इधर-उधर भटकने पर भी हमारा मन कभी किसी विकार वृत्ति को प्राप्त नहीं होता और न कभी तत्वार्थ के विचार से ही शून्य रहता है ॥२६॥ सम्पूर्ण कामनाओं से मुक्त, सन्तजन अपने आगमन रूपी कृपा हम पर करते रहते हैं, इसलिए हम सर्वदा कुशलात्मा ही हैं ॥३०॥ ऊपर से सुरम्य दिखाई देने वाले भोगों से कौन-सी उपलब्धि होती है ? प्राप्ति तो सत्संग रूपी चिन्तामणि जनित सारभूत ज्ञान से ही संभव है ॥३१॥ हे मुने ! स्निग्ध, गम्भीर, मृदु, मधुर, उदार और धीरता युक्त वाणी वाले आप ही त्रैलोक्य रूपी कमल-कोष में भौंरे के समान हैं ॥३२॥ हे साधो ! मुझे परमात्म-ज्ञान हो चुका है, आपके दर्शन से मेरे सम्पूर्ण पाप भी कट चुके हैं, उस पर भी साधु-संग सभी भयों का नाशक होने से, आज मैं अपने जन्म को पूर्णतया सफल समझता हूँ ॥३३॥

---

## १८—सृष्टि-रचना

युगक्षोभेषु घोरेषु त्रावयासु विषमासु च ।
सुस्थिरः कल्पवृक्षोऽयं न कदाचन कम्पते ॥१

हिरण्याक्षो धरापीठं द्वीपसप्तकवेष्टितम् ।
यदा जहार तरसा नाऽकम्पत तदा तरुः ॥२

भुजावष्टम्भविलसन्मेरुर्नारायणो यदा ।
मन्दरं प्रोद्धाराऽद्रिं तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥३

यदा शेषाकृति रुद्रो न समाप्तैकचेष्टिताम् ।
ययौ गरुत्मान् ब्रह्माण्डं तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥४

यदा कल्पानलशिखाः शैलाब्धिग्रसकल्लोलवर्णः ।
शेषः फणाभिस्तत्याज तदा नाऽकम्पत द्रुमः ।।५
एवंरूपे द्रुमवरे तिष्ठतामापदः कुतः ।
अस्माकं मुनिशार्दूल दौःस्थित्येन किलाऽऽस्पदः ।।६

काकभुशुण्ड बोले—हे मुने ! यह कल्पतरु युग-परिवर्तन के घोर विक्षोभों और भीषण झंझावातों में भी सदैव सुस्थिर रहता हुआ, कभी भी कम्पित नहीं होता ।।१।। सात द्वीपों से युक्त इस पृथिवी का जब हिरण्याक्ष ने अपहरण किया था, तब भी यह वृक्ष किंचित् भी नहीं डिगा ।।२।। अपनी दो भुजाओं द्वारा जब भगवान् विष्णु ने मेरु को दबा कर अन्य दो हाथों द्वारा मंदराचल का उद्धार किया, तब भी यह वृक्ष किंचित् नहीं हिला ।।३।। भगवान् रुद्र जब पृथिवी को मस्तक पर निरन्तर धारण करने वाले शेष भगवान् के रूप को प्राप्त हुए तब, तथा जब गरुड़ इस भूतल से उड़कर ब्रह्माण्ड में विचरण करने लगे तब भी यह कल्पतरु कम्पायमान नहीं हुआ ।।४।। प्रलयकाल की प्राप्ति पर जब शेष भगवान् के फणों से शैल, सागर अथवा समस्त जीवों के लिए असह्य प्रलयाग्नि की ज्वालाएँ निकली, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ।।५।। हे मुनिशार्दूल ! इस प्रकार इस श्रेष्ठ वृक्ष पर रहते हुए हम विपत्तियों को कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? जबकि विपत्तियों की प्राप्ति तो निकृष्ट स्थानों में ही होती है ।।६।।

कल्पान्तेषु महावृद्धे वहत्सूत्पातवायुषु ।
प्रपतत्स्विन्दुभार्केषु कथं तिष्ठसि विज्वरः ।।७
यदा पपात कल्पान्ते व्यवहारो जगत्स्थितौ ।
कृतघ्न इव सन्मित्रं तदा नीडं त्यजाम्यहम् ।। ८
आकाश एव तिष्ठामि विगताखिलकल्पनः ।
स्तब्धप्रकृतिसर्वाङ्गो मनो निर्वासनं यथा ।।९
जगद्गलितमेर्वादि यात्येकार्णवतां यदा ।
वायवीं धारणां बद्ध्वा संप्लवे चलधीस्तदा ।।१०

ब्रह्माण्डपारमासाद्य तत्वान्ते विमले पदे ।
सुषुप्तावस्थया तावत्तिष्ठाम्यचलरूपया ॥११
यावत्पुनः कमलजः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति ।
तत्र प्रविश्य ब्रह्माण्डं तिष्ठामि विहगालये ॥१२

वशिष्ठजी ने पूछा—हे महाबुद्धे ! कल्प के अन्तिम काल में जो भयंकर उत्पात करने वाला और नक्षत्र, चन्द्रमा तथा सूर्य तक को गिरा देने में समर्थ जो वायु चलता है, उसके वेग के समय तुम निश्चित कैसे रहते होगे ? ॥७॥ काक ने कहा—हे मुने ! कल्प के अन्तिम काल में जब जगत् की स्थिति वाला क्रम गिरने लगता है, तब मैं भले मित्र को छोड़ देने वाले कृतघ्न के समान ही अपने इस नीड़ को छोड़ देता हूं ॥८॥ सम्पूर्ण कल्पनाओं को छोड़ कर स्थिर स्वभाव में स्थित हुआ मैं, वासना-रहित, मन के समान, शून्य आकाश में ही स्थित रहता हूं ॥६॥ मेरु आदि पर्वतों के द्रवित होने पर जब यह सम्पूर्ण विश्व-समुद्र रूप हो जाता है, तब मैं वायु-विषयक धारणा में बंधकर, निश्चल बुद्धि हुआ उस उत्प्लव में ही तैरता रहता हूं ॥१०॥ ब्रह्माण्ड के पार को प्राप्त कर विमल आत्म-पद में सुषुप्ति के समान निर्विकल्प समाधि की अवस्था में ब्रह्माजी के पुनः सृष्टि कर्म में प्रवृत्त होने तक लीन रहता हूं और सृष्टि के कार्यरत होने पर ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर अपने कल्पवृक्ष स्थित नीड़ में पुनः अवस्थान करता हूं ॥११-१२॥

यथा तिष्ठसि पक्षीन्द्र धारणाभिरखण्डितः ।
कल्पान्तेषु तथा कस्मान्नाऽन्ये तिष्ठन्ति योगिनः ॥१३
ब्रह्मन्नियतिरेषा हि दुर्लङ्घ्या पारमेश्वरो ।
मयेदृशेन वै भाव्यं भाव्यमन्यैस्तु तादृशैः ॥१४
मत्सङ्कल्पवशेनैव कल्पे कल्पे पुनः पुनः ।
अस्मिन्नेव गिरेः शृङ्गे तरुरित्थं भवत्ययम् ॥१५
वृहत्तराऽशिलावृक्षामजाततृणवीरुधम् ।
अशीतवनवृक्षौघां स्मरामीमां धरामधः ॥१६

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
भस्मसारनरापूर्णां संस्मरामि धरामधः ॥१७
अनुत्पन्नदिवाधीशामजातशशिमण्डलाम् ।
अविभक्तदिवालोकां संस्मरामि धरामधः ॥१८

वसिष्ठजी बोले—हे पक्षीन्द्र ! जिस प्रकार उन-उन धारणाओं से अखण्डता को प्राप्त हुए तुम प्रलयकाल में भी स्थित रहते हो, उस प्रकार अन्य योगीजन जीवन धारण पूर्वक स्थित क्यों नहीं रहते ? ॥१३॥ काकभुशुण्ड बोले—हे ब्रह्मन् ! ईश्वरी शक्ति के नियमों का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता, इसलिए अन्य योगीजन देहों का त्याग कर देते हैं, केवल मैं ही स्थित रहता हूँ ॥१४॥ प्रत्येक कल्प में मेरे ही संकल्प से इसी मेरु-शिखर पर यह कल्पवृक्ष बारम्बार उत्पन्न होता है ।१५। मुझे स्मरण है कि मेरु के नीचे स्थित इस पृथिवी में शिला, वृक्ष, तृण, लकड़ी, पर्वत, वन और वृक्षादि कुछ भी नहीं था ॥१६॥ मुझे यह भी स्मरण है कि मेरु के नीचे स्थित यह पृथिवी ग्यारह हजार वर्षों तक भस्म-क्षार से परिपूर्ण थी (अर्थात् सर्वत्र धूल ही धूल थी) ॥१७॥ मेरु के नीचे स्थित इस पृथिवी पर पहिले सूर्य या चन्द्रमा का भी आभास नहीं होता था, यह मुझे स्मरण है ॥१८॥

मेरुरत्नलतोद्योतैरर्धप्रकटकोटरम् ।
लोकालोकमिवाऽऽढ्याद्रिभुवनं संस्मराम्यहम् ॥१९
प्रवृद्धासुरसंग्रामे क्षीयमाणान्तरामिह ।
पलायमानामभितः संस्मरामि धरामिमाम् ॥२०
चतुर्युगानि चाऽऽक्रान्तामसुरैर्मत्तकाशिभिः ।
दैत्यान्तःपुरतां प्राप्तां संस्मरामि धरामिमाम् ॥२१
वृक्षनीरन्ध्रभूपीठप्रकल्पितमहार्णवम् ।
स्वयं संजातपुरुषं कञ्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥२२
अपर्वतमभूमिं च व्योमस्थामरमानवम् ।
अचन्द्रार्कप्रकाशाढ्यं कञ्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥२३

अनिन्द्रममहीपालममध्यस्थाधमोत्तमम् ।
सममन्धककुप्चक्रं कञ्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥२४

फिर मेरु पर्वत के रत्नों से पृथिवी का अर्द्ध कोटर प्रकाशित होने लगा तब यह पर्वतों के कहीं कहीं प्रकट होने पर लोकालोक पर्वत के समान दिखाई देने लगी, यह भी याद है ॥१९॥ जब सेना आदि बढ़े हुए असुरों के उत्पन्न होने पर युद्ध के कारण पददलित हुई यह पृथिवी आन्तरिक रूप से क्षीण होने लगी, तब पलायन करने वालों से इसके व्याप्त होने की भी मुझे याद है ॥२०॥ मुझे यह भी स्मरण है कि मदमत्त असुरों से आक्रान्त हुई यह पृथिवी असुरों के अन्तःपुर रूप में चारयुगों तक रही थी ॥२१॥ फिर मुझे उस सृष्टि की भी याद है जिसमें पृथिवी का पृष्ठ भाग वृक्षों से परिपूर्ण था, उस समय तक महासागर की कल्पना भी नहीं हुई थी और पुरुष वर्ग बिना मैथुनी सृष्टि के ही उत्पन्न होते थे ॥२२॥ मुझे वह भी याद है जब पर्वत या पृथिवी कुछ भी नहीं था, देवता और मनुष्य आकाश में ही रहते थे एवं सूर्य और चन्द्रमा के बिना भी प्रकाश रहता था ॥२३॥ मुझे इसका भी स्मरण है कि न कोई इन्द्र था, न कोई राजा, उत्तम, मध्यम और अधम का भेद भी नही था, सम्पूर्ण दिक्चक्र अन्धकार से ही परिपूर्ण था ॥२४॥

सर्गप्रारम्भकलना विभागो भुवनत्रये ।
कुलपर्वतसंस्थानं जम्बूद्वीपं पृथक स्थितम् ॥२५
वर्णधर्मधियां सृष्टिविभागो मण्डलावनेः ।
ऋक्षचक्रकसंस्थानं ध्रुवनिर्माणमेव च ॥२६
जन्मेन्दुभास्करादीनामिन्द्रोपेन्द्रव्यवस्थितिम् ।
हिरण्याक्षपहरणं वराहोद्धरणं क्षितेः ॥२७
कल्पनं पार्थिवानां च वेदानयनमेव च ।
मन्दरोन्मूलनं चाऽब्धेरमृतार्थं च मन्थनम् ॥२८

अजातपक्षो गरुडः सागराणां च संभवः ।
इत्यादिका याः स्मृतयः स्वल्पातीतजगत्क्रमाः ।
वालैरपि हि तास्तात स्मर्यन्ते तासु को ग्रहः ॥२९

गरुडवाहनं विहगवानं
विहगवाहनं वृषभवाहनम् ।
वृषभवाहनं गरुडवाहनं
कलितवानहं कलितजीवितः ॥३०

प्रथम सर्ग की कल्पना हुई, फिर तीनों लोकों में विभाग हुआ, फिर कुल पर्वतों की स्थापना हुई और जम्बूद्वीप स्थित हुए स्रष्टा ने वर्ण-धर्म वाली बुद्धि उत्पन्न की। फिर मंडल रूप में विभाग किया और नक्षत्र-चक्र तथा ध्रुव मंडल बनाया ॥२५-२६॥ फिर चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, उपेन्द्र की व्यवस्था हुई। तब हिरण्याक्ष ने उस पृथिवी का अपहरण कर लिया, जिसका उद्धार वाराह वेशधारी भगवान् विष्णु ने किया ॥२७॥ फिर मनुष्यादि में उनके अधिपतियों की कल्पना हुई, मत्स्यरूप धारे भगवान् वेद ले आये, फिर मंदराचल का उन्मूलन कर अमृत प्राप्ति के लिए क्षीरसागर मथा गया, फिर अनुत्पन्न पंख वाले गरुड़ और समुद्र उत्पन्न हुए। यह सब बात जो मुझे स्मरण हैं, वह मुझसे अल्प आयु वाले आप जैसों को भी ज्ञात हैं, इसलिए मेरे कथन मे विशेषता ही क्या है ? ॥२८-२९॥ मुझ दीर्घजीवी ने यह भी देखा कि इस कल्प में गरुड़वाहन नारायण ने हंसवाहन ब्रह्माजी का रूप धारण कर सृष्टि-कार्य सम्पादन किया तथा हंसवाहन ब्रह्माजी ने वृषभवाहन रुद्र-रूप होकर संहार किया और वृषभवाहन रुद्र ने गरुड़-वाहन नारायण रूप से सृष्टि का पालन किया ॥३०॥

## १८— युग-युग की स्मृतियाँ

ततो जगति जातेषु भगवन् युष्मदादिषु ।
भरद्वाजपुलस्त्यात्रिनारदेन्द्रमरीचिषु ॥१

पुलहोद्दालकाद्येषु क्रतुभृग्वङ्गिरस्सु च ।
सनत्कुमारभृङ्गीशस्कन्देभवदनादिषु ॥२
गौरीसरस्वतीलक्ष्मीगायत्र्याद्यासु भूरिषु ।
मेरुमन्दरकैलासहिमवद्दुर्दुपादिषु ॥३
हयग्रीवहिरण्याक्षकालनेमिबलादिषु ।
हिरण्यकशिपुक्राथबलिप्रह्लादकादिषु ॥४
शिबिन्यकुपृथूलाख्यवन्यनाभागकेलिषु ।
नलमान्धातृसगरदलीपनहुषादिषु ॥५
आत्रेयव्यासवाल्मीकिशुकवात्स्यायनादिषु ।
उपमन्युमणीमङ्किभगीरथशुकादिषु ॥६

काकभुशुण्ड बोले—हे भगवन् ! उनके पश्चात् जो उत्पन्न हुए उनमें आपके सहित भरद्वाज, पुलस्त्य, अत्रि, नारद, इन्द्र, मरीचि, पुलह, उद्दालक, क्रतु, भृगु, अंगिरा, सनत्कुमार, भृंगीश, स्कन्द, गणेश आदि के स्मरण की तो गिनती ही क्या है ? ॥१-२॥ गौरी, सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री आदि अनेक शक्तियाँ एवं मेरु, मंदर, कैलास, हिमालय और दर्दुर आदि पर्वतों, हयग्रीव, हिरण्याक्ष, कालनेमि, वल, हिरण्यकशिपु क्राथ, वलि, प्रह्लाद आदि दैत्य-दानवों की तो गिनती ही क्या है ? ॥३-४॥ फिर शिवि, न्यंकु, पृथु, उलाख्य, वैन्य. नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप, नहुष आदि राजागण एवं आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक वात्स्यायन आदि ज्ञानी ऋषि और उपमन्यु, मणीमंकि, भगीरथ शुक आदि जो उत्पन्न हुए उनकी क्या गिनती है ?॥ -६॥

मुने ते ब्रह्मपुत्रस्य जन्माष्टकमिदं किल ।
संस्मराम्यष्टमे सर्गे तस्मिंस्त्वं मम सङ्गतः ॥७
कदाचिज्जायसे व्योम्नः कदाचिज्जासे जलात् ।
कदाचिद्वायुतः शैलात् कदाचिज्जातसेऽनलात् ॥८
यादृशो यादृशाचारो यादृक्संस्थानदिग्गणः ।
सर्गोऽयं तादृशानेव लोन्सर्गान् संस्मराम्यहम् ॥९

अन्तर्धानं गता धात्री वारपञ्चकमुद्धृता ।
मुने पञ्चसु सर्गेषु कूर्मेणैव पयोनिधेः ॥१०
मन्दराकर्षणावेगपर्याकुलसुरासुरम् ।
स्मरामि द्वादशं चेदममृतम्भोधिमन्थनम् ॥११
सर्वौषधिरसोपेतां बलिग्राहस्तदा दिवः ।
वारत्रयं हिरण्याक्षो नीतवान् वसुधामधः ॥१२॥

हे मुने ! आप ब्रह्मपुत्र का यह आठवां जन्म है, उस सर्ग में जो आठवां जन्म आपका हुआ था, उसमें मेरी आपकी भेंट हुई थी यह मुझे स्मरण है ।।७।। आप कभी आकाश से कभी जल से, कभी पवन से कभी पर्वत से और कभी अग्नि से उत्पन्न होते हैं ।८।। इसी सर्ग के आचरण एवं दिशा-सस्थान आदि के समान ही इससे पहिले के तीन सर्ग हुए हैं, उनकी मुझे याद है ।।९।। हे मुने ! जल में विलीन हुए इस भूतल का कूर्म अवतारधारी भगवान् ने पांच सर्गों में पांच वार ही उद्धार किया था ।।१०।। मुझे यह भी स्मरण है कि मदराचल को खींचने के श्रम से व्याकुल हुए देव-दानवों द्वारा किया गया अमृत-मंथन बारहवीं बार हुआ था ।।११।। स्वर्ग-निवासी सभी देवताओं से कर वसूल करने वाला हिरण्याक्ष सर्वौषधि और रसों से सम्पन्न इस वसुन्धरा को तीन बार पाताल में ले गया था ।।१२।।

रेणुकात्मजतां गत्वा षष्ठवारमिमं हरिः ।
बहुसर्गान्तरेणाऽपि चकार क्षत्रियक्षयम् ॥१३
शत कलियुगानां च हरेर्बुद्धदशाशतम् ।
शौकराजतयवाऽऽप्तं स्मरामि मुनिनायक ॥१४
त्रिशत्त्रिपुरविक्षोभान् द्वौ दक्षाध्वरसंक्षयौ ।
दशशक्रविघातांश्च चन्द्रमौलेः स्मराम्यहम् ॥१५
बाणार्थमष्टौ सग्रामान् ज्वरप्रमथमल्लकान् ।
विक्षोभितसुरानीकान् स्मरामि हरिशर्वयोः ॥१६
युगं प्रति धियां पुंसां न्यूनाधिकतया मुने ।
क्रियाङ्गपाठवैचित्र्ययुक्तान् वेदान् स्मराम्यहम् ॥१७

एकार्थानि समग्राणि वहुपाठानि मेऽनघ ।
पुराणानि प्रवर्तन्ते प्रसृतानि युगं प्रति ॥१८

रेणुका के पुत्र रूप में उत्पन्न भगवान् परशुराम ने अनेक सर्गों के अन्तर से छटवीं बार क्षत्रियों को नष्ट किया ॥१३॥ हे मुनिनायक ! सौ बार कलियुग आया और राजा शुद्धोदन के पुत्र रूप से प्रकट हुए भगवान् विष्णु ने सौ बार ही बुद्धत्व को प्राप्त किया ॥१४॥ शंकर ने तीस कल्पों में तीन बार ही त्रिपुर नाश किया और दो बार दक्ष-यज्ञ विध्वंस किया। मुझे स्मरण है कि उन्होंने दस इन्द्रों को दंडित किया ॥१५॥ बाणासुर के विरुद्ध ज्वरों और प्रमथगणों को प्रेरित करने वाले एवं देवताओं को भी क्षुब्ध करने वाले भगवान् विष्णु और रुद्र के आठ युद्ध हुए यह मुझे याद है ॥१६॥ मुझे युग-युग में न्यूनाधिक बुद्धि के कारण क्रिया अंग एवं पाठों में कम या अधिक प्रवृत्ति वाले वेदों का भी स्मरण है ॥१७॥ हे अनघ ! एकार्थक परन्तु अनेक पाठ-भेद वाले बहुत से पुराणों की युग-युग में रचना होती रही है ॥१८॥

आख्यानकानि शास्त्राणि निवृत्तानि युगं प्रति ।
विचित्रसान्निवेशानि संस्मरामि मुनीश्वर ॥१९
भूयस्तान्येव तान्येव तथाऽन्यानि युगे युगे ।
साधो पदार्थजालानि प्रपश्यामि स्मरामि वै ॥२०
राक्षसक्षतये विष्णोर्महीमवतरिष्यतः ।
अधुनैकादशं जन्म रामनाम्नो भविष्यति ॥२१
वसुदेवगृहे विष्णोर्भुवो भारनिवृत्तये ।
अधुना षोडशं जन्म भविष्यति मुनीश्वर ॥२२
जगन्मयी भ्रान्तिरियं न कदाचन विद्यते ।
विद्यते तु कदाचिच्च जलबुद्बुदवत्स्थिता ॥२३
विचित्रसंस्थानविशेषदेशान्
विचित्रकार्याकुलभूतकोशान् ।
विचित्रविन्यासविलासवेषान्
स्मराम्यहं ब्रह्मदिनेष्वशेषान् ॥२४

हे मुनीश्वर! अद्भुत कथानकों से युक्त अनेक आख्यानों एवं पुराणों की युग-युग में प्रवृत्ति हुई, ऐसा भी मुझे स्मरण है ॥१६॥ हे साधो! मैं युग-युग उन्हीं सब पदार्थों को तथा अन्यान्य पदार्थों को भी बारम्बार देखता रहा हूँ, यह मुझे स्मरण है ॥२०॥ अब निकट भविष्य में ही राक्षसों का क्षय करने के लिए ग्यारहवीं बार नारायण का जो अवतार होगा वह 'राम' नाम से होगा ॥२१॥ हे मुनीश्वर! पृथिवी का भार हरण करने के लिए वसुदेवजी के घर में विष्णु का जो अतवार होगा, वह सोलहवीं बार होगा ॥२२॥ यह जगन्मयी भ्रान्ति कभी भी विद्यमान नहीं रहती। जैसे जल में बुलबुले उठते हैं, उसी प्रकार यह भी विद्यमान सी प्रतीत होती है ॥२३॥ हे मुने! ब्रह्माजी के दिन रूपी कल्पों में यह अद्भुत संस्थानों वाले देशों से सम्पन्न विचित्र कर्मों में आकुलता पूर्वक लगे हुए प्राणियों के कोशभत एवं अद्भुत विन्यास, विलास और वेशों वाले युगों का मुझे स्मरण है ॥२४॥

## १६—मृत्यु किसे नहीं मारती

अथाऽसौ वायसश्रेष्ठो जिज्ञासार्थमिदं मया।
भूयः पृष्टो महाबाहो कल्पवृक्षलताग्रके ॥१
चरतां जगतः कोशे व्यवहारवतामपि।
कथं विहगराजेन्द्र देहं मृत्युर्न बाधते ॥२
जानन्नपि हि सर्वज्ञ ब्रह्मञ्जिज्ञासयेव माम्।
पृच्छसि प्रभवो नित्य भृत्यं वाचालयन्ति ही ॥३
तथापि यत्पृच्छसि मा तत्ते प्रकथयाम्यहम्।
आज्ञाचरणमेवाऽऽहुर्मुख्यमाराधनं सताम् ॥४
दोषमुक्ताफलप्रोता वासनातन्तुसन्ततिः।
हृदि न ग्रथिता यस्य मृत्युस्तं न जिघांसति ॥५
निःश्वासवृक्षक्रकचाः सर्वदेहलताघुणाः।
आधयो यं न भिन्दन्ति मृत्युस्तं न जिघांसति ॥६

वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! हे महाबाहो ! कल्पवृक्ष की लता के अग्रभाग में अवस्थित उस वायसश्रेष्ठ से मैंने अगला प्रश्न किया ॥१॥ हे विहगराजों में भी श्रेष्ठ ! जगत् कोश में विचरते हुए व्यवहार रत प्राणियों के शरीरों को मृत्यु बाधा नहीं पहुंचाती, वह उपाय बताइये ॥२॥ भुशुण्ड बोले—हे सर्वज्ञ ! हे ब्रह्मन् ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझसे जिज्ञासु के समान जो प्रश्न कर रहे हैं, वह आपके उपयुक्त ही है क्योंकि समर्थ पुरुष इसी प्रकार अपने सेवक को वाक्पटु बनाते हैं ॥३॥ फिर भी आपके प्रश्न का उत्तर देना भी अपना कर्त्तव्य समझता हूं क्योंकि सज्जन पुरुषों की आज्ञा पालन ही उनकी सेवा कही जाती है ॥४॥ वासना रूपी माला, जिसमें दोष रूपी मोती गुँथे हों वह जिसके हृदय-कमल में नहीं पड़ी होती, मृत्यु उसका विनाश नहीं करती ॥५॥ देह रूपी लता के लिए घुन अथवा उसके उच्छेद में समर्थ निःश्वास रूपी झोंके जिनके द्वारा उत्पन्न होते हैं वे व्यथाएँ जिसे नहीं छेदतीं, मृत्यु उसे मारना नहीं चाहती ॥६॥

यन्त्रं तिलानां कठिनं राशिमुग्रमिवाऽऽकुलम् ।
य पीडयति नाऽनङ्गस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥७
एकस्मिन्निर्मले येन पदे परमपावने ।
संश्रिता चित्तविश्रान्तिस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥८
वपुःखण्डाभिपतितं शाखामृगमिवोदितम् ।
न चञ्चलं मनो यस्य तं मृत्युर्न जिघांसति ॥९
एते ब्रह्मन् महादोषाः संसारव्याधिहेतवः ।
मनागपि न लुम्पन्ति चित्तमेकं समाहितम् ॥१०
नाऽस्तमेति न चोदेति न संस्मृतिर्न विस्मृतिः ।
न सुप्तं न च जाग्रत्स्याच्चित्तं यस्य समाहितम् ॥११
अन्धीकृतहृदाकाशाः कामकोपविकारजाः ।
चिन्ता न परिहिंसन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥१२

तिलों के ढेर को व्यथित करने वाले कोल्हू के समान उग्र कामदेव जिसे पीडित नहीं करता मृत्यु उसे नहीं मारना चाहती ॥७॥ जिसने

एक मल-रहित परम पवित्र पद में अपने चित्त को स्थिर कर लिया है, मृत्यु उसके विनाश की इच्छा नहीं करती ॥८॥ जिसका मन देहरूपी वनखंड में बन्दर के समान उछल कूद करने से विरत होगया है उसे भी मृत्यु मारना नहीं चाहती ॥९॥ हे ब्रह्मन् ! यह सभी महादोष संसार रूपी व्याधि के हेतु स्वरूप हैं समाहित चित्त को वे कभी विचलित नहीं कर सकते ॥१०॥ जिसका चित्त समाहित है उसका वह चित्त उदय-अस्त को प्राप्त नहीं होता। स्मृति विस्मृति अथवा सुषुप्ति या जागृति भी उसमें नहीं होती ॥११॥ समाहित चित्त वाले को काम, क्रोधादि विकारों से हृदयाकाश को आच्छन्न कर देने वाली चिन्ता, हिंसा नहीं कर सकती ॥१२॥

इत्युक्तवन्तं विहगं भुशुण्डं पुनरप्यहम् ।
जानन्नपीदमव्यग्रः पृष्टवान् क्रीडया मुनिम् ॥१३
सर्वसंशयविच्छेदिन्नत्यन्तचिरजीवित ।
यथार्थं ब्रूहि मे साधो प्राणचिन्ता किमुच्यते ॥१४
सर्ववेदान्तवेत्ताऽसि सर्वसंशयनाशकः ।
मामेतत्परिहासार्थं मुने पृच्छसि वायसम् ॥१५
अथवा भवतामेव भगवन् परिशिक्षितुम् ।
पुनः प्रत्युत्तराणीदं का मे क्षतिरुपस्थिता ॥१६
भुशुण्डजीवितकरं भुशुण्डस्वात्मलाभदम् ।
शृणु प्राणसमाधानं वक्ष्यमाणमिदं मया ॥१७
पश्येदं भगवन् सर्वं देहगेह मनोरमम् ।
त्रिप्रकारमहास्थूणं नवद्वारसमावृतम् ॥१८

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! इस प्रकार कहते हुए उस काकभुशुण्ड से मैंने सब कुछ जानते हुए भी, व्यग्रता-रहित चित्त से क्रीडा पूर्वक प्रश्न किया ॥१३॥ हे साधो ! हे सर्व संशयों का उच्छेद करने वाले चिरजीवी विहगराज ! मुझे यथार्थ रूप से यह बताओ कि प्राणचिन्ता किसे कहा जाता है ? ॥१४॥ काक ने उत्तर दिया—हे मुने ! आप तो सम्पूर्ण वेदान्त के ज्ञाता हैं, सभी संशयों को दूर करने में भी समर्थ हैं,

फिर इस प्रकार का प्रश्न आप मुझ कौए का परिहास करने के लिए ही पूछ रहे प्रतीत होते हैं ॥१५॥ अथवा, यदि हे भगवन् ! आप जैसे समर्थ के समक्ष शिक्षा ग्रहण करने की दृष्टि से ही, मैं आपके प्रश्न का उत्तर दूँ तो उसमें मेरी हानि ही क्या होगी ? ॥१६॥ हे प्रभो ! मुझ भुशुण्ड को जिसने चिरजीवी बनाया और निर्मल स्वात्म की उपलब्धि कराई उस प्राण-समाधान को कहता हूँ ॥१७॥ हे भगवन् ! सब प्रकार के मनोहर इस शरीर रूपी घर का अवलोकन करिये, इसमें त्रिदोष रूपी खम्भे और नौ द्वार बने हुए हैं ॥१८॥

पुर्यष्टककलत्रेण तन्मात्रस्वजनेन च ।
अहङ्कारगृहस्थेन सर्वतः परिपालितम् ॥१९
अन्तः पश्यसि मत्कर्णशष्कुलीचन्द्रशालिकम् ।
शिरोरुहाच्छादनवद्विपुलाक्षिगवाक्षकम् ॥२०
आस्यप्रधानसुद्वारं भुजपार्श्वोपमन्दिरम् ।
दन्तालिकेसरस्रग्भिर्भूषितद्वारकोटरम् ॥२१
अनारतं रूपरसस्पर्शनद्वारपालवत् ।
संकुलालोकवलितं तारालिन्दकृतस्थिति ॥२२
रक्तमांसवसादिग्धं स्नायुसन्ततिवेष्टितम् ।
स्थूलास्थिकाष्ठसम्बद्धं सुकुड्यं सुसमाहितम् ॥२३
इडा च पिङ्गला चाऽस्य देहस्य मुनिनायक ।
सुस्थिते कोमले मध्ये पार्श्वकोष्ठे निमीलिते ॥२४
पद्मयुग्मत्रयं यन्त्रमस्थिमांसमयं मृदु ।
ऊर्ध्वाधोनालमन्योन्यमिलत्कोमलसद्दलम् ॥२५

यह घर पुर्यष्टक रूपी पुत्र बान्धव आदि से परिपूर्ण एवं अहंकार रूपी गृहस्थ द्वारा पालित है ॥१९॥ उसमें आप देख रहे हैं कि कान रूपी दो सुन्दर चन्द्रशालाएँ हैं, उस शिरोरुह का आच्छादन करने वाले बाल और नेत्र रूपी दो बड़ी-बड़ी गौरव हैं ॥२०॥ मुख रूपी उसका प्रधान द्वार, भुजा और पार्श्व बुर्जी हैं, वह प्रमुख द्वार दंत-पंक्ति रूपी कपाटों से सदा सुशोभित रहता है ॥२१॥ रूप , रस, स्पर्श आदि का

ज्ञान कराने वाली इन्द्रियाँ ही उसके द्वारपाल हैं, आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित उस घर की नेत्र पुतलियों के समी. ही वह आत्मा गृहपति रूप से अवस्थित है ॥२२॥ रक्त, माँस और चर्बी रूपी जल, मिट्टी, गारे आदि से लिप्त, शिरा रूपी रस्सियों से जकड़े हुए, स्थूल अस्थि रूपी काष्ठ के आधारों पर टिकी हुई भीत वाला वह घर दृढ़ रूप से बना है ॥२३॥ हे मुनिनायक! इडा-पिंगला नाम की दो नाड़ियाँ इसके दाँए-बाँए ओर अवस्थित हैं। उसमें अस्थि-मांस युक्त एवं कोमल तीन कमल युग्म हैं। उनमें नीचे ऊपर जो नालदण्ड लगे हैं, वे परस्पर मिल कर कोमल दल रूप लगते हैं ॥२४-२५॥

सेकेन विकसत्पत्रं सकलाकाशचारिणा ।
चलन्ति तस्य पत्राणि मृदु व्याप्तानि वायुना ॥२६
चलत्सु तेषु पत्रेषु स मरुत् परिवर्धते ।
वाताहते लतापत्रजाले बहिरिवाऽभितः ॥२७
वृद्धिं नीतः स नाडीषु कृत्वा स्थानमनेकधा ।
ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु देहेऽस्मिन् प्रसरत्यथ ॥२८
प्राणापानसमानाद्यैस्ततः स हृदयानिलः ।
सङ्केतैः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्विचित्राचारचेष्टितैः ॥२९
यान्त्यायान्ति विकर्षन्ति हरन्ति विहरन्ति च ।
उत्पतन्ति पतन्त्याशु ता एताः प्राणशक्तयः ॥३०
स एष हृत्पद्मगतः प्राण इत्युच्यते बुधैः ।
अस्य काचिन्मुने शक्तिः प्रस्पन्दयति लोचने ॥३१
काचित्स्पर्शमुपादत्ते काचिद्वहति नासया ।
काचिदन्नं जरयति काचिद्वक्ति वचांसि च ॥३२

नासिका के अग्रभाग से पाँव पर्यन्त समस्त देहाकाश में संचरणशील अपान वायु द्वारा सिंच कर उसके पत्र विकसित हो रहे हैं ॥२६॥ हृदय-पद्म के संकुचित विकसित होने पर वन में लता, पत्रादि को व्याप्त करने वाले वायु के समान ही देहस्थ वायु वर्द्धित होता है ॥२७॥ वह वृद्धि को को प्राप्त हुआ वायु हृदयादि को आश्रयण बनाकर ऊपर नीचे

अवस्थित नाड़ियों में प्रविष्ट होकर शरीर में संचरण करता है ॥२८॥ उस वायु की उन्हीं चेष्टाओं के कारण विद्वज्जन उसे प्राण, अपान, समान आदि नामों से कहते हैं ॥२६॥ वही प्राण-शक्तियाँ द्रुत गति से चलतीं, आतीं, विकर्षण-हरण करतीं, विहार, उत्पतन और पतन आदि का निर्वहन करती हैं ( अर्थात् वे प्राणशक्तियाँ ही अन्न-रस आदि की गति का संचालन करने वाली है ) ॥३०॥ हे मुने ! विद्वानों ने हृदय कमल में अवस्थित शक्ति को प्राण कहा है, इसी को कोई शक्ति लोचनों में स्पन्दन करती है ॥३१॥ प्राण की ही कोई एक शक्ति स्पर्श ग्रहण करती, कोई नासिका से श्वास लेती, कोई अन्न का परिपाक करती और कोई बोलती है ॥३२॥

तत्रोर्ध्वाधो द्विसङ्केतौ प्रसृतावनिलौ मुने ।
प्राणापानाविति ख्यातौ प्रकटौ द्वौ वरानिलौ ॥३३
शरीरपुरपालस्य मनसो रथचक्रयोः ।
अहङ्कारनृपस्याऽस्य प्रशस्येष्टतुरङ्गयोः ॥३४
तयोर्ममाऽनुसरतः प्राणापानाभिधानयोः ।
गतिं शरीरमरुतोराशरीरमरुद्धयोः ॥३५
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु सदैव समरूपयोः ।
सुषुप्तसंस्थितस्येव ब्रह्मन् गच्छन्ति वासराः ॥३६
अविरतगतयोर्गतिं विदित्वा
हृदि मरुतोरनुसृत्य चोदितां ताम् ।
न पुनरिह हि जायते महात्मन्
मुदितमनाः पुरुषः प्रणष्टपाशः ॥३७

शरीर में ऊर्ध्व गमन और अधोगमन करने वाले जो दो श्रेष्ठ वायु स्थित हैं वे प्राण और अपान नाम से प्रकट एवं प्रसिद्ध हैं ॥३३॥ देह रूपी पुरी का रक्षक जो मन है, उसके रथ के यह दोनों चक्र हैं और अहंकार रूपी जो राजा है, उसके यह दोनों सुन्दर और इच्छानुसार चलने वाले अश्व हैं ॥३४॥ हे ब्रह्मन् ! उन शरीरगत जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति में सदा समान रहने वाले और अधिक अभ्यास के कारण

रहती है ॥३॥ हे ब्रह्मन् ! अपान शक्ति भी सदा स्पन्दनशील और गतिमती रहती है। यह शरीर के बाहर भीतर रहती हुई नीचे की ओर गमन करती है ॥४॥ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से युक्त प्राणियों के लिए प्राणायाम श्रेष्ठ साधन है, उसे आप श्रवण करिये ॥५॥ बिना प्रयास ही हृदयपद्मकोश से उपलब्ध, प्राणों की बहिर्मुखता का जो अभ्यास है, उसे ज्ञानीजन रेचक कहते हैं ॥६॥ बाह्य प्रदेश में बारह अंगुल पर्यन्त अधोगमन करने वाले प्राणों के साथ अंगों का स्पर्श पूरक कहा जाता है ॥७॥

अपानेऽस्तं गते प्राणो यावन्नाऽभ्युदितो हृदि ।
तावत् सा कुम्भकावस्था योगिभिर्याऽनुभूयते ॥८
रेचकः कुम्भकश्चैव पूरकश्च त्रिधा स्थितः ।
अपानस्योदयस्थाने द्वादशान्तादधो बहिः ॥९
बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैतान् कुम्भकादीननारतम् ।
प्राणापानस्वभावांस्तान् बुद्ध्वा भूयो न जायते ॥१०
अष्टावेते महाबुद्धे रात्रिंदिवमनुस्मृताः ।
स्वभावा देहवायूनां कथिता मुक्तिदा मया ॥११
गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
एते निरोधमायान्ति प्रकृत्याऽतिचलानिलाः ॥१२
अव्यग्रमस्मिन् व्यापारे वाह्यं परिजहन्मनः ।
दिनैः कतिपयैरेव पदमाप्नोति केवलम् ॥१३
सर्वारम्भान्सदा स्वच्छा कुर्वन्वाऽपि बुधो जना ।
प्राणापानगतिं प्राप्य सुस्वस्थः सुखमेधते ॥१४

अपान वायु का शमन होने पर प्राणवायु जब तक हृदय में अभ्युदय को प्राप्त नहीं होता, उस अवस्था को कुम्भक कहते हैं, इस अवस्था का योगियों को पूर्ण अनुभव होता है ॥८॥ नासिका के अग्रभाग से बारह अंगुल पर्यन्त, अपानवायु के उत्पत्ति-स्थान में तीन अवस्था वाला प्राणायाम—रेचक, कुम्भक और पूरक होता है ॥९॥ प्राणापान वायुओं के स्वभाव वाले बाह्याभ्यन्तर जो कुम्भक आदि प्राणायाम हैं, उनको

ज्ञान होने पर जीव इस जगत् में पुनः उत्पन्न नहीं होता, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं ॥१०॥ हे महामते ! देहवायु के स्वभाव वाले यह प्राणायाम आठ प्रकार के हैं, जो इन का रात-दिन स्मरण करता है, उसे वह मुक्तिदायक हो जाते हैं ॥११॥ चलते, ठहरते, जागते या सोते हुए भी अभ्यास करने पर अत्यन्त चंचल वायु गतिहीन भी हो जाते हैं ॥१२॥ प्राण के चिन्तन रूपी अभ्यास में लगा हुआ एवं बाह्य-विषयों से विरत हुआ मन कुछ ही दिनों में उस केवल पद को प्राप्त कर लेता है ॥१३॥ सभी कर्मों में अनुष्ठित निर्मल चित्त वाला ज्ञानी पुरुष प्राण और अपान की गति जान कर ही स्वस्थ सुख में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥१४॥

सोदयास्तमयं सेन्दुं सरश्मिं सगमागमम् ।
हृदये भास्करं देवं यः पश्यति स पश्यति ॥१५
अस्तं गतवति प्राणे ह्यपानेऽभ्युदयोन्मुखे ।
बहिः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ॥१६
अपानेऽस्त गते प्राणे किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ।
अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ॥१७
पुष्पस्याऽन्तरिवाऽऽमोदः प्राणस्याऽन्तरवस्थितम् ।
न सप्राणं न वाऽपानं चिदात्मानमुपास्महे ॥१८
जलस्याऽन्तरिवाऽऽस्वादमपानस्याऽन्तरस्थितम् ।
न सप्राणं न वाऽप्राणं चिदात्मानमुपास्महे ॥१९
प्राणक्षयस्योपान्तस्थमपानक्षयकोटिगम् ।
अपानप्राणयोर्मध्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥२०
यदखिलकलनाकलङ्कहीनं
परिवलितं च सदा कलागणेन ।
स्वनुभवविभवं पदं तदग्र्यं
सकलसुरप्रणतं परं प्रपद्ये ॥२१

उदय और अस्त वाला, चन्द्रमा, रश्मि और गमन-आगमन से युक्त हृदयाकाश में अवस्थित प्राणरूप सूर्य के जो दर्शन करता है, यथार्थ में वही दर्शन करता है ॥१५॥ प्राणवायु जब अस्त होजाता और अपान का

उदय होता है तब बहिर्कुम्भक का चिर-अभ्यास करने से संसार रूपी शोक की प्राप्ति नहीं होती ॥१६॥ और अपान वायु के अस्त होने तथा प्राणवायु के किंचित् उदित होने पर आन्तरिक कुम्भक के चिर-अभ्यास से भी भवरूपी इस शोक में नहीं पड़ना होता ॥१७॥ पुष्प के भीतर स्थित सुगन्धि के समान प्राण में अवस्थित तथा प्राण-अपान दोनों से रहित जो चिदात्मा है, हम उसकी उपासना करते हैं ॥१८॥ जल में स्थित द्रवता के समान, अपान में अवस्थित प्राणापान से रहित चिदात्मा की हम उपासना करते हैं ॥१९॥ प्राण और अपान के क्षय का समीप और अन्त में प्रकाशक तथा प्राणापान दोनों में स्थित जो चिदात्मा है, हम उसके उपासक हैं ॥२०॥ जो सम्पूर्ण कल्पना-कलंकों से रहित है, जो कलाओं से सदैव परिपूर्ण रहता है और जो अपने अनुभव रूपी वैभव से सम्पन्न है, उस सुर वन्दित परमपद की हम उपासना करते हैं ॥२१॥

## २१—वसिष्ठजी का स्वलोक पुनरावर्तन

एतत्ते कथितं ब्रह्मन् यथाऽस्मि यदिहाऽस्मि च ।
त्वदाज्ञामात्रसिद्धयर्थं धाष्टर्येन ज्ञानपारग ॥१

अहो नु चित्रं भगवन् भवता भूषणं श्रुतेः ।
आत्मोदन्तः प्रकथितः परं विस्मयकारणम् ॥२

धन्यास्ते ये महात्मानमत्यन्तचिरजीवनम् ।
भवन्तं परिपश्यन्ति द्वितीयमिव पद्मजम् ॥३
यावदद्य दृशो धन्याः स्वात्मोदन्तमखण्डितम् ।
यथावत्पावनं वृद्धैः सर्वं कथितवानसि ॥४

तदस्तु तव कल्याणं प्रविशाऽऽत्मगुहां शुभाम् ।
मध्याह्नसमयो यन्मे व्रजामि सुरमन्दिरम् ॥५
इत्याकर्ण्य भुशुण्डोऽसौ जग्राहोत्थाय पादपात् ।
सङ्कलिताभ्यां हस्ताभ्यामुपात्तं हेमपल्लवम् ॥६

काकभुशुण्ड बोले—हे ब्रह्मन् ! हे ज्ञान-पारंगत ! आपकी आज्ञा का पालन करने के उद्देश्य से ही मैंने अपने चिरजीवन की कथा सुनाने की धृष्टता की है ।।१।। वसिष्ठजी ने कहा—अहा, हे भगवन् ! आपने श्रवण योग्य गाथाओं में भूषण स्वरूप एवं विस्मयप्रद अपने चिरजीवन की अद्भुत कथा मुझे सुनाई है ।।२।। हे विहग ! दूसरे ब्रह्मा के समान आप दीर्घजीवी के दर्शन करने वाले महात्मा धन्य हैं ।।३।। आपके इतने समय तक दर्शन करते रहने के कारण मेरे नेत्र भी धन्य हो गए हैं। आपने बुद्धि को पावन करने वाला अपना जीवनवृत्त अक्षरशः कह दिया है ।।४।। आपका कल्याण हो, अब आप अपनी श्रेष्ठ गुफा में प्रवेश कीजिए। मेरा भी मध्याह्न कर्म का समय होगया है। अतः मैं भी अपने देवमन्दिर को प्रस्थान करूँगा ।।५।। यह सुनकर काक ने उठकर संकल्प से स्पन्दित हाथों में सुवर्ण पल्लव ग्रहण किया ।।६।।

कल्पवृक्षलतापुष्पकेसरेण हिमत्विषा ।
तत्पात्रं मौक्तिकाद्र्घ्येण पूरयामास पूर्णधीः ।।७
तेनाऽर्घ्यपाद्यपुष्पेण त्रिनेत्रमिव मामसौ ।
आपादमस्तकं भक्त्या पूजयामास पूर्वजः ।।८
अनुव्रज्याकदर्थनं खगेन्द्राऽलमिति ब्रुवन् ।
विष्टरादहमुत्थाय ततः खगवदाप्लुतः ।।९
व्योम्नि योजनमात्रं तु मदनुव्रज्यया गतः ।
करं करेणाऽवष्टभ्य बलात् सरोधितः खगः ।।१०
मयि याते क्षणेनैव गगनाध्यन्यदृश्यताम् ।
निवृत्तोऽसौ विहङ्गेन्द्रो दुस्त्यजा संगतिः सताम् ।।११

फिर उस पूर्णज्ञानी पक्षी ने कल्पवृक्षलता की पुष्पकेसरों एवं सुवर्ण के समान कान्तिमय मुक्ता रूपी अर्घ्य-जल से उसे पूर्ण किया ।।७।। पूर्वकाल में उत्पन्न हुए उस काक ने भगवान् त्रिनेत्र के समान ही अर्घ्य, पाद्य और पुष्पों से मेरा आपाद मस्तक पूजन किया ।।८।। फिर "हे विहगेन्द्र ! आप मेरे पीछे चलने का कष्ट न करें" ऐसा कहता हुआ मैं आसन से उठा और पक्षी के समान उड़ने लगा ।।९।। फिर भी

वह काकराज एक योजन तक मेरे पीछे-पीछे चला। तब मैंने उसे अपने हाथ द्वारा, बलात् आगे बढ़ने से रोका ॥१०॥ फिर मैं क्षणभर में ही उस गगनमंडल में अदृश्य होगया, तब कहीं वह वापस लौटा। क्योंकि सज्जनों की संगति दुःत्याज्य होती है ॥११॥

अन्योन्यमपि कस्मिंश्चित्तरंगक इवाऽम्बुधौ।
याते कृतयुगस्याऽऽदौ पुरा वर्षशतद्वये।
संगतोऽहं भुशुण्डेन मेरोः शृङ्गद्रुमेऽभवम् ॥१२
अद्य राम कृते क्षीणे त्रेता संप्रति वर्तते।
मध्ये त्रेतायुगस्याऽस्य जातस्त्वं रिपुमर्दन ॥१३
पुनरद्याऽष्टमे वर्षे तत्रैवोपरि भूभृतः।
मिलितोऽभूद्भुशुण्डो मे तथैवाऽजररूपवान् ॥१४
इति संकथितं चित्रं भुशुण्डोदन्तमुत्तमम्।
श्रुत्वा विचार्य चैवाऽन्तर्यद्युक्तं तत्समाचर ॥१५
इति सुमतिभुशुण्डसत्कथां यो
विमलमतिः प्रविचारयिष्यतीह।
भवभयबहुलाकुलास्थितां स
प्रसभमसत्सरितं तरिष्यतीति ॥१६

सतयुग के दो सौ वर्ष व्यतीत होने पर मेरु पर्वत स्थित कल्पतरु पर उस काकभुशुण्ड से मेरी प्रथम भेंट हुई थी ॥१२॥ हे राम! हे शत्रुमर्दन! सत्युग क्षीण होचुका, त्रेतायुग वर्तमान है। आपने जन्म धारण किया है, वह युग यह त्रेता ही है ॥१३॥ अब से आठ वर्ष पूर्व उसी मेरु-शिखर पर, जरा-रहित उस काक से मेरी पुनः भेंट हुई थी ॥१४॥ इस प्रकार काकभुशुण्ड का यह श्रेष्ठ चरित्र मैंने कहा है, इस सुने हुए पर विचार करके उसके समान आचरण कीजिए ॥१५॥ वाल्मीकि बोले—काकभुशुण्ड की इस श्रेष्ठ कथा का जो निर्मलबुद्धि पुरुष विचार करता है, वह भव-भय से व्याकुल प्राणियों को व्याप्त करने वाली माया रूपी सरिता से पार हो जायगा ॥१६॥

है, यह अज्ञान-चक्रिका कैसी विचित्र है ? ।।५।। जैसे पाषाण का घनत्व उससे पृथक् नहीं है, वैसे ही आत्मा की घनता सामान्य सत्ता से अभिन्न है, क्यों कि सद्रूप से भिन्न कोई रूप है ही नहीं ।।६।। इस विषय में जो कथा कही जा रही है, उसे आप अपरा दृष्टि से सुनिए। यह कथा कैलास पर्वत की गुफा में भगवान् शंकर ने संसार के दुःख का शमन करने के विचार से कही थी ।।७।।

अस्तीन्दुकरसंभारभासुरः पारगो दिवः ।
कैलासो नाम शैलेन्द्रो गौरीरमणमन्दिरम् ।।८
तत्राऽऽस्ते भगवान् देवो हरश्चन्द्रकलाधरः ।
तं पूजयन्महादेवं तस्मिन्नेव गिरौ पुरा ।।९
कदाचिदवसं गङ्गातटे विरचिताश्रमः ।
तपोर्थं तापसाचारे चिराय रचितस्थितिः ।।१०
अथैकदा कदाचित्तु बहुलस्याऽष्टमे दिने ।
गते श्रावणपक्षस्य रात्र्यग्रे क्षयमागते ।।११
दिक्षु संशान्तरूपासु काष्ठमौनस्थितास्विव ।
खड्गच्छेद्यान्धकारेषु कुञ्जेषु गहनेषु च ।।१२
एतस्मिन्नन्तरे तत्र यामार्धे प्रथमे गते ।
समाधिं तनुतां नीत्वा स्थितोऽहं बाह्यलग्नदृक् ।।१३
अपश्यं कानने तेजो झटित्येव समुत्थितम् ।
शुभ्राभ्रशतसंकाशं चन्द्रबिम्बगणोपमम् ।।१४

चन्द्र किरणों के समान जाज्वल्यमान कैलाश नामक जो पर्वतराज ऊँचाई में आकाश के भी पार चला गया है, वह गौरीरमण भगवान् शिव का मन्दिर स्वरूप ही है ।।८।। चन्द्रकला के धारण करने वाले भगवान् महादेवजी का निवास वहीं पर है। पुराकाल में मैं उस पर्वत पर उन्हीं देवता का पूजन करने के उद्देश्य से गंगातट पर आश्रम बना कर रहने लगा। वहाँ मैंने चिरकाल तक तपस्वियों के आचार का पालन करते हुए तपस्या की ।।९-१०।। तभी एक समय, श्रावण कृष्णा अष्टमी की रात्रि का प्रथमांश व्यतीत होने पर गहन कुंजें तलवार

अपने हाथ में पार्वतीजी का हाथ लिए थे। नन्दीगण आगे से लोगों को हटा रहे थे ॥१६॥ तभी मैंने अपने उपस्थित सभी शिष्यों को सम्बोधित किया और स्वयं सावधान एवं प्रसन्न चित्त से अर्घ्यपात्र ग्रहण कर उन गौरीपति भगवान् की दृष्टि से ही पवित्र हुई सन्निधि में पहुँच गया ॥१७॥ वहाँ दूर से ही मैंने पुष्पांजलि और अर्घ्य का समर्पण किया और उन त्रिनेत्र को साष्टांग प्रणाम एवं अभिवंदन किया ॥१८॥ तभी, मैंने जैसे भगवान् शंकर का पूजन किया था, वैसे ही सखियों से युक्त तथा गण मंडल से घिरी हुई भगवती गौरी का पूजन किया ॥१९॥ पूजा-कार्य सम्पूर्ण होने पर उस स्थान पर बैठे हुए मुझसे वे अर्द्धचन्द्रकला के धारण करने वाले भगवान् गौरीपति पूर्णचन्द्र-रश्मियों के समान शीतल वाणी से बोले ॥२०॥ हे ब्रह्मन् ! सांसारिक विषयों से विरक्त और परब्रह्म के चिन्तन में विश्रान्ति को प्राप्त हुई तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ कल्याणकारी पद में ही तो अवस्थित हैं न ? ॥२१॥ कल्याण लक्ष्य में वर्तमान तुम्हारा तप निर्विघ्न रूप से चल रहा है न ? तुम्हें प्राप्तव्य की प्राप्ति तो होगई न ? तुम्हारे सांसारिक भयों का पूर्णउद्वेग शमन हो चुका न ? ॥२२॥

एवं वादिनि देवेशे सर्वलोकैककारिणि ।
गिराऽनुनयशालिन्या मयोक्तं रघुनन्दन ॥२३
त्वक्षानुस्मृतिकल्याणवतामिह महेश्वर ।
न किञ्चिदपि दुष्प्रापं न च काश्चन भीतयः ॥२४
ज्ञानामृतककलशो धृतिज्योत्स्नानिशाकरः ।
अपवर्गपुरद्वारं त्वदनुस्मरणं प्रभो ॥२५
त्वदनुस्मरणोदारचिन्तामणिमता मया ।
सर्वासामापदां मूर्ध्नि दत्तं भूतपते पदम् ॥२६
इत्युक्त्वा सुप्रसन्नं तं भगवन्तं महेश्वरम् ।
अवोचं प्रणतो भूत्वा यद्राम तदिदं शृणु ॥२७
भगवंस्त्वत्प्रसादेन पूर्णा मे सकला दिशः ।
किन्तु पृच्छामि देवेश सन्देहे तत्र निर्णयम् ॥२८

न ब्राह्मणो नाऽवनिपो नाऽहं न त्वं द्विजोत्तम ।
न देवो देहरूपो हि न देवश्चित्तरूपधृक् ॥३४
न देवः कमलारूपी नाऽपि देवो भवेन्मतिः ।
अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते ॥३५
तदेव देवशब्देन कथ्यते तत्प्रपूजयेत् ।
तदेवाऽस्ति यतः सर्वं सत्तासत्तात्मरूपधृक् ॥३६
अज्ञातशिवतत्त्वानामाकाराद्यर्चनं कृतम् ।
योजनाध्वन्यशक्तस्य क्रोशाध्वा परिकल्प्यते ॥३७

शिवजी बोले—हे ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ! मैं तुमसे उस उत्तम देवार्चन-विधान को कहता हूं जिसके करने से निश्चय ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥३१॥ हे द्विज ! हे महाबाहो ! क्या तुम जानते हो कि 'देव' है कौन ? देखो, न पुण्डरीक्ष देव हैं और न त्रिनेत्र शिव ही ॥३२॥ कमलोत्पन्न ब्रह्मा भी देव नहीं हैं। देवेश इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा इनमें भी कोई देव नहीं है ॥३३॥ हे द्विजोत्तम ! ब्राह्मण भी देव नहीं है, राजा भी नहीं। मैं या तुम में से भी कोई देवता नहीं है न देह रूपधारी देव है, न चित्तरूप धारी ॥३४॥ न लक्ष्मीरूप देवता है और न मति ही देवता है, परन्तु अकृत्रिम, आदि-अन्त-रहित जो चित् है, उसी को ज्ञानीजन देव कहते हैं ॥३५॥ सम्पूर्ण अस्तित्व उसी की सत्ता से होने के कारण वही चिद्रूप देव' शब्द से कही जाती है और उसी का पूजन किया जाता है ॥३६॥ जिन्हें शिव-तत्त्व का ज्ञान नहीं, उन्हीं के लिए अन्य देव अर्चन विहित है। क्योंकि अशक्त पथिकों की सान्त्वना के लिए योजन परिमाण वाले मार्ग में कोसों से गणना की जाती है ॥३७॥

ऽयत्तादिपरिच्छिन्न रुद्रादेः प्राप्यते फलम् ।
अकृत्रिममनाद्यन्तं फलमानन्द आत्मनः ॥३८
अकृत्रिमफलं त्यक्त्वा यः कृत्रिमफलं व्रजेत् ।
त्यक्त्वा स मन्दारवनं कारञ्जं याति काननम् ॥३९

बोधः साम्यं शम इति पुष्पाण्यग्राणि तत्र च ।
शिवं चिन्मात्रममलं पूज्यं पूज्यविदो विदुः ॥४०
शमबोधादिभिः पुष्पैर्देव आत्मा यदर्च्यते ।
तत्तु देवार्चनं विद्धि नाऽऽकारार्चनमर्चनम् ॥४१
आत्मसंवित्तिरूपं तु त्यक्त्वा देवार्चनं जनाः ।
कृत्रिमार्चासु ये सक्ताश्चिरं क्लेशं भजन्ति ते ॥४२
चेतनाकाशमात्रात्म यथा जगदिदं प्रभो ।
यथा तच्चेतनस्यैव जीवादित्वं तदुच्यताम् ॥४३

प्रसन्न हुए रुद्रादि देवता तो इच्छा आदि में युक्त फल ही दे सक है, परन्तु तत्त्व से दर्शन की गई प्रसन्न आत्मा के दर्शन-पूजन से आदि-अंत से शून्य स्वाभाविक फल की प्राप्ति होती है ॥३८॥ औ जो स्वाभाविक फल का त्याग कर बनावटी फल की ओर दौड़ता है वह अवश्य ही देववृक्ष मंदार के वन का त्याग कर कंजा के वन की ओर जारहा समझो ॥३९॥ पूजनीय को जानने वाले ज्ञानियों का कथन है कि पूजन-सामग्री में बोध, साम्य-दृष्टि और शम यह उत्त पुष्प हैं और निर्मल चिन्मात्र शिव ही पूज्य देवता हैं ॥४०॥ शम बोधादि रूपी पुष्पों के द्वारा जो पूजन किया जाय, वही यथार्थ देवार्च है, प्रतिमा-पूजन को देव-पूजन मत जानो ॥४१॥ जो आत्मज्ञान रू देवार्चन का परित्याग कर कृत्रिम देवार्चन में लगे रहते हैं, उन्हें चिरका तक क्लेश ही प्राप्त होता है ॥४२॥ वसिष्ठजी बोले—हे प्रभो ! यह वि जिससे चेतनाकाशमात्र जगत्त्व को प्राप्त होता है, तथा जिससे उ चेतन में जीवादि देहत्व को प्राप्ति होती है, उसके विषय में मुझ कहिये ॥४३॥

चिद्व्योमैव किलाऽस्तीह पारावारविवर्जितम् ।
सर्वत्राऽसम्भवच्छेदं यत्कल्पान्तेऽवशिष्यते ॥४४
यद्यत्स्वयं प्रकचति तस्य स्वकचनस्य तु ।
स्वयं यस्तदिवं नाम देहेयं जगदित्यहम् ॥४५

इत्येवं स्वप्नपुरवज्जगद्भाति चिदात्मकम् ।
एवं चिद्व्योममात्रात्म जगदच्छं न भित्तिमत् ॥४६

याः काश्चन दृशो ये ये भावाभावास्त्रिकालगाः ।
सदेशकालचित्तास्तत्सर्वं चिद्व्योममात्रकम् ॥४७

स एष देवः कथितो यः परः परमार्थतः ।
यस्त्वं सोऽहमशेषं वा जगदेव च योऽखिलः ॥४८

सङ्कल्पने स्वप्नपुरे शरीरं
चिद्व्योमतोऽन्यन्नयथाऽस्तिकिञ्चित् ।
तथेह सर्गे प्रथमैकसर्गान्
मुने प्रभृत्यस्ति न रूपमन्यत् ॥४९

शिवजी बोले—पारावार से रहित यह चेत्य-रहित चिदाकाश ही सर्वत्र विद्यमान है । कल्पान्त में भी यही शेष रहता है ॥४४॥ स्वयं प्रकाश वाले पदार्थों के प्रकाश से स्पन्द जैसा प्रतीत होने वाले जगत के समान चिदाकाश की अपरिछिन्नता से मायावरण न छिप सकने के कारण रागादि से जो स्पन्द-सा प्रतीत होता है, उसी से इस विश्व-रूपत्व की प्रतीति होती है ॥४५॥ इस भाँति स्वप्न नगरी के समान यह विचित्र रूप विश्व चिदात्मक ही है । बुद्धि पूर्वक विचार करने पर इस विश्व की किसी भित्ति (आधार) की सिद्धि नहीं हो पाती ॥४६॥ विभिन्न दृष्टियों से युक्त, त्रिकाल में देश, काल और चित्त से समन्वित भाव और अभाव वाले जो-जो पदार्थ हैं, वे सब चिदाकाश मात्र ही हैं ॥४७॥ परमार्थ रूप से श्रेष्ठ, तुम्हारा, तत्परार्थ का, मेरा और सम्पूर्ण विश्व का स्वरूप तथा परिपूर्ण है, वह ज्ञानरूपी पूजन-सामग्री से अर्चन के योग्यदेवता है । यह तुम्हारे पूछने पर मैंने बता दिया है ॥४८॥ जैसे संकल्पितपदार्थोंऔर स्वप्न नगरी के दृश्य पदार्थों में चैतन्याकाश के अतिरिक्त कुछनहीं है, वैसे ही प्रथम सर्ग से इस सर्ग तक स्थित इस विश्व में चैतन्याकाश स्वरूप परमार्थिक रूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ॥४९॥

## २३—सुख-दुःख-भोग के लिए ही देह की प्राप्ति

एवं सर्वमिदं विश्वं परमात्मैव केवलम् ।
ब्रह्मैव परमाकाशमेष देवः परः स्मृतः ॥१
तदेतत्पूजनं श्रेयस्तस्मात् सर्वमवाप्यते ।
तदेव सर्गभूः सर्वमिदं तस्मिन् व्यवस्थितम् ॥२
अकृत्रिममनाद्यन्तमद्वितीयसखण्डितम् ।
अवहिःसाधनासाध्यं सुखं तस्मादवाप्यते ॥३
चिन्मात्रमेव संसारसारः सकलसारताम् ।
गतः स देवः सर्वोऽहं तस्मात् सर्वमवाप्यते ॥४
न स दूरे स्थितो ब्रह्मन्न दुष्प्रापः स कस्यचित् ।
संस्थितः स सदा देहे सर्वत्रैव च खे तथा ॥५
स करोति स चाऽश्नाति स बिभर्ति प्रयाति च ।
स निःश्वसिति संवेत्ता सोऽङ्गान्यङ्गानि वेत्ति च ॥६
प्रविस्मृतस्वभावत्वाज्जीवोऽयं जडतां गतः ।
मोहाद्विस्मृतभावत्वाच्छूद्रतामिव सद्द्विजः ॥७

भगवान् शंकर बोले—हे मुने ! इस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व ही एकमात्र परमात्म ब्रह्मरूप है, वही परमाकाश और परमदेव कहा जाता है ॥१॥ इसी का पूजन परम कल्याणकारी है, क्योंकि उसी के द्वारा सर्व प्राप्ति संभव है, वही सर्ग रूप आरोप का अधिष्ठान है अतः यह सब कुछ उसी में व्यवस्थित है ॥२॥ अकृत्रिम, अनादि, अनन्त, अद्वितीय, अखंडित और बाह्य साधनों से जिसकी सिद्धि संभव नहीं, उसी के पूजन से नित्य सुख की प्राप्ति संभव है ॥३॥ चिन्मात्र ही संसार का सार है, और सम्पूर्ण सारभूत वस्तुओं के सार रूप वाला ही मैं परिपूर्ण देव हूँ, अतः चिदात्मा से ही सभी कुछ प्राप्ति हो सकती है ॥४॥ हे ब्रह्मन् ! न वह दूर स्थित है और न दुष्प्राप्य ही है, वह तो सदैव इस देह में और आकाश में विद्यमान रहता है ॥५॥ वही कर्म करता, वही भोजन करता, वही पालन करता, वही जाता, वही श्वास लेता, और वही

अंग-अंग का ज्ञाता है ॥६॥ अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को भूल जाने के कारण ही उसने वैसी जड़ता प्राप्त कर ली है, जैसे कि मोहवश अपने स्वाभाविक कर्म को भूल जाने पर सद् ब्राह्मण को शूद्रत्व की प्राप्ति होती है ॥७॥

प्रविस्मृतस्वभावा हि चिच्चित्तत्वमुपागता ।
मोहापहतचित्तत्वात् सुमहानिव दीनताम् ॥८
शरीरशकटानां हि कर्षणे परमात्मना ।
मनः प्राणोदयौ ब्रह्मन् कृतौ कर्मकृतौ दृढौ ॥९
चिच्चेत्यचेतनान्मोहात् स्पन्दमायान्ति वासनाः ।
तदीरिता स्मरत्यन्तरन्यद्विस्मरति स्वयम् ॥१०
हृत्पद्मपत्रस्फुरणात् स्फुटं पुर्यष्टकं भवेत् ।
हृत्पद्मयन्त्रे वहनाद्रुद्धे पुर्यष्टक क्षयि ॥११
देहे पुर्यष्टकं यावदस्ति तावत्स जीवति ।
शान्ते पुर्यष्टके देहो मृत इत्युच्यते द्विज ॥१२
संरुद्धे पद्मयन्त्रे हि प्राणे शान्तिमुपागते ।
देहः पतत्यधैर्योऽयं काष्ठलोष्टसमः क्षितौ ॥१३
यथैव व्योममरुति लीनं पुर्यष्टकं भवेत् ।
तथैव तत्रैव तदा लयमेति मनो मुने ॥१४

मोह में चित्त के विलीन होने से अपने स्वरूप को विस्मृत हुए महान् व्यक्तियों को जैसे दीनता की प्राप्ति होजाती है, वैसे ही अपने चैतन्यात्मक स्वभाव के विस्मरण से चिति को भी जडत्व की प्राप्ति होती है ॥८॥ परमात्मा ने इस देह रूपी शकट को खींचने के लिए मन और प्राण रूपी दो सुदृढ़ कर्मचारी उत्पन्न किये हैं ॥९॥ मोहवश उत्पन्न उस चिति में विषयात्मक ज्ञान से वासनाओं का स्पन्दन होता है, जिनकी प्रेरणा से उसे अपने पूर्व भोक्तृत्वादि का स्मरण होता है और वह स्वरूप स्वयं ही भूल जाती है ॥१०॥ हृदयकमल का पत्र जब स्फुरित होता है, तब यह पुर्यष्टक प्रकट होता है और जब उस हृत्कमल-पत्र का स्फुरण निरोध को प्राप्त होता है, तब पुर्यष्टक का क्षय होजाता

है। हे विप्र ! देह में पुर्यष्टक के अवस्थित रहने तक ही जीवन रहता है, जब पुर्यष्टक क्षीण होजाता है, तव देह को 'मृत' कहा जाता है। उस पद्मयन्त्र के स्पन्दनहीन होने और प्राण के तेज में विलीन होजाने पर धृति-रहित हुआ यह शरीर काठ या ढेले के समान पतित होजाती है। हे मुने ! हृदयाकाश के प्राण में लीन होजाने पर मन भी प्राण में ही विलीन हो जाता है ॥११-१४॥

शरीरं शवतामेति मनोमारुतवर्जितम् ।
गते गृहजने दूरं गृहं सशून्यतामिव ।।१५
जीवशक्त्याऽपरामृष्टे निरुद्धे पद्मयन्त्रके ।
प्राणे संरोधमायाते म्रियते मानवो मुने ।।१६
यथा जातानि जातानि जाऽन्यान्यन्यानि कालतः ।
वृक्षात् पर्णानि शीर्यन्ते शरीराणि तथा नृणाम् ।।१७
जायन्ते च म्रियन्ते च शरीराणि शरीरिणाम् ।
पादपानां च पर्णानि का तत्र परिदेवना ।।१८
चिदम्बुधौ स्फुरन्त्येता देहबुद्बुदपङ्क्तयः ।
इतश्चाऽन्या इतश्चाऽन्या एतास्वास्था न धीमतः ।।१९
सर्वगाऽपि चिदेतस्मिश्चेतसि प्रतिविम्बति ।
पदार्थमन्तरादत्ते नाऽन्यो हि मुकरादृते ।।२०
चिदमलनभसि प्रयत्नरूपाः
परिवितते तदतन्मयाः स्फुरन्ति ।
कलकलमुखराः स्फुटाभिरामा
विविधशरीरविमोहतापनाय ।।२१

जैसे घर में रहने वाले मनुष्यों के चले जाने पर घर सूना होजाता है, वैसे ही मन और प्राण विहीन हुआ यह देह 'शव' स्वरूप होजाता है ॥१५॥ हे मुने ! जीव-विषयक स्मृति-शक्ति की असम्बद्धता और पद्मयन्त्र के निरोध से प्राण अवरुद्ध हो जाते हैं, तभी मनुष्य की मृत्यु होजाती है ॥१६॥ जैसे उत्पन्न होकर वृक्ष के पत्ते समय पाकर झड़-झड़ जाते हैं वैसे ही प्राणियों के यह देह गिर जाते हैं ॥१७॥ वृक्षों के

पत्तों के समान प्राणियों के यह देह भी उत्पन्न हो होकर मरते रहते हैं, तब उनके विषय में परिसंताप ही कैसा ? ॥१८॥ चैतन्य रूपी सागर में शरीर रूपी बुद्बुदों की पंक्तियाँ कहीं कैसी और कहीं कैसी (विभिन्न-प्रकार की) स्फुरित होती हैं, मतिमान् पुरुष इनमें विश्वास नहीं रखते ॥१९॥ सर्वव्याप्त यह चिति चित्त रूपी दर्पण में ही प्रतिबिम्बित होती है, क्योंकि दर्पण के अतिरिक्त अन्य कोई भी अपने अन्तर मे किसी पदार्थ को प्रविष्ट नहीं होने देता ॥२०॥ इस निर्मल चिदाकाश में अपने शुभाशुभ प्रयत्नों के फल स्वरूप, सुख दुःख आदि के उपभोग-काल में विभिन्न कोलाहलों से मुखरित और रमणीय होकर यह जगद्रूप कल्पनाएँ विविध देहों के द्वारा भ्रान्तिपूर्वक आत्मा को विमोहित और संतृप्त करने के निमित्त प्रकट होती हैं ॥२१॥

## २४—आत्म-पूजन से ब्रह्मरूप-प्राप्ति

चन्द्रार्धशेखरधर चित्तत्त्वस्य महात्मनः ।
अनन्तस्यैकरूपस्य द्वित्वं कथमुपागतम् ॥१

कथ च तन्महादेव रूढं पर्यायसंकुलम् ।
भवेद्दुःखोपघाताय प्रज्ञया विनिवारितम् ॥२

सर्वशक्ति हि तद्ब्रह्म सदेकं विद्यते यदा ।
तदा निर्मूल एवाऽयं द्वित्वैकत्वकलोदयः ॥३

सति द्वित्वे किलैकं स्यात् सत्येकत्वे द्विरूपता ।
कले द्वे अपि चिद्रूपे चिद्रूपत्वात्तदप्यसत् ॥४

एकाभावादभावोऽत्र एकत्वद्वित्ययोर्द्वयोः ।
एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ॥५

कार्यकारणयोरेकसारत्वादेकरूपता ।
फलान्तस्याऽपि बीजादेर्विकारादिह कल्पना ॥६

चित्त्वं चेत्यविकल्पेन स्वयं स्फुरति तन्मयम् ।
विकारादि तदेवाऽन्तस्तत्सारत्वान्न भिद्यते ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे अर्द्ध चन्द्रधर ! हे महात्मन् ! मुझे यह बताइये कि अनन्त और एकमात्र चैतन्य तत्त्व में द्वित्व की प्राप्ति किस प्रकार हुई ? ।।१।। हे महादेव ! अनेक वन्धनों में जकड़ा हुआ और चिरकालीन अनुवृत्ति पर स्थित उस द्वित्व भेद का दुःख को काटने के मार्ग में तत्वज्ञान का निवारण किस प्रकार होगा ? ।।२।। शिवजी बोले—वह सर्व शक्तिमान् ब्रह्म सदा एक रूप से स्थित रहता है, इसलिए उसमें द्वित्व का आरोप निराधार ही है ।।३।। सद्ब्रह्म में द्वित्व का आरोप होने पर उसके निषेध स्वरूप एकत्व का प्रतिपादन किया जाता है। वही एकत्व जब अन्य एकत्व से द्वित्व में कल्पित होता है, तब दोनों सापेक्षता से वे चिद्रूप ही हैं (अर्थात् चिद्रूप होने से द्वित्व की कल्पना अस्तित्व हीन है) ।।४।। एक वस्तु के अभाव से एकत्व और द्वित्व दोनों का अभाव होजाता है, क्योंकि एक बिना दूसरा अथवा दूसरे के बिना एकत्व नहीं होता ।।५।। कार्य और कारण दोनों में जो सार है वह उनका एक तत्त्व रूप होने से एक रूपता ही हैं। जैसे बीज और फल के भेद से एक के विकार से ही दूसरे की कल्पना होती है ।।६।। जगद्रूप चेत्य के विकल्प से चितितत्व ही चेत्यमय होकर स्फुरित होता है। विकारादि सम्पूर्ण पदार्थ तत्स्वरूप से भिन्न नहीं हैं ।।७।।

देशकालविकारादिः कृतो भेदश्चितस्तु यः ।
तच्चिदेतदसत्प्रोक्तं न प्रश्नोऽत्र तवोचितः ।।८

असंभवत्तरङ्गस्य चिद्विलासमहाम्बुधेः ।
तरङ्गितत्वमिव यत्तत्तावच्चेत्यसंगिता ।।९

तदेतत्परमं ब्रह्म सत्येश्वरशिवादिभिः ।
शून्यैकपरमात्मादिनामभिः परिगीयते ।।१०
द्वित्वसङ्कल्पतो द्वित्वमेकस्यैव प्रवर्तते ।

अद्वित्वसंविदा द्वित्वमनेकस्याऽपि नश्यति ।।११
परमात्मतया द्वित्वं न किलाऽऽत्मनि विद्यते ।
अविकारादिमत्त्वेन सर्वगत्वेन सर्वदा ।।१२

यत्स्वसङ्कल्परचितमसङ्कल्पक्षयं हि तत् ।
यथामुने मनोराज्यं गन्धर्वनगरं यथा ॥१३
पुष्टसङ्कल्पमात्रेण यदिदं दुःखमागतम् ।
तदसङ्कल्पमात्रेण क्षयि काऽत्र कदर्थना ॥१४

देश, काल और विकारादि स्वरूप से चिति का जो भेद किया गया है, वह सब चिति स्वरूप ही है । अभेद में भेद की स्थिति कैसे हो सकती है ? जिसे तुम असत् कहते हो, उसके विषय में प्रश्न करना अनुचित है ॥८॥ जिसमें तरगें हो ही नहीं सकतीं, उस चिद्विलास रूपी महासमुद्र में तरंगित के समान जो व्यवहृत होता है, वह चेत्य से सुसंगत है ॥९॥ वही चिति तत्त्व परब्रह्म, सत्य, ईश्वर एवं शिवादि स्वरूप है, वही शून्य एवं एकमात्र परमात्मा अनेक नामों से गाया जाता है ॥१०॥ अद्वित्व पदार्थ में द्वित्व संकल्प से ही द्वित्व भाव की प्राप्ति होती है और अद्वित्व भाव से अनेकानेक द्वित्व ही अद्वैत होजाते हैं ॥११॥ आत्मा विकारादि से रहित, सर्वदा सर्वत्र गमनशील तथा परमात्मा का स्वरूप भूत ही है, अतः उसमें द्वित्व की विद्यता कभी हो ही नहीं सकती ॥१२॥ हे मुने ! यह मनोराज्य अपने संकल्प से ही, गंधर्व नगरी के समान स्थापित होजाता है, परन्तु संकल्प का अभाव होने पर उसका अस्तित्व नहीं रहता ॥१३॥ इस सम्पूर्ण दुःख की प्राप्ति भी संकल्प से ही हुई है, जब संकल्प नष्ट होजायगा तो यह संसार-रूपी दुःख भी नहीं रहेगा, फिर इसमें चिन्ता ही क्या ? ॥१४॥

मनसा मनसिच्छिन्ने स्वेन्द्रियावयवात्मनि ।
सत्यालोकाज्जगज्जाले प्रच्छन्ने विलयं गते ॥१५
छिद्यते शीर्णसंसारकलना कल्पनात्मिका ।
भृष्टवीजोपमा सत्ता जीवस्य इतिनामिका ।.१६
पश्यन्तो नाम कलितोत्सृजन्ती चेत्यचर्वणाम् ।
मनोमोहाभ्रनिर्मुक्ता शरदाकाशकोशवत् ॥१७
शुद्धा चिद्भावमात्रस्था चेत्यचिच्चापलं गता ।
समस्तसामान्यवतो भवतीर्णभवार्णवा ॥१८

बोधात् कलङ्कविमला चिदेव परमं शिवम् ।
विष्णुर्देव तदाभासं सर्वसत्तार्थद तथा ॥१९
स हरिः स शिवः सोऽजः स ब्रह्मा स सुरेश्वरः ।
अनिलानलचन्द्रार्कवपुः स परमेश्वरः ॥२०
स एष सर्वगो ह्यात्मा चित्खनिश्चेतनः स्मृतः ।
देवेशो देवभृद्धाता देवदेवो दिवः पतिः ॥२१

मन के द्वारा अपनी इन्द्रियों के व्यापारों के कारणभूत मन के छिन्न होजाने पर प्रच्छन्न विश्व रूपी जाल विलय को प्राप्त होजाता है, फिर कल्पना रूपी जीर्ण शीर्ण इस जगत की कलना क्षीण होजाती है, तब भुने हुए बीज के समान जीव का अस्तित्व रह जाता है।।१५-१६।। पश्यन्ती नाम वाली उक्त अवस्था चेत्य विषयक चर्वणा शरत्कालीन आकाश के समान मानसिक मोह रूपी मेघों से विहीन हुई योगियों द्वारा व्यवहार में लाई जाती है ॥१७।। चित्त के पूर्व संकल्पों से चंचलता को प्राप्त हुई चिति भी शुद्ध चिद्भाव में अवस्थित होकर सभी उपाधियों का त्याग करके भवसागर से पार होजाती है ॥१८।। वही चिति ब्रह्म ज्ञान से कलंक-रहित होकर परमकल्याण स्वरूप होती है, वही सब पदार्थों को अस्तित्व रूप स्फूर्ति देने वाली तथा देव स्वरूपिणी है ॥१९॥ वही विष्णु है, वही शिव और अजन्मा ब्रह्मा है, वही इन्द्र, वायु, अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य तथा वही परमेश्वर है ॥२०।। वही सर्वगामी आत्मा चैतन्य स्वरूप, देवेश्वर, देवभृत्, धाता, देवाधिदेव तथा दिव्यलोक का स्वामी है ॥२१॥

ततश्चिद्रूपमेवैकं सर्वसत्तान्तरास्थितम् ।
स्वानुभूतिमय शुद्धं देवं रुद्रेश्वरं विदुः ॥२२
वीज समस्तवीजानां सारं संसारसंसृतेः ।
कर्मणां परमं कर्म चिद्धातुं विद्धि निर्मलम् ॥२३
कारणं कारणौघानामकारणमनाविलम् ।
भावनं भावनौघानामभाव्यमभवात्मकम् ॥२४

स्वसंविदात्मा देवाऽयं नोपहारेण पूज्यते ।
न दीपेन न धूपेन न पुष्पविभवार्पणैः ॥२५
नाऽन्नदानादिदानेन न चन्दनविलेपनैः ।
न च कुंकुमकर्पूरभोगैश्चित्रैर्न चेतरैः ॥२६
नित्यमक्लेशलभ्येन शीतलेनाऽविनाशिना ।
एकेनैवाऽमृतेनैष बोधेन स्वेन पूज्यते ॥२७
एतदेव परं ध्यानं पूजैषैव परा स्मृता ।
यदनारतमन्तःस्थशुद्धचिन्मात्रवेदनम् ॥२८

इस चिति रूपी आत्मतत्व का साक्षात्कार होने पर जीव जन्म-रहित होजाता है, इसलिए ज्ञानीजन अपने द्वारा अनुभूत इसी शुद्ध तत्व को रुद्र रूप ईश्वर एवं देवता स्वीकार करते हैं ॥२२॥ तुम इस निर्मल चिति तत्व को ही सम्पूर्ण बीजों का बीज और जगत्रूपी सृष्टि परम सार तथा सभी कर्मों में परम कर्म जानो ॥२३॥ वही सब कारणों का कारण और अपनी सत्ता से ही सब को अस्तित्व देने वाला है। यथार्थ में तो वह न कारण है, न कार्य, अपितु विकार रहित अभावात्मक है ॥२४॥ स्वानुभूत इस आत्मा का गंध, दीप, धूप, फूल अथवा धन आदि भेंट करने से पूजन सम्पन्न नहीं होता ॥२५॥ अन्नादि के दान से, चन्दन, कुंकुम, कर्पूर नैवेद्य या इत्र आदि के समर्पण से भी इस देव का अर्चन सम्पन्न नहीं होता ॥२६॥ इसका पूजन तो बिना क्लेश के प्राप्त हो सके ऐसे शीतल, अविनाशी, एकमात्र, अमृत स्वरूप के ज्ञान से ही सम्पन्न हो सकता है ॥२७॥ अन्तर में स्थित जो शुद्ध चिन्मात्र तत्व है, उसका अविच्छिन्न संवेदन ही सब ध्यानों में उत्तम और पूजनों में श्रेष्ठ पूजन कहा जाता है ॥२८॥

पश्यञ्छृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन् शुद्धसंविन्मयो भवेत् ॥२९
ध्यानामृतेन संपूज्य स्वयमात्मानमीश्वरम् ।
परमास्वादयुक्तेन मुक्तेन कुसुमैर्हितैः ॥३०

बोधात् कलङ्कविमला चिदेव परमं शिवम् ।
विद्धुर्देव तदाभासं सर्वसत्तार्थद तया ॥१९
स हरिः स शिवः सोऽजः स ब्रह्मा स सुरेश्वरः ।
अनिलानलचन्द्रार्कवपुः स परमेश्वरः ॥२०
स एष सर्वगो ह्यात्मा चित्खनिश्चेतनः स्मृतः ।
देवेशो देवभृद्धाता देवदेवो दिवः पतिः ॥२१

मन के द्वारा अपनी इन्द्रियों के व्यापारों के कारणभूत मन के छिन्न होजाने पर प्रच्छन्न विश्व रूपी जाल विलय को प्राप्त होजाता है, फिर कल्पना रूपी जीर्ण शीर्ण इस जगत की कलना क्षीण होजाती है, तब भुने हुए बीज के समान जीव का अस्तित्व रह जाता है।।१५-१६।। पश्यन्ती नाम वाली उक्त अवस्था चेत्य विषयक चर्वणा शरत्कालीन आकाश के समान मानसिक मोह रूपी मेघों से विहीन हुई योगियों द्वारा व्यवहार में लाई जाती है ॥१७।। चित्त के पूर्व संकल्पों से चंचलता को प्राप्त हुई चिति भी शुद्ध चिद्भाव में अवस्थित होकर सभी उपाधियों का त्याग करके भवसागर से पार होजाती है ॥१८॥ वही चिति ब्रह्म-ज्ञान से कलंक-रहित होकर परमकल्याण स्वरूप होती है, वही सब पदार्थों को अस्तित्व रूप स्फूर्ति देने वाली तथा देव स्वरूपिणी है ॥१९॥ वही विष्णु है, वही शिव और अजन्मा ब्रह्मा है, वही इन्द्र, वायु, अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य तथा वही परमेश्वर है ॥२०॥ वही सर्वगामी आत्मा चैतन्य स्वरूप, देवेश्वर, देवभृत्, धाता, देवाधिदेव तथा दिव्यलोक का स्वामी है ॥२१॥

ततश्चिद्रूपमेवैकं सर्वसत्तान्तरास्थितम् ।
स्वानुभूतिमय शुद्धं देवं रुद्रेश्वरं विदुः ॥२२
बीज समस्तबीजानां सारं संसारसंसृतेः ।
कर्मणां परमं कर्म चिद्धातुं विद्धि निर्मलम् ॥२३
कारणं कारणौघानामकारणमनाविलम् ।
भावनं भावनौघानामभाव्यमभवात्मकम् ॥२४

स्वसंविदात्मा देवाऽयं नोपहारेण पूज्यते ।
न दीपेन न धूपेन न पुष्पविभवार्पणैः ॥२५
नाऽन्नदानादिदानेन न चन्दनविलेपनैः ।
न च कुंकुमकर्पूरभोगैश्चित्रैर्न चेतरैः ॥२६
नित्यमक्लेशलभ्येन शीतलेनाऽविनाशिना ।
एकेनैवाऽमृतेनैष बोधेन स्वेन पूज्यते ॥२७
एतदेव परं ध्यानं पूजैषैव परा स्मृता ।
यदनारतमन्तःस्थशुद्धचिन्मात्रवेदनम् ॥२८

इस चिति रूपी आत्मतत्व का साक्षात्कार होने पर जीव जन्म-रहित होजाता है, इसलिए ज्ञानीजन अपने द्वारा अनुभूत इसी शुद्ध तत्व को रुद्र रूप ईश्वर एवं देवता स्वीकार करते हैं ॥२२॥ तुम इस निर्मल चिति तत्व को ही सम्पूर्ण बीजों का बीज और जगत्रूपी सृष्टि परम सार तथा सभी कर्मों में परम कर्म जानो ॥२३॥ वही सब कारणों का कारण और अपनी सत्ता से ही सब को अस्तित्व देने वाला है। यथार्थ में तो वह न कारण है, न कार्य, अपितु विकार रहित अभावात्मक है ॥२४॥ स्वानुभूत इस आत्मा का गंध, दीप, धूप, फूल अथवा धन आदि भेंट करने से पूजन सम्पन्न नहीं होता ॥२५॥ अन्नादि के दान से, चन्दन, कुंकुम, कर्पूर नैवेद्य या इत्र आदि के समर्पण से भी इस देव का अर्चन सम्पन्न नहीं होता ॥२६॥ इसका पूजन तो बिना क्लेश के प्राप्त हो सके ऐसे शीतल, अविनाशी, एकमात्र, अमृत स्वरूप के ज्ञान से ही सम्पन्न हो सकता है ॥२७॥ अन्तर में स्थित जो शुद्ध चिन्मात्र तत्व है, उसका अविच्छिन्न संवेदन ही सब ध्यानों में उत्तम और पूजनों में श्रेष्ठ पूजन कहा जाता है ॥२८॥

पश्यञ्छृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन् शुद्धसंविन्मयो भवेत् ॥२९
ध्यानामृतेन संपूज्य स्वयमात्मानमीश्वरम् ।
परमास्वादयुक्तेन मुक्तेन कुसुमैर्हितैः ॥३०

ध्यानेनाऽनेन सुमते निमेषांस्तु त्रयोदश ।
मूढोऽपि पूजयित्वेशं गोप्रदानफलं लभेत् ॥३१
पूजयित्वा निमेषाणां शतमेकमिति प्रभुम् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥३२
पूजयित्वा स्वात्मानं घटिकार्धमिति प्रभुम् ।
अश्वमेधसहस्रस्य फल प्राप्नोति मानवः ॥३३
ध्यानबल्युपहारेण स्वयमात्मानमात्मना ।
घटिकां पूजयेद्यस्तु राजसूयं लभेत सः ॥३४
मध्याह्नपूजनादित्थं राजसूयैकलक्षभाक् ।
दिवसं पूजयित्वैव परे धाम्नि वसेन्नरः ॥३५
एषोऽसौ परमो योग एषा सा परमा क्रिया ।
वाह्यसंपूजनं प्रोक्तमेतदुत्तममात्मनः ॥३६
एतत् पवित्रमखिलाघविघातहेतुं
यस्त्वाचरिष्यति नरः क्षणमप्यखिन्नः ।
तं वन्दयिष्यति सुरासुरलोकपूगः
प्राप्तास्पदं जगति मामिव मुक्तमात्मन् ॥३७

देखते हुए, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते भोजन करते, चलते, शयन करते, श्वास लेते, बोलते, मलादि का त्याग करते और इच्छित वस्तु का ग्रहण करते हुए अर्थात् सभी समय शुद्ध संविदात्म रूपी आत्मा का ध्यान करता रहे ॥२६॥ परम आस्वाद से युक्त, पुष्प आदि समर्पण के प्रयत्न से रहित होकर ध्यान रूप अमृत के द्वारा आत्मा रूपी देवता का स्वयं पूजन करना चाहिए ॥३०॥ हे सुबुद्धे ! यदि तत्व का न जानने वाला भी तेरह निमेष तक इस प्रकार के ध्यान से आत्म देव का पूजन करले, तो उसे गो-दान का फल मिलता है ॥३१॥ और एक सौ निमेष पर्यन्त ऐसा ध्यान करले तो, उस पूजन से अश्वमेध यज्ञ से जो फल होता है, उसकी प्राप्ति हो जाती है ॥३२॥ आधी घड़ी तक इस प्रकार ध्यान रूपी आत्म पूजन होजाय, तो एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त हो जाता है ॥३३॥ जो व्यक्ति इस प्रकार ध्यान रूपी बलि क

उपहार भेंट करता हुआ एक घड़ी पर्यन्त आत्मा का पूजन करे तो उसे राजसूय यज्ञ का फल मिलता है ।।३४।। यदि मध्याह्न काल तक इस प्रकार ध्यान रूपी आत्म पूजन करे तो एक लाख राजसूय यज्ञों को फल की उपलब्धि होती है और दिन भर ऐसा पूजन करे तो परम धाम में निवास प्राप्त होता है ।।३५।। यह जो आत्म देव का श्रेष्ठ वाह्य पूजन मैंने तुम्हारे प्रति कहा है, यही परम योग अथवा उत्तम कर्म है ।।३६।। इस सभी पापों के विनाशक एवं पावन आत्म पूजन को जो कोई विकार रहित होकर क्षणभर भी कर लेगा, वह सभी बंधनों से छूट कर ब्रह्म-रूप हो जायगा और देवता, दैत्य आदि जिस प्रकार मेरी वंदना करते हैं, उसी प्रकार उसकी भी करेंगे ।।३७।।

## २५—सब देवों में चिदात्मा ही सार है

यथाकालं यथारम्भं न करोषि करोषि यत् ।
चिन्मात्रस्य शिवस्याऽन्तस्तदेवाऽर्चनमात्मनः ।।१
तेनैवाऽऽह्लादमायाति याति प्रकटतां तथा ।
तथा स्थितेन रूपेण स्वेनैव स्वयमीश्वरः ।।२
रागद्वेषादिशब्दार्था नाऽऽत्मन्यन्यतयाऽमले ।
संभवन्ति पृथग्रूपा वह्नौ वह्निकणा इव ।।३
यद्यद्राजत्वदीनत्वसुखदुःखादिवेदनम् ।
आत्मीयं परकीयं च तत्तदर्चनमात्मनः ।।४
विश्वसंवित्तिरेवाऽर्चा नित्यस्याऽऽत्मन एव च ।
घटाद्यात्मतया ब्रह्म स्वयमात्मा तथैव च ।।५
अहो नु चित्तमात्मैव घटाद्यन्यद्व्यवस्थितम् ।
जीवादिस्वस्वभावोऽन्तर्नूनं विस्मृतिमानिव ।।६

शंभु बोले—हे मुने ! तुम यथाकाल एवं यथाशक्ति जो कर्म करते या नहीं करते, वह सब चिन्मात्रात्मक शिव स्वरूप अन्तरात्मा का पूजन ही है ।।१।। ऐसे पूजन से ही आत्मा को अपने आनन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि अपने रूप से ही परमात्म स्वरूप जीवात्

आवरणों से रहित होता है ॥२॥ मल-रहित आत्मा में राग-द्वेषादि शब्द तथा उनके विषय अग्नि में चिंगारी के समान, आत्मा से पृथक् नहीं रह सकते ॥३॥ राजपद, दीनता, सुख, दुःखादि वेदना तथा यह आत्मीय है, यह परकीय है, इस प्रकार का समर्पण भी आत्मार्चन ही है ॥४॥ जो आकाशादि एवं जाग्रतादि स्वरूप जगत् का अध्यारोप है, वह आत्मा का पूजन है। जैसे ब्रह्म आकाशादि से घट स्वरूप में विभूषित होता है, वैसे ही आत्मा की स्थिति है ॥५॥ अहो! यह अद्भुत आत्मा ही अपने आन्तरिक स्वरूप को भूल कर जीवादि स्वभावों को अपना स्वभाव मानता हुआ घट आदि के रूप में अवस्थित है ॥६॥

सर्वात्मकस्याऽनन्तस्य शिवस्याऽन्तः किलाऽऽत्मनः ।
पूज्यपूजकपूजाख्यो विभ्रमः प्रोदितः कुतः ॥७
नियताकारताशान्ते न च संभवतीश्वरे ।
यत्र सङ्कल्प्यते ब्रह्मन् पूज्यपूजामयः क्रमः ॥८
पश्यत्यात्मानमात्मैव विचारयति चाऽऽत्मना ।
आत्मैवेहाऽस्ति नाऽविद्या इत्यविद्याक्षयं विदुः ॥९
यावत्किञ्चिदिदं वस्तु नाना नाऽऽत्माऽवगम्यताम् ।
क्रमा गुरूपदेशाद्या नाऽऽत्मज्ञानस्य कारणम् ॥१०
गुरुर्हीन्द्रियवृत्तात्मा ब्रह्म सर्वेन्द्रियक्षयात् ।
यद्वस्तु यत्क्षये प्राप्यं तत्तस्मिन् सति नाऽऽप्यते ॥११
अकारणान्यपि प्राप्ता भृशं कारणतां द्विज ।
क्रमा गुरूपदेशाद्या आत्मज्ञानस्य सिद्धये ॥१२

सर्वात्मक, अनन्त, शिवात्मा के अन्तर में पूज्य, पूजक अथवा पूजा विषयक विभ्रम कहाँ से प्राप्त हो गया ।७॥ हे ब्रह्मन्! जिसमें पूज्य एवं पूजामय क्रम का संकल्प किया जाता है, उस आकार-रहित में पूज्य, पूजादि का भाव नहीं हो सकता ॥८॥ आत्मा ही आत्मा को देखता और स्वयं ही अपना विचार करता है। विश्व में आत्मा ही अवस्थित है, अविद्या का अभाव ही, अविद्या का क्षय होना कहा गया है ॥९॥ जो-जो विभिन्न वस्तुएँ हैं, वह आत्मा नहीं हैं। गुरु का उप-

देश आदि जो क्रम है, वह आत्मज्ञान का ही कारण है ।।१०।। क्योंकि गुरु तो इन्द्रियों से युक्त पुर्यष्टक स्वरूप है और ब्रह्म की प्राप्ति होती है सभी इन्द्रियों के क्षय को प्राप्त होने पर। अतः जो वस्तु किसी वस्तु का क्षय होने पर उपलब्ध होती है, उसकी प्राप्ति क्षय होने वाली वस्तु के उपस्थित रहते हुए संभव नहीं है ।।११।। हे द्विज ! जैसे कोई अपने पास की वस्तु को भूल जाय और किसी दूसरे के द्वारा बताने पर (कि यह तेरे ही पास है) प्राप्त हुई के समान, आत्मज्ञान की सिद्धि के निमित्त गुरूपदेश आदि कारण-रहित होते हुए भी कारण बन गये हैं ।।१२।।

शास्त्रार्थैर्बुध्यते नाऽऽत्मा गुरोर्वचनतो न च ।
बुध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतस्ततः ।।१३
गुरूपदेपशास्त्रार्थैर्विना चाऽऽत्मा न बुध्यते ।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञानप्रकाशिनी ।।१४
गुरुशास्त्रार्थशिष्याणां चिरसंयोगसत्तया ।
अहनीव जनाचार आत्मज्ञानं प्रवर्तते ।।१५
कमबुद्धीन्द्रियाद्यन्तसुखदुःखादिसंक्षये ।
शिव आत्मेति कथितस्तत्सदित्यादिनामभिः ।।१६
शिव आत्मा परं ब्रह्मेत्यादिशब्दैस्तु भिन्नता ।
पुरातनैर्विरचिता तस्य भेदो न वस्तुतः ।।१७
एवं देवार्चनं नित्यं ज्ञः कुर्वन् मुनिनायक ।
यत्राऽस्मदादयो भृत्यास्तत्प्रयाति परं पदम् ।।१८

यह आत्मा शास्त्रों अथवा गुरु के वचनों से बोध को प्राप्त नहीं होता, अपितु अपने ही बोध से स्वयं को जान लेता है ।।१३।। परन्तु, गुरु के उपदेशों और शास्त्र के वचनों के बिना भी आत्मा को बोध की प्राप्ति नहीं हो पाती। क्योंकि इन सब की संगति से ही आत्मज्ञान की अभिव्यक्ति सुलभ है ।।१४।। गुरु, शास्त्रार्थ और शिष्यों का दीर्घ संयोग, दिन की प्राप्ति पर उत्पन्न आचार के समान आत्मज्ञान की प्रवृत्ति कराता है ।।१५।। कर्म और बुद्धि रूपी इन्द्रियों का अन्त होने

अनुसरण करके अज्ञपद (अज्ञान) में स्थित हो जाती है ॥२३॥ फिर शब्दशक्ति, क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति उसका अनुगमन करने वाली होती हैं, जिससे उनका स्फुरण होता रहता है ॥२४॥

मिलित्वैष गणः क्षिप्रं स्मृतिं समनुकूलयन् ।
मनो भवति भूतात्म वीजं सङ्कल्पशाखिनः ॥२५
अतिवाहिकदेहोक्तिभाजनं तद्विदुर्बुधाः ।
अन्तःस्थया ब्रह्मशक्त्या ज्ञरूपं स्वात्मनाऽऽत्मदृक् ॥२६
सम्पद्यमाना एवाऽस्मिश्चेतसीमा हि शक्तयः ।
पश्चादिह वहिष्ठास्ता उद्यन्त्यनुदिता अपि ॥२७
वातसत्ता स्पन्दसत्ता स्पर्शसत्ता तथैव च ।
त्वक्सत्ता तेजसां सत्ता तथा सत्ता प्रकाशिनी ॥२८
रूपसत्ता जलसत्ता स्वादुसत्ता तथैव च ।
तथैव रससत्ता च गन्धसत्ता तथैव च ॥२९
भूसत्ता हेमसत्ता च पिण्डसत्ता च पीवरी ।
देशसत्ता कालसत्ता सर्वाढ्याकारवर्जिता ॥३०

उन शक्ति आदि संगत एवं स्मरणशक्ति की अनुकूलता को प्राप्त हुए, संकल्पवृक्ष का वीजरूप एवं पंचभूतात्मक मन उत्पन्न होजाता है ॥२५॥ 'यह आतिवाहिक देह है' ज्ञानीजन उस मन के विषय में ही ऐसा कहते हैं। वही अन्तरस्थ ब्रह्मशक्ति से ज्ञान को प्राप्त होकर अपनी आत्मा के प्रकाश से ही आत्मा को देखता है ॥२६॥ उपरोक्त कल्पनाएँ अनुदित होती हुई भी, दृश्य रूपी आकार में वदल कर उदित जैसी हो जाती हैं ॥२७॥ फिर वायुसत्ता, स्पन्द सत्ता, स्पर्श-सत्ता, त्वक्सत्ता, तेजसत्ता और उन सभी सत्ताओं को दिखाने वाली चक्षु इन्द्रिय प्रकट हो जाती है ॥२८॥ इसी प्रकार रूपसत्ता, स्वाद-सत्ता, रससत्ता और गंधसत्ता की प्राप्ति होती है ॥२९॥ फिर पृथिवी, सुवर्ण, पिंड, पीवरी, देश और सभी आकारों से रहित कालसत्ता उत्पन्न होती है ॥३०॥

जीवं विवेकिनमिहोपदिशन्ति तज्ज्ञा
नो बालमुद्भ्रममसन्मयमार्यमुक्तम् ।
अज्ञं प्रशास्ति किल यः कनकावदातां
स स्वप्नदृष्टपुरुषाय सुतां ददाति ॥३९

वहाँ वासना, वासक अथवा वास्य में से कोई भी नहीं रहता, अपितु कलना-भ्रम से रहित केवल केवलीभाव ही रह जाता है ॥३६॥ जगत् के नाम से, शून्य में वेताल के समान इस चितवासना का ही उदय हुआ है, जब वह शान्त होजाता है तब शान्ति ही रह जाती है ॥३७॥ अहन्ता, जगत और मृगतृष्णाजल, इनमें जिस पुरुष की वृत्ति है, उसको धिक्कार है, वह इस प्रकार के उपदेश-योग्य भी नहीं है ॥३८॥ ज्ञानीजन योग्य पुरुष को ही उपदेश देते हैं, उसके (अबोध) पुत्र को नहीं। भ्रम में पड़े हुए, आर्यत्व से हीन, असद्रूप में आस्था से असन्मय एवं अज्ञानी अनधिकारी को जो उपदेश देता है, वह उसी के समान मूर्ख है जो अपनी सुवर्ण-जैसी कन्या को स्वप्न में देखे हुए पुरुष को देता हो ॥३९॥

## २६—संसार मायामात्र है

परस्मात् परमे व्योम्नि पूर्वोक्तक्रमतो वपुः ।
जीवः पश्यति संपन्न स च स्वप्ननरो यथा ॥१
सर्वगत्वाच्चिद्घनस्य कार्यं स्वप्ननरोऽपि हि ।
यथा करोत्याशु तथा जीवोऽप्यापि शरीरधृक् ॥२
सनातनोऽहमव्यक्तः पुमानित्यभिधां ततः ।
करोत्यात्मनि तेनाऽऽशु प्रथमः प्रथितः पुमान् ॥३
एवं स सर्गे कस्मिंश्चित् प्रथमोऽय सदाशिवः ।
कस्मिंश्चिद्विष्णुरित्युक्तो नाभ्युत्पन्नः पितामहः ॥४
पितामहः स कस्मिंश्चित् कस्मिंश्चिदपि चेतरः ।
स च सङ्कल्पपुरुषः सङ्कल्पान्मूर्तिमास्थितः ॥५

निमेषशतभागार्धमात्रमेव परा चितिः ।
स्वरूपतश्चेल्लुठिता सैषोदेत्यनवस्थितिः ॥१२

सा ज्ञरूपा शिलाकाश इव चित् स्वात्मनि स्थिता ।
तदनाद्यवभासात्म ब्रह्मशब्देन गीयते ॥१३

अस्मिन् प्रौढिं गते सर्गे महाचिद्द्योतनं न च ।
सङ्गतासत्यदिग्देशकालांशपरमाणुता ॥१४

जिस क्रम से सभी कर्मों में समर्थ इस मनुष्य की उत्पत्ति है, उसी क्रम से कीट भी क्षणभर में उत्पन्न हो जाता है ॥८॥ वैसे ही स्थावर प्राणियों की उत्पत्ति का क्रम है, वैसे ही अण्डज आदि चार विधि के जीव और रुद्र से तृण पर्यन्त सभी उत्पन्न होते हैं ॥९॥ कोई सर्ग परमाणु के समान सूक्ष्म और कोई अणु के समान वृहद् है, भूत-भविष्यत सर्गों का क्रम भी इसी प्रकार जानों ॥१०॥ परमार्थ-चिन्तन से इस संसार रूपी माया के भेद का शमन हो जाता है और निरंतर अभ्यास के द्वारा शिवत्व की प्राप्ति होती है ॥११॥ निमेष के शतांश में से किसी एक अंश के आधे अंश मात्र समय तक भी यदि परा चिति अपने यथार्थ स्वरूप को छोड़ बैठे तो वही भीषण अनर्थ स्वरूप हो जाता है ॥१२॥ तत्वज्ञानियों द्वारा अनुभव में आई हुई शिलाकाश के समान अपने स्वरूप में स्थित चिति ही पर-प्रकाश से रहित, जन्म से विहीन तथा चैतन्य है, उसका ही 'ब्रह्म' शब्द कह कर गायन किया जाता है ॥१३॥ इस सर्ग के प्रौढ़त्व को प्राप्त हो जाने पर महाचित् का प्रकाश संभव नहीं है, असत्य स्वरूप दिशा, देश और काल से उद्‌भूत परिछेदों के द्वारा आत्मा को परमाणुता आदि की प्राप्ति होती है ॥१४॥

जीवतामागता भूततन्मात्रवलनाक्रमात् ।
भवत्यङ्ग मृगीवीरुत्कीटदेवासुरादिकम् ॥१५

यस्मिन्नित्ये ततेऽनन्ते दृढे स्रगिव तिष्ठति ।
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वगे विश्वकर्मणि ॥१६

पुष्पांजलि भेंट की और वे अपने परिवार सहित अम्बरकोटर की ओर उड़ गये ॥२०॥ उन त्रिभुवनपति उमेश के चले जाने पर मैं क्षण भर उसी प्रकार बैठा रहा और उनके द्वारा उपदेश किये हुए आत्म-देवता का अपनी पवित्र हुई बुद्धि के द्वारा अंगीकार किया तथा पहिले जो जड़ देवार्चन करता था, उसका मैंने परित्याग कर दिया ॥२१॥

## २७—राम की शिवार्चन में तत्परता

एतदुक्तं परं तेन स्वयमेव च वेद्म्यहम् ।
राम त्वमपि जानीषे यथेदं समवस्थितम् ॥१
यत्राऽलीकमलीकेन किलाऽलीके विलोक्यते ।
तस्यां संसारमायायां किं सत्यं किमसन्मयम् ॥२
दृष्ट्याऽनया रघुपते सङ्गमुक्तेन चेतसा ।
संसारविरलारण्ये विहराऽस्मिन्न खिद्यसे ॥३
दुःखे महति संप्राप्ते धनबन्धुवियोगजे ।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य विचारं कुरु सुव्रत ॥४
सुखदुःखे न कर्तव्ये धनबन्धूदयक्षये ।
एवंप्राया एव सर्वा नित्यं संसारदृष्टयः ॥५
जानास्येव गतिं चित्रां विषयाणां प्रमाथिनीम् ।
यथाऽऽयान्ति यथा यान्ति यथा परिभवन्ति च ॥६
ऐवमेव प्रवर्तन्ते प्रेमाणि च धनानि च ।
एवमेवाऽवहीयन्ते निमित्तैरविचारितैः ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! भगवान् शंकर द्वारा कहे हुए इस शिवार्चन को मैं स्वयं जानता हूँ। यह संसार जिस प्रकार अवस्थित है, वह आप स्वयं भी जानते हैं ॥१॥ असद्रूपी माया के भ्रम में असद्रूप उपाधि से असत् जीव को यह जगत् असत् ही दिखाई देता है, उस माया युक्त संसार में सत्य क्या है और असत्य क्या है ? ॥२॥ हे रघुपते ! इस दृष्टि से, संग-विहीन चित्त के द्वारा इस विरल संसार वन में विहार करिये, इससे आपको कभी खेद नहीं होगा ॥३॥ हे

सुव्रत ! धन और बांधवों के वियोग से उत्पन्न घोर दुःख की प्राप्ति पर आप इसी दृष्टि से विचार कीजिए ॥४॥ धन अथवा बांधवों के मिलने या क्षय होने पर सुख या दुःख नहीं मानना चाहिए क्योंकि संसार का यह सभी दृश्य नाशवान् है ॥५॥ जिस प्रकार विषयों की अद्‌भुत अवस्थाओं का आना, जाना और उनके द्वारा स्वासक्त पुरुष का जीत लेना होता है, उस सभी को आप जानते हैं ॥६॥ इसी प्रकार बिना विचारे हुए कारणों से प्रेम अथवा धनों की प्राप्ति और हानि होती है ( यह भी आप भले प्रकार जानते हैं ) ॥७॥

न तास्तव न तासां त्वं निर्मलाऽन्तजगत्क्रियाः ।
इदमित्थं जगत्किञ्चित् किं मुधा परितप्यसे ॥८
तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत् ।
अतस्तव कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥९
इति चिच्चकचाञ्चल्ये चिन्मये जगदम्बुधौ ।
तरङ्गजाले चाऽम्भोधौ कः क्रमो हर्षशोकयोः ॥१०
चिदेकतानतामेत्य सौषुप्तीमागतः स्थितिम् ।
अद्य प्रभृति राम त्वं तुर्यावस्थात्मको भव ॥११
समः समसमाभासो भास्वद्वपुरुदारधीः ।
तिष्ठाऽऽत्माचरितो नित्य परिपूर्ण इवाऽर्णवः ॥१२
एतत्त्वं श्रुतवान् सर्वं स्थितस्त्वं परिपूर्णधीः ।
यदिच्छसीतरत्प्रष्टुं तत्पृच्छ रघुनन्दन ।
यत्पृष्टं प्रथमे कल्पे तदद्य परिचारय ॥१३

हे मल-रहित ! वे विश्व व्यापार आपके भीतर नहीं हैं और आप भी उनके भीतर नहीं हैं। यह जगत् तो अत्यंत तुच्छ है, फिर आपको परिताप क्यों है ? ॥८॥ हे तात ! आप चिन्मात्र रूप हैं, यह विश्व आपसे भिन्न नहीं है, अतः आपको हीन अथवा उच्च की भावना कहां से होगी ? ॥९॥ इस प्रकार चिन्मय संसार सागर में चित्-चक्र चंचलता को प्राप्त हो जाय और तरगें उठने लगें तो उसमें हर्ष या शोक ही कैसा ? ॥१०॥ हे राम ! प्रथम चैतन्य रूपता को प्राप्त होओ, फिर

सुषुप्ति में अवस्थित होकर अभी से तुरीयावस्था स्वरूप हो जाओ ।।११।। आप समान रूप से समाभास युक्त, तेजोमय देह और उदार बुद्धि वाले होकर आत्मार्चन में अवस्थित होकर समुद्र के समान परिपूर्ण हो जाइये ।।१२।। हे रघुनन्दन ! इस सब को सुन कर आप परिपूर्ण बुद्धि में अवस्थित हैं। यदि कोई अन्य प्रश्न हो तो उसे भी पूछ लीजिए। पहिले पूछे हुए किसी प्रश्न का समाधान न हुआ हो तो अब उसका भी समाधान कर लीजिये ।।१३।।

इदानीं संशयो ब्रह्मन् विनिवृत्तो विशेषतः ।
ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं जाता तृप्तिरकृत्रिमा ।।१४
न मुनेऽस्ति मलं द्वित्वं न चेत्यं न च कल्पनम् ।
तदा ममाऽभूदज्ञानं प्रशान्तमधुना तु तत् ।।१५
कलङ्क आत्मनोऽस्तीति तदज्ञानवशेन या ।
भ्रान्तिरासीदिदानीं सा निवृत्ता त्वत्प्रसादतः ।।१६
न जायते न म्रियते न चैवाऽऽत्मा कलंङ्कितः ।
सर्वं च खल्विदं ब्रह्ममयमित्युदितोऽस्म्यलम् ।। ७
सम्पदामवधिर्ज्ञातो दृष्टः सीमान्त आपदाम् ।
सर्वसारेऽप्यदीनाः स्मः पूर्णाः स्मः परमेश्वर ।।१८
यथावभेद्यामपरैर्दलिताशामतङ्गजम् ।
संसारसङ्गरे सम्यग्वीरतामागतं मनः ।।१९
परिगलितविकल्पतामुपेतं
प्रगलितवाञ्छमदीनसारसत्त्वम् ।
त्रिजगति यदतिप्रसन्नरूपं
प्रमुदितमन्तरनुत्तमं मनो मे ।।२०

श्रीराम बोले—हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार से आज मेरे संशय की विशेष रूप से निवृत्ति हो चुकी है। सभी जानने योग्य तत्त्व को जान कर मैं स्वाभाविक तृप्ति को प्राप्त हो गया हूँ ।।१४।। हे मुने ! मुझ में अब भ्रम या द्वैत बुद्धि नहीं रही, चेत्य और मन का भी अभाव हो गया है तथा जो अज्ञान व्याप्त था वह भी शेष नहीं रहा है ।।१५।।

स्यन्दमानरसापूरां स्वाद्वीं रसचमत्कृतिम् ।
यस्याऽतिशेते नो कश्चिदपि राघव षड्रसः ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! अब आप तत्त्वज्ञान विषयक विस्मय और उल्लास के करने वाली एक अपूर्व और सुरम्य कथा को सक्षेप में सुनिये ॥१॥ सहस्रों योजन विस्तार वाला एक विमल, स्फुट एवं विशाल बिल्वफल है, जो युगों के व्यतीत होने पर भी जीर्ण नहीं हो सका है ॥२॥ वह अविनाशी रस का आधार स्वरूप, अमृत के मधुर सार के समान और पुरातन होने पर भी बढ़ते हुए बाल चन्द्रमा के समान सुखमय एवं सुन्दर है ॥३॥ वह व्यूह के मध्य मेरु के समान् महान्, मन्दराचल के समान दृढ़ और महाप्रलय की प्रचण्ड झंझा से भी चलायमान होने वाला नहीं है ॥४॥ सैंकड़ों करोड़लाख गुणे दस सहस्र कोटि योजनों के विस्तार से भी जिसकी माप सम्भव नहीं है, वह बिल्वफल इस विश्व की स्थिति का आदि मूल है ॥५॥ इस बिल्वफल के निकटवर्ती सभी ऊँचे ब्रह्माण्ड भी पर्वतों के नीचे सरसों के कारणों की पंक्तियों के समान सुशोभित प्रतीत होते हैं ॥६॥ हे राघव ! इस बिल्वफल से स्रवित होने वाले रस के समान अन्य कोई भी सुस्वादु एवं चमत्कारी षड्रस नहीं है ॥७॥

न कदाचन पाकेन पातं तेन समेति यत् ।
सदैव पक्वमप्यङ्ग जरसा यन्न बाध्यते ॥८
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्या जरठाः केचिदेव न ।
यस्योत्पत्ति विजानन्ति मूलं वा वृन्तमेव च ॥९
समस्तफलसारस्य फलस्याऽस्य महाकृतेः ।
न मज्जा नाऽस्थि विततो निर्विकारो निरञ्जनः ॥१०
शिलान्तरिव नीरन्ध्रः स्यन्दमानेन्दुबिम्बवत् ।
रसं स्वसंविदाऽऽस्वाद्यं स्यन्दमान इवाऽमृतम् ॥११
कोशः सकलसौख्यानां शीतलालोककारकः ।
शीलाभोऽमृतपिण्डाभो मज्जा आत्मफलस्थितेः ॥१२

तस्मात् परममज्जा तु याऽसौ स्वात्मचमत्कृ
अनन्तरक्षितो नित्यमनन्यः श्रीफलं गतः ॥१.
अहङ्कलासमुदयसमनन्तरमेव सा।
वलिताऽऽकाशब्दाङ्गैर्लोक्यपरमाणुभिः ॥१

ऐसे रस से भरपूर वह विल्वफल पकने पर भी होता क्योंकि पकने पर भी वह जीर्णता को प्राप्त न इसकी उत्पत्ति के विषय में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र नहीं जानते। उन्हें इसके मूल एवं शाखों का भी ज्ञान सभी फलों में सार रूप एवं वृहद् आकार वाले इस फल आदि कुछ भी नहीं है, इस प्रकार यह निर्विकार और ॥१०॥ शिला के अन्तःस्थल के समान ही यह छिद्र से अमृत-वर्षा करने वाले चंद्रबिम्ब के समान स्वानुभव से इस विल्वफल से आनन्दामृत की वर्षा होती है ॥११॥ सम्पूर्ण सुखों का कोश स्वरूप है, यह शीतल प्रकाश का पर्वत के समान सुशोभित, अमृत-पिंड के समान शोभा- आत्मफल की मज्जा रूप से अवस्थित है ॥१२॥ आत्मा ही इस परम पुरुष की मज्जा है। यह फल सदैव सुरक्षित यही अनन्य आत्मा श्रीफल स्वरूप को प्राप्त हुआ है ॥१ की उत्पत्ति होने पर वही आत्मचमत्कृति आकाश और उस रूपी अंगों और देह के परमाणुओं से युक्त हो जाती है ॥१

इत्यनुक्रमतो याता संविच्छक्तिस्वरूपताम्।
मज्जाप्राक्सन्निवेशं स्वं तमेवाऽप्यसमुज्झती ॥१५
संविच्छक्त्या तया तत्र ततस्तरलरूपया।
निज एव समे रूपे हगित्थं संप्रसारिता ॥१६
इदं व्योममहानन्तमियं कालमयी कला।
इयं नियतिरित्युक्ता क्रियेयं स्पन्दरूपिणी ॥१७
अयं संकल्पविस्तारस्त्वयमाशान्तरभ्रमः।
रागद्वेषस्थितिरियं हेयोपादेयधोरिमम् ॥१८

इयं त्वत्ता त्वियं मत्ता तत्तेयं संस्थिता स्वयम् ।
ब्रह्माण्डौघोऽयमूर्ध्वस्थः स्वयमङ्गोर्ध्वमप्यधः ॥१९
अनन्तकलनातत्त्वपरिपल्लविता हरेः ।
हृदब्जकर्णिका चेयं लोकपद्माक्षमालिका ॥२०॥
इयं कीर्णमहारुद्रगणापूरितकोटरा ।
दीर्घाभ्रसरणिभ्रान्तिध्वंसनेभ्यः प्रभाविनी ॥२१

अपनी पूर्व की चैतन्यात्मक स्वरूपता को न छोड़ती हुई यह चिति धीरे-धीरे करके व्यवहार कुशलता को प्राप्त हो जाती है ॥१५॥ इस प्रकार व्यवहार कुशलता को प्राप्त हुई चंचल स्वरूप उस चिति-शक्ति ने ही इस जगदाकार दृष्टि का प्रसार किया है ॥१६॥ यह चिति-शक्ति महान् और अनन्त है, कालमयी कला भी यही है। इसी को नियति कहते हैं। यही स्पन्दन रूपिणी क्रिया कही गई है ॥१७॥ संकल्प का विस्तार भी यही है। दिशान्तर का भ्रम एवं राग-द्वेष रूपी विकार तथा हेय और उपादेय बुद्धि भी यही हैं ॥१८॥ त्वत्ता (त्वद्रूप), मत्ता (अहंरूप) और तत्ता (ब्रह्मरूप) यही है। ऊर्ध्व ब्रह्माण्डों का समूह एवं ऊपर-नीचे भी यही स्थित है ॥१९॥ यह चिति-शक्ति ही अनन्त कलना तत्त्वों से खिला हुआ, भगवान् श्री हरि का हृदय-पद्म एवं लोकरूपी कमलगट्टों की मालिका है ॥२०॥ इस चिति-शक्ति के कोटर महारुद्रगणों से परिपूर्ण हैं, यही आकाश स्वरूपी महती सरणि है तथा स्वर्ग-सुख भोगने वाले पुरुषों को वहाँ से नीचे गिराने में भी यही कारणरूपा है ॥२१॥

इयं च ताराकिञ्जल्का ब्रह्मार्णवतटस्थिता ।
अपारापारपर्यन्ता व्योमलीलासरोजिनी ॥२२
इयं क्रियापरिग्राह्या तरङ्गतरलावली ।
सर्गावर्तविधानस्थभूरिभूतपरम्परा ॥२३
इयत्तया प्रसरिणी क्षणकल्पादिपल्लवा ।
तेजःकेसरिणी कालनलिनी व्योमपङ्कजा ॥२४

इमा भावविकाराढ्या जरामृतिविषूचिकाः ।
विद्याविद्याविलासाढ्या इमाः शास्त्रार्थदृष्टयः ॥२५

शान्ता स्वस्था निराबाधा सौम्या भावनयोज्झिता ।
कर्तृत्वमप्यकर्तृत्वं कृत्वाऽकृत्वेव संस्थिता ॥२६

एवैकिकेव विविधेव विभाव्यमाना
नैकात्मिका न विविधा ननु सैव सैव ।
सत्यास्थिता सकलशान्तिसमैकरूपा
सर्वात्मिकाऽतिमहती चितिरूपशक्तिः ॥२७

यही चिति-शक्ति तारागण रूपी केसर से युक्त, ब्रह्माण्ड-सागर के तट पर स्थित, ऊपर तथा सब ओर से पार-रहित अर्थात् विशाल व्योमाकार सरोजिनी है ॥२२॥ जिसमें सर्वत्र कर्म रूपी ग्राह गोते लगाते हैं, मास, ऋतु आदि जिसमें चंचल तरंगों के समान हैं, जो उत्पत्ति-भ्रमरों और भूत-परम्पराओं से समन्वित है, जो आयु परिमाण से बढ़ते हुए क्षण, कल्प आदि पत्रों से युक्त है, तेजरूपी केसर से सुशोभित यह चिति-शक्ति रूपी काननानली (पोखर) व्योम रूपी पत्रों से विभूषित है ॥२३-२४॥ यह भाव-विकारों से युक्त जो वृद्धावस्था और मृत्यु रूपी विषूचिकाएं हैं, वे सब चिति-शक्ति ही तो है। विद्या और अविद्या के विलास से प्रेरित विविध शास्त्र-दृष्टियाँ भी यही चिति-शक्ति है ॥२५॥ यह चिति-शक्ति सदैव शान्त, स्वस्थ, बाधा-रहित, सौम्य और भावनाओं से मुक्त रहती है। यह कुछ न करती हुई भी ऐसी प्रतीत होती है जैसे कि रचना करती हुई अवस्थित हो ॥२६॥ अद्वितीय स्वरूप वाली यह चिति-शक्ति, (बुद्धि भ्रम से) विविध रूप वाली कल्पित की जाती है। परन्तु वह न एकात्मिका है और न विविधात्मिका ही है। यह चिति-शक्ति सत्य में स्थित, द्वैत-बुद्धि के शमन होने पर सम, एक रूप और सर्वात्मिका है ॥२७॥

———

## २६—तत्वज्ञान से ब्रह्म की उपलब्धि

न पुनर्भवतः पूर्वं सम्पन्नाश्चक्षुरादयः ।
यथा कमलजस्यैतत् सर्वमेव त्वया श्रुतम् ॥१
ब्रह्मपुर्यष्टकस्याऽऽदावर्थसंविद्यथोदिता ।
पुर्यष्टकस्य सर्वस्य तथैवोदेति सर्वदा ॥२
विद्धि पुर्यष्टकं जीवो यो गर्भस्थेन्द्रियोदयः ।
यद्यथा भावयत्याशु तत्तथा परिपश्यति ॥३
इन्द्रयाणीन्द्रियार्थाख्यं विद्धि संवेदनं स्वकम् ।
सम्पन्नं च यथा तत्ते प्रोक्तमाद्यमनःस्थितौ ॥४
शुद्धा संवित् संभवन्ती संवेदनमनिन्दितम् ।
ततोऽहंवेदनानन्तजीवपुर्यष्टकान्विता ॥५
न त्वेकत्वादनन्तत्वादवेद्यत्वादनामये ।
अभावत्वादनेकत्वादशून्यत्वात् परास्तिता ॥६
चेत्यादिबुद्धया तत्किञ्चिन्न मनस्तां च गच्छति ।
न च जीवत्वमायाति न च पुर्यष्टकात्मिका ॥७

वसिष्ठ जी बोले—हे राम ! कमलोद्भव हिरण्यगर्भ के समान सृष्टि के पूर्व ब्रह्म स्वभाव में स्थित आपके नेत्रादि का भी उद्भव नहीं हुआ था, मेरे इस कथन को आपने समझ ही लिया है ॥१॥ जैसे ब्रह्म विषयक पुर्यष्टक का अर्थ-ज्ञान सर्ग के आदि में उदित होता है, वैसे ही समस्त पुर्यष्टकों का अर्थ-ज्ञान उदय को प्राप्त होता है ॥२॥ जो जीव गर्भ में ही नेत्रादि इंद्रियों से सम्पन्न होकर पुर्यष्टकत्व को प्राप्त हो जाता है, वह तभी से जिस व्यवहार योग्य वस्तु की जैसी भावना करता है, उसी भावना के अनुरूप देखता है, यह जान लो ॥३॥ इस प्रकार हिरण्यगर्भ के मनोव्यापार में जैसे निजी संवेदन विषय रूप हो जाता है, वैसे ही व्यष्टि जीव स्वरूप आपका भी संवेदन होता है, यही मन की स्थिति समझिये ॥४॥ व्यष्टि और समष्टि मयी संवित् सृष्टि से पूर्व अनिन्दित थी । सृष्टि काल में भले ही

वह अहं-अभिमानी अनन्त जीव पुर्यष्टकों से युक्त हो जाय, फिर भी उसका संवेदन स्वरूप कभी कलंकित नहीं होता ॥५॥ इस अद्वितीय, अनन्त अवेद्य और अनामय चिति में पर पदार्थ का अस्तित्व है ही नहीं, क्योंकि अन्य पदार्थ तो देश, काल, वस्तु के प्रभाव और स्थूलता में सम्पन्न हैं ॥६॥ चिति के मन आदि रूप होने की बात केवल चिन्तन, मनन से संबंधित बुद्धि वृत्त के अध्यारोप से ही कही गई है, अतः चिति मनोरूपत्व, जीवरूपत्व अथवा पुर्यष्टकत्व को कभी प्राप्त नहीं होती ॥७॥

न विद्यादिविलासोऽस्ति सोऽस्ति नाऽस्तीव यः सदा ।
परमात्मेति कथितो मनःषष्ठेन्द्रियातिगः ॥८
तस्मात् संपद्यते जीवश्चिन्मूर्तिमननात्मकः ।
भ्रमः केवलमित्याद्य उपदेशाय गीयते ॥९
यतः कुतश्चित् संपन्ने त्वविद्यामय आमये ।
उपदेश्योपदेशेन प्रविलीने विचारणात् ॥१०
प्रशान्तसकलाकारं ज्ञानं तत्राऽवशिष्यते ।
यत्राऽऽकाशमपि स्थूलमणाविव महाचलः ॥११
यत्नोद्यदावारमपि सदप्यसदिव स्थितम् ।
जगज्जान्विपर्यास्त्यक्त्वा कायें त्व तिष्ठ निर्मले ॥१२
असन्मयमविद्याया रूपमेव तदेव हि ।
यद्वीक्षिता सती नूनं नश्यत्येव न दृश्यते ॥१३
आलोकितं नाम कथमवस्तु किल लभ्यते ।
प्रयत्नेनाऽपि संप्राप्तं मृगतृष्णाम्बुकैरिव ॥१४

हे राम ! विद्या-विलास का अपना कोई अस्तित्व नहीं है । विज्ञ-जनों का इस विषयक जो तर्क है, वह सदैव स्थित रहता है । परमात्म संज्ञक और मन सहित इंद्रियों का विषय भी वही है ॥८॥ उसी परमात्मा से इस चैतन्मूर्ति जीव की उत्पत्ति है, यह मानसिक उसी परमात्मा से इस चैतन्य मूर्ति जीव की उत्पत्ति है, यह मानसिक कल्पना केवल शिष्यों को उपदेश देने के उद्देश्य से ही गायी जाती है

॥९॥ विचार पूर्वक उपदेश देते हुए मनन युक्त विचार से जिस अविद्या रूपी रोग के शमन होने पर सर्व आकारों से रहित ऐसा स्वरूप ज्ञान शेष रहता है, जहाँ परमाणु में आकाश भी सुमेरु पर्वत के समान स्थूल जैसा स्थित रहता है ॥१०-११॥ जब सत्यभूत पदार्थ भी क्रिया के आश्रय से शून्य के समान अवस्थित हैं, तब उस अनामय ब्रह्मपद में सांसरिक विषयों का त्याग कर आप जीवन्मुक्त हो जाओ ॥१२॥ यह भले प्रकार दिखाई पड़ने वाली अविद्या दृष्टि में नहीं आती, किन्तु नष्ट हो रही है, अतः उस अविद्या का स्वरूप वही प्रसिद्ध असद्रूप ही है ॥१३॥ मृगतृष्णा का जल दिखाई देने पर भी किन ने प्राप्त कर लिया ? उसी मृगतृष्णाजल के समान भ्रान्तिवश देखे गये पदार्थ प्रयत्न पूर्वक भी पा लिये जाते हैं क्या ? अर्थात् नहीं पाये जाते ॥१४॥

असदेव सदेवाऽसदज्ञानादस्य सत्यता ।
ज्ञानाद्यथास्थितं वस्तु दृश्यते नश्यति भ्रमः ॥१५
सत्यो भवत्वसत्यो वा वालेन निशि यक्षकः ।
पञ्चतन्मात्रकलनां संभावयति सत्तया ॥१६
तत्राऽऽत्मनि तथा रन्ध्रान् प्रपश्यति तथोदितान् ॥१७
एभ्य एव समुत्पन्नं वहिःस्थं भूतपञ्चकम् ।
पश्यत्यनन्यदन्याभं शाखाशतमिवाऽङ्कुरः ॥१८
इदमन्तरिदं वाह्यमिति निश्चयवांस्ततः ।
जीवो भावं यथाऽऽदत्ते तत्तथा द्रढयत्यथ ॥ ९
रश्मिजालमिवेन्दोर्यदात्मनः प्रतिभासनम् ।
वाह्यस्पर्शतया तेन तदेवाऽऽशूररीकृतम् ॥२०
आत्मनैवेदमखिलं सम्पन्नं द्वैतमद्वयम् ।
खण्डो मधुरसेनेव मृदेव च महाघटः ॥२१

असत् पदार्थ का सदाभास असद्रूप अविद्या से ही है। ज्ञान के द्वारा तो, वस्तु का यथार्थ रूप ही दिखाई देता है, क्योंकि ज्ञान से भ्रम नष्ट होजाता है ॥१५॥ जैसे रात्रि के समय कोई वालक यक्ष की कल्पना करले, फिर वह असत्य ही क्यों न हो। यह जीवचिति, पंचतन्मात्राओं

के देह रूपी कल्पना का रूप होना ही संभव मानती है ॥१६॥ और देह स्थित आत्मा में उपरोक्त उदाहरण के समान उत्पन्न रूपों को भी वैसे ही देखती है ॥१७॥ इन पंचतन्मात्राओं से उत्पन्न बहिःस्थित उन पंचमहाभूतों को जो चिति से भिन्न नहीं हैं, वह उन रूपों से पराधा-सा उसी प्रकार देखती है, जैसे अंकुर सैकड़ों शाखाओं को देखे ॥१८॥ फिर बाह्य और आन्तरिक पदार्थों का निश्चय किया हुआ वह जीव जिस वासना को प्राप्त होता है, उसे दृढ़ कर लेता है ॥१९॥ चन्द्र-किरणों के समान, सुख-रूप से जो आत्मज्ञान होता है, वही बाह्य विषयों के सुख के अनुभव स्वरूप स्वीकार कर लिया जाता है ॥२०॥ द्वैत या अद्वैत दोनों भेदों से युक्त यह विश्व, आत्मा के द्वारा उसी प्रकार निर्मित हुआ है, जिस प्रकार गन्ने के रस से शक्कर और मिट्टी से बड़े बड़े बर्तन ॥२१॥

सन्निवेशविकारादि देशकालादिसंभवात् ।
संभवत्यत्र न त्वीशे देशकालाद्यसंभवात् ॥२२
इति भाव्यमनेनेदमित्थ सर्वेश्वरे ततम् ।
क्रमं खण्डयितुं लोके कस्य नानाऽस्ति शक्तता ॥२३
आदर्शस्वच्छ आकाशे नैव स्वः प्रतिबिम्बति ।
व्यतिरेकासम्भवतः कचत्येव हि केवलम् ॥२४
ब्रह्मणि त्वात्मनाऽऽत्मैव स्थितः कचति बिम्बति ।
द्वैतीभवत्यदेहोऽपि चिन्मयत्वात् स्वभावतः ॥२५
हेमत्वकटकत्वे द्वे सत्यासत्यस्वरूपिणी ।
हेम्नि भाण्डगते यद्वच्चित्त्वाचित्त्वे तथाऽऽत्मनि ॥२६
काले काले चिता जीवस्त्वन्योऽन्यो भवति स्वयम् ।
भाविताकारवानन्तर्वासनाकलिकोदयात् ॥२७
स्वप्ने दृष्टो यथा ग्रामो याति सत्ताऽन्यतेक्षणात् ।
देहाद्देहं तथा याति देहोऽयं प्रतिमात्मकः ॥२८

देश, काल आदि के परिच्छेद से शक्कर और बर्तन आदि में तो अवयव विन्यासादि अनेक विकार हो सकते हैं, परन्तु वे देश-

कालादि जनित विकार आत्मा में संभव नहीं है ।।२२।। जिस वस्तु से जो कार्य सिद्ध होना है, वह उससे होगा, ही परब्रह्म द्वारा कल्पित इस क्रम में कौन व्यवधान उपस्थित कर सकता है ? ।।२३।। आकाश स्वच्छ होने पर भी वह दर्पण के समान प्रतिबिम्बित नहीं होता क्योंकि आकाश अथवा उसके कार्यभूत अन्य भूतों में आकाश का भेद ही नहीं होता ।।२४।। परन्तु अविद्या के संबल वाले ब्रह्म में आत्म स्वरूप से आत्मा ही स्थित रहता है, वही जीव रूप से प्रतिबिम्बित होता है। स्वभाव से चिन्मय होने के कारण अदेह होने पर भी उसमें भेद-बुद्धि प्रतीत होती है ।।२५।। जैसे आभूषण के स्वर्ण में सत्य रूप स्वर्णत्व और असत्य रूप कटकत्व दोनों ही रहते हैं, वैसे ही आत्मा में चित्त्व और अचित्त्व दोनों की प्रतीति है ।।२६।। चैतन्य में वासना रूपी कलिकाएँ विकसित होती हैं, तभी यह जीव विचित्र भावनाओं वाला होकर स्वयं ही भिन्न-भिन्न रूप वाला हो जाता है ।।२७।। जैसे स्वप्न में देखे हुए ग्राम में वन आदि के अवलोकन से वैसा दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार इस जीव का भी देह से दूसरे देह को प्राप्त होना स्वप्न के ही समान है ।।२८।।

वस्तु दृष्टमदृष्टं च स्वप्ने समनुभूयते ।
जीवस्वप्ने जगद्रूपं विद्धि वेद्यविदां वर ।।२९
प्राक्तनी वासनाऽद्याऽपि पौरुषेणाऽवजीयते ।
ह्यः कुकर्माऽद्य यत्नेन प्रयाति हि सुकर्मताम् ।।३०
मोक्षादृते न शाम्यन्ति जीवतां चक्षुरादयः ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति केवलं देशकालतः ।।३१
मनोबुद्धिरहङ्कारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् ।
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ।।३२
कदाचिद्धि सुषुप्तस्थः कदाचित् स्वप्नवत् स्थितः ।
आतिवाहिकदेहोऽयं सर्वस्यैवाऽवतिष्ठते ।।३३
यदा सुषुप्तभावस्थो भाविदुःस्वप्नबोधितः ।
तदा कालानलसमस्तिष्ठत्यनुदिताकृतिः ।।३४

स्थावराद्यास्ववस्थासु कल्पवृक्षदशासु च ।
भवत्येव सुषुप्तस्थो घनमोहशिलाघनः ॥३५

हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीराम ! यह जगद्रूप तो जीव का एक स्वप्न ही है। क्योंकि स्वप्न में दृष्ट और अदृष्ट वस्तुओं का ज्ञान होता है ॥२६॥ जैसे पिछले अनुचित कर्म वर्तमान में किये गये श्रेष्ठ प्रयत्न से सुकर्म में बदल जाते हैं, वैसे ही पौरुष पूर्वक वासना को जीता जा सकता है ॥३०॥ जीवों की नेत्रादि इन्द्रियाँ मोक्ष के विना शान्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे देश-काल आदि भेदों से भवसिन्धु में डूबती उतराती हैं ॥३१॥ मन, बुद्धि, अहंकार तथा पंचतन्मात्राएँ—यह आठों का समूह पुर्यष्टक है। इसी को 'आतिवाहिक' देह कहते हैं ॥३२॥ यह आतिवाहिक देह ही कभी सुषुप्तावस्था में और कभी स्वप्नावस्था में स्थित रहती है ॥३३॥ यह आतिवाहिक देह जब सुषुप्तावस्था में स्थित हुई वासनामय दुःस्वप्नों से विद्ध होकर स्मृति से रहित तथा अनुदित आकृति वाली होजाती है, तब चिति के प्रतिबिम्ब से प्रययाग्नि जैसी प्रदीप्त होकर स्थित रहती है ॥३४॥ स्थावरादि अवस्था एवं कल्पवृक्ष की दशा में पत्थर की शिला के समान घनीभूत मोहमयी यह आतिवाहिक देह सुषुप्ति में स्थित रही आती है ॥३५॥

सुषुप्तताऽस्य जडता स्वप्नोत्थेयं हि संसृतिः ।
यः प्रबोधोऽस्य सा मुक्तिस्तज्जाग्रद्या तु तुर्यता ॥३६
जीवप्रबोधान्मुक्तिर्हि प्रबोधात् परमात्मताम् ।
सोऽभ्येति क्षालितमलं ताम्रं कनकतामिव ॥३७
जीवन्मुक्तिर्हि तुर्यत्वं तुर्यातीतं पदं ततः ।
बोधो जीवः प्रबोधोऽयं स च बुद्धिप्रयत्नतः ॥३८
बन्धोऽस्य वासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनालयः ।
वासनान्तन्तोऽस्य सौषुप्ती स्वप्ने विस्फुरति स्थितिः ॥३९
त्रिजगच्चिच्चमत्कारस्त्वलं भेदविकल्पनैः ।
शोभिताः स्मश्रिति चिरात् सबाह्याद्यं न विद्यते ॥४०

अब्धिर्यथा जलमपास्तसमस्तभेदः
खादच्छमेव सकलं द्रवमेकशुद्धम् ।
सर्वं तथेदमपहस्तितभेदजात-
माद्यं परं पदमनामयमेव बुद्धम् ॥४१

हे राम ! सुषुप्तावस्था में स्थिति ही तो जड़ता है, स्वप्नावस्था में ही सर्ग है और इसका तत्त्वज्ञान ही मुक्ति है तथा जाग्रति ही तुर्य रूपत्व है ॥३६॥ जीव को प्रबोध होने से ही मुक्ति संभव है। प्रबोध से ही परमात्म रूपत्व प्राप्त होता है, जिस प्रकार कि मैल छूटने पर ताँबा सोने के समान चमकता है ॥३७॥ जीवन्मुक्ति ही तुरीयावस्था है। फिर तुरीयातीत ब्रह्मपद है। तत्वज्ञान की प्राप्ति पर जीव स्वयं ही प्रबोध रूप हो जाता है, परन्तु तत्वज्ञान की प्राप्ति प्रयत्न से ही हो सकती है ॥३८॥ वासनाओं का बन्धन ही जीव का बन्धन है और वासनाओं नाश ही जीव का मोक्ष है और वासनाओं की अन्तावस्था ही जीव की सुषुप्ति है। वह वासना ही स्वप्न में अद्भुत रूप से स्फुरित होती है ॥३९॥ यह तीनोंलोक चैतन्यात्मक का चमत्कार ही है, इसलिए भेद संकल्प कैसा ? हम चिरकाल से तत्वज्ञान के द्वारा अपने चैतन्य रूप में स्थित हैं। यह बाह्याभ्यन्तरिक संसार त्रिकाल में भी नहीं है ॥४०॥ तत्व पूर्वक विचार किया गया यह जगत् जैसे तरंगादि भेदों से शून्य समुद्र और आकाश से भी निर्मल तथा विशुद्ध जल स्वरूप है, वैसे ही वासनात्मक विभेदों से रहित एवं विकार से रहित परमपद ब्रह्मस्वरूप ही है ॥४१॥

## ३०—अर्जुनाख्यान

पुण्डरीकाक्षनिर्दिष्टामसंसक्तिगतिं शुभाम् ।
यामालिङ्ग्य महाबाहो जीवन्मुक्तो महामुनिः ॥१
पाण्डोः पुत्रोऽर्जुनो नाम सुखं जीवितमात्मनः ।
क्षिपयिष्यति निर्दुःखं तथा क्षेपय जीवितम् ॥२

तस्याऽद्य यःवदनघ प्रवाहपतिते निजे ।
कर्मण्यचलसंकाशस्थिरं चित्तमवस्थितम् ॥८
भगवान् स यमः किञ्चिन्दते प्रतिचतुर्युगे ।
तपः प्रकुरुते भूतदलनात् पापशङ्कया ॥९
कदाचिदष्टौ वर्षाणि दश द्वादश वाऽपि च ।
कदाचित् पञ्च सप्तादि कदाचित् षोडशाऽपि च ॥१०
तेन नीरन्ध्रभूतौघनिःसञ्चारं महीतलम् ।
भवति प्रावृषि स्वेदी कुञ्जरो मशकैरिव ॥११
अथैतानि विचित्राणि भूतानि बहुयुक्तिभिः ।
क्षिपयन्ति सुरा राम भुवो भारनिवृत्तये ॥१२
एवं युगसहस्राणि व्यवहारशतानि च ।
समतीतान्यनन्तानि भूतानि च जगन्ति च ॥१३
वैवस्वतोऽद्य तु यमो य एष पितृनायकः ।
अनेन त्वधुना साधो परिक्षीणेषु केषुचित् ॥१४
युगेष्वघविघाताय वर्षाणि द्वादशात्मना ।
व्रतचर्येह कर्तव्या दूरास्तजनकर्षणा ॥१५

हे निष्पाप ! उन यमराज का चित्त सर्ग-काल से आज पर्यन्त अपने अधिकृत कर्म में पर्वत के समान अटल रूप अवस्थित है ॥८॥ वह यमराज प्रत्येक चतुर्युगी का कुछ समय व्यतीत होजाने पर जीवों के नाश होने से उत्पन्न पाप की आशंका से कभी-कभी कुछ तप भी करते हैं ॥९॥ वे कभी आठ वर्ष, कभी दश, वारह, पाँच अथवा सात वर्ष और कभी सोलह वर्ष तक तपस्या करते हैं ॥१०॥ उनके उस तपस्या-काल में किसी भी जीव के हिंसित न होने से यह पृथिवी, जैसे वर्षा-काल में मच्छरों के प्रकोप से पीड़ित हाथी पसीने से लथपथ रहता है, वैसे ही अनेक प्रकार के प्राणियों के संचरण के योग्य नहीं रहती ॥११॥ फिर उस बोझिल हुई पृथिवी के भार की निवृत्ति के लिए श्रीकृष्णादि सभी देवता अनेक युक्तियों से पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं ॥१२॥ इस प्रकार सहस्रों युग, सैकड़ों व्यवहार (व्र.प) तथा अनन्त जीव और जगत्

युधिष्ठिर के चाचा का पुत्र दुर्योधन होगा। उस दुर्योधन का प्रतिद्वन्द्वी (उसी के समान वीर) पाण्डु का दूसरा पुत्र भीम होगा, जैसे कि सर्प का प्रतिद्वन्द्वी नकुल होता है ॥२१॥ परस्पर एक एक दूसरे की पृथिवी का अपहरण करने के लिए युद्ध में तत्पर उन दोनों की भीषण अठारह अक्षौहिणी सेना महाभारत युद्ध के लिए एकत्र होगी ॥२२॥

तत्क्षयेण विभारत्वं भुवो विष्णुः करिष्यति ।
राघवाऽर्जुनदेहेन बृहद्गाण्डीवधन्वना ॥२३
विष्णोरर्जुननामादौ प्राकृतं भावमास्थितः ।
हर्षामर्षान्वितो देहो नरधर्मा भविष्यति ॥२४
सेनाद्वयगतान् दृष्ट्वा स्वजनान् मरणोन्मुखान् ।
विषादमेष्यत्युद्योगं युद्धाय न करिष्यति ॥२५
तमर्जुनाभिध देहं प्राप्तकार्यैकसिद्धये ।
हरिर्बुद्धेन देहेन बोधयिष्यति राघव ॥२६
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२७
अनन्तस्यैकरूपस्य सतः सूक्ष्मस्य खादपि ।
आत्मनः परमेशस्य किं कथं केन नश्यति ॥२८
अनन्तमव्यक्तमनादिमध्य-
मात्मानमालोक्य-संविदात्मन् ।
संविद्वपुः स्फारमलब्धदोष-
मजोऽसि नित्योऽसि निरामयोऽसि ॥२९

हे राघव ! बृहद् गांडीवधारी अर्जुन रूपी शरीर से उन विशाल सेनाओं को नाश करके भगवान् श्रीहरि इस पृथिवी के भार को दूर कर देंगे ॥२३॥ युद्ध के प्रारंभ में अर्जुन नामक वह विष्णु-शरीर, मानव के प्राकृत भाव से युक्त हर्ष शोकादि से समन्वित रहेगा ॥२४॥ और दोनों सेनाओं के मध्य जाकर अपने ही बन्धुओं को मरणोन्मुख देख कर अर्जुन

किं तद्भावविकाराणां गम्यमस्ति जगत्त्रये ।
क्व ते वाऽपि जगत्किं वा किं मुधा परिमुह्यसि ॥१८

इति श्रुत्वाऽभयं त्वन्तर्भावयित्वा सुनिश्चितम् ।
जीवन्मुक्ताश्चरन्तीह सन्तः समरसाशयाः ॥१९

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥२०

विभिन्न प्रकार के आकारों और विकारों वाले तरगों में जैसे जल और कटक आदि में स्वर्ण अनुगत हैं, वैसे ही नाना प्रकार के यह जो समस्त भूत हैं, उनमें आत्मा ही अनुगत है ॥१५॥ जैसे जल में सभी चंचल तरंगों का निवास है अथवा स्वर्ण में कटक आदि हैं, वैसे ही यह समस्त भूत-समूह परब्रह्म में ही निवास करते हैं ॥१६॥ हे भारत ! भूतादि सब पदार्थ और बृहद् ब्रह्म उन सबको दर्पण और प्रतिबिम्ब के समान एक रूप समझो, इनमें किंचित् भी पृथकत्व नहीं है ॥१७॥ त्रिलोकी निर्विकार ब्रह्म ही एक मात्र है, तब जन्मादि विकारों का अन्य आश्रय ही में क्या है ? तब बान्धव वध आदि भाव विकार भी कहाँ रहेंगे ? अथवा ब्रह्म के अतिरिक्त यह जगत् भी क्या है ? (जब कुछ नहीं है तब) तुम इनमें मोह ही क्यों करते हो ? ॥१८॥ इन उपदेशों का श्रवण कर और अन्तर में अभय ब्रह्म की निश्चित भावना कर समानचित्त वाले सन्त-जन जीवनन्मुक्त होते हुए विचरते हैं ॥१९॥ मान-रहित, मोह-रहित, बाह्य विषयों में निरासक्त, विषयों से विनिर्मुक्त, आत्मज्ञान में अव-स्थित, दुःख, सुखादि सभी द्वन्द्वों से विमुक्त तथा सभी भेद-प्रभेदों से रहित ज्ञानमति सन्तजन उस अव्यय पद को सहज ही प्राप्त कर लेते हैं ॥२०॥

---

ब्रह्म ही है, वह उत्पन्न या नष्ट नहीं होता, यह परम सत्य है, ऐसा जानना ही श्रेष्ठ ज्ञान है ॥५॥ इस ब्रह्म रूपी महासमुद्र में तरंग रूप से कुछ उत्पन्न और नष्ट होजाता है, आज बोध के इस उदय काल में तुम जो स्फुरण को प्राप्त होरहे हो, वह तुम सभी प्रकार के विकारों से रहित ब्रह्म हो, उससे भिन्न नहीं हो ॥६॥ तुम मान, मद, शोक, भय, इच्छा और सुख-दुःख सभी का त्याग कर दो। यह सम्पूर्ण द्वैत प्रपंच असद्रूप है, इसे त्याग कर एक मात्र सद्रूप होजाओ ॥७॥

पुरुषाक्षौहिणीनां च क्षयेणाऽनुभवात्मना।
ब्रह्मणा बृंहितं शुद्धं ब्रह्म ब्रह्ममयं कुरु ॥८
असंविदन्सुखं दुःखं लाभालाभौ जयाजयौ।
शुद्धब्रह्मैकतां गच्छ ब्रह्माब्धिस्त्वं हि भारत ॥९
अनपेक्षफलं ब्रह्म भूत्वा ब्रह्मेतिबाधितम्।
क्रियते केवलं कर्म ब्रह्मज्ञेन यथागतम् ॥१०
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ॥११
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥१२
आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत्।
मौर्ख्ये स्थिते हि मनसि तस्मान्मौर्ख्यं परित्यजेत् ॥१३

हे अर्जुन! तुम अक्षौहिणी सेना का विनाश करोगे तो वह भी ब्रह्मरूप ही होगा। इसलिये क्षयात्मक भी ब्रह्म ही बृंहित है, अतः तुम शुद्ध ब्रह्म को ब्रह्मात्मक ही बनाओ ॥८॥ हे भारत! तुम सुख-दुःख, लाभ, हानि, जय, हार आदि पर ध्यान न देते हुए केवल ब्रह्म रूप ही होओ, क्योंकि तुम निश्चय ही ब्रह्मरूपी महासागर हो ॥९॥ जो ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त कर चुका है, वह सम्पूर्ण कामनाओं की परिसमाप्ति वाला पुरुष पुरुषार्थरूप फलत्व को प्राप्त होता हुआ और ब्रह्मभाव से बाधित हुआ कर्म करता है ॥१०॥ हे धनञ्जय! तुम कर्मफल से सम्पन्न न होओ और कर्म न करने में भी आसक्त न बनो। तुम तो योग के आ-

और संदेह-रहित बुद्धि वाला होकर भगवान् श्रीहरि की सारथिता से सम्पन्न हुआ संग्राम में कूद पड़ेगा ॥१६॥ फिर वह वीर अर्जुन इस पृथिवी तल को ऐसी महानदियों से भर देगा, जिनमें आहत हुए महान् गज, अश्व, सारथि आदि तुरन्त वहने लगेंगे। वह आकाश को भी ऐसा कर देगा कि उसका सूर्यरूपी लोचन बाणों और उड़ती हुई महान् धूलों से युक्त स्थलों से ढक जायगा ॥१७॥

## ३३—वेताल और राजा का संवाद

जीवोऽजीवो भवत्याशु याति चित्तमचित्तताम्।
विचारादित्यविद्यान्तो मोक्ष इत्यभिधीयते ॥१
मृगतृष्णाजलमिव मनोऽहन्तादि दृश्यते।
असदेव मनोगेव तद्विचारात् प्रलायते ॥२
संसृतिस्वप्नविभ्रान्तो वेतालोदाहृतानिमान् ॥
प्रश्नानाकर्णय शुभान् प्रसङ्गात् स्मृतिमागतान् ॥३
अस्ति विन्ध्यमहाटव्यां वेतालो विपुल कृतः।
स किञ्चिन्मण्डल गर्वादाजगाम जिघांसया ॥४
स वेतालोऽवसत्पूर्व कस्मिंश्चित् सज्जनास्पदे।
वहुवल्युपहारेण नित्यतृप्ततया सुखी ॥५
निर्निमित्तं निरागस्क पुरोऽप्यभ्यागतं न सः।
क्षुधितोऽपि नरं हन्ति सन्तो हि न्यायदर्शका: ॥६
स कालेनाऽटवीगेहो जगाम नगरान्तरम्।
न्याययुक्त्या जनं भोक्तुं क्षुधा समभिचोदित: ॥७

वसिष्ठजी बोले—तत्व का विचार कर लेने पर जीव अजीवत्व को प्राप्त होजाता है तथा चित्त को भी अचित्त रूपत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विचार पूर्वक यत्न से उत्पन्न कार्य कारण रूप वाली अविद्या नष्ट होजाती है, तत्वज्ञानीजन ऐसा ही कहते हैं ॥१॥ मृगतृष्णा के समान असद्रूप भ्रमात्मक मन एवं अहन्ता आदि प्रपंच सब कुछ तत्व विचार से विलीन होजाते हैं ॥२॥ इस संसाररूपी स्वप्न-भ्रान्ति विप-

यक जो प्रश्न वेताल ने किये थे, उन्हें आप सुनिये, यह विषय प्रसंगवश मुझे याद आगया है ॥३॥ एक समय की बात है—विन्ध्य पर्वत की महाटवी में एक महाकाय वेताल रहता था। वह मारे जाने के योग्य अज्ञानियों में अनादर से उनका वध करने की इच्छा से किसी एक मंडल में जा पहुंचा ॥४॥ वह वेताल पहिले एक सज्जन नामक राजा के राज्य में निवास करता था। उस किरात राज्य में ककड़ी के समान राजा द्वारा मारे जाने वाले लोगों के बलिरूप उपहार से नित्य तृप्त होकर विक्षेप-रहित सुख में मग्न रहता था ॥५॥ सामने आये हुए अपराध-रहित पुरुष का वह कभी भूखा होने पर भी अकारण वध नहीं करता था, क्योंकि साधु पुरुष सदा ही न्याय पक्ष को देखते हैं ॥६॥ एक समय की बात है जब वन में विचरण करने पर भी मारने के लिए उसे कोई व्यक्ति नहीं मिला। उस समय वह अत्यन्त क्षुधित होकर न्याय से वध योग्य मनुष्य के भक्षणार्थ नगर में गया ॥७॥

तत्र प्राप स भूपालं रात्रिचर्याविनिर्गतम् ।
तमाह घनघोरेण शब्देनोग्रनिशाचरः ॥८

राजल्लब्धोऽसि भीमेन वेतालेन मयाऽधुना ।
क्व गच्छसि विनष्टोऽसि भव भोजनमद्य मे ॥९

हे रात्रिचर निन्यर्थ्यं मां चेदत्सि बलादिह ।
तत्ते सहस्रधा मूर्धा स्फुटिष्यति न संशयः ॥१०

न त्वामद्म्यहमन्यायं न्यायोऽयं हि मयोच्यते ।
राजाऽसि सकलाशाश्च पूरणीयास्त्वयार्थिनाम् ॥११

ममैतामर्थितां राजन् सम्भवार्थां प्रपूरय ।
प्रश्नानिमान् मयोक्तांस्त्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥१२

कस्य सूर्यस्य रश्मीनां ब्रह्माण्डान्यणवः कृशाः ।
कस्मिन्स्फुरन्ति पवने महागगनरेणवः ॥१३

स्वप्नात् स्वप्नान्तरं गच्छञ्छतशोऽथ सहस्रशः ।
त्यजन्न त्यजति स्वच्छं कः स्वरूपं प्रभास्वरम् ॥१४

विज्ञानमात्रकलनाकलितं जगन्ति
शान्तस्वभावसुकुमारमनन्तरूपम् ।
वेतालबालक पदं तदलङ्घनीय-
मेवं स्वयं समनुभावय शान्तमास्स्व ।।७

राजा बोला—हे वेताल ! कालसत्ता, नभसत्ता, स्पन्दनसत्ता, चिन्मयी सत्ता, शुद्ध चैतन्यसत्ता इत्यादि यह सभी पवित्र निर्दोष रज के समान परमात्मा रूपी महावायु मे अनेक विषय-विकार से चलायमान होकर स्फुरित होती हैं, जिस प्रकार कि पुष्प अपने ही अंग की सुगन्ध द्वारा आमोद-भेद से अवस्थित है, वैसे ही परमात्म-सत्ता अपने में कालादि भेद की कल्पना से अपने में ही विद्यमान है ।।१-२।। जगत् संज्ञात्मक महास्वप्न में एक स्वप्न से अन्य स्वप्न को प्राप्त दोषों से रहित ब्रह्म शान्तत्व की वृद्धि वाले स्वरूप का त्याग नहीं करता ।।३।। जैसे कदली-स्तम्भ की परत छीलते-छीलते उसमें केवल परत ही निकलती है, वैसे ही ब्रह्म में अवान्तर कारणों में, यह विश्व भीतर से भीतर देखे जाने पर ब्रह्ममात्र अणु ही मिलता जाता है ।।४।। वह परमात्मा सद् ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों का विषय है, सर्व धर्मों से परे होने से शून्य, अव्यपदेश्य आदि कहा गया है, इसलिए कहने के लिए वह कुछ है और कुछ नहीं भी है ।।५।। हे साधो ! यह त्रिलोकी उस ज्ञानमात्रात्मक ब्रह्म की मज्जा है, क्योंकि श्रुतियों में हृदयाकाश स्वरूप विज्ञानमात्र की मध्य मज्जा के समान प्रख्यात है ।।६।। हे वेताल ! यह विश्व विज्ञानात्मा के अनेक कौशलों का विलास मात्र है । तुम उस शान्त, सुकुमार और अनन्त आत्म विज्ञान के खडन में समर्थ नहीं हो । अतः मेरी बात मान कर उक्त स्वभावात्मा को तुम अपने अनुभव पर तौलकर अभिमान का त्याग करते हुए शान्ति को प्राप्त होओ ।।७।।

## ३६—भगीरथ की कथा

इति राजमुखाच्छ्रुत्वा वेतालः शान्तिमाययौ ।
भावितात्मतया तत्र विचारोचितया धिया ।।१

उपशान्तमना भूत्वा मत्वैकान्तमनिन्दितम् ।
बभूवाऽविचलध्यानी विस्मृत्य विषमां क्षुधाम् ।।२
एतद्राम मयोक्तं ते वेतालप्रश्नजालकम् ।
एवं क्रमेण चिदणौ तेनेदं संस्थितं जगत् ।।३
स्थिरबुद्धिरसंमूढो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ।
राज्ञो भगीरथस्येव दुःसाध्यमपि सिद्ध्यति ।।४
यथा चित्तचमत्कृत्या राज्ञो गङ्गावतारणम् ।
भगीरथस्य सम्पन्नं तन्मे कथय भो प्रभो ।।५
आसीद्भगीरथो नाम राजा परमधार्मिकः ।
भुवः समुद्रयुक्ताया मण्डलीतिलकोपमः ।।६
किरन्नग्निकणासारमभितः स्वप्रतापजम् ।
मध्याह्नसूर्यकान्ताग्निरिव ज्वलति योऽरिषु ।।७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! राजा द्वारा अपने प्रश्नों का समाधान पाकर वेताल शान्ति को प्राप्त हुआ, उसे विचारमयी बुद्धि से यह ज्ञात होगया कि राजा तत्त्वज्ञ है ।।१।। तब वह मनोविकारों को त्याग कर अनिन्दित आत्मा के मननपूर्वक विषय-भूख को भूलता हुआ अविचल समाधि में लीन होगया ।।२।। हे राम ! मैंने आपके प्रति वेताल के प्रश्न और समाधान का वर्णन किया है । राजा ने जिस क्रम से चिद्रूपी अणु में इस जगत् की विद्यमानता बताई है, वह यथार्थ है ।।३।। आप भी अचंचल बुद्धि और अज्ञान-रहित रूप से अवस्थित हो जाइये । देह की यात्रा के लिए प्रारब्ध वश प्राप्त विषय से सन्तुष्ट एवं प्रयत्न में तत्पर पुरुष के लिए राजा भगीरथ के समान, दुःसाध्य विषय भी साध्य होजाते हैं ।।४।। श्रीराम ने पूछा—हे प्रभो ! जिस प्रकार राजा भगीरथ ने चित्त की पूर्णता के चमत्कार से जिस गंगावतरण रूपी दुःसाध्य कार्य को सिद्ध कर लिया, वह मेरे प्रति कहिए ।।५।। वसिष्ठजी बोले—हे राम ! चारों ओर समुद्र से घिरी पृथिवी पर एक परम धार्मिक राजा हुआ, जिसका नाम भगीरथ था । वह अपनी सभा में तिलक के समान विभूषित था ।।६।। वह अपने प्रताप रूपी रश्मियों की घोर वर्षा करता हुआ,

सूर्यकान्त मणि जैसे मध्याह्न में तृणादि को जलाने वाली हो जाती है, वैसे ही वह अपने शत्रुओं पर प्रज्वलित रहता था ।।७।।

एकान्ते चिन्तयामास महीपतिरसाविति ।
जगद्यात्रामिमां नित्यमसमञ्जसमाकुलम् ।।८
पुनर्दिनं पुनःश्यामा दानादानशतं पुनः ।
तदेव भुक्तविरसं लक्ष्यते कर्म कुर्वताम् ।।९
अथैकदोद्विग्नमनाः कदाचित्त्रितलं गुरुम् ।
एकान्तं समृतेर्भीतः समपृच्छद्भगीरथः ।।१०
अन्तःशून्यासु सुचिरं भ्रमत्संसारवृत्तिषु ।
अरण्यानीषु चैतासु भृशं खिन्ना वयं विभो ।।११
जरामरणमोहादिरूपाणां भवकारिणाम् ।
भगवन् सर्वदुःखानां कथमन्तः प्रजायते ।।१२
चिरसाम्यात्मनोत्थेन निर्विभागविलासिना ।
राजन् ज्ञेयाववबोधेन पूर्णेन भरितात्मना ।।१३
क्षीयन्ते सर्वदुःखानि त्रुट्यन्ति ग्रन्थयोऽभितः ।
संशयाः समतां यान्ति सर्वकर्माणि चाऽनघ ।।१४

वह राजा जब कभी एकान्त-चिन्तन में लीन होता, तब अपनी विश्वयात्रा के विषय में नित्यप्रति इस प्रकार विचार किया करता था ।।८।। दिन और रात्रि की बारंबार प्राप्ति, दान देना और लेना तथा भुक्त अथवा रस-हीन कर्म जितने भी दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें कोई भी ऐसा अद्‌भुत कर्म नहीं होता, जिसका फल श्रेय रूप से उपलब्ध होसके ।।९।। इस प्रकार चिन्तन-रत एवं जगत् के भय से भीत होने के कारण उद्विग्न मन वाले राजा भगीरथ ने अपने गुरु त्रितल से प्रश्न किया ।।१०।। भगीरथ बोले—हे विभो ! संसार में भ्रमते हुए प्राणियों के निःसार राग-द्वेष आदि आदि से युक्त व्यवहारों और उनके फलरूप स्वर्ग-नरकादि सुख-दुःख में पड़कर हम सब अत्यन्त खेद को प्राप्त हो रहे हैं ।।११।। हे भगवन् ! भवजाल में फंसाने वाले जरा-मरण-मोहादि रूपी इन घोर दुःखों का अन्त किस प्रकार हो सकता है ? ।।१२।।

त्रितल बोले—हे राजन्! हे अनघ ! श्रवण-मनन आदि प्रयत्नों से चिर-काल से विक्षेप और वैषम्य-रहित समाधि के द्वारा तथा ब्रह्माकार वृत्ति से आविर्भाव को प्राप्त स्फुरण वाले प्रत्येक तत्व के ज्ञान से सभी दुःखों का नाश हो जाता है। जब सब ओर की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तब संशय और सभी कर्म समत्व को प्राप्त हो जाते हैं ॥१३-१४॥

शरीरेऽस्मिश्चिरारूढो गिरौ तरुरिव स्वके ।
अहंभावो महाभाग वद मे त्यज्यते कथम् ॥१५
पौरुषेण प्रयत्नेन त्यक्त्वा भोगौघभावनाम् ।
गत्वा विकसितां सत्तामहङ्कारो विलीयते ॥१६
यन्त्रणापञ्जरं यावद्भग्नं लज्जादि नाऽखिलम् ।
अकिञ्चनत्वशेषेण स्फुटा तावदहङ्कृतिः ॥१७
सर्वमेतद्धिया त्यक्त्वा यदि तिष्ठसि निश्चलः ।
तदहङ्कारविलये त्वमेव परमं पदम् ॥१८
शान्ताशेषविशेषणो विगतभीः संत्यक्तसर्वैषणो ।
गत्वा नूनमकिञ्चनत्वमरिपु त्यक्त्वा समग्रां श्रियम्
शान्ताहंकृतिरस्तदेहकलनस्तेष्वेव भिक्षामटन्
मामप्युज्झितवानलं यदि भवस्युच्चैस्त्वमुच्चैरसि॥१९

राजा भगीरथ ने कहा—हे महाभाग ! पर्वत पर दृढ़ता से खड़े हुए वृक्ष के समान अपने देह के प्रति दीर्घकाल से सुदृढ़ हुए अहंभाव का त्याग करने में मैं किस प्रकार समर्थ हो सकता हूँ, यह मेरे प्रति कहिए ॥१५॥ त्रितल ने कहा—ज्ञानाभ्यास रूपी पौरुष के द्वारा सांसारिक विविध विषयों की लालसा त्याग कर आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न करता हुआ पुरुष अहंभाव को विलीन कर लेता है ॥१६॥ विविध प्रकार की निन्दा का भय, राज्य-परित्याग और भिक्षादि याचना की लज्जा एवं अहं आदि से निर्मित दुःख रूपी पिजड़े को जब तक नष्ट भ्रष्ट नहीं कर देता, तब तक अहंकृति रूपिणी नटी बढ़ती हुई नृत्य करती रहती है ॥१७॥ यदि विचार पूर्वक तुम उन सब को छोड़ कर सुदृढ़ होजाओ तो अहंकार विलीन होजायगा और तुम स्वयं ही परमपद रूप होजाओगे ॥१८॥ हे

राजन् ! यदि तुम्हारे राज—चिह्न तुमसे पृथक् होगए हैं, और तुम लज्जा-भय से मुक्त होगए हो, तुम्हारी धनादि की लालसा समाप्त होकर अकिंचन भाव की प्राप्ति होगई है, यदि तुम शत्रुओं के प्रति भी द्वेष अहं से निवृत्त होगए हो, यदि देहाभिमान से मुक्त होकर शत्रुओं में भी भिक्षाटन करने में तुम्हें संकोच नहीं है, और परिपूर्ण भाव को प्राप्त होने पर गुरु से प्रश्न करने के लिए तुम्हारी शंकाएं निःशेष होगई हैं, तो समझ लो कि तुम सभी मुमुक्षुजनों में सर्वोपरि, ब्रह्मरूप एवं मुक्त ही हो। ऐसा होने पर भवजाल में पुनः पड़ने की संभावना नहीं रहती ॥१६॥

## ३७—भूतल पर गंगावतरण

अथ तस्य गुरोर्वक्त्रादित्याकर्ण्य भगीरथः।
मनस्याहितकर्तव्यः स्वव्यापारपरोऽभवत् ॥१॥
ततः कतिपयेष्वेव वासरेषु गतेषु सः।
अग्निष्टोममखं चक्रे सर्वत्यागैकसिद्धये ॥२
गोभूम्यश्वहिरण्यादि ददौ धनमशेषतः।
द्विजेभ्यो निजबन्धुभ्यो गुण्यगुण्यविचारयन् ॥३
दिवसत्रयमात्रेण सर्वमेव परित्यजन्।
असुमात्रावशेषोऽसावासीद्राजा भगीरथः ॥४
अथ सर्वार्थरिक्तं तत्खिन्नप्रकृतिपौरकम्।
सीमान्तिने तृणमिव राज्यं स्वमरये ददौ ॥५
आक्रान्ते द्विषता राज्ये मुनिः सद्मनि मण्डले।
अधोवासोवशेषोऽसौ निर्जगाम स्वमण्डलात् ॥६
यत्र न ज्ञायते नाम्ना यत्र न ज्ञायते मुखात्।
यत्र ग्रामेष्वरण्येषु दूरेषूवास धैर्यवान् ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! गुरु-मुख से यह उपदेश श्रवण कर राजा भगीरथ अपने मन में निश्चय पूर्वक कर्त्तव्य व्यापार में तत्पर हुए ॥१॥ कुछ दिन व्यतीत होने पर सर्वस्व त्याग की सिद्धि के अर्थ भगीरथ ने अग्निष्टोम यज्ञ का आयोजन किया ॥२॥ उस समय, उस राजा ने गुणी

या अगुणी का विचार न करते हुए अपने बांधवों और ब्राह्मणों को गौ, पृथिवी, अश्व तथा सुवर्ण आदि समस्त धन दान कर डाला ॥३॥ केवल तीन दिन में ही उस राजा ने सब कुछ दान कर दिया और अब उसके पास केवल प्राण ही शेष रह गया ॥४॥ फिर सभी धनादि से रहित अपना राज्य खिन्न मन्त्री और प्रजा आदि के सहित अपने पड़ोसी शत्रु को तृण के समान दे डाला ॥५॥ जब भगीरथ के राजभवन, मण्डल तथा सम्पूर्ण राज्य पर शत्रु का अधिकार होगया तब मननशील वह राजा कोपीन मात्र धारण कर अपने मण्डल से निकल पड़ा ॥६॥ तब उस धैर्यवान् राजा ने दूरस्थ वन की वार्ता में जाकर निवास किया जहाँ उसे देख कर भी लोग यह नहीं जानते थे कि वह कोई राजा है। उसे किसी के भी मुख से अपना नाम नहीं सुन पड़ता था ॥७॥

इत्यल्पेनैव कालेन प्रशान्तसकलैषणः ।
परमेण शमेनाऽसावाप विश्रान्तिमात्मनि ॥८
अथैकदा पुरे श्रेष्ठे कस्मिश्चिन्मण्डलान्तरे ।
अनपत्यं नृपं मृत्युरहन् मत्स्य इवाऽऽमिषम् ॥९
तत्र प्रकृतयः खिन्ना नष्टदेशक्रमा नृपम् ।
अन्विष्यन्ति स्म संयुक्तं गुणलक्ष्म्या विशालया ॥१०
तं भगीरथमासाद्य स्थिरं भिक्षाचरं मुनिम् ।
परिज्ञाय समानीय सैन्ये चक्रुर्महीपतिम् ॥११
भगीरथो जगन्नाथो जयतीति जनारवैः ।
नीरन्ध्रतामुपाजग्मुर्गिरीन्द्राणां महागुहाः ॥१२
पातालतलनष्टानां सागराकारकारिणाम् ।
पितामहानां गङ्गाम्बु शुश्रुवे तात्तणक्षमम् ॥१३
तदा किल स्वर्गनदी वहति स्म न भूतले ।
पितृणां भूतविच्योऽभूत्तेन गङ्गाजलाञ्जलिः ॥१४

इस प्रकार वह राजा सभी एषणाओं से मुक्त होकर सब प्रकार से शमन को प्राप्त होकर आत्म-विश्रान्ति में मग्न रहने लगा ॥८॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम! एक दिन की बात है जब किसी एक अन्य मण्डल में

स्थित, एक नगर के पुत्र हीन राजा को मृत्यु ने इस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार महामत्स्य किसी छोटे मत्स्य को निगल ले ॥९॥ अपने देश की पालन-शक्ति से हीन अमात्यजन किसी ऐसे व्यक्ति की खोज में लगे जो राज-लक्षणों से युक्त एवं प्रजा-पालन में समर्थ दिखाई दे ॥१०॥ वे आमात्यजन भिक्षा के आचरण में तत्पर मुनि भगीरथ के पास आये और उन्हें प्रजापालन के सभी गुणों से युक्त देखकर सेना के मध्य में ले आये और उन्हें राजा बना दिया ॥११॥ जगदीश्वर भगीरथ की जय हो, इस प्रकार प्रजा-कंठों से निकले हुए जय घोषों से वृहद् पर्वतों की गुफाएँ भी व्याप्त होगई ॥१२॥ तब उस राजा ने इन परम्परा द्वारा सुना कि अपने अश्व को खोजते हुए पृथिवी खोद समुद्र के समान आकार को बनाने के स्वभाव वाले एवं महर्षि कपिल के घोर क्रोधानल से पाताल तल में भस्मीभूत होने वाले सगर पुत्रों—अपने पितामहों—का उद्धार करने में गंगा-स्नान और जलांजलि देना ही एक मात्र उपाय है ॥१३॥ उस समय गंगाजी पृथिवी पर नहीं बहती थीं, इसलिए भगीरथ द्वारा ही पितरों को गंगाजल की अंजलि देना विख्यात होगया ॥१४॥

भगीरथेन च महीमवतारयितुं दिवः ।
गङ्गां गृहीतो नियमस्ततः प्रभृति भूभृता ॥१५

ततो राज्यं परित्यज्य मन्त्रिणां भूपतिः शमी ।
तपसे कार्यकार्येहो जगाम विजनं वनम् ॥१६

तत्र वर्षसहस्रैश्च समाराध्य पुनः पुनः ।
ब्रह्माणं शङ्करं जह्नुं भुवि गङ्गामयोजयत् ॥१७

ततः प्रभृत्यमलतरंगभंगिना
जगत्पतेः शशिविभृदंगसंगिनी
नभस्तलान्निपतति गां त्रिमार्गगा
महात्मनामिव वहुपुण्यसंततिः ॥१८

स्फुरत्तरंगभङ्गिनी स्वफेनपुञ्जहासिनी
प्रसन्नपुण्डमञ्जरीयुतेव धर्मसन्ततिः।
भगीरथे महीपतौ यशःप्रचारवीथिका
तदा हि सा त्रिमार्गगा महीतले वभूव ह ॥१६

उक्त जनश्रुति को सुनते ही भूपति महाराज भगीरथ ने गंगा को पृथिवी पर लाने का संकल्प कर नियम धारण किया ॥१५॥ फिर वह अपने संकल्प के अनुसार कठोर से कठोर उपाय में प्रयत्नशील हुए तथा मंत्रियों को राज्य-भार सौंप कर तप करने के लिए निर्जन वन का आश्रय लिया ॥१६॥ उस निर्जन वन में उन्होंने एक सहस्र वर्ष तक ब्रह्मा, शिव और जह्नु का वारम्वार आराधन किया और गंगाजी को भूतल पर उतारा ॥१७॥ तब से यह पुण्य जल वाली त्रिपथगा अपनी स्वच्छ तरंगों से चन्द्रशेखर शिव के शीश को सुशोभित करती है। यह पुण्य संतति स्वरूपा गङ्गा नभमंडल से धरती पर आती है ॥१८॥ स्फुरित तरंगों से विभूषित, स्व फेनपुंजों के कारण हँसती-सी प्रतीत होती, प्रसन्न, पुष्पमंजरियों से समन्वित, धर्म की संतति स्वरूपा यह त्रिपथगा गंगा तभी से इस भूतल पर राजा भगीरथ के लिए समुद्र तक उनके यश का प्रसार करने वाली एक वीथिका स्वरूप होगई है ॥१९॥

## ३८—चूडाला का आख्यान

एतामवष्टभ्य दृशं भगीरथधिया वृताम्।
समः स्वस्थो यथाप्राप्तं कार्यमाहर शान्तधीः ॥१

इदं पूर्वं परित्यज्य क्रोडीकृत्य मनःखगम्।
शांतमात्मनि तिष्ठ त्वं शिखिध्वज इवाऽचलः ॥२

कोऽसौ शिखिध्वजो नाम कथं वा लब्धवान् पदम्।
एतन्मे कथय ब्रह्मन् भूयो बोधविवृद्धये ॥३

द्वापरेऽभवतां पूर्वमिदानीं च भविष्यतः।
तेनैव संनिवेशेन दम्पती स्निग्धतां गतौ ॥४

यत्पूर्वमासीद्भगवंस्तदिदानीं तथैव हि ।
भविष्यति किमर्थं वै वद मे वदतां वर ॥५
जगन्निर्माणनियतेरस्या ब्रह्मादिसंविदः ।
ईदृश्यवस्थितिर्नित्यमनिवार्यस्वभावजा ॥६
यदन्यद्बहुशो भूत्वा पुनर्भवति भूरिशः ।
अभूत्वैव भवत्यन्यः पुनश्च न भवत्यलम् ।
अन्यत्प्राक्संनिवेशाढ्यं सादृश्येन विवल्गति ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! राजा भागीरथ ने जिस प्रकार की विचारमयी बुद्धि धारण की थी आप भी वैसी ही दृष्टि के अवलम्बन पूर्वक शान्त एवं स्वस्थ बुद्धि वाले होकर कार्य निर्वाह में लगे रहिए ॥१॥ प्रथम अपने वैभव का त्याग और मन रूपी पक्षी का निरोध कीजिए तथा राजा शिखिध्वज के समान शान्ति पूर्वक स्व-स्वरूप में अवस्थित रहिए ॥२॥ राम बोले—हे ब्रह्मन् ! यह शिखिध्वज कौन हुआ है ? उसे परमपद की प्राप्ति किस प्रकार से हुई ? मेरे ज्ञान की वृद्धि के लिए आप उसका चरित्र मेरे प्रति वर्णन कीजिए ॥३॥ वसिष्ठ बोले—द्वापर के पूर्व कल्प में एक पति-पत्नी युगल हुए थे। अब इस अट्ठाईसवीं चतुर्युगी के पूर्व द्वापर में उसी प्रकार का परस्पर परम स्नेह रखने वाला एक युग्म उत्पन्न होगा ॥४॥ राम ने कहा—जो पहिले जिस रूप का था, वह पुनः उसी रूप का कैसे होगा ? हे कहने वालों में श्रेष्ठ ! आप उसके रूप की सादृश्यता का कारण मुझसे कहिए ॥५॥ वसिष्ठजी बोले—इस विश्व के रचने में ब्रह्मादि की जो नियति रूप संवित्ति है, उसके स्वभाव की अनिवार्यता से ही ऐसी स्थिति निरन्तर रहती है ॥६॥ क्योंकि आम के पेड़ में जैसे प्रथम बार अनेक फल उत्पन्न होंगे, कालान्तर में उत्पन्न होने वाले फल भी वैसे ही होंगे उसी आम के कन्धे पर जो अभूतपूर्व वट उत्पन्न होता है, वह काट दिये जाने पर नहीं होता ॥७॥

सदृशा विषमाश्चैव यथा सरसि वीचयः ।
ता एवान्याश्च दृश्यन्ते व्यवस्थाः संसृतौ तथा ॥८

तस्माद्राजेव भूयोऽपि वक्ष्यमाणकथेश्वरः ।
भविष्यति महातेजास्तद्वृत्तान्तमिमं श्रृणु ॥९
द्वापरे पूर्वमभवदतीते सप्तमे मनौ ।
चतुर्युगे चतुर्थे तु सर्गेऽस्मिन्कुरुणां कुले ॥१०
जम्बूद्वीपे प्रसिद्धस्य विन्ध्यस्याऽदूरसंस्थिते ।
मालवानां पुरे श्रीमाञ्छिखिध्वज इतीश्वरः ॥११
धैर्यौदार्यदशायुक्तः क्षमाशमदमान्वितः ।
शूरः शुभसमाचारो मौनी गुणगणाकरः ॥१२
आहर्ता सर्वयज्ञानां जेता सर्वधनुष्मताम् ।
कर्ता सकलकार्याणां भर्ता पूर्ववपुर्भुवः ॥१३
वेदाऽसौ माननाशून्यः स्त्रैण तृणवदस्पृशन् ।
पितरि स्वर्गमापन्ने बाल एवोत्तमौजसा ॥१४
कृत्वा षोडशवर्षाणि स्वयं दिग्विजयं वशी ।
नूनं साम्राज्यसम्पत्त्या भूमण्डलमयोजयत् ॥१५

इसीप्रकार जैसे सरोवर में तरंगे समान या असमान पूर्व जैसी ही उठती हैं, वैसी ही शिखिध्वज आदि की जगत् में स्थिति है ॥८॥ अतः पहिले हुए राजा शिखिध्वज के समान महातेजस्वी नरेश फिर भी होना है, कथा-नायक उस राजा का वृत्तान्त सुनो ॥९॥ विगत काल में सातवें मन्वन्तर की चौथी चतुर्युगी के द्वापर युग में, इस सृष्टि के कुरुवंश में शिखिध्वज नामक वह राजा हुआ ॥१०॥ वह भूपाल जम्बूद्वीप के विख्यात विंध्य पर्वत के निकटस्थ मालवदेश की उज्जैनी नामक नगरी में शिखिध्वज नाम से हुआ। वह सम्पूर्ण देश का नियामक था ॥११॥ वह धैर्य, उदारता आदि धर्मों से समन्वित था। क्षमा, शम, दम, धीरता तथा शुभ कर्मों के अनुष्ठान में स्थित रहता था। आत्म श्लाघा आदि दोष उसमें नहीं थे और सभी गुण उसमें विद्यमान थे ॥१२॥ वह यज्ञानुष्ठानों में सदा लगा रहता। बड़े-बड़े धनुर्धारियों का उसने दर्प खंडित कर दिया। वापी, कूप, तड़ाग आदि जनोपयोगी अनेक शुभ कार्यों का निर्माण करता हुआ, पृथिवी के पालन में रत

रहता ॥१३॥ उसके पिता बाल्यकाल में ही स्वर्गगामी होगए। उसके पश्चात् ही उसने अपने भुज-बल से सोलह वर्ष तक जितेन्द्रिय रह कर सम्पूर्ण पृथिवी को दिग्विजय करके अपने साम्राज्य वश में कर लिया ॥१४-१५॥

कान्तां प्रति बभूवास्य वसन्चेतः समुत्सुकम् ।
क्षीबं कुसुमसम्भारसौगन्ध्यमधुरासवैः ॥१६
एतन्मन्त्र्ये विदर्भव्या मन्त्रिणो नृपनिश्चयम ।
इङ्गिताकारवेदित्वमेव मन्त्रिपद परम् ॥१७
अथ तस्य विवाहाय मन्त्रिवर्गो विचारयन् ।
सुराष्ट्राधिपतेः कन्यां ययाचे यौवतान्विताम् ॥१८
नवयौवनसम्पन्नां भार्यात्वे विधिनोत्तमाम् ।
उपयेमे स तामात्मसदृशीं प्रतिमामिव ॥१९
चूडालेति भुवि ख्याता नाम्ना नृततिसुन्दरी ।
सा तं भर्तारमासाद्य रेजे फुल्लेव पद्मिनी ॥२०
नीलनीरजनेत्रान्तां चूडालां स शिखिध्वजः ।
स्नेहाह्लादयामास भूयो देवो यथाऽब्जिनीम् ॥२१

इसके पश्चात् उसका चित्त एक कामिनी में अनुरक्त होने लगा। वसन्त युक्त वन के समान पुष्पों के मधुर आसवों से मत्त हुआ उसका मन अन्य किसी विषय में नहीं लगता। राजा का यह अभिप्राय चतुर अमात्यों से छिप नहीं सका, क्योंकि सफल मंत्रीपद उसी का है जो चेष्टा और आकृति से सब बात जान ले ॥१६-१७॥ तब उन मंत्रियों ने राजा के विवाह का विचार किया और सौराष्ट्र-नरेश से यौवन-सम्पन्न कन्या माँगी ॥१८॥ तब उस राजा शिखिध्वज ने नवीन आयु वाली, सुन्दर प्रतिमा के समान अपने अनुरूप कन्या को विधि-पूर्वक अपनी भार्या बना लिया ॥१९॥ वह सुन्दरी भूतल पर चूडाला नाम से प्रसिद्ध थी। अपने अनुरूप पति पाकर वह विकसित कमलिनी के समान सुशोभित होरही थी ॥२०॥ राजा शिखिध्वज अपनी उस नीलपद्म जैसे

सुन्दर नयन वाली चूडाला को अपने स्नेह से उसी प्रकार प्रसन्न रखता था, जैसे भास्कर कमलिनी को विकसित करते हुए प्रसन्न रखते हैं ।।२१।।

नित्यमेवाऽवियुक्तत्वात्प्रियत्वाच्चेष्टितस्य च
मिथः कलाकलापस्य कोविदौ तौ बभूवतुः ।।२२
नृत्यवाद्यादि यावच्च चूडालावदनादसौ ।
अशिक्षत बभूवाऽथ कलानामतिकोविदः ।।२३
कलाकलापसम्पन्नौ लसद्रसरसायनौ ।
शीतलस्निग्धमुग्धाङ्गौ शशाङ्कौ द्वाविवोदितौ ।।२४
एवं बहूनि वर्षाणि मिथुनं निभरस्पृहम् ।
रेमे यौवनलीलाभिरमन्दाभिर्दिने दिने ।।२५
अथ यातेषु बहुषु वर्षेष्वावृत्तिशालिषु ।
शनैर्गलिततारुण्ये भिन्नकुम्भादिवाऽम्भसि ।।२६
तरङ्गनिकराकारभगुरव्यवहारिणि ।
पातः पक्वफलस्येव मरणं दुर्निवारणम् ।।२७
हिमाशनिरिवाऽम्भोजे जरा निपतनोन्मुखी ।
आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ।।२८

राजा शिखिध्वज और रानी चूडाला दोनों ही परस्पर मिल गये और एक-दूसरे की चेष्टाओं में सुख मानने लगे। समानार्थी होने के कारण दोनों ही परस्पर शिक्षा ग्रहण करते हुए कलाओं से सम्पन्न होगए ।।२२।। इस प्रकार राजा शिखिध्वज ने भी नृत्य, वाद्यादि कला कौशल की चूडाला से शिक्षा ग्रहण की और उन विषयों में पारंगत होगया ।।२३।। वे सम्पूर्ण कलाओं में परिपूर्ण होगए थे। शृङ्गारादि नवरस रूपी रसायनों से विभूषित होगए थे। वे अपने शीतल, स्निग्ध और मोहक अंगों के कारण दो नवोदित चन्द्रमाओं के समान प्रतीत होते थे ।।२४।। इस प्रकार बहुत वर्षों तक दृढ़ प्रेम में निमग्न उन दोनों ने प्रतिदिन होने वाली यौवन-लीलाओं में अत्यन्त रमण किया ।।२५।। फिर एक-एक करके बहुत से वर्ष व्यतीत होते चले गए। अकस्मात् अपनी युवावस्था को फूटते हुए घड़े के समान धीरे-धीरे गलती हुई

देखकर एक दिन वे दोनों विचार करने लगे ॥२६॥ तरंगों के समान अति चंचल आकार वाले, क्षण भंगुर देह से आचरण करते हुए जीव का, पके हुए फल के गिरने के समान अपने शरीर से वियोग होना किसी प्रकार भी रोका नहीं जा सकता ॥२७॥ पद्म पर हिमरूपी वज्र के समान यह जरावस्था इस शरीर पर गिरने के लिए तत्पर होरही है। जैसे कर-तल से जल गिरता जाता है, वैसे ही यह आयु निरन्तर गलती जारही है ॥२८॥

इति निर्णीय युग्मं तत्संसारव्याधिभेषजम् ।
चिरं विचारयामास शास्त्रमध्यात्मसम्मतम् ॥२९
तच्चित्तौ तद्गतप्राणौ तन्निष्ठौ तद्विदाश्रयौ ।
तदा तदर्चनपरौ तदीहौ तौ विरेजतुः ॥३०
इति सञ्चिन्त्य चूडाला केनैषा चित्प्रचेतनी ।
इति सञ्चिन्तयामास चिरायेत्थं व्यबुद्धचत ॥३१
अहो नु चिरकालेन ज्ञातं ज्ञेयमनामयम् ।
यद्व विज्ञेयतां कृत्वा न कश्चिद्धीयते पुनः ॥ ३२
इत्थं विचारणपरा परमप्रवोधा-
द्वुद्ध्वा यथास्थितमिदं परमात्मतत्त्वम् ।
संशान्तरागभयमोहतमोविलासा
शान्ता वभूव शरदम्वरलेखिकेव ॥३३

उन दोनों ने इस प्रकार विचार किया और निर्णय लिया कि भव रूपी व्याधि की सर्वोत्तम औषधि अध्यात्म शास्त्र है, तब वे बहुत समय तक उसी पर विचार करने लगे ॥२९॥ तब उन्होंने अपना चित्त अध्यात्म में लगाया। अब उनके प्राण उसी में रमण करते थे, वे उसके प्रति निष्ठावान् होगए। उन्होंने अध्यात्मशास्त्र के ज्ञान का आश्रय लेकर उसका पूजन करने लगे। अध्यात्मशास्त्र में मन लगने से अब वे दोनों ही इस जगत् से विरक्त होगए ॥३०॥ इस प्रकार अध्यात्म-चिन्तन करती हुई चूडाला ने सोचा कि मूलाविद्या के आवरण से हीन चिति दृश्य स्वप्न को छोड़ कर किस उपाय से प्रबोध को प्राप्त करे ? तदनन्तर

दीर्घकाल तक चिन्तन करके उसने आत्मतत्व को जान लिया ।।३१।। वह अत्यंत आनंदित होकर कहने लगी कि 'अहो' इतने लम्बे समय के पश्चात् मुझे सर्व उपद्रव-रहित ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान हो पाया। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य अपने पुरुषार्थ से गिरता नहीं और उसके किसी भी इच्छित में बाधा नहीं आती। उसकी बुद्धि आत्मज्ञान में निमग्न होने के कारण उसे आनन्द पद रूप ब्रह्म रूपत्व की प्राप्ति होजाती है ।।३२।। इस प्रकार आत्म-विचार में तत्पर वह चूडाला मोह-निद्रा के अत्यन्त नष्ट होने से परमात्म तत्व का भले प्रकार ज्ञान पाकर राग, भय, मोहादि अज्ञान विषयों के शमन होने पर, शरत्कालीन नभलेखा के समान शान्त होगई ।।३३।।

## ३९—चूडाला द्वारा आत्मज्ञान वर्णन

दिनानुदिनमित्येषा स्वात्मारामतया तया ।
नित्यमन्तर्मुखतया बभूव प्रकृतिस्थिता ।।१
अथ तामनवद्याङ्गीं कदाचित् स शिखिध्वजः ।
अपूर्वशोभमालोक्य स्मयमान उवाच ह ।।२
भूयो यौवनयुक्तेव मण्डितेव पुनः पुनः ।
अधिकं राजसे तन्वि जगद्राजवती यथा ।।३
अभोगकृपणं शान्तमूर्जितं समतां गतम् ।
गम्भीरं च प्रशान्तं च चेतः पश्यामि ते प्रिये ।।४
न केनचिन्महाभागे विभवानन्दवस्तुना ।
चेतस्तव तुलामेति मरुक्षीराब्धिसुन्दरम् ।।५
किं त्वया पीतममृतं प्राप्तं साम्राज्यमेव वा ।
अमृत्युमेव सम्प्राप्ता प्रयोगायोगयुक्तितः ।।६
राज्याच्चिन्तामणेर्वापि त्रैलोक्याद्वा त्वयाऽधिकम् ।
अप्राप्तं किमनुप्राप्तं नीलोत्पलविलोचने ।।७

वसिष्ठजी बोले—वह चूडाला दिनों-दिन अभ्यास करने से अपने स्वाभाविक रूप में स्थित होगई, क्योंकि वह अन्तर्मुख वृत्ति और स्व-

आत्माराम से समन्वित हो चुकी थी ॥१॥ इसके पश्चात् एक दिन उस पवित्र अंग वाली, अपूर्व शोभा से युक्त चूडाला को विस्मय पूर्वक देखते हुए राजा शिखिध्वज बोला ॥२॥ राजा ने कहा—हे तन्वंगि! इस समय तुम पुनर्यौवना एवं श्रेष्ठ भूषणों से विभूषित-सी अधिक शोभा को प्राप्त होरही हो, जैसे पृथिवी पूर्ण चन्द्र को प्राप्त कर अत्यन्त शोभित होती है ॥३॥ हे प्रिये ! तुम्हारे भोग की कृपणता से रहित, शान्त, विवेक से दृढ़ समत्व को प्राप्त और चपलता से मुक्त हुए चित्त का मैं दर्शन कर रहा हूं ॥४॥ हे महाभागे ! मरु प्रदेश और क्षीर सागर के समान वृहत् तुम्हारे सुन्दर मन को किसी प्रकार के ऐश्वर्यानन्द की उपमा भी तो नहीं दी जासकती ॥५॥ हे सुन्दरी ! तुमने कहीं अमृत का पान तो नहीं कर लिया है ? अथवा किसी साम्राज्य को तो नहीं पागई हो ? या रसायन प्रयोग तथा मन्त्रादि की सिद्धि तो तुम्हें नहीं होगई है ? जिनके कारण तुम्हें अमृत्यु की प्राप्ति होगई हो ? ॥६॥ हे नीलोत्पल जैसे नयन वाली ! कहीं तुम्हें कोई अलभ्य राज्य, चिन्तामणि अथवा त्रिलोकी से भी उच्च कोई अप्राप्य वस्तु तो प्राप्त नहीं होगई है ? ॥७॥

न किञ्चित्किञ्चिदाकारमिद त्यक्त्वाऽहमागता ।
न किञ्चित्किञ्चिदाकारं तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥८
भोगैरभुक्तैस्तुष्यामि भुक्तैरिव सुदूरगैः ।
न हृष्यामि न कुप्यामि तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥९
एकैवाऽऽकाशसंकाशे केवले हृदये रमे ।
न रमे राजलीलासु तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥१०
जगतां प्रभुरेवाऽस्मि न किञ्चिन्मात्ररूपिणी ।
इत्यात्मन्येव तुष्यामि तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥११
न सुखं प्रार्थये नाऽर्थं नाऽनर्थं नेतरां स्थितिम् ।
यथाप्राप्तेन हृष्यामि तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥१२
तनुविद्धे परागाभिः प्रज्ञाभिः शास्त्रदृष्टिभिः ।
रमे सह वयस्याभिस्तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥१३

पश्यामि यन्नयनरश्मिभिरिन्द्रियैर्वा
चित्तेन चेह हि तदङ्ग न किञ्चिदेव ।
पश्यामि तद्विरहितं तु न किञ्चिदन्तः
पश्यामि सम्यगिति नाथ चिरोदयाऽस्मि ॥१४

चूडाला बोली—हे स्वामिन् ! मैंने मूर्खों में प्रशस्ति प्राप्त देहात्म-रूपता को छोड़ कर तत्वज्ञान से अशेष और नाम, रूप, आकार आदि से शून्य परमब्रह्म भाव को पा लिया है। मैंने मन्त्र, रसायन आदि तुच्छ साधनों वाली सिद्धि को पाने का प्रयत्न कभी नहीं किया, इसीलिए मैं दिव्य से भी दिव्य श्री से सम्पन्न होगई हूँ ॥८॥ भुक्त भोगों के समान दूरस्थ अभुक्त भोगों से भी मुझे असन्तोष नहीं है। मैं न क्रोध करती हूँ, न हर्षित होती हूँ, इसीलिए श्री से सम्पन्न होगई हूँ ॥६॥ मैं आकाश के समान निर्मल उस अद्वितीय, एकमात्र ब्रह्म में ही अकेली रमण करती हूँ। राजलीलाओं में रमण न करने के कारण अब मैं श्रीमती होकर अवस्थित हूँ ॥१०॥ मैं सभी भुवनों की नियामिका हूँ, अपने को तुच्छ विषयों से परे विचार कर अपनी आत्मा में ही संतुष्ट रहती हूं। इसीलिए श्रीमती होकर अवस्थित हूँ ॥११॥ मैं सुख या अर्थ की कामना नहीं करती और न अनर्थ का परिहार ही करती हूँ। मैं किसी अन्य स्थिति की भी इच्छा नहीं करती। प्रारब्धवश जो मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहती हूँ,इसीलिए श्रीमती रूप से अवस्थित हूँ ॥१२॥ राग-द्वेष का क्षय करने वाली आत्म-बुद्धि और शास्त्र दृष्टि यह दोनों मेरी सखियाँ हैं। इन्हीं के साथ मैं क्रीडा रत रहती हूँ, इसीलिए श्रीमती होकर अवस्थित हूँ ॥१३॥ हे नाथ ! मैं इस जगत् में नेत्र-रश्मियों, अन्यान्य इन्द्रियों या चित्त से जो कुछ अव-लोकन करती हूँ, वह कभी असत्य नहीं होता। उन दृश्य पदार्थों से भिन्न जो प्रपंच रहित वस्तु है, उसे मैं अपने अन्तर में देखती हूँ। इस प्रकार ही बाह्याभ्यन्तर में अबाधित वस्तु रूप को निरन्तर देखते रहने से मैं परम अभ्युदय रूपी अपूर्व शोभा को प्राप्त होगई हूँ ॥१४॥

---

के अनुकूल जो वस्तु है, वह उपादेय है तथा सुख का विघात करने वाली हेय होती है, तथा इन दोनों के मध्य की वस्तु उपेक्ष्य है, विद्वज्जन ऐसा ही कहते हैं ॥११॥ शुभमति वाले तत्वज्ञानी की दृष्टि में इस सब के आत्मरूप हो जाने पर तीनों पक्षों में से कोई एक भी पक्ष विद्यमान नहीं रहता ॥१२॥ एक ही वस्तु तीन रूप में दृष्टिगत होती है— ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में उपेक्षात्मक, अज्ञानी की में उपादेयात्मक और श्रेष्ठ वैरागी की दृष्टि में हेयात्मक होजाती है। अब आकाशगमन सिद्धि का क्रम सुनो ॥१३॥ देश, काल, क्रिया तथा द्रव्य से साध्य होने वाली सब प्रकार की सिद्धियाँ वसन्त द्वारा पृथिवी को शोभित करने के समान ही, जीव को मोहित कर लेती हैं ॥१४॥ हे राम ! सिद्धि आदि साधन के चार हेतुओं में श्रीशैल आदि में अनुष्ठित योगादि क्रिया में उत्कर्ष कल्पित किया जाता है, क्योंकि सभी फलोत्कर्ष क्रम, क्रियाओं के उत्कर्ष के अनुरूप ही हो सकते हैं ॥१५॥

गुटिकाञ्जनखड्गादिक्रियाक्रमनिरूपणम् ।
तत्राऽसतां च दोपोऽत्र विस्तार: प्रकृतार्थहा ॥१६
रत्नौपधितपोमन्त्रक्रियाक्रमनिरूपणम् ।
आस्तामिव किलैपोऽपि विस्तार: प्रकृतार्थहा ॥१७
श्रीशैले सिद्धदेशे च मेर्वादौ वा निवासत: ।
सिद्धिरित्यपि विस्तार: कृतार्थ प्रकृतार्थहा ॥१८
तस्माच्छिखिध्वजकथाप्रसङ्गपतितामिमाम् ।
प्राणादिपवनाभ्यासक्रियां सिद्धिफलां शृणु ॥१९
अन्तस्था ह्यखिलास्त्यक्त्वा साध्यार्थेतरवासना: ।
गुदादिद्वारसङ्कोचात् स्थानकादिक्रियाक्रमै: ॥२०

आकाशगमन के अनेक साधन सिद्ध गुटिका, सिद्ध अंजन, सिद्ध

उसका निरूपण अनुचित है ।।१७।। हे राम ! श्रीशैल और मेरु पर्वत आदि सिद्ध देश में निवास करने पर भी सिद्धि होजाती है । इसका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करना आत्म चिन्तन में बाधक ही होगा ।।१८।। अतः हे राम ! राजा शिखिध्वज के कथा, प्रसंग से उपलब्ध एवं सिद्धि रूपी फल से समन्वित प्राणादि वायु के अभ्यास से जो सिद्धि होती है, उसे श्रवण करो ।।१९।। साध्य और साधन के हेतु अन्तर में स्थित सम्पूर्ण वासनाओं को छोड़ कर गुदा आदि द्वारों के सकोच आदि क्रियाओं का अभ्यास करे ।।२०।।

भोजनासनशुद्ध्या च साधुशास्त्रार्थभावनात् ।
स्वाचारात् सुजनासङ्गात् सर्वत्यागात् सुखासनात् ।।२१
प्राणायामघनाभ्यासाद्राम कालेन केनचित् ।
कोपलोभादिसंत्यागाद्भोगत्यागाच्च सुव्रत ।।२२
त्यागादाननिरोधेषु भृशं यान्ति विधेयताम् ।
प्राणाः प्रभुत्वात्तज्ज्ञस्य पुंसो भृत्या इवाऽखिलाः ।।२३
राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः ।
देहानिलविधेयत्वात् साध्वाः सर्वस्य राघव ।।२४

भोजन और आसन की शुद्धि पर ध्यान दे तथा साधु और शास्त्रों में भावना करे, अपने आचरण को ठीक रखने, श्रेष्ठजनो का संग करने, सर्व त्यागने और सुख आसन का प्रयोग करने, क्रोध, लोभ और भोगादि का परित्याग करते हुए प्राणायाम का दृढ़ अभ्यास करने से इस सिद्धि की उपलब्धि होती है।।२१ २२।। त्याग और दान से तथा प्रा " व युओं के निरोध से प्राणों का स्वामी होने पर योगीजनों के प्राण उसी प्रकार वश में होते हैं जैसे भृत्यगण राजा के वश में होजाते हैं ।।२३।। हे राघव ! जब देह वायु के वश में हो जाता है अर्थात् देह में स्थित वायु पर नियंत्रण होजाने से राज्य और मोक्ष सभी ऐश्वर्य सरलता से साध्य होजाते हैं ।।२४।।

———

'हे राजश्री ! तुम्हें नमस्कार है' ऐसा कहता हुआ वह राजा अपने मण्डल से निकल कर एक विशाल वन में उस प्रकार प्रविष्ट होगया, जिस प्रकार महासागर में नद प्रविष्ट होता है ॥२२॥ इस प्रकार वह मन्दराचल के तट पर अवस्थित, मनुष्यों के लिए दुर्गम, जनसमूह और नगरों से बहुत दूरस्थ एक वन में जा पहुंचा ॥२३॥ वहाँ उसने एक समतल, शुद्ध, जल से युक्त, शीतल, हरे तृणों से समन्वित, श्याम, स्निग्ध और फलदार वृक्षों वाले स्थान में मंजरीमय लताओं से एक पर्ण कुटी उसी प्रकार बनाई, जिस प्रकार विद्युत् युक्त मेघों से वर्षाकाल पंजर बनाता है ॥२४-२५॥ इस प्रकार एक तापस के लिए आवश्यक वस्तुओं को एकत्र करके वह राजा अपनी पर्णशाला में रहने लगा। उधर घर में चूडाला ने जो किया, वह सुनो ॥२६॥ अर्द्धरात्रि के समय जब राजा बहुत दूर चला गया, तब वह ग्रामें में शयन करती हुई हरिणी के समान भय से जाग उठी ॥२७॥ पति द्वारा त्यागी हुई चूडाला ने अपने सूने पर्यंक को, जैसे सूर्य-हीन तथा अपूर्ण चन्द्रमा वाला आकाश शोभा-रहित दिखाई देता है, वैसा देखा ॥२८॥

उत्तस्थौ किञ्चिदाम्लानवदना खेदशालिनी ।
कुसिक्तेव महावल्ली निरुत्साहाऽङ्गपल्लवा ॥२९
क्षणं शय्योपविष्टेव चिन्तयामास चिन्तया ।
कष्टं राज्यं प्रभुस्त्यक्त्वा वनं यातो गृहादिति ॥३०

वाली ! मेरे इच्छित कार्य में बाधा न डालो। तुम मुझे दूरस्थ एकान्त वन में ही गया समझो ॥१७॥ हे राम ! अपनी उस भार्या से ऐसा कह कर राजा शिखिध्वज ने स्नान करने के लिए उठ कर सभी दैनिक कार्यों को सम्पन्न किया ॥१८॥ सन्ध्याकालीन सभी कर्मों का सम्पादन करने के पश्चात् वह अपनी प्रिया चूडाला के शयनागार में वैसे ही जा सोया, जैसे मैनाक पर्वत समुद्र में सोजाता है ॥१९॥ फिर अर्द्ध रात्रि व्यतीत होने पर जब सम्पूर्ण देश निस्तब्ध होगया और लोग पाषाण निर्मित घरों में घोर निद्रा में निमग्न थे, राजा शिखिध्वज, जिसके पर्यंक के अर्द्ध विछौने प्रिय पत्नी चूडाला प्रगाढ़ निद्रा में सो रही थी, उस प्रकार उठ वैठा, जिस प्रकार लक्ष्मी की कान्ति से जगमगाती चंचल तरंगों वाले क्षीरसागर से भगवान् विष्णु उठते है ॥२०॥ चोर आदि को पकड़ने के बहाने चलते हुए उस राजा ने अपने अनुचरों को उस कार्य में नियुक्त करके नगर से बहार प्रस्थान किया ॥२१॥

राज्यलक्ष्मि नमस्तुभ्यमित्युक्त्वा मण्डलाद्गतः ।
विवेशोग्रामरण्यानीमेको नद इवाऽर्णवम् ॥२२
ततो मन्दरशैलस्य तटस्थं जनदुर्गमम् ।
प्राप काननमत्यन्तदूरस्थजनतापुरम् ॥२३
तत्रैकस्मिन् समे शुद्धे स्थले सलिलमालिते ।
शीतले शाद्वलश्यामे स्निग्धे सफलपादपे ॥२४
स मञ्जरीभिर्वल्लीभिः स चकारोटजालयम् ।
प्रावृट्कालः सविद्युद्भिर्नीलाभ्रैरिव पञ्जरम् ॥२५
एवं शिखिध्वजः पूणमठिकायां वने स्थितः ।
इदानीं शृणु चूडाला सा किं कृतवती गृहे ॥ ६
तत्राऽर्द्धरात्रसमये दूरं याते शिखिध्वजे ।
हरिणीग्रामसुप्तेव चूडाला बुबुधे भयात् ॥२७
अपश्यत्पतिनिर्हीना शयनं शून्यतां गतम् ।
अभास्करमपूर्णेन्दु शान्तशोभमिवाऽम्बरम् ॥२८

'हे राजश्री ! तुम्हें नमस्कार है' ऐसा कहता हुआ वह राजा अपने मण्डल से निकल कर एक विशाल वन में उस प्रकार प्रविष्ट होगया, जिस प्रकार महासागर में नद प्रविष्ट होता है ॥२२॥ इस प्रकार वह मन्दराचल के तट पर अवस्थित, मनुष्यों के लिए दुर्गम, जनसमूह और नगरों से बहुत दूरस्थ एक वन में जा पहुंचा ॥२३॥ वहाँ उसने एक समतल, शुद्ध, जल से युक्त, शीतल, हरे तृणों से समन्वित, श्याम, स्निग्ध और फलदार वृक्षों वाले स्थान में मंजरीमय लताओं से एक पर्ण कुटी उसी प्रकार बनाई, जिस प्रकार विद्युत् युक्त मेघों से वर्षाकाल पंजर बनाता है ॥२४-२५॥ इस प्रकार एक तापस के लिए आवश्यक वस्तुओं को एकत्र करके वह राजा अपनी पर्णशाला में रहने लगा। उधर घर में चूडाला ने जो किया, वह सुनो ॥२६॥ अर्द्धरात्रि के समय जब राजा बहुत दूर चला गया, तब वह ग्रामें में शयन करती हुई हरिणी के समान भय से जाग उठी ॥२७॥ पति द्वारा त्यागी हुई चूडाला ने अपने सूने पर्यंक को, जैसे सूर्य-हीन तथा अपूर्ण चन्द्रमा वाला आकाश शोभा-रहित दिखाई देता है, वैसा देखा ॥२८॥

उत्तस्थौ किञ्चिदाम्लानवदना खेदशालिनी।
कुसिक्तेव महावल्ली निरुत्साहाऽङ्गपल्लवा ॥२९
क्षणं शय्योपविष्टैव चिन्तयामास चिन्तया।
कष्टं राज्यं प्रभुस्त्यक्त्वा वन यातो गृहादिति ॥३०
तन्मयेहाऽद्य किं कार्यं तत्समीपं व्रजाम्यहम्।
भर्तैव गतिरुद्दिष्टा विधिना प्रकृता स्त्रियः ॥३१
इति सञ्चिन्त्य भर्तारमनुगन्तुं समुत्थिता।
चूडाला वातरन्ध्रेण निर्गत्याऽम्बरमाययौ ॥३२
बभ्रामाऽम्बरमार्गेण वातस्कन्धेन योगिनी।
कुर्वती सिद्धसार्थस्य मुखेनाऽन्येन्दुविभ्रमम् ॥३३
ददर्शाऽथ यथायातं रात्रौ खड्गधरं पतिम्।
भ्रमन्तमेकमेकान्ते वेतालसमयोदितम् ॥३४

तादृशं पतिमालोक्य स्थित्वा गगनकोटरे ।
भविष्यच्चिन्तयामास सर्वं भर्तुरखण्डितम् ॥३५

वह मलिन मुख, खेदमयी, उत्साहहीना, अंग-पल्लवों से सम्पन्न रानी क्षार और कीचड़ से सींची हुई महावेल के समान उठी ॥२६॥ वह अपने पर्यंक पर बैठी हुई ही व्याकुल मन से सोचने लगी कि मेरे पति राज्य को त्याग कर चले गए, यह कैसे खेद का विषय है ॥३०॥ अब मैं ही यहाँ क्या करूँगी ? अपने पति के पास चलूँ, क्योंकि स्त्रियों का शरण स्थान पति ही कहा गया है ॥३१॥ ऐसा निश्चय कर, वह रानी पति के पास जाने के लिए उठी और एक झरोखे के मार्ग से होकर आकाश में जा पहुँची ॥३२॥ सिद्धों को भी द्वितीय चन्द्रमा की भ्रान्ति में डालने वाले मुख वाली वह योगिनी वायु के सहारे आकाश मार्ग में विचरण करने लगी ॥३३॥ रात्रि में, वेतालों के विचरण-काल में खड्ग हाथ में लिए अकेले जाते हुए अपने स्वामी को उसने देखा ॥३४॥ तब आकाश कोटर में अवस्थित होकर उस एकान्त निर्जन वन में भटकते हुए अपने पति को देख कर वह उसके भविष्य पर विचार करने लगी ॥३५॥

यथा येन यदा यत्र यावत्कार्यं यथोदयम् ।
यथा च निर्वृतिः स्फारा गन्तव्यो तेन राघव ॥३६

अवश्यं भवितव्यं तद्भर्तुर्दृष्ट्वा पुरः स्थितम् ।
तदेव संवादयितुं गमनात्सा न्यवर्तत ॥३७

आस्तां ममाऽद्य गमनं कालेनाऽतिचिरेण हि ।
मयाऽस्य पार्श्वे गन्तव्यं नियतेरेष निश्चयः ॥३८

इति सञ्चिन्त्य चूडाला प्रविश्याऽन्तःपुरं पुनः ।
सुष्वाप शयने शम्भोः शिरसीवेन्दवी कला ॥३९

केनचित्कारणेनाऽसौ गतः सम्प्रति भूपतिः ।
इति पौरं जनं सर्वमाश्वास्याऽतिष्ठदङ्गना ॥४०

राज्यं ररक्ष भर्तुस्तत्क्रमेण समदर्शनात् ।
यथा कालेन केदारं पक्वं कलमगोपिका ॥४१

अथ यातेषु बहुषु वर्षेषु जरसाऽऽवृते ।
शिखिध्वजे महाशैलतटकोटरवासिनि ॥४२

वसिष्ठजी कहते रहे—हे राघव ! जब, जिस प्रकार, जिस देश में, जिस कारण, जितना कार्य जब होना है तथा जब विश्रान्ति होनी है, आदि जो उसके पति का भवितव्य था, उस सब को अपने योग-बल से प्रत्यक्ष देख कर वह सुन्दरी उसी के अनुकूल चलने का निश्चय करके आकाश से लौट पड़ी ॥३६-३७॥ अब आगे नहीं चलूँगी, क्योंकि चिरकाल के पश्चात् मुझे अपने स्वामी के पास जाने का योग है, यही नियति का निश्चय है ॥३८॥ यह सोचती हुई चूडाला अपने अन्तःपुर में प्रविष्ट हुई और शिव के मस्तक पर विभूषित चन्द्रमा के समान अपनी शय्या पर जा सोयी ॥३९॥ फिर उसने सब नागरिकों को आश्वासन दिया कि 'महाराज किसी कार्यवश कहीं बाहर गये हुए हैं' और स्वयं एक निश्चय में अवस्थित होगई ॥४०॥ वह उसी प्रकार अपने पति के राज्य की रक्षा में समदृष्टि से तत्पर होगई, जिस प्रकार धान की रक्षा में तत्पर नारी अपने कार्य को करती है ॥४१॥ इस प्रकार वर्ष पर वर्ष व्यतीत होते गये और महाशैल तट पर रहता हुआ राजा शिखिध्वज वृद्धावस्था को प्राप्त होगया ॥४२॥

तदा तस्यात्मकार्यस्य भवितव्यतया तया ।
भर्तुः समीपगमने मम कालोऽयमित्यथ ॥४३
संचिन्त्य मन्दरोपान्तं गन्तुं बुद्धिं चकार सा ।
चचारान्तःपुराद्रात्रौ ततार नभसः पथम् ॥४४
इदं रूपं परित्यज्य रूपेणाऽन्येन केनचित् ।
सकाशमस्य गच्छामि बोधं दातुमनुत्तमम् ॥४५
बालेयं मम कान्तेति मदुक्तं न करोत्यलम् ।
तस्मात्तापसरूपेण बोधयामि पतिं क्षणात् ॥४६
भर्ता कषायपाकेन परिपक्वमतिः स्थितः ।
चेतस्यस्याऽद्य विमले स्वं तत्त्वं प्रतिबिम्बति ।
इति संचिन्त्य चूडाला बभूव द्विजदारकः ॥४८

भर्तु रध्याजगामाऽग्र मन्दस्मितलसन्मुखी ।
ददर्शद्विजपुत्र' तं पुरो यातं शिखिध्वजः ॥४८
देवपुत्रागमधिया सम्परित्यक्तपादुकः ।
देवपुत्र नमस्कार इदमासनमास्यताम् ॥४६

तब अपने पति को बोध स्वरूप आत्मा र्ये रूपी भवितव्य को विचार करती हुई चूडाला ने समझा कि अब स्वामी के पास मेरे पहुँचने का समय आगया है ॥४३॥ यह निश्चय कर वह मन्दराचल के वन में जाने के लिए तत्पर हुई और अन्त:पुर से निकल कर आकाश मार्ग में चलने लगी ॥४४॥ उसने सोचा—मैं अपने इस रूप को छोड़ कर किसी अन्य रूप को धारण कर इनके समीप चलूँ, तभी सर्वोत्तम ज्ञान इन्हें होगा ॥४५॥ यदि मैं इसी रूप में इनके पास जाउँगी तो यह सोचेंगे कि यह मेरी पत्नी है, और तब मेरा कहना नहीं मानेंगे, इस-लिए तपस्वी के वेश में ही इनको बोध दूँगी ॥४६॥ अब मेरे पति वासनाओं के परिपाक से परिपक्व बुद्धि वाले हो चुके हैं, इनके निर्मल चित्त में आत्म तत्व का प्रतिबिम्ब अच्छा पड़ेगा, ऐसा विचार करती हुई उसने तुरन्त ब्राह्मणपुत्र का वेश बना लिया ॥४७॥ मन्द मुसकान से शोभित मुख वाली चूडाला अपने पति के सम्मुख पहुँची और राजा ने ब्राह्मणपुत्र के रूप में उसे सामने देखा ॥४८॥ उसने देवपुत्र का आगमन हुआ जान कर अपनी खड़ाऊँ उतार कर कहा—हे देवपुत्र ! आपको नमस्कार है, कृपया इस आसन पर बैठिये ॥४६॥

इत्युक्त्वा पाद्यमर्घ्यं च मालां पुष्पाणि चाऽनघ ।
शिखिध्वजस्तदिष्टायं ददौ देव्यै यथाखिलम् ॥५०
सुबहूनि परिभ्रान्तो भूतलायतनान्यहम् ।
त्वत्तः पूजा यथा प्राप्ता मयेयं न तथाऽन्यतः ॥५१
पेशलेनाऽनुरूपेण प्रश्रयेणाऽमुनाऽनघ ।
मन्येऽहं नूनमत्यन्तचिरंजीवी भविष्यसि ॥५२
असिधारासमं सौम्य शान्तव्रतमिदं तव ।
स्फीतं यद्राज्यमुत्सृज्य महावननिषेवणम् ॥५३

मेरुलक्ष्म्या स्फुयरद्रूपा भाति हारलता यथा ।
एकदा नारदमुनिर्ध्यानान्ते स सरित्तटे ॥६०
ध्वनद्वलयमश्रौषील्लीलाकलकलारवम् ।
किमेतदित्यसौ किञ्चिज्जातप्रायकुतूहलः ॥६१
हेलयाऽऽलोकयन्नद्यामपश्यल्ललनागणम् ।
रम्भातिलोत्तमाप्रायं निर्यातं जललीलया ॥६२
आनन्दवलिते चित्ते क्षुब्धे प्राणानिले स्थिते ।
बभूव तस्य हृष्टस्य मदनस्खलितं तदा ॥६३
फलं रसापूर्णमिव ग्रीष्मान्त इव तोयदः ।
प्रत्यग्रपादपच्छिन्नलतावृन्त इवोत्तम ॥६४

ब्राह्मण बोला—हे राजन् ! आपने जो कुछ पूछा है उस सबका उत्तर मैं आपको देता हूँ, सुनो । भला ऐसा कौन होगा जो विनम्रता से पूछने वाले का वंचन करे ॥५७॥ इस जगतीकोश में पुण्यश्री के कमनीय मुख पर लगे कर्पूरमय तिलक के समान श्वेत अंग वाले एक मुनि नारद अवस्थित हैं ॥५८॥ वह देवर्षि नारद एक समय मेरु पर्वत की गुफा में ध्यान कर रहे थे, वहीं उस सुमेरुतट में वृहद् कल्लोलिनी गंगाजी प्रवाहित हैं ॥५६॥ जो गंगा मेरु के सौन्दर्य से प्रकाशमयी होकर हार के समान लगती है, उसी के तट पर जब नारदजी का ध्यान टूटा, तब उन्हें कंकणों की ध्वनि से युक्त जलक्रीडा का आभास हुआ । जिसे सुनकर देवर्षि कौतूहल पूर्वक विचारने लगे कि यह क्या सुनाई पड़ रहा है ? ॥६०-६१॥ तब उन्होंने कौतुक से गंगा की ओर देखा तो उन्हें जल-सेचनादि क्रीडा करके निकलती हुई रम्भा, तिलोत्तमा प्रभृति अप्सराओं का झुण्ड दिखाई दिया ॥६२॥ यह देखकर मुनि का चित्त आनन्द-विभोर होगया और चित्त विकृति से प्राणवायु के क्षुब्ध होने पर उनका वीर्य ऐसे स्खलित होगया, जैसे ग्रीष्म के अन्त में मेघ या रस के परिपूर्ण फल अथवा नवीन वृक्ष अपने स्थान से स्खलित होजाते हैं ॥६३-६४॥

तादृशोऽपि वहुज्ञोऽपि जीवन्मुक्तोऽप्यसौ मुनिः ।
निरिच्छोऽपि निरागोऽपि न किञ्चिदुपमोऽप्यलम् ॥६५

स बाह्याभ्यन्तरं नित्यमाकाशविशदोऽपि च ।
नारदोऽपि कथं ब्रह्मन् मदनस्खलितोऽभवत् ॥६६
सर्वस्या एव राजर्षे भूतजातेर्जगत्त्रये ।
देवादेरपि देहोऽयं द्वयात्मैव स्वभावतः ॥६७
अज्ञमस्त्वथ तज्ज्ञं वा यावत्स्वान्तं शरीरकम् ।
सर्वमेव जगत्यङ्ग सुखदुःखमयं स्मृतम् ॥६८
तज्ज्ञस्य त्वङ्ग लगतो मनागपि न तद्वशात् ।
यथा शुभाशुभौ रागादिनाऽऽक्रान्ततरौ मणेः ॥६९
गतेऽपि कुंकुमे वस्त्रं तदीयमनुरञ्जनम् ।
न जहाति यथा मूढस्तथा विषयरञ्जनम् ॥७०

राजा बोला—हे ब्रह्मन् ! नारदजी तो सर्वलोक प्रसिद्ध, सर्वज्ञ, जीवन्मुक्त, निरीह और निराग हैं, उनके समान श्रेष्ठ तो कोई अन्य मुनि है ही नहीं, वे बाह्याभ्यन्तर आकाश के समान विशाल हैं, फिर वे देखने मात्र से चित्त विकृति से स्खलित वीर्य कैसे होगए ? ॥६५-६६॥ ब्राह्मण ने कहा—हे राजर्षे ! त्रिलोकी में सभी भूतों का, देवता आदि सभी का देह स्वभाव से ही दो रूप का है ॥६७॥ इस संसार में ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी हो, उनके देह विनष्ट होने तक सुख-दुःख से अभिभूत ही कहे गये हैं ॥६८॥ परंतु,वह सुख-दुःख आत्मज्ञान के प्रभाव से तत्वज्ञानी को नहीं व्यापते जैसे कि स्फटिक मणि आदि पर केसर का रंग लगाने पर केसर आदि स्थाई नहीं होते ॥६९॥ किन्तु, जिस प्रकार केसर से सम्बन्ध न रहने पर वस्त्र उसके रंग में रँगा रहता है, वैसे अज्ञानी पुरुष वस्तु विषय के विच्छिन्न होने पर भी विषयानुराग का त्याग नहीं करता ॥७०॥

अनेनैव क्रमेणैतौ बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ।
भावनातानवं मोक्षो बन्धो हि दृढभावना ॥७१
देवपुत्र महाज्ञोऽसि वेत्सि पूर्वां जगत्स्थितिम् ।
ज्ञायते वचनादेव स्वभावोऽहि किमुच्यते ॥७२

आद्य सर्गे यथा सद्यः स्फुरितं ब्रह्म ब्रह्मणि ।
घटावटपटाद्यात्म तथैवाऽद्य व्यवस्थितम् ।।७३

काकतालीयवद्वारिबुद्बुदोत्पत्तिनाशवत् ।
घुणाक्षरवदुच्छूनं त स्वभावं विदुर्बुधाः ।।७४

अस्मिन्स्वभाववशतो जगति प्ररूढे
देहा भ्रमन्ति परितो त्रिविधा विकाराः ।
प्रक्षीणवासनतया न भवन्ति केचिद्
भूयो भवन्ति च पुनस्त्वितरे घनास्थाः ।।७५

हे राजन् ! बन्ध और मोक्ष दोनों ही इस क्रम से स्थित हैं । विषय-भावना का क्षय ही मोक्ष और विषयों की दृढ़ता ही बंधन है ।।७१।। राजा बोला—हे देवपुत्र ! आपकी बात सुनने से ज्ञात होता है कि आप पूर्ण तत्त्वज्ञानी हैं और आत्मज्ञान से पूर्व जो जगत् की स्थिति थी, उसके भी आप तर्कादि से सिद्ध ज्ञाता हैं, अतः स्वभाव शब्द से क्या कहा जाता है ? यह बताइये ।।७२।। ब्राह्मण ने कहा—सृष्टि के आरम्भ काल में सर्गोत्पादन में प्रवृत्त हुआ ब्रह्म जिस घट, कुण्ड, पट आदि रूप में स्फुरित हुआ था, वह आज भी यथावत अवस्थित है ।।७३।। काकतालीय न्याय के समान जल में बुद्बुदों की उत्पत्ति विनाश के समान ही है । घुणाक्षर के समान सर्ग के आरम्भ में वह ब्रह्म जिस किसी घट, पट आदि अद्भुत पदार्थ रूप वस्तु विशेष से स्फुरित हुआ, विद्वज्जन उसी को स्वभाव कहते हैं ।।७४।। उक्त अनिर्वचनीय स्वभाव के प्रभाव से प्रकट हुए उस जगत् में चार प्रकार के जो शरीर इधर उधर विचरते हैं, उनमें कोई ज्ञानी शरीर सभी वासनाओं का क्षय होने पर पुनः जन्म नहीं लेते और अज्ञानी जन पुनः देह धारण करते हैं, क्योंकि वे भोगों में लगे रहते हैं ।।७५।।

## ४२—कुम्भ से कुम्भ की उत्पत्ति वर्णन

अत्युदारं महार्थं च वक्षि त्वं वदताम्वर ।
अनुभूतिमुपारूढं गूढं च परमार्थवत् ।।१

परिपूर्णसमस्ताङ्गकुम्भाद्गर्भो विनिर्ययौ ।
इन्दुः सूक्ष्मादिवाऽम्भोधेरपरः क्षयवर्जित ॥९
दिनैः कतिपयैरेव वृद्धिमभ्याजगाम सः ।
अप्रमेयाङ्गसौन्दर्यः शुक्लपक्षे शशी यथा ॥१०
दिनैः कतिपयैरेव विज्ञाताशेषवाङ्मयम् ।
चकारैनं मुनिवरः प्रतिविम्वमिवाऽऽत्मनः ॥११
अथैनं पुत्रमादाय ब्रह्मलोकं स नारदः ।
जगामाऽथ स्वपितर ब्रह्माणं चाऽभ्यवादयत् ॥१२
कृताभिवन्दनं ब्रह्मा पौत्रमादाय तं तदा ।
अभिवादितवेदादि स्वयमङ्के न्यवेशयत् ॥ ३
अथाऽऽशीर्वादमात्रेण सर्वज्ञं ज्ञानपारगम् ।
पौत्रं तं कुम्भनामानं चकार कमलोद्भवः ॥१४

समय आने पर कमलपत्र जैसे नेत्रों वाले उस गर्भ का उस घड़े ने उस प्रकार प्रसव किया, जिसप्रकार मास पूर्ण चन्द्र का और वसन्त पुष्पों का प्रसव करता है ।।८।। घड़े से निकला हुआ परिपूर्ण अंगों वाला वह गर्भ घटादि से परिच्छिन्न क्षीरसिन्धु से निकलते हुए अक्षय चन्द्र के समान था ॥९॥ वह शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान कुछ ही दिनों में वहुत वढ़ गया । उसके अंग-प्रत्यंग इतने सुन्दर थे कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥१०॥ उसने अल्पकाल में ही सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान पा लिया । कुछ दिन में ही नारदजी ने उस बालक को अपने समान ही वना लिया ॥११॥ फिर नारदजी अपने उस पुत्र को साथ लेकर ब्रह्मलोक गये और अपने पिता ब्रह्माजी के लिए उससे अभिवादन कराया ॥१२॥ अभिवादन के पश्चात् ब्रह्माजी ने सब वेदशास्त्रादि विषयक प्रश्न उससे पूछे और उनका यथार्थ उत्तर सुन कर उसे अपने अंक में वैठा लिया ॥१३॥ तब ब्रह्माजी ने अपने उस कुम्भ नामक पौत्र को अपने आशीर्वाद मात्र से ही सर्वज्ञानी और तत्वज्ञान में परिपूर्ण वना दिया ॥१४॥

साधो सोऽहमयं कुम्भः पौत्रोऽहं पद्मजन्मनः ।
पुत्रोऽहं नारदमुनेः कुम्भनामाऽस्मि कुम्भजः ॥१५
निवसाम्यब्जजपुरे पित्रा सह यथासुखम् ।
चत्वारः सुहृदो वेदा मम लीलाविलासिनः ॥१६
धरां पतति मे पादौ पततो न महीतले ।
रजः स्पृशन्ति नाऽङ्गानि ग्लानिं नाऽऽयाति मे वपुः ॥१७

अद्याऽऽकाशमथाऽऽगच्छन् दृष्टवांस्त्वामहं पुरः ।
इह तेनाऽऽगतोऽस्म्यङ्ग सर्वं कथितवानिति ॥१८
अद्य तिष्ठाम्यहं साधो धन्यानां धुरि धर्मतः ।
अमृतस्यन्दिवचसा यस्त्वयाऽस्मि समागतः ॥१९

एवं वादिनि सैवाऽस्य वाक्यमाक्षिप्य भूपतेः ।
भूयः प्रोवाच चूडाला मुनिदारकरूपिणी ॥२०
आस्तामेषा कथा तावत् सर्वं ते वर्णितं मया ।
त्वं मे कथय हे साधो कस्त्वमद्रौ करोषि किम् ॥२१

हे साधो ! मैं वही ब्रह्माजी का पौत्र कुम्भ तुम्हारे समक्ष हूं । कुम्भ से उत्पन्न हुआ नारद-पुत्र कुम्भ मैं ही हूं ॥१५॥ ब्रह्मलोक में मैं अपने पिता नारदजी के साथ सुखपूर्वक रहता हूँ । क्रीडा करते समय चारों वेद मेरे मित्र होते हैं ॥१६॥ जब मैं पृथिवी पर विचरण करता हूं तब मेरे पांव पृथिवी पर नहीं टिकते, धूलिकण मेरे अंगों का स्पर्श नहीं कर सकते और मेरे शरीर को कभी ग्लानि नहीं होती ॥१७॥ आज, जब मैं गगन-मार्ग से विचरण कर रहा था, तब मैंने आपको देखा तो यहाँ आगया । यह मेरा पूर्व वृत्तान्त है, जो आपसे कहा है ॥१८॥ राजा ने कहा—हे साधो ! आप पीयूषमयी वाणी वाले के साथ मेरा जो समागम हुआ है, उसके कारण मैं महान् अनुष्ठाताओं में भी श्रेष्ठ पुरुषों के स्थान को पागया हूं ॥१९॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! इस प्रकार कहते हुए राजा शिखिध्वज को बीच में रोकती हुई नारद-पुत्र रूपिणी चूडाला कहने लगी ॥२०॥ हे साधो ! मेरी प्रशंसा में आप जो कह रहे हों,

उसे रहने दो। आपके प्रश्नों का समाधान मैंने कर दिया। अब मुझे बताओ कि आप कौन हैं और इस पर्वत पर क्यों रहते हैं? ॥२१॥

कियत्पर्यवसानेयं भवतो वनवासिता।
सत्यं कार्यं च नोऽसत्यं वक्तुं जानन्ति तापसाः ॥२२
देवपुत्रोऽसि जानासि सर्वमेव यथास्थितम्।
लोकवृतान्ततत्त्वज्ञोऽसि किमन्यत्कथयाम्यहम् ॥२३
संसारभयभीतत्वान्निवसामि वनान्तरे।
जानतोऽपि हि मामार्यं कथयाम्येव ते मनाक् ॥२४
शिखिध्वजोऽहं भूपालस्त्यक्त्वा राज्यमिहाऽऽस्थितः।
भृशं भीतोऽस्मि तत्त्वज्ञ संसृतौ जन्मतः पुनः ॥२५
भ्रमन्नपि दिगन्तेषु चरन्नपि परं तपः।
नासादयामि विश्रान्तिमेकां निधिमिवाऽधनः ॥२६
पितामहमहं पूर्वं कदाचित्पृष्टवानिदम्।
यत्क्रियाज्ञानयोरेकं श्रेयस्तद् ब्रूहि मे प्रभो ॥२७
ज्ञानं हि परमं श्रेयः कैवल्यं तेन वेत्त्यलम्।
कालातिवाहनायैव विनोदायोदिता क्रिया ॥२८

इस पर्वत पर रहते हुए आपको कितना समय होगया? वनवास के द्वारा किस कार्य की सिद्धि की कामना है? आप मुझे सत्य बताइये, क्योंकि तपस्वी कभी असत्य नहीं बोलते ॥२२॥ राजा ने कहा—आप तो देवपुत्र हैं; सब कुछ स्वयं जानते हैं। लोकवृत्त और परमार्थ सबका आपको ज्ञान है तो अन्य कौन बात आपके जानने योग्य रह गई?॥२३॥ हे आर्य! मैं संसार-भय से भीत होकर ही इस वन में वास करता हूं। यद्यपि आप इसे जानते हैं,फिर भी संक्षेप में आपको बता रहा हूं ॥२४॥ हे तत्वज्ञ! मैं राजा शिखिध्वज हूं, अपना राज्य त्याग कर वनवासी हो गया हूं और पुनर्जन्म से भयभीत हूं ॥२५॥ सब दिशाओं में घूमने और कठोर तप करने पर भी मुझे, निर्धन के पास धन न होने के समान, शान्ति प्राप्त नहीं, होती ॥२६॥ चूडाला ने कहा—किसी एक समय मैंने पितामह ब्रह्माजी से पूछा था कि हे प्रभो! ज्ञान और कर्म में से

कौन-सा साधन मुक्ति के लिए श्रेयस्कर है, वह मुझे बताइये ॥२७॥ ब्रह्माजी ने कहा—ज्ञान ही परम श्रेय है, केवल इसी से आत्मज्ञान हो सकता है। श्रुतियों में उल्लिखित क्रिया-कलाप तो विनोदमात्र ही है ॥२८॥

वासनानाशसारत्वाज्ज्ञस्य सफलाः क्रियाः
सर्वा एवाऽफला ज्ञस्य वासनानाशसंश्रयात् ॥२९
वासनानाशसत्यागाज्जरामरणवर्जितम् ।
पदं भवति जीवोऽन्तर्भू यो जन्मविवर्जितम् ॥३०
सवासनं मनो ज्ञेयं ज्ञानं निर्वासनं मनः ।
ज्ञानेन ज्ञेयमस्येत्य पुनर्जीवो न जायते ॥३१
कथं बन्धः कथं मोक्ष इति प्रश्नानुदाहरन् ।
पारावारविदां पादान् कस्माद्राजन्न सेवसे ॥३२
साधुनैव समं ग्रासं भुञ्जानो वनकोटरे ।
तिष्ठाज्ञवृष्ट्यवृक्षेष्टो धराविवरकीटवत् ॥३३
कान्तया देवरूपिण्या तयैवं प्रतिबोधिता ।
अश्रुपूर्णमुखो वाक्यं शिखिध्वज उवाच ह ॥३४
अहो नु बोधितोऽस्म्यद्य चिरात्सुस्मृत त्वया ।
मौर्ख्याद्दार्यसमासंगं मुक्त्वाऽहमवसं वने ॥३५

हे पौत्र ! ज्ञानी कर्म तो करता है, परन्तु उसकी क्रियाएँ सभी वासनाओं के नष्ट होने से फलवती नहीं होतीं। परन्तु अज्ञानी के कर्म वासनाओं के विद्यमान रहने से कभी फलीभूत नहीं होते ॥२९॥ अपने हृदय से वासनाओं का त्याग कर देने से प्राणी जरा-मरण-रहित और पुनर्जन्म-रहित वस्तु स्वरूप हो जाता है ॥३०॥ यह ज्ञातव्य है कि वासनामय मन ज्ञेय और वासना-रहित मन ही ज्ञान है। जब ज्ञान के द्वारा जानने योग्य ब्रह्म की प्राप्ति होजाती है तब प्राणी पुनर्जन्म के चक्र में नहीं पड़ता ॥३१॥ बन्ध कैसे हुआ और मोक्ष कैसे होगा ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान तत्त्वार्थ और अपर तत्त्वार्थ के ज्ञाता गुरु के पास जाकर, उनकी सेवा करके क्यों नहीं करते ? ॥३२॥ हे राजन्!

आप तपस्या आदि वहिर्मुखी दुःखप्रद चेष्टाओं को त्याग कर गुरुजी के साथ भोजन करते हुए इस वन कोटर में, पृथिवी के छेद में रहने वाले कीड़े के समान निश्चलता से अवस्थित होइये ॥३३॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम! देवरूप धारिणी उस नारी द्वारा समझाया हुआ वह राजा अश्रुपूर्ण मुख से कहने लगा ॥३४॥ शिखिध्वज बोला—हे देवपुत्र! बहुत समय पश्चात् आपके द्वारा जगाया जाने पर मैं इस समय विस्मय को प्राप्त होरहा हूं। मैं मूर्खतावश साधु संग को त्याग कर इतने समय वनवास करता रहा ॥३५॥

अहो नु मे क्षयं यातं मन्ये पापमशेषतः।
यत्त्वमेव समागत्य सम्प्रबोधयसीह माम् ॥३६
गुरुस्त्वं मे पिता त्वं मे मित्रं त्वं मे वरानन।
शिष्यो नमस्करोम्यद्य पादौ तव कृपां कुरु ॥३७
यदुदारतमं वेत्सि यस्मिन् ज्ञाते न शोच्यते।
भवामि निर्वृतो येन तद्ब्रह्मोपदिशाऽऽशु मे ॥३८
यथा बालः पितुर्वाक्यं मुक्तहेतूपपादनम्।
आदत्ते हि तथैव त्वं गृहाणैतद्वचो मम ॥३९
स्वचरितसदृशं तथोदयन्त्या-
श्चिरसमयेन विबोधनं च बुद्धेः।
भवभयसुतरं महामतीनां
शृणु कथयामि कथाक्रमं मनोज्ञम् ॥४०

अहो, मैं समझता हूं कि अब मेरा सभी पाप नष्ट हो चुका है; क्योंकि आपने मुझे जगा दिया है ॥३६॥ अब आप ही मेरे गुरु, पिता एवं मित्र हैं। मैं शिष्य रूप से आपको प्रणाम करता हूं, मुझ पर कृपा करिये ॥३७॥ आपको जिस उदारतम वस्तु का ज्ञान है और जिसके जान लेने पर प्राणी को शोक नहीं रहता। जिससे सब प्रकार की शान्ति मिलती है, उस ब्रह्म का मुझे उपदेश कीजिए ॥३८॥ चूडाला ने कहा—हे राजन्! जिस प्रकार ज्ञानशून्य बालक अपने पिता का उपदेश प्रमाण बुद्धि से ग्रहण करता है, उसी प्रकार आप मेरे इन

वचनों को हृदयंगम कीजिए ॥३६॥ अब मैं, आपके चरित्र के समान ही एक मनोहर कथानक कहूँगा, जो कि मन्द बुद्धि वालों को भी चिरकाल पश्चात् प्रबोध करने वाला है और महान् बुद्धि वालों को तो भवसागर के भय से शीघ्र ही पार कर देता है, आप उसका श्रवण कीजिए ॥४०॥

## ४३—काँच में मणि की भ्रान्ति

अस्ति कश्चित्पुमान् श्रीमान् स्थानं नित्यविरुद्धयोः ।
गुणलक्ष्म्योरशेषेण यथाऽब्धिर्वडवाम्बुनोः ॥१
कलावानस्त्रकुशलो व्यवहारविचक्षणः ।
सर्वसङ्कल्पसीमान्तो न तु जानाति तत्पदम् ॥२
अनन्तयत्नसंसाध्ये स चिन्तामणिसाधने ।
प्रवृत्तो वाडवो वह्निरब्धिसंशोषणे यथा ॥३
तस्य यत्नेन महता कालेनाऽध्यवसायिनः ।
सिद्धचिन्तामणिः किं वा न सिद्ध्यत्युद्यतात्मनाम् ॥४
मणिमग्रे स्थितप्रायं हस्तप्राप्यं ददर्श सः ।
मेरावुदयशृङ्गस्थो मुनिरिन्दुमिवोदितम् ॥५
इदं सञ्चिन्तयामास मनसा स्मयशालिना ।
सम्प्राप्तोऽपि जया दीर्घदुःखसम्भ्रमशालिना ॥६

चूडाला बोली—कोई एक श्रीमान् व्यक्ति अनादि काल से ही परस्पर गुणों से समन्वित अर्थात् वैराग्य और लक्ष्मी का आश्रय स्थान था, उसी प्रकार, जिस प्रकार कि बडवाग्नि और जल परस्पर विपरीत गुण वाले होकर भी समुद्र के आश्रय में रहते हैं ॥१॥ वह सभी कलाओं में निपुण, अस्त्र विद्या में कुशल, व्यवहार में पटु और सभी इच्छित कार्यों में सफलता पाने वाला था। उसके लिए कोई कार्य असाध्य नहीं था। परंतु उसे परमपद का ज्ञान नहीं था ॥२॥ फिर वह, समुद्र के शोषण में तत्पर बडवानल के समान ही वह पुरुष तप, जप, आदि बहुत से उपायों से सिद्ध होने वाली चिन्तामणि की इच्छा से तपस्या

करने लगा ॥३॥ उस दृढ़ निश्चयी पुरुष के लिए चिन्तामणि अल्प काल में ही प्राप्त होगया, क्योंकि उद्योगी पुरुषों के लिए किस वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती ? ॥४॥ उस हाथ में लेने योग्य सम्मुख आये हुए चिन्तामणि को उसने उसी प्रकार देखा, जिस प्रकार कि मेरु पर्वत के शिखर पर अवस्थित मुनि उदय होते हुए चन्द्र को देखता है ॥५॥ दीर्घकालीन दुःख से भ्रान्ति को प्राप्त एवं आश्चर्यान्वित मन से उसने प्राप्त चिन्तामणि की उपेक्षा करते हुए सोचा ॥६॥

अयं मणिर्मणिर्नाऽयं मणिश्चेत्तद्भवेन्न सः ।
स्पृशामि न स्पृशाम्येन कदाचित्स्पर्शतो व्रजेत् ॥७
एवं विकल्पसङ्कल्पैश्चिरमज्ञः परामृशन् ।
न मणिग्रहणे यत्नमकार्षीन्मौर्ख्यमोहितः ॥८
न यदा येन लब्धव्यं न तत्प्राप्नोत्यसौ तदा ।
चिन्तामणिरवाप्तोऽपि दुर्धिया हेलयोज्झितः ॥९
इति तस्मिन्स्थिते यातो मणिरुड्डीय सिद्धयः ।
त्यजन्ति ह्यवमन्तारं शरो गुणमिवोज्झितः ॥१०
पुमान् भूयः क्रियायत्नं चक्रे रत्नेद्रसाधने ।
नोद्विजन्ते स्वकार्येषु जना अध्यवसायिनः ॥११
ददर्शाऽथ कचद्रूपं काचखण्डमखण्डितम् ।
हसद्भिर्वञ्चकैः सिद्धैः पुरस्कृतमलक्षितैः ॥१२

यह चिन्तामणि है अथवा नहीं ? यदि चिन्तामणि होती तो प्रत्यक्ष नहीं हो सकती थी, मैं इसका स्पर्श करूँ या नहीं। स्पर्श करने पर कहीं यह भाग्यहीनता से अदृश्य न होजाय ॥७॥ इस प्रकार बहुत समय तक संकल्प-विकल्प करते हुए उस अज्ञानी पुरुष ने अपनी मूर्खता वश मणि को ग्रहण करने का प्रयत्न ही नहीं किया ॥८॥ जो वस्तु जिस समय जिसे नहीं मिलनी होती वह उस समय उसे ले ही नहीं सकता। इसलिए प्राप्त हुई चिन्तामणि भी दुर्बुद्धि के कारण उसे नहीं मिल सकी ॥९॥ जब वह पुरुष इस प्रकार अज्ञान पूर्वक संकल्प-विकल्प करता रहा तब तो चिन्तामणि उसके पास से उड़ गई। जिस प्रका

धनुष से छूटा हुआ बाण डोरी से अलग होजाता है, उसी प्रकार सिद्धियाँ भी उपेक्षा करने वाले से पृथक् होजाती हैं ॥१०॥ फिर भी वह पुरुष चिन्तामणि के लिए उद्योग करता रहा, क्योंकि अटल निश्चय वाले पुरुष कार्य सिद्धि न होने पर भी उद्वेग को प्राप्त नहीं होते ॥११॥ तब उसे एक चमत्कार अखण्डित काँच का एक टुकड़ा दिखाई दिया। दिखाई न देने वाले सिद्धों ने परिहास पूर्वक वह टुकड़ा उसके समक्ष रख दिया था ॥१२॥

अयं चिन्तामणिरिति मूढस्तस्मिन् मवस्तुताम् ।
बुबुधे मोहितो ह्यज्ञो मूढं हेनेति पश्यति ॥ १३
तं काचमणिमादाय प्राक्तनीं च श्रियं जहौ ।
सर्वं चिन्तामणेरस्मात् प्राप्यते किं धनैरिह ॥१४
दूरं गत्वा यथाकामं सुखं तिष्ठामि सम्पदा ।
इत्यादाय मणिं मूढः शून्यकाननमाययौ ॥१५
तत्र काचकणेनाऽसौ तेन नाशापदं ययौ ।
कज्जलाद्रेरिव निशा मौर्ख्यस्यैवाऽङ्ग या समा ॥१६
दुःखानि मौर्ख्यविभवेन भवन्ति यानि
नैवाऽऽपदो न च जरामरणेन तानि ।
सर्वापदां शिरसि तिष्ठति मौर्ख्यमेकं

समान गहन नीलिमा से समन्वित और मूर्खता के समान थी ॥१६॥ मूर्खतावश जिन दुःखों की उत्पत्ति होती है, वह सर्वनाश आदि विपत्तियों या जरा-मरण से नहीं होती। क्योंकि तत्ववेत्ता तो शतशः आपत्तियों में भी दुःख नहीं देखते परन्तु स्वर्ण पर्यंकों पर शयन करने वाले धनिक अज्ञानवश सैकड़ों दुःख देखते हैं। सिर पर अवस्थित काले केश-जाल के समान सभी आपत्तियों के शीश पर मौर्ख्य अवस्थित रहता है ॥१७॥

## ४४—विन्ध्यगज का उपाख्यान

अथेममपरं रम्यं वृत्तान्तं शृणु भूमिप ।
परं प्रबोधनं वृद्धेः साधो सदृशमात्मनः ॥१
अस्ति विन्ध्यवने हस्ती महायूथपयूथपः ।
आगस्त्या शुद्धया बुद्ध्या विन्ध्येनेवोदितः स्वतः ॥२
वज्रार्चिविषमौ दीर्घौ तस्याऽऽस्तां दशनौ सितौ ।
कल्पानलशिखातुल्यौ सुमेरून्मूलनक्षमौ ॥३
स बद्धो लोहजालेन हस्तिपेन किलाऽभितः ।
मुनीन्द्रेणेव विन्ध्याद्रिरुपेन्द्रेणेव वा बलिः ॥४
दन्ताभ्यां यत्नतस्ताभ्यां मुहूर्तद्वितयेन सः ।
बभञ्ज शृङ्खलाजालं स्वर्गार्गलमिवाऽसुरः ॥५
तं तस्य निगडच्छेदमपश्यद् दूरतो रिपुः ।
बलेः स्वर्गावदलनं हरिर्मेरुतलादिव ॥६
तस्य विच्छिन्नपाशस्य मूर्ध्नि तालतरो रिपुः ।
पपात क्रमतः स्वर्गं हरिर्मेरोर्बलेरिव ॥७

चूडाला बोली—हे भूपाल ! अब आप एक अन्य उपाख्यान श्रवण कीजिए। यह आपके अनुरूप एवं मति को उत्तम प्रबोध देने वाला है ॥१॥ विन्ध्याचल के वन में एक यूथपति गजराज था। वह दीर्घकाल तक मुनिवर अगस्त्य की आज्ञा परिपालन से अनुग्रह के कारण इतने उन्नत रूप में प्रकट हुआ कि साक्षात् विन्ध्यपर्वत ही प्रतीत होता था ॥२॥

वज्राग्नि के समान उसके दो श्वेत दाँत अत्यंत तीक्ष्ण थे, वे पर्वत र सुमेरु को भी महाप्रलय की अग्निशिखा के समान उन्मूलन करने समर्थ थे ॥३॥ उस गजराज को महावतों ने जाल में उसी प्रकार ब रखा था, जिस प्रकार कि अगस्त्य मुनि ने विन्ध्याद्रि को व उपेन्द्र ने बलि को बाँध लिया था ॥४॥ उस गजराज ने दो मुहूर्तों घोर प्रयत्न में अपने दो दाँतों से उस जाल को वैसे ही काट डाला, ज बलि ने स्वर्गनगरी अमरावती के कपाटों को तोड़ डाला था ॥५ उसके जाल काटने के कर्म को उसके शत्रु (महावत) ने दूर से ही देख जैसे कि भगवान् विष्णु ने मेरु के तल से बलि का स्वर्ग को तोड़ देखा था ॥६॥ तब विच्छिन्न फन्दे वाले उस गजराज के शीश पर शत्रु ताल-वृक्ष पर चढ़ कर वैसे ही गिरा, जैसे क्रमशः सुमेरु से वाम भगवान् बलि के शीश पर गिरे थे ॥७॥

स पतन्पादपद्माभ्यामप्राप्य करिणः शिरः ।
पपातोर्व्यां फलं पक्वं वाताहतमिवाऽऽकुलः ॥८
त पुरः पतितं दृष्ट्वा महेभः करुणां ययौ ।
स्फुरत्स्फारगुणाः सन्तः सन्ति तिर्यग्गतावपि ॥९
पतितं दलयामीति किनाम मम पौरुषम् ।
वारणोऽपीति कलयन्न जघान स तं रिपुम् ॥१०
केवलं निगडव्यूहं विदार्याऽभिजगाम ह ।
वितत सेतुमुत्सार्य विपुलौघ इवाऽम्भसः ॥११
वारणारिरसिद्धाङ्गो गतेभो दुःखमाययौ ।
आगत्योपगतेऽन्तर्धि निधान इव वर्धनः ॥१२
चिरेणाऽऽलभतेभेन्द्रं कस्मिंश्चित् कानने स्थितम् ।
विश्रान्तं तं तरुतले समरादिव निर्गतम् ॥१३
अथ यत्र स्थितो नागस्तत्र तद्बन्धनक्षमम् ।
परया राजसामग्र्या गजलम्पटभूमया ॥१४
स खातवलयं चक्रे हस्तिपः काननेऽभितः ।
त्रिविक्रमं विधिर्भूमौ समुद्रवलयं यथा ॥१५

उसके पाँव हाथी के मस्तक पर न टिक कर पृथिवी पर गिरे, जैसे वायु के थपेड़े से पका हुआ फल गिर जाता है ॥८॥ अपने समक्ष गिरे उस व्याकुल शत्रु को देखकर गजराज का हृदय करुणा से परिपूर्ण होगया, क्योंकि तिर्यक् योनि को प्राप्त करके भी सन्त आत्मा अपने प्रकाशमय गुण से सदा समन्वित रहते हैं ॥९॥ हाथी सोचने लगा कि यदि गिरे हुए को मैं मार दूँ तो इसमें मेरा क्या पुरुषार्थ होगा ? अतः हाथी ने अपने उस शत्रु का वध नहीं किया ॥१०॥ वह केवल लौहमय जाल को तोड़ कर उस प्रकार चला गया जैसे जल का भारी प्रवाह किसी बड़े पुल को तोड़ता हुआ चला जाय ॥११॥ उस गजराज का शत्रु वह महावत अपने उपाय में सफल नहीं हुआ। हाथी उसके हाथ से निकल गया। हाथ में आये हुए धन के चले जाने पर दुःखित हुए धनिक के समान ही वह महावत अत्यन्त दुःखित हुआ ॥१२॥ कुछ समय के पश्चात् किसी एक वन में, एक वृक्ष के नीचे विश्राम करता हुआ वह गजराज उसे पुनः मिला, जैसे कि वह युद्ध क्षेत्र से निकल कर आया हो ॥१३॥ तब जहाँ हाथी था, उसके पास ही उस महावत ने हाथियों को वशीभूत करने में चतुर अपने सहायकों और साधनों से युक्त होकर हाथी को बंधन में डालने वाला एक बड़ा गोला गड्ढा खुदवाया, मानों पृथिवी पर किसी सर्व दिग् व्यापी गोल समुद्र को ब्रह्माजी ने बनाया हो ॥१४-१५॥

उपर्यस्थगयद्वाललतौघेन स त शठः।
शून्यतातन्तुजालेन शरत्काल इवाम्बरम् ॥१६

दिनैः कतिपयैरेव वारणो विहरन् वने।
तस्मिन्निपतितः खाते शुष्काब्धाविव पर्वतः ॥१७

अहनिष्यत्पुरैवाऽसौ यद्यग्रे पतितं रिपुम्।
तन्नाऽन्वभ्यस्यत्ततो दुःखं गजः खातनिबन्धनम् ॥१८

मुक्तोऽस्मि शस्त्रनिगडादिति तुष्टो हि वारणः।
दूरस्थोऽपि पुनर्बद्धो मौढ्यं क्व च न बाधते ॥१९

विद्धि चिन्तामणिं साधो सर्वत्यागमकृत्रिमम्।
तमन्तं सर्वदुःखानां त्वं साधयसि शुद्धधीः ॥५
सर्वत्यागेन शुद्धेन सर्वमासाद्यतेऽनघ।
सर्वत्यागो हि साम्राज्यं किं चिन्तामणितो भवेत् ॥६
केवलं सर्वसन्त्यागे शेषिताऽहंमतिस्त्वया।
मृष्टाखिलकलङ्केन स्वसत्तेवाऽनिलेन खे ॥७

राजा ने कहा—हे देवपुत्र ! चिन्तामणि के लिए साधना करने वाले और विन्ध्य पर्वत के गज-बंधन आदि का जो कथा-जाल आपने कहा है, उसे पुनः कहिए। यह सब मेरे जीवन-वृत्त से मेल खाता है और इस प्रकार आपने बताया कि मेरे ज्ञान का उपाय रूप ही है ॥१॥ चूडाला बोली—हे राजन् ! आपके हृदय-गृह में जो चित्तरूपी भित्तियाँ हैं, उन पर कथा रूपी चित्र-रेखा ही मैंने खींची है। अब उसे व्याख्या रूपी अद्भुत वर्णों से रँगता हूँ, आप श्रवण कीजिए ॥२॥ हे महीपते ! शास्त्रार्थ में कुशल परंतु तत्वज्ञान-रहित जिस चिन्तामणि-साधक के विषय में मैंने कहा था, वह आप ही हैं ॥३॥ जैसे सूर्य सुमेरु-तट के विषय में जानते हैं वैसे ही आप शास्त्र-विषय में ज्ञानी हैं, परंतु आत्म तत्व में उसी प्रकार स्थिर नहीं हैं, जिस प्रकार जल में पत्थर स्थिर नहीं रहता ॥४॥ हे साधो ! आप अपने अकृत्रिम त्याग को ही चिन्तामणि समझो। आप उसी सर्व दुःख नाशक चिन्तामणि की सिद्धि में लगे हैं ॥५॥ हे अनघ ! शुद्ध सर्व त्याग से ही सर्वस्व की सिद्धि होती है, क्योंकि सर्वत्याग ही साम्राज्य है, चिन्तामणि की उपलब्धि से क्या होता है ? ॥६॥ हे राजन् ! आपने सर्व त्याग में अभिमान रूपी अविद्या को ही सुरक्षित रखा है, जैसे बादल और सर्व कलंकों को धोने वाला शरत्कालीन पवन अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखता है ॥७॥

त्यागिता स्यात्कुतस्तस्य चिन्तामण्यावृणोति यः।
पवनस्पन्दयुक्तस्य निःस्पन्दत्वं कुतस्तरोः ॥८
राज्यबन्धाद्विनिष्क्रम्य प्रसरद्दुःखपूरितात्।
वनवासाभिधैः साधो बद्धोऽसि दृढबन्धनैः ॥९

यदिभे पाटयत्युच्चैर्बन्धं हस्तिपकोऽपतत् ।
त्वयि त्यजति तद्राज्यमज्ञानपतितं कृतम् ॥१६
यदा विरक्तः पुरुषो भोगाशां त्यक्तुमिच्छति ।
तदा प्रकम्पतेऽज्ञानं छेद्ये वृक्षे पिशाचवत् ॥१७
यदा वनं प्रयातस्त्वं तदा ज्ञानं क्षतं त्वया ।
पतितं सन्न निहतं मनस्त्यागमहासिना ॥१८
तेन भूयः समुत्थाय स्मृत्वा परिभवं कृतम् ।
तपःप्रपञ्चखातेऽस्मिन् गहने त्वं नियोजितः ॥१९
इत्यद्याऽपि तपःखाते दुःखे ह्यस्मिन् सुदारुणे ।
स्थितोऽसि पातालतले नृप बद्धो यथा बलिः ॥२०

गजस्त्वमाशा निगडानि वैरी
मोहो निखातः पुनरुग्रबन्धः ।
महीतलं विन्ध्य उदन्त इत्थं
त्वदीय उक्तः कुरु यत्करोषि ॥२१

परन्तु शास्त्र और शृंखला का भेदन हो सकता है, किन्तु इस मन से भोग रूपी आशा का भेदन सरलता से नहीं हो सकता ॥१५॥ हाथी द्वारा बन्धनों को तोड़ देने के पश्चात् जो महावत गिरा था, वह आपके राज्य-बन्धनों के काट देने पर अज्ञान ही गिर पड़ा था ॥१६॥ विरक्त पुरुष के भोगाशा का त्याग कर देने पर अज्ञान वैसे ही काँपने लगता है, जैसे कटते हुए वृक्ष पर पिशाच ॥१७॥ जब आप वन को चले, तब आपने अज्ञान को आहत कर दिया, परन्तु आपने उसी समय उसे तत्वज्ञान द्वारा मन के त्याग रूपी खड्ग से मारा नहीं ।१८। इसीलिए वह अज्ञान पुनः उठ खड़ा हुआ । आपके द्वारा दी गई पराजय का स्मरण करके उसने आपको तप रूपी प्रपंच के गहरे गढ़े में डाल दिया ॥१९॥ हे राजन् ! आज भी आप इस प्रकार से अत्यन्त घोर दुःखदायी तपस्या रूपी गढ़े में पड़ कर बन्धन में अवस्थित हैं, जैसे पाताल में राजा बलि स्थित है ॥२०॥ आप हाथी हैं, आशाएँ शृंखला महान मोह, घोर तपाग्रह रूपी गढ़ा और विन्ध्य पर्वत है यह पृथिवी

इस प्रकार हाथी के आख्यान द्वारा आपका ही वृत्तान्त मैंने कहा है। इसे भले प्रकार समझ कर इस तप रूपी गढ़े से निकल कर शत्रुनाश का शीघ्र प्रयत्न कीजिए ॥२१॥

## ४६—सर्वत्याग से पापों का नाश

यदुक्तं नयशालिन्या तया विदितवेद्यया ।
तदा चूडालया ज्ञानं तत्कस्मान्नोररीकृतम् ॥१
अथ चेद्वचनं तस्यास्त्वया नाऽनुष्ठितं नृप ।
तत्सर्वसम्परित्याग. कस्मान्न निपुणीकृतः ॥२
राज्यं त्यक्तं गृहं त्यक्तं देशस्त्यक्तस्तथाविधः ।
दारास्त्यक्तास्तथाप्यङ्ग सर्वत्यागो न किं कृतः ॥३
धनं दारा गृहं राज्यं भूमिश्छत्रं च बान्धवाः ।
इति सर्वं न ते राजन् सर्वत्यागो हि कस्तव ॥४
तवाऽस्त्येवाऽपरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
तं परित्यज्य निःशेषमायास्यसि विशोकताम् ॥५
राज्यं चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं वनमेव मे ।
शैलवृक्षादिगुल्माढ्यं तदप्येतत्त्यजाम्यहम् ॥६
अद्रेस्तटं वनं श्वभ्रं सलिलं पादपस्थलम् ।
इत्यादि तव नो सर्वं सर्वत्यागः कथं तव ॥७

देवपुत्र रूपिणी चूडाला ने कहा—हे राजन् ! आपकी पत्नी चूडाला ने ज्ञेय वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था, आपने उसके ज्ञानोपदेश को क्यों नहीं माना ? ॥१॥ यदि उसका कथन नहीं ही माना तो आपने सर्वत्याग का पूर्ण आश्रय क्यों नहीं लिया ? ॥२॥ राजा बोला—मैंने राज्य, घरबार, सम्पूर्ण देश और यहाँ तक कि अपनी भार्या तक का त्याग कर दिया, फिर भी आप कहते हैं कि सर्वत्याग नहीं किया ॥३॥ चूडाला ने कहा—धन, दारा, घर, राज्य, भूमि, छत्र और बन्धुजन यह सब आपके तो हैं नहीं, फिर इनके त्याग से सर्व त्याग कहाँ हुआ ? ॥४॥ आपका सर्व श्रेष्ठ भाग मन है, उसका तो

अभी तक परित्याग नहीं हुआ । उसके त्याग से ही आप शोक-रहित हो सकोगे ॥५॥ राजा ने कहा—आप राज्य आदि को मेरा सर्वस्व नहीं मानते तो यह शैल, वृक्ष, गुल्मादि से परिपूर्ण वन ही इस समय मेरा सर्वस्व है, मैं इसका त्याग किये देता हूं ॥६॥ चूडाला बोली—यह पर्वत तट,वन, श्वभ्र, जल और तरुओं वाली भूमि जब आपकी है ही नहीं, तो इनके त्याग में सर्वत्याग कैसा ? ॥७॥

एतच्चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं स्वाश्रमो मम ।
वापीस्थलोटजयुतस्तमेयाऽऽशु त्यजाम्यहम् ॥८
अथोत्थाय ददाहाऽसौ शुष्कं तत्तृणमन्दिरम् ।
अज्ञेन स्वेन मनसा वृथा सङ्कल्पकल्पितम् ॥९
सर्वमेव न सन्त्यक्तं त्वया राजन् शिखिध्वज ।
सर्वत्यागपरानन्दे मा मुधाऽभिनयं कुरु ॥१०
तवाऽस्त्येवाऽपरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
यं परित्यज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम् ॥११
इति श्रुतवता तेन किञ्चित्सञ्चिन्त्य भूभृता ।
इदमुक्तं महाबाहो राम राजीवलोचन ॥१२
इन्द्रियव्यालसंघातो रक्तमांसमयाकृतिः ।
शिष्यते सर्वसन्त्यागे देहो मे देवतात्मज ॥१३
तदुत्थाय पुनर्देहं भृगुपातादविघ्नतः ।
विनाशात्मकतां नीत्वा सर्वत्यागी भवाम्यम् ॥१४

राजा ने कहा—यदि यह वन आदि मेरे सर्वत्याग के हेतु नहीं हैं तो यह वापी, स्थल, उटज आदि से समन्वित यह आश्रम जो मेरा अपना है, इसका मैं अभी त्याग किये देता हूं ॥८॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! यह कह कर राजा शिखिध्वज ने ज्ञान-रहित मिथ्या संकल्प से समर्पित उस कुटी रूपी तृणमन्दिर को भस्म कर दिया ॥९॥ चूडाला बोली—हे राजन् ! अभी आप सर्वस्व त्याग नहीं कर सके हैं, सर्वत्याग से उत्पन्न होने वाले परमानन्द की प्राप्ति में आप मिथ्या अभिनय न करिये ॥१०॥ अभी तक आपने उस श्रेष्ठ भाग का त्याग नहीं किया

है, जिसका परित्याग करने पर ही आप शोक-रहित हो सकेंगे ।।११।। वशिष्ठजी बोले—हे महाबाहो ! हे राम ! देवपुत्र की यह बात सुनकर राजा कुछ देर विचार कर कहने लगा ।।१२।। हे देवपुत्र ! इन्द्रिय रूपी दुष्ट सर्पों से युक्त तथा रस-मांसमय आकृति वाला यह देह ही सर्वत्याग में शेष रहा है, अतः मैं इस देह को ही अब निर्विघ्न रूप से विनाश रूपता देकर सर्वत्यागी हुआ जा रहा हूं ।।१३-१४।।

इत्युक्त्वा देहमग्रस्थे श्वभ्रे त्यक्तुमसौ जवात् ।
करोति यावदुत्थानं तावत्कुम्भोऽप्युवाच ह ।।१५
राजन्किमिति देहं त्वं निरागस्कं महावटे ।
त्यजस्यज्ञो हि वृषभः कुपितो हन्ति तर्णकम् ।।१६
जडो वराको मूकात्मा ध्यानवानवतिष्ठते ।
न कश्चन तवैतस्मिन्मा मुधैव तनुं त्यज ।।१७
क्षोभयत्यन्य एवैनं निग्रहार्हो मुहुर्बलात् ।
तपस्विनं यथैकान्तं संस्थितं मत्ततस्करः ।।१८
त्यक्तेनाऽपि शरीरेण किल तामरसेक्षण ।
एवं त्यागो न ते याति निष्पत्तिं विषमो हि सः ।।१९
साधो न देहत्यागेन न राज्यत्यजनेन च ।
न चोटजादिशोषेण सर्वत्यागो भवेन्नृप ।।२०
यत्सर्वं सर्वतो यच्च तस्मिन्सर्वैककारणे ।
सर्वस्मिन्सम्परित्यक्ते सर्वत्यागः कृतो भवेत् ।।२१

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! यह कह कर ज्योंही अपना देह त्यागने के उद्देश्य से राजा सामने स्थित खंदक में कूदने के लिए बढ़े त्योंही कुम्भऋषि रूपिणी चूडाला ने कहा ।।१५।। वह बोली—हे राजन् ! इस निर्दोष शरीर को इतने भयंकर खंदक में क्यों डाले दे रहे हैं ? आप तो उस मूर्ख बैल के समान होगए हैं जो अपने ही बछड़े को मारने के लिए दौड़ता है ।।१६।। हे राजन् ! यह शरीर तो ध्यानवान् तपस्वी और मूक है, इसने आपका कोई अपराध नहीं किया, आप व्यर्थ ही इसका परित्याग मत करो ।।१७।। जिस प्रकार एकान्त में बैठे तपस्वी

को कोई उन्मत्त तस्कर बल पूर्वक बारम्बार क्षुब्ध करता है, उसी प्रकार इस आत्मा को कोई अन्य ही बलपूर्वक क्षोभ पहुंचाता है, वही उन्मत्त चोर दण्डनीय है ॥१८॥ देह त्याग से भी तुम्हारा सर्वत्याग नहीं होता, क्योंकि देह-त्याग से देह बन्धन काटने वाले ज्ञान की संभावना नहीं है, अतः इसका त्याग श्रेयस्कर नहीं है ॥१९॥ हे साधो ! देह, राज्य और कुटिया के त्याग से सर्वत्याग की सिद्धि संभव नहीं है। किन्तु जो सर्व वासनाओं का आश्रय होने से सर्वात्मक और सब विषयों में पहुंच होने से सर्वव्यापी है, उस कारण भूत सर्वात्मा का मन से परित्याग कर देने पर ही सर्वत्याग की सिद्धि होगी ॥२०-२१॥

सर्वं सर्वगतं सर्वहेयं त्याज्यं च सर्वदा ।
सर्वं किमुच्यते ब्रूहि सर्वतत्त्वविदां वर ॥२२
साधो सर्वगताकारं जीवप्राणादिनामकम् ।
न जडं नाऽजडं भ्रान्तं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ।२३
चित्तमेव भ्रमं विद्धि त्रिद्धि चेतो नरं नृप ।
चित्तं विद्धि जगज्जालं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ॥२४
राज्यादेरथ देहादेराश्रमादेर्महीपते ।
सर्वस्यैव मनो बीजं तरुबीजं तरोरिव ॥२५
सर्वस्य बीजे सन्त्यक्ते सर्वं त्यक्तं भवत्यलम् ।
सम्भवासम्भवाद्भूप सर्वत्यागो भवेदिति ॥२६
सर्वधर्मा अधर्मा वा राज्यादि विपिनादि वा ।
सचित्तस्य परं दुःखं निश्चित्तस्य परं सुखम् ॥२७
चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तस्मिंस्त्यक्ते महीपते ।
सर्वाधिव्याधिसीमान्तः सर्वत्यागः कृतो भवेत् ॥२८

राजा ने कहा—हे सर्व तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ ऋषि ! वह सर्वत्र सर्वगत और सर्वदा त्याग योग्य सर्वात्मक वस्तु कौन-सी है, उसे मुझे बताइये ॥२२॥ कुम्भ वेशधारिणी चूडाला बोली—हे साधो ! सर्वगत आकार वाला तथा जीव, प्राण आदि संज्ञा वाला जो चित्त है, वह सर्व

जाने पर राजा शिखिध्वज अपने अन्तःकरण में बारम्बार विचार करता हुआ कहने लगा ।।३०।। वह बोला—हे देवपुत्र ! हृदयाकाश के पक्षी और अन्तःकरण रूपी तरु के बन्दर के समान यह मन बार-बार दूर खदेड़ा जाने पर भी पास आजाता है ।।३१।। हे प्रभो ! आप सर्व प्रथम तो मुझे चित्त का स्वरूप बतलाइये और फिर उसके परित्याग की समुचित विधि कहिये ।।३२।। कुम्भ ने कहा—हे राजन् ! चित्त का स्वरूप वासना ही है क्योंकि चित्त शब्द वासना का पर्याय कहा है ।।३३।। उसका त्याग सरल है, उदासीनता के अवलम्बन मात्र से वह सिद्ध हो जाता है। इसलिए स्पन्दन की अपेक्षा वह अधिक सुखसाध्य, राज्य की अपेक्षा अधिक आनन्दमय और पुष्प की अपेक्षा अधिक सुन्दर है ।।३४।। हे साधो ! अंकुर, शाखा, पत्र और मूल आदि के सहित इस चित्त का नाश है, इसी को चित्त का सम्यक त्याग समझो। अपरिच्छिन्न आत्मदर्शियों का कथन है कि बाह्य पदार्थों के समान केवल ममता का न रहना ही चित्त का सम्यक् त्याग नहीं है ।।३५।।

अहमर्थोदयो योऽयं स चित्तावेदनात्मकः ।
एतच्चित्तद्रुमस्याऽस्य विद्धि बीजं महामते ।।३६
परमात्मपदं क्षेत्रं क्षेत्रं मायामयस्य तत् ।
एतस्मात्प्रथमोद्भिन्नादङ्कुरोऽनुभवाकृतिः ।।३७
वासना विविधाः शाखाः फलस्पन्दादिनाऽन्विताः ।
अभाविता भवन्त्यन्तर्लूनाः संविद्बलेन ते ।।३८
गौणं शाखाविलवनं मुख्यं मूलविकर्तनम् ।
चित्तवृक्षस्य तेन त्वं मूलकाषपरो भव ।।३९
मुख्यत्वेन महाबुद्धे मूलदाहमलं कुरु ।
चित्तकण्टकखण्डस्य भवत्येवमचित्तता ।।४०
राजन् स्वात्मविचारोऽयं कोऽहं स्यामिति रूपधृक् ।
चित्तदुर्द्रुमबीजस्य दहने दहनः स्मृतः ।।४१
अप्रबुद्धे स्वगतं चित्तं दृश्यमिदं जगत् ।
असच्चित्तं निराकारं पूर्वमुत्पन्नमेव नो ।।४२

में व्यवहृत आप श्रेष्ठ काष्ठ के समान वाणी आदि के व्यापारों से निर्मुक्त होकर अवस्थित रहिये ॥४४॥

---

## ४७—कुम्भऋषि का अन्तर्हित होना

इति ते कथितं सर्वं शिखिध्वज महीपते ।
यथेदमुत्थितं सर्वं यथा च प्रविलीयते ॥१
एतच्छ्रुत्वा च बुद्ध्वा च मत्वा च मुनिनायक ।
यथेच्छसि तथा तिष्ठ दृष्टे स्पष्टे परे पदे ॥२
स्वर्गं गच्छाम्यहं पर्वकालेऽस्मिन्नारदो मुनिः ।
ब्रह्मलोकात् समायातो भवत्यमरसंसदि ॥३
न मां पश्यति चेत्तत्र तत्कोपमुपगच्छति ।
नोद्वेजनीया भव्येन गुरवो हि कदाचन ॥४
इति यावत्प्रतिवचः पुष्पहस्तः शिखिध्वजः ।
प्रणामाय ददात्येष तावदन्तर्धिमाययौ ॥५
प्रतिभानगतं वस्तु यथैवाऽन्ते न दृश्यते ।
न दृष्टवांस्तथा कुम्भमग्रे राजशिखिध्वजः ॥६
गते कुम्भे महीपालः परं विस्मयमाययौ ।
तमेव चिन्तयंश्चित्रं चित्रार्पित इवाऽभवत् ॥७

कुम्भऋषि रूपिणी चूडाला बोली—हे राजन् ! जैसे यह संसार उत्पन्न होता है, वैसे ही लीन होजाता है । यह सब ब्रह्मतत्त्व ही मैंने आपको बताया है ॥१॥ हे मुनीन्द्र ! इसे सुन कर और मनन कर साक्षात् दृष्ट और आवरण के नष्ट होने से प्रत्यक्ष हुए परम पद में कभी समाधि की प्रमुखता से और कभी व्यवहार से, जैसी आपकी इच्छा हो व्यवस्थित रहो ॥२॥ अब मैं स्वर्गलोक को जारहा हूं । इस समय मुनिवर नारदजी ब्रह्मलोक से वहाँ आगये होंगे ॥३॥ मुझे वहाँ न देख कर वे रुष्ट होंगे । भव्य पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे कभी गुरुजनों को उद्वेजित न करें ॥४॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! यह कह कर कुम्भ

रूपिणी चूडाला उठी और ज्योंही अन्तर्हित होगई ॥५॥ कुम्भऋषि के इस प्रकार जाने पर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह चित्र-लिखित से समान खड़ा हुआ सोचता रहा ॥६॥ राजा सोचने लगा कि अहो, विधाता की यह विचित्र लीला ही है जो कुम्भऋषि के बहाने से अभ्युदय रूपी ब्रह्म का मुझे ज्ञान दिया ॥७॥

शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
तृणाग्रमपि नेच्छामि संस्थितोऽस्मि यथास्थितम् ॥८
एवं संचिन्तयन् राजा नूनं निर्वासनाशयः ।
शैलादिव समुत्कीर्णो मौनमेवाऽवतस्थिवान् ॥९
तस्मिन्नेव ततो मौने निःसङ्कल्पे निराश्रये ।
प्रतिष्ठां निश्चलां प्राप्य स तस्थौ गिरिश्रृङ्गवत् ॥१०
निर्विकल्पसमाधानात् काष्ठकुड्योपमस्थितिः ।
एवं शिखिध्वजो राजा चूडालामधुना श्रृणु ॥११
शिखिध्वजं तं भर्तारं कुम्भवेषेण तेन सा ।
प्रबोध्याऽन्तर्धिमागत्य ततार तरसा नभः ॥१२
देवपुत्राकृतिं व्योम्नि जहौ मायाविनिर्मिताम् ।
विदग्धमुग्धमाकारं स्त्रैणं जग्राह सुन्दरम् ॥१३
नभसा स्वपुरं प्राप विवेशाऽन्तःपुरं क्षणात् ।
दृश्या बभूव लोकस्य नृपकर्म चकार च ॥१४

अब मैं शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ मैं अत्यन्त तृप्त एवं सुख में अवस्थित हूँ। मैं अब तृण के अग्रभाग को भी कामना नहीं रखता। मैं यथावत् अपने रूप में अवस्थित हूँ ॥८॥ इस प्रकार सोचता हुआ राजा वासना-रहित अन्तःकरण से युक्त हुआ, पाषाण प्रतिमा के समान वागादि चेष्टाओं को छोड़ कर अवस्थित होगया ॥९॥ फिर निर्विकल्प और समाधि में अचल प्रतिष्ठा वाला होकर वह राजा पर्वत-शिखर के समान अवस्थित था ॥१०॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! राजा शिखिध्वज तो इस प्रकार निर्विकल्प समाधि में काष्ठ और भीत के समान अचल रूप में अवस्थित होगया। अब चूडाला की दशा सुनो ॥११॥ कुम्भ रूपिणी

चूडाला अपने पति को उपदेश देकर स्वयं अन्तर्हित होकर वेग पूर्वक आकाश में उड़ गई ।।१२।। माया-रचित उस देवपुत्र वाले रूप का आकाश में त्याग करके उसने विदग्ध मुग्ध सुन्दर नारीवेश धारण कर लिया ।।१३।। आकाशमार्ग से उतर कर अपने नगरस्थ अन्तःपुर में चली गई। फिर सब के समक्ष उपस्थित होकर प्रजा-पालन रूप राज-कार्य में तत्पर होगई ।।१४।।

वासरत्रितयेनाऽथ पुनरम्बरमेत्य सा।
बभूव कुम्भो योगेन शिखिध्वजवनं ययौ ।।१५
तथा तत्रैव तं भूपमपश्यद्वनभूमिगा।
निर्विकल्पसमाधिस्थं समुत्कीर्णमिव द्रुमम् ।।१६
अहो नु खलु भो दिष्ट्या विश्रान्तोऽयमिहाऽऽत्मनि।
स्थितः स्वस्थः समः शान्त इत्युवाच पुनः पुनः ।।१७
तदेनं तावदेतस्माद्बोधयामि परात्पदात्।
इदानीमेव किं देहत्यागमेष करोति वै ।।१८
इति सञ्चिन्त्य चूडाला सिंहनादं चकार सा।
भूयो भूयः प्रभोरग्रे वनेचरभयप्रदम् ।।१९
न चचाल शिलेवाऽद्री यदा नादेन तेन सः।
भूयो भूयः कृतेनाऽपि तदा सा तं व्यचालयत् ।।२०
चालितः पातितोऽप्येव यदा न बुबुधे नृपः।
तदा संचिन्तयामास चूडाला कुम्भरूपिणी ।।२१

तीन दिन के पश्चात् उसने पुनः आकाश में कुम्भ ऋषि का रूप धारण किया और राजा शिखिध्वज वाले वन में जा पहुँची ।।१५।। वहाँ जाकर उसने राजा को यथा स्थान निर्विकल्प समाधि में निर्मित काष्ठ प्रतिमा के समान निश्चल अवस्थित देखा ।।१६।। तब उसने बारम्बार कहा कि अहो, अत्यन्त सौभाग्य का विषय है कि राजा अब शान्त, सम एवं स्वस्थरूप से आत्मलाभ करता हुआ अवस्थित है ।।१७।। अतः अब मैं इसे परमपद का बोध कराऊँ, क्योंकि प्रारब्ध कर्म के अवशिष्ट रहते हुए यह अभी अपने शरीर को क्यों छोड़े ? ।।१८।। यह सोचकर वह

चूडाला वनचरों को भी भयभीत करने वाला सिंहनाद बारम्बार करने लगी ॥१९॥ इससे राजा पर्वत में शिला के समान ही अविचलित रहा, तब चूडाला ने उसे अपने हाथों से खूब झकझोरा ॥२०॥ जब खूब झकझोरने पर भी वह न जागा तो कुम्भरूपिणी चूडाला विचार करने लगी ॥२१॥

अहो परिणतः साधुः स्वपदे भगवानयम् ।
तदेनं हि कया युक्त्या साम्प्रतं बोधयाम्यहम् ॥२२
अथवैनं महात्मानं किमर्थं बोधयाम्यहम् ।
विदेहं बोधमासाद्य तिष्ठत्वेष यथासुखम् ॥२३
अहमप्यङ्गनादेहमिमं त्यक्त्वा परं पदम् ।
अपुनर्जननायैव गच्छामीह हि किं समम् ॥२४
इति संचिन्त्य देहं स्वं त्यक्तुमभ्युद्यता सती ।
पुनः सञ्चिन्तयामास चूडाला सा महामतिः ॥२५
तं तथाभूतमालोक्य भर्तुर्देहं वराङ्गना ।
अनुज्झितवती देहं चिन्तयामास सत्वरम् ॥२६
चित्तत्वं सर्वगं शुद्धं प्रविश्याबोधयाम्यहम् ।
भविष्यद्बोधनं कान्तमथ तत्र हि संस्थिता ॥२७
इति सञ्चिन्त्य चूडाला देहं कारणपञ्जरम् ।
संत्यज्य प्राप चित्तत्वे स्थितिमाद्यन्तवर्जिते ॥२८

उसने सोचा—अहो, यह साधु अपने स्वरूप में अवस्थित होचुका है, अब मैं इसे किस प्रकार जगाऊँ ? ॥२२॥ अथवा अब इस महात्मा को जगाऊँ ही क्यों ? यह विदेह रूप से मोक्ष में ही अवस्थित क्यों न रहे ? ॥२३॥ मैं भी अब इस नारी-देह का त्याग कर पुनर्जन्म से निवृत्त होने के लिए साथ ही चली जाऊँ, क्योंकि इस जीवन में ही अब कौन-सा सुख है ? ॥२४॥ ऐसा सोच कर वह अपने देह-त्याग के लिए तत्पर हुई, परन्तु वह महा बुद्धिमती नारी पुनः विचार करने लगी ॥२५॥ अपने पति को उस प्रकार अवस्थित देखकर, वह अपने देह को न छोड़ती हुई सुन्दर अंगों वाली रानी इस प्रकार विचार करने लगी

।।२६।। मैं सर्व व्याप्त चितितत्व में प्रवेश कर वहाँ अवस्थित होकर अपने पति को जगाऊँगी ।।२७।। इस प्रकार विचार कर अपने शरीर से निकल कर वह राजा के शरीर में प्रविष्ट हुई और आदि-अन्त-रहित उसके हृदयस्थ ब्रह्मरूप चितितत्व में अवस्थित होगई ।।२८।।

तत्र सा चेतनास्मन्दं कृत्वा सत्त्ववतः प्रभोः ।
स्वं विवेश पुनर्देहं स्वं नीडमिव पक्षिणी ।।२९
कुम्भाकृतिरथोत्थाय निविष्टा कुसुमस्थले ।
साम गातुं प्रवृत्ता सा भ्रमरीवृन्दनिःस्वना ।।३०
तं सामस्वनमाकर्ण्य चित्सत्त्वगुणशालिनी ।
बुबुधे भूपतेर्देहे वसन्त इव पद्मिनी ।।३१
दृशं विकासयामास तां तदार्क इवाऽब्जिनीम् ।
गृहीतसत्त्वसम्पत्तिः शिखिध्वजमहीपतिः ।।३२
अपश्यत्कुम्भमग्रस्थं सामगायनतत्परम् ।
परेण वपुषा युक्तं सामवेदमिवाऽपरम् ।।३३
अहो बत वयं धन्याः पुनः प्राप्तो मुनिः स्वतः ।
इत्येवोदाहरन् राजा कुम्भाय कुसुम ददौ ।।३४
त्वत्प्रसादेन भगवन् दृष्टा दृश्यातिगा गतिः ।
प्राप्तः संसारसीमान्तो लब्धो लब्धव्यनिश्चयः ।।३५

वहाँ उसने जल और दूध के समान एक रस बनी हुई अपने पति की चेतना का स्पन्दन किया और फिर अपने देह में उसी प्रकार प्रविष्ट हो गई, जिस प्रकार अपने नीड़ में पक्षिणी ।।२९।। फिर कुम्भ की आकृति वाली वह चूडाला पुष्पों से समन्वित सुन्दर स्थान पर अवस्थित होकर भ्रमरियों के गुंजार को तिरस्कृत करने वाले अपने स्वर से सामगान करने लगी ।।३०।। उस गान को सुनकर सत्त्वगुण युक्त चिदाभास से युक्त राजा की बुद्धि नख के अग्रभाग से मस्तक पर्यन्त अहं की व्याप्ति वाली होकर वसन्त में पद्मिनी के समान अवबुद्ध होगई ।।३१।। जैसे सूर्य से कमलिनी विकास को प्राप्त होती है, वैसे सत्व से समन्वित राजा ने अपने समाधि से झुके हुए नेत्रों को खोला ।।३२।। तब उसने अपने समक्ष

सामगान करते हुए कुम्भ ऋषि को स्थित देखा जैसे कोई द्वितीय सामवेद ही दिव्य रूप में अवस्थित हो ॥३३॥ राजा शिखिध्वज ने कहा—अहो, मैं धन्य हूं जो मुनि यहाँ पुनः मिल रहे हैं, यह कह कर उसने पुष्पांजलि समर्पित की ॥३४॥ उसने कहा— हे प्रभो ! आपकी कृपा से मैं उस गति को देख चुका हूं, जो सम्पूर्ण दृश्यों को अतिक्रान्त कर चुकी है। मैं संसार की सीमा और लाभ योग्य वस्तु को प्राप्त कर चुका हूं ॥३५॥

चिरादतिचिरेणैव विश्रान्तोऽस्मि निरामयः।
लब्धं लब्धव्यमखिलं तृप्तः संश्चिरसंस्थितः ॥३६
नोपदेष्टव्यमस्माकं किञ्चिदप्युपयुज्यते।
सर्वत्रैवाऽतितृप्तोऽस्मि संस्थितोऽस्मि गतज्वरः ॥३७
ज्ञातमज्ञातमप्राप्तं त्यक्तं त्यक्तव्यमाश्रितम्
तत्त्वं परत्वं सत्त्वं मे त्वस्यैवाऽस्ति न किञ्चन ॥३८
निःसंसृतिर्विगतमोहभयो निरागो
नित्योदितः समसमाशयसर्वसौम्यः।
सर्वात्मकः सकलसङ्कुलनावियुक्त
आकाशकोशविशदः सममास्थितोऽस्मि ॥३९

चिरकाल के पश्चात् कुछ समय ही निरामय रूप से मैंने विश्राम किया और सम्पूर्ण प्राप्तव्य को प्राप्त कर लिया। अब मैं पूर्ण तृप्त रूप से चिरकाल के लिए अवस्थित हूं ॥३६॥ अब मेरे लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। मैं सर्वत्र सब प्रकार से अत्यन्त तृप्त हूँ और सन्ताप आदि जगज्ज्वर से रहित रूप में अवस्थित हूं ॥३७॥ मैं अज्ञात को जान गया हूं, अप्राप्त को प्राप्त कर चुका हूं, त्याज्य का त्याग करके मेरा मन वासना-रहित होगया है। मैं आत्मतत्त्व के परत्व में आश्रय ले चुका हूं, अब और कुछ मेरे लिए शेष नहीं है ॥३८॥ मैं संसार से शून्य, मोह, भय तथा रागादि दोषों से मुक्त, नित्य प्रकाश स्वरूप, सर्वत्र सम भावनामय, सर्व प्रकार सौम्य, सर्वरूप, सभी

कल्पनाओं से रहित तथा आकाशकोश के समान निर्मल एवं एकरूप में अवस्थित हूँ ॥३६॥

---

## ४८—समाधि से चित्त-समता की प्राप्ति

इत्यध्यात्मविचित्राभिः कथाभिस्तौ परस्परम् ।
आसाते वेद्यवेत्तारौ मुहूर्तत्रितयं वने ॥१
तत उत्थाय कस्मिंश्चित्सानौ सरससारसे ।
सरोवरे वने चैव विहृतौ नन्दनेऽत्रने ॥२
तेनाऽऽचारेण ताभिश्च कथाभिस्तौ वने ततः ।
नीतवन्तौ दिनान्यष्टौ तासु काननवीथिषु ॥३
आनर्चतुः पितृन्देवान्बुभुजाते च राघव ।
समं तप्ते च सिक्ते च समबुद्धी बभूवतुः ॥४
दिनैः कतिपयैरेव समचित्ततया तया ।
सत्त्वोदात्ततया चैव राजा कुम्भवदाबभौ ॥५
अथ तं सुरगर्भाभं चूडाला सा शिखिध्वजम् ।
दृष्ट्वा शोभामुपगतं चिन्तयामास मानिनी ॥६
अयं पतिरदीनात्मा रम्याश्च वनभूमयः ।
इयं स्थितिरनायासा या न कालेन वञ्चिता ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! इस प्रकार अध्यात्म विषय की कथाओं को परस्पर कहते हुए वे दोनो तत्त्वज्ञानी तीन मुहूर्त तक वन में वैसे ही स्थित रहे ॥१॥ फिर वे वहाँ से उठे और फल-मूल-आदि से युक्त एवं आनन्दप्रद एक पर्वत-शिखर पर जाकर उसी प्रकार विहार करने लगे, जिस प्रकार कि सरोवर में सरस कमल और सारस विहार करते हैं ॥२॥ तदनन्तर उस महावन की वीथियों में जीवन्मुक्तों के आचार का पालन करते हुए अद्भुत आध्यात्मिक कथाओं को परस्पर कहते हुए उन्होंने आठ दिन व्यतीत कर दिये ॥३॥ हे राघव ! वे दोनों ही पितर-देवताओं का एक साथ पूजन करते, साथ-साथ भोजन करते तथा तप्त

या शीतल प्रदेश विषय में भी समान मति थे ॥४॥ कुछ दिन व्यतीत होते-होते समान चित्त होने से अपने मन के उत्कृष्ट होजाने से राजा शिखिध्वज कुम्भ के समान ही शोभा पाने लगे ॥५॥ तब देवपुत्र के समान कान्ति और अद्भुत शोभा वाले राजा को देखती हुई मानिनी चूडाला सोचने लगी ॥६॥ एक ओर उदारात्मा यह मेरे पति और दूसरी ओर यह मनोहर अरण्य खण्ड, इस अनायास प्राप्त स्थिति के कारण हम काम-सुख से वंचित नहीं रह सकते ॥७॥

जीवन्मुक्तधियां भोगं यथाप्राप्तमतिष्ठताम् ।
एकाग्रहात्मिका तुच्छा मूढतैवोदिता भवेत् ॥८
समुज्झता यथाप्राप्तमपि वेद्यविदा सदा ।
अनिन्द्यं स्वमुदारार्थं किं तज्ज्ञेन कृतं भवेत् ॥९
तत्किञ्चिद्रचयाम्याशु प्रपञ्चं प्रेक्षया वने ।
येनाऽयं भूपतिर्भर्ता रमते मयि मानदः ॥१०
इति सञ्चिन्त्य चूडाला कुम्भवेषधरा पतिम् ।
प्राह काननगुल्मस्था कोकिलं कोकिला यथा ॥११
चैत्रमासस्य शुक्लोऽयं प्रतिपद्दिवसो महान् ।
अद्याऽऽस्थानं महारम्भं स्वर्गे भवति वै हरेः ॥१२
प्रतिपालयितव्यं मे त्वयेह च वनावनौ ।
क्रीडता नवपुष्पायां समुद्वेगमगच्छता ॥१३
आगच्छामि दिनान्तेऽद्य निर्विकल्पं नभस्तलात् ।
स्वर्गादतितरामेव त्वत्सङ्गो मम तुष्टये ॥१४

प्रारब्ध से उपलब्ध भोगों के प्रति अप्रतिष्ठा अथवा एक भोग निवृत्ति का आग्रह जीवन्मुक्त पुरुष के लिए उसकी तुच्छ मूर्खता ही तो होगी ॥८॥ यथा प्राप्त उदार विषय वाले अपने अनिन्द्य भोग का त्याग करके ज्ञातव्य के ज्ञानी पुरुष ने कौन-सा अधिक फल प्राप्त कर लिया ? ॥९॥ अतः मैं अपनी मति से वन में शीघ्र ही ऐसा प्रपंच रचूँ, जिससे मेरा यह मानप्रद पति मुझसे रति-सुख का लाभ कर सके ॥१०॥ ऐसा विचार कर वनकुंज में स्थित कुम्भ रूपिणी चूडाला ने किसी कोयल

द्वारा अपने पति से कुछ कहने के समान प्रिय वचन कहे ॥११॥ वह बोली—हे प्रिय ! यह चैत्र शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा है, आज स्वर्ग में एक वृहत् समारोह होगा, जिसमें सभी देवर्षिगण भाग लेंगे ॥१२॥ हे राजन् ! नवीन कुसुमों से समन्वित इस अरण्य भूमि में आप उद्वेग-रहित रूप से विहार करते हुए सायंकाल तक मेरी प्रतीक्षा करें ॥१३॥ आज ही सायंकाल तक मैं अवश्य लौट आऊँगा क्योंकि आपका समागम मेरे आत्म सन्तोष के निमित्त स्वर्ग से भी अधिक प्रिय है ॥१४॥

आगन्तव्यं त्वया शीघ्रमेवं वदति भूपतौ ।
पुप्लुवेऽथ वनाद्व्योम शरन्मुखपयोदवत् ॥१५
शिखिध्वजदृशामन्ते व्योम्नि कुम्भवपुर्जहौ ।
शान्तावर्तेव वारिश्रीर्मुग्धा स्वं रूपमाययौ ॥१६
प्राप मञ्जरिताकारकल्पवृक्षोपमं पुरम् ।
स्फुरत्पताकमात्मीयं स्वर्गरम्य दिवः पथा ॥१७
राजकार्याणि सर्वाणि तत्र सम्पाद्य सत्वरम् ।
शिखिध्वजस्य पुरतः पपात फलपुष्पवत् ॥१८
तत्र कालद्युति मुखं चकाराऽऽखिन्नमानसा ।
इन्दुं सनीहारमिव श्यामा खिन्नमिवाम्बुजम् ॥१९
तं दृष्ट्वा तादृशाकारं समुत्तस्थौ शिखिध्वजः ।
वभूव खिन्नचेताश्च समुवाचेदमादृतः ॥२०
देवपुत्र नमस्तेऽस्तु विमना इव लक्ष्यसे ।
कुम्भस्त्वं त्यज संरम्भमिदमासनमास्यताम् ॥२१

राजा शिखिध्वज ने कहा—हे प्रिय ! शीघ्र ही लौटना । तब चूडाला शरत्कालीन निर्जल मेघ के समान, उस वन से तुरन्त ही आकाश में जा पहुंची ॥१५॥ शिखिध्वज की दृष्टि से दूर आकाश में पहुँचकर उसने अपना कुम्भ रूप त्याग दिया और आवर्त की शान्ति होने पर जलश्री के अपने पूर्व रूप में आने के समान ही, वह मुग्धा अपने उसी रूप में आगई ॥१६॥ आकाश मार्ग द्वारा वह अपने स्वर्गोपम रमणीक नगर में पहुंच गई, जहाँ मंजरी युक्त आकृति वाले कल्पवृक्ष के समान पताका फहरा

रही थी ॥१७॥ वहाँ राज-कार्यों का शीघ्रता से सम्पादन करके लौटी और वृक्ष से फल के गिरने के समान राजा के सामने आ गिरी ॥१८॥ हिमयुक्त चन्द्र से खिन्न हुए कमल के समान खिन्न मन वाली वह श्यामा पति के निकट अपने मुख को खिन्न ही बनाये रही ॥१९॥ उसकी ऐसी आकृति देख कर राजा उठ खड़ा हुआ, उसका चित्तखिन्न होगया, आदर सहित बोला ॥२०॥ हे देवपुत्र ! आपको नमस्कार है । अ मुख का म्लान होना यह सिद्ध करता है कि आपका चित्त खिन्न आप कुम्भ ऋषि हैं, मानसिक सन्ताप को छोड़ कर इस आसन बैठिये ॥२१॥

तेन क्ष्मापतिनेत्युक्ते कुम्भ आहाऽऽसने विशन् ।
गिरा विपण्णया शीर्णवंशस्वनसमानया ॥२२
यावद्देहमवस्थासु समचित्ततयैव ये ।
कर्मेन्द्रियैर्न तिष्ठन्ति न ते तत्त्वविदः शठाः ॥२३
ये ह्यतत्त्वविदो मूढा राजन् बालतयैव ते
अवस्थाभ्यः पलायन्ते गृहीताभ्यः स्वभावतः ॥२४
एप देहदशादुःखपरित्यागो ह्यनुत्तमः ।
यत्साम्यं चेतसो योगान्न तु कर्मेन्द्रियस्थितेः ॥२५
परमेष्ठिप्रभृतयः सर्व एवोदिताशयाः ।
देहावस्थासु तिष्ठन्ति नियतेरेप निश्चयः ॥२६
अज्ञतत्त्वज्ञभूतानि दृश्यजातमिदं हि यत् ।
तत्सर्वमेव नियतिं यावत्यम्बु यथाऽम्बुधिम् ॥२७

इत्थं सुखेपु ननु दुःखदशासु चेत्थं
स्थातव्यमित्यविगतं यदिहाऽङ्ग जीवैः ।
अज्ञज्ञभूतनिवहस्फुरितस्तदेव
दुर्लङ्घ्य एप नियतो नियतेर्विलासः ॥२८

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! राजा शिखिध्वज के इस प्रकार कहने पर कुम्भ ऋषि ने आसन पर बैठते-बैठते फटे बांस जैसे स्वर में विषाद

मयी वाणी से कहा ॥२२॥ जब तक देह स्थित है तब तक भविष्य की हृष-शोक आदि अवस्थाओं में ज्ञान से प्राप्त समान चित्तता से कर्मेन्द्रियों की चेष्टाओं में जो तत्वज्ञानी स्थित नहीं रहते, वे प्रारब्ध से प्राप्त कर्मेन्द्रियों की चेष्टाओं के उद्भव होने मात्र से वे शठ नहीं हो सकते ॥२३॥ हे राजन्! जो तत्वज्ञानी नहीं हैं, वे मूर्ख समचित्तता के अभाव से हठात् गृहीत उन-उन कर्मेन्द्रियों की निग्रह अवस्थाओं से, स्वभाव से ही गिर जाते हैं ॥२४॥ समाधि द्वारा जो चित्त समता प्राप्त होती है, यही शरीरस्थ प्राप्त दुःखों का श्रेष्ठ त्याग है। कर्मेन्द्रियों के बलात् निग्रह से उनका सहन करना परित्याग नहीं हो सकता ॥२५॥ ब्रह्मादि सभी उदित आशय वाले ज्ञानीजन देहावस्था में ही अवस्थित रहते हैं। प्रारब्ध कर्म रूपी नियति का निश्चय यही है ॥२६॥ अज्ञानी या तत्वज्ञानी सब प्रकार के प्राणियों से युक्त यह दृश्य समूह जल के समुद्र की ओर भागने के समान नियति की ओर भागते हैं ॥२७॥ हे राजन्! इस जन्म में, इस जीव को इस प्रकार से सुखों और दुःखों की अवस्थाओं में अवस्थित रहना चाहिए। निज-निज कर्मानुसार जिसे जो-जो ललाटाक्षर प्राप्त है, उस-उस विषय में अज्ञानी अथवा ज्ञानी सभी भूतों में यह नियति का नियत विकास पूर्वोक्त प्रकार से, लंघनीय नहीं है ॥२८॥

---

## ४९—कुम्भ द्वारा दुर्वासा-शाप वर्णन्

एवं स्थिते महाभाग कणमुद्वेगमीदृशम् ।
लब्धवानसि देवोऽपि वद वेद्यविदां वर ॥१
शृणु कर्यमिदं चित्तं मदीयं वसुधाधिप ।
कथयामि तवाऽशेषं सर्गं यद्वृत्तमद्य मे ॥२
अहं तावदितो यातो भवते पुष्पमञ्जरीम् ।
दत्वा गगनमुल्लङ्घ्यसम्प्राप्तश्च त्रिविष्टपम् ॥३
ततः पिता महेन्द्रस्य सभास्थाने यथाक्रमम् ।
स्थित्वोत्थाय तथोत्थानकालेपित्रा विवर्जितः ॥४

इत्युक्त्वा क्षणमेकं सा तूष्णीं स्थित्वा मुनिस्थिती ।
धैर्यमाश्रित्य कुम्भोऽत्र पुनराह रघूद्वह ॥११

किमज्ञ इव शोचामि किं मम क्षतमात्मनः ।
यथागतमयं देहो मत्तोऽन्यो नु भविष्यति ॥१२

परिदेवनया कोऽर्थो देवपुत्र तथैतया ।
यदायाति तदायातु देहस्याऽऽत्मा न लिप्यते ॥१३

कानिचिद्यानि दु.खानि सुखानि विहितानि च ।
तानि सर्वाणि देहस्य देहिनो न तु कानिचित् ॥१४

हे मानद ! मेरे उस वचन को सुनते ही महर्षि दुर्वासा ने मुझे शाप दे डाला कि जा, तू अपने इस दुर्वाक्य के कारण हाव-भाव और स्तन-केश वाली कमनीय नारी रात्रि काल में नित्यप्रति होजाया करेगी । ८॥ हे साधो ! इस प्रकार मैं आकाश से उद्विग्न मन होकर ही यहाँ उतरा हूँ । मैंने अपने नारीत्व प्राप्ति की पूरी बात आपको सुनादी है ॥९॥ इस स्त्रीभाव का निर्वाह मैं किस प्रकार कर पाऊँगा । नित्यप्रति रात्रि के समय स्तनधारिणी नारी होने के कारण अपने पिताजी के समक्ष क्या कह सकूँगा ? ॥१०॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! यह कह कर कुम्भ ऋषि एक क्षण भर चित्त को एकाग्र करते हुए मौन रहे, फिर धैर्य पूर्वक कहने लगे ॥११॥ परन्तु, यह सब मैं अज्ञानी के समान ही सोच रहा हूँ । इससे मेरी आत्मा को क्या हानि हुई ? प्रारब्धवश प्राप्त स्त्रीत्व को आत्मा से भिन्न यह देह ही तो अनुभव करेगा । इसके द्वारा मेरे संग-रहित चिन्मात्र स्वरूप का क्या बिगड़ा ? ॥१२॥ राजा बोले—हे देवपुत्र ! इस प्रकार दुःखित होने से क्या लाभ होगा ? प्रारब्ध से जो प्राप्त होता है, उसे होने दो, उससे आत्मा तो लिप्त नहीं हो सकती ॥१३॥ जो सुख या दुःख की प्राप्ति होती है, वह सब देह को ही होती है, उनमें से किसी की भी प्राप्ति आत्मा को नही होती ॥१४॥

तावेवमादिभिर्वाक्यैरन्योन्याश्वासनं स्वयम् ।
कृत्वा स्थितौ वनस्निग्धौ सहृदौ खेदिनौ मिथः ॥१५

अथाऽर्कोऽप्यस्य कुम्भस्य स्त्रीत्वमुत्पादयन्निव ।
जगामाऽस्तं जगद्दीपो दीपः स्नेहक्षयादिव ॥१६
व्यवहारभरैः सार्धं पद्माः संकोचमाययुः ।
मार्गाश्च पथिकैः सार्धं पान्थस्त्रीहृदयानि च ॥१७
ततः कुम्भः शनैस्तत्र स्त्रैणमभ्याहरन्वपुः ।
शिखिध्वजं पुरःसंस्थं प्रोवाच गलदक्षरम् ॥१८
पतामीव स्फुरामीव द्रवामीवाऽङ्गयष्टिभिः ।
लज्जयेव च ते राजन् मन्ये स्त्रीत्वं व्रजाम्यहम् ॥१९
पश्येमे परिवर्धन्ते राजन् मम शिरोरुहाः ।
प्रस्फुरत्तारकामाला दिनान्ततिमिरा इव ॥२०
पश्येमौ मम जायेते प्रोन्मुखावुरसि स्तनौ ।
कोरकाविव पद्मिन्या वसन्ते गगनोन्मुखौ ॥२१

वसिष्ठजी बोले—हे राघव ! इस प्रकार के अनेक आश्वासन वाक्यों के द्वारा वे परस्पर आश्वासित हुए। उन दोनों को वन से अत्यन्त प्रीति थी, वे दोनों अभिन्न मित्र और एक-दूसरे के दुःख के साथी थे ॥१५॥ परस्पर के आश्वासन के पश्चात् जगत् के दीपक रूप सूर्य भी मानों कुम्भ को स्त्रीरूपत्व की प्राप्ति के उद्देश्य से, तैल-रहित दीपक के समान अस्ताचलगामी हुए ॥१६॥ लोक-व्यवहार के साथ कमल मुंदने लगे, पथिकों से रहित होते हुए मार्ग अन्धकार में छिपने लगे। पथिक स्त्री पुरुषों के अन्तःकरण वियोग-दुःख के अन्धकार से परिपूर्ण होने लगे ॥१७॥ फिर शनैः शनैः अंगों में स्त्रीत्व रूपी परिवर्तन को प्राप्त होते हुए कुम्भ ऋषि अपने समक्ष बैठे हुए राजा से गद्-गद् स्वर में कहने लगे ॥१८॥ कुम्भ ने कहा—हे राजन् ! अब मैं अनुभव करता हूँ कि अपने देह की अंग-लताओं के साथ में पृथिवी पर गिरता हुआ स्फुरण को प्राप्त होरहा हूं। मैं समझता हूँ कि अब मैं लज्जायुक्त स्त्रीत्व को प्राप्त करता जारहा हूँ ॥१९॥ देखो, मेरे यह केश, दिन के अवसान पर बढ़ते हुए अन्धकार के समान, स्फुरणीय तारमाल से रहित समन्वित होते हुए वृद्धि को प्राप्त होरहे हैं ॥२०॥ और

यह देखो, वसन्त-काल में आकाशोन्मुख कमलिनी की कलियों के समान मेरे वक्ष पर ऊर्ध्वमुख स्तन निकलते आरहे हैं ॥२१॥

हा धिक्कष्टमहो साधो स्थित एवाऽहमङ्गना ।
संविदानुभवाम्यन्तर्नितम्बजघने त्विमे ॥२२
विपिने कुम्भ इत्युक्त्वा तुष्णीं खिन्नो बभूव ह ।
राजाऽपि च तमालोक्य तथैवाऽऽसीद्विषण्णधीः ॥२३
मुहूर्तमात्रेणोवाच शिखिध्वज इदं वचः ।
कष्टं सोऽयं महासत्त्वः सम्पन्ना वरवर्णिनी ॥२४
साधो विदितवेद्यस्त्वं जानासि नियतेर्गतिम् ।
अवश्यभाविन्यर्थेऽस्मिन् मा खिन्नहृदयो भव ॥२५
एवमस्त्वनुतिष्ठामि यामिनीस्त्रीत्वमात्मनः ।
न खेदमनुगच्छामि नियतिः केन लङ्घ्यते ॥२६
इति निर्णीय तौ खेदं तं नीत्वा तनुतामिव ।
एकतल्पे निशां तूष्णीं नीतवन्तौ चिरेण ताम् ॥२७
विजहार वनान्तेषु कुमारीधर्मिणी निशि ।
कुम्भरूपधरा चाऽह्नि भर्त्रा मित्रेण संयुता ॥२८
कैलासमन्दरमहेन्द्रसुमेरुसह्य-
सानुष्वविस्खलितयोगगमागमा सा ।
साकं प्रियेण सुहृदा भवता यथेच्छं
स्रग्दामहारवलिता विजहार नारी ॥२९

हे साधो ! मुझे धिक्कार है, अब इस पूर्ण स्त्रीत्व को पाकर मैं कैसी कष्ट पूर्ण स्थिति में पड़ गया हूं । मैं अब नितम्ब और इन मांसल जंघाओं का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूं ॥२२॥ इस प्रकार कह कर चित्त से कुम्भ उस वन में मौन अवस्थित होगया । राजा शिखिध्वज भी उसे विषादमय देखकर उसी अवस्था मे स्थित थे ॥२३॥ एक मुहूर्त्त भर विचार करने के पश्चात् राजा ने कहा—वास्तव में यह कष्ट का ही विषय है कि यह स्वच्छ चित्त वाले महर्षि कुम्भ स्त्री होगये ॥२४॥ हे साधो ! आप तो सभी ज्ञातव्य विषय के ज्ञाता हैं और भावी को भी

पूर्णतया जानते हैं। इसलिए इस अवश्यंभावी नारीत्व की प्राप्ति पर खिन्न मत होओ ॥२५॥ कुम्भ बोला—हे राजन् ! आप ठीक कहते हैं। अवश्यंभावी प्राप्त स्त्रीत्व का अब तो खेद छोड़ कर निर्वाह करूँगा ही। क्योंकि भाग्य चक्र के उल्लघन में कोई समर्थ नहीं है ॥२६॥ कुम्भ ने ऐसा निर्णय किया और खिन्नता को त्याग कर एक शय्या पर ही दोनों ने शयन किया ॥२७॥ इस प्रकार रात्रि में कुमारी धर्म का आचरण करती हुई चूडाला, दिन में कुम्भ रूप धारण किये पति के साथ वन में विचरण करती थी ॥२८॥ कैलास, मन्दराचल, महेन्द्राचल, मेरु एवं सह्याद्रि आदि पर्वत-शिखरों पर योगबल से अस्खलित रूप से गमनागमन-रत अपने प्रिय मित्र रूपी पति के साथ पुष्पमालादि से अलंकृत होकर वह इच्छानुसार विहार करने लगी ॥२९॥

---

## ५०—चूडाला और शिखिध्वज का पुनर्विवाह

ततः कतिपयेष्वेव दिवसेषु गतेषु तम्।
इदं प्रोवाच भर्तारं कुम्भरूपधरा सती ॥१

राजन् राजीवपत्राक्ष ममेदं वचनं शृणु।
निशायां प्रत्यहं तावत्स्थित एवाऽहमङ्गना ॥२
तदिच्छाम्यङ्गनाधर्मं निपुणीकर्तुमीदृशम्।
भर्त्रे कस्मैचिदात्मानं विवाहेन ददाम्यहम् ॥३
तद्भवानेव मे भर्ता रोचते भुवनत्रये।
गृहाण मां विवाहेन भार्यात्वे निशि सर्वदा ॥४

इच्छानिच्छे फले त्यक्त्वा समन्तात्सर्ववस्तुषु।
वयं न सेच्छा नाऽनिच्छाः कुर्मस्तेनेदमोप्सितम् ॥५
कृतेनाऽनेन कार्येण न शुभं नाऽशुभं सखे।
पश्यामि तन्महाबुद्धे यथेच्छसि तथा कुरु ॥६
यद्येवं तन्महीपाल लग्नमद्यैव शोभनम्।
राकेयं श्रावणस्याऽस्य ह्यः सर्वं गणितं मया ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! इसके कुछ दिनों पश्चात् कुम्भरूपिणी चूडाला ने अपने पति शिखिध्वज से कहा ।।१।। हे कमलपत्र जैसे नेत्र वाले राजन् ! मेरे वचनों को सुनो । मैं नित्य रात्रिकाल में स्त्री होकर ही अवस्थित रहता हूँ ।।२।। तब मैं यह इच्छा करता हूँ कि इस स्त्रीत्व को सफल ही बनाया जाय और इस उद्देश्य से अपने स्त्री देह को किसी पुरुष से विवाह करके उसे सौंप दूँ ।।३।। तीनों लोकों में मुझे आप ही ऐसे रुचिकर लग रहे हैं, जिन्हें पति रूप में वरण कर सकूँ । इसलिए आप रात्रि में विवाह द्वारा मुझे अपनी पत्नी बना लीजिए ।।४।। हमने सब वस्तु के प्रति इच्छा, अनिच्छा और उससे उत्पन्न होने वाले फलों का भी परित्याग कर दिया है, इसलिए इस अभीष्ट कार्य के करने से हमारी कुछ हानि नहीं होगी ।।५।। राजा बोला—ठीक है, इस विवाह के होने से मैं शुभ अशुभ फल नहीं देखता । अतः हे महामते ! आपकी जो इच्छा हो, वही करें ।।६।। कुम्भ ने कहा—हे राजन् ! यदि ऐसा है तो आज श्रावण की पूर्णिमा और शुभ लग्न है । मैं गणित द्वारा विवाहलग्न आदि को जान चुका हूँ ।।७।।

रात्रावद्योदिते चन्द्रे परिपूर्णकलामले ।
जन्यत्रो नौ महाबाहो द्वयोरेव भविष्यति ।।८
इत्युक्त्वा कुम्भ उत्थाय सह तेन महीभृता ।
कुसुमावचयं चक्रे तथा रत्नादिसञ्चयम् ।।९
कल्पवृक्षदुकूलानि परिधाय सितानि तौ ।
फलानि भुक्त्वा जन्यत्रस्थानमाययतुः क्रमात् ।।१०
एतावताऽथ कालेन वधूत्वं कुम्भ आययौ ।
घनस्तनभराक्रान्तो बभूवाऽऽशु विलासवान् ।।११
अहं मदनिका नाम भार्याऽस्मि तव मानद ।
पादयोस्ते प्रणामोऽय सस्नेहं क्रियते मया ।।१२
तत्र पुष्पलताजालैः काण्डं प्रति शिलाङ्कितैः ।
मुक्ताकुसुमजालानां प्रकरैः स्तवकोपमैः ।।१३

चतुर्दिक्षं चतुर्भिश्च नालिकेरमहाफलैः ।
पूर्णकुम्भैस्तथा गङ्गावारिपूर्णैः प्रकल्पितैः ॥१४

हे महाबाहो ! आज रात्रि में सभी कलाओं से युक्त स्वच्छ चन्द्रमा के उदय होने पर हम दोनों का विवाह होगा ॥८॥ यह कह कर उठता हुआ कुम्भ राजा के साथ पुष्प-चयन और रत्नादि एकत्र करने लगा ॥९॥ फिर कल्पवृक्ष से बने श्वेत सुन्दर वस्त्रों को धारण कर और कल्पवृक्ष के ही फल खाकर वे दोनों शास्त्रक्रम से विवाह-वेदी की ओर बढ़े ॥१०॥ इसी अवधि में मुनिवर कुम्भ वधु बन गये, वे घने स्तन-मण्डल के भार से परिपूर्ण एवं विलासमय होगये ॥११॥ तब वह वधु रूपधारिणी चूडाला बोली—हे मानद ! अब मैं मदनिका नाम वाली आपकी पत्नी हूँ और आपके चरणों में परम स्नेह पूर्वक प्रणाम करती हूँ ॥१२॥ वसिष्ठजी बोले—हे राघव ! इसके पश्चात् उन दोनों ने वेदी के स्तम्भों को पुष्प लताओं से सज्जित किया । उन लताओं में हीरे, मानक आदि नवरत्नों के फल-गुच्छ भी लटकाये गये थे । उसकी चारों दिशाओं में नारियल और गंगाजल से युक्त चार कुम्भ रखे हुए थे ॥१३-१४॥

ज्वालयामासतुस्तस्या मध्ये चन्दनदारुभिः ।
ज्वलनं ज्वालितज्वालं दक्षिणस्थं प्रदक्षिणम् ॥१५
पूर्वाभिमुखमेवाऽग्नेरग्रे पल्लवविष्टरे ।
नियोज्य दम्पती कान्तौ तयोर्विविशतुः स्वयम् ॥१६
स हुत्वा तिललाजानि पावकाय शिखिध्वजः ।
उत्थायोत्थाय कान्तां स पाणिभ्यां स्वयमाददे ॥१७
अन्योन्य शोभमानौ तौ भवाविव वने शिवौ ।
चक्रतुर्दम्पती तस्य पावकस्य प्रदक्षिणम् ॥१८
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा लाजांस्त्यक्त्वाऽथ वह्नये ।
भार्यावरौ समं तुष्टौ करौ तत्यजतुः क्रमात् ॥१९
स्मयमानमुखौ कान्तौ चन्द्राविव नवोदितौ ।
पूर्वोपरचिते पुष्पतल्पे विवशतुर्नवे ॥२०

तैस्तैर्मिथः प्रणयपेशलवाग्विलासै-
स्तत्कालकार्यसुभगैः प्रणयोपचारैः।
सत्कान्तयोर्नवनवेन तयोः सुखेन
दीर्घमुहूर्त इव सा रजनी जगाम ॥२१

फिर उन्होंने वेदी के मध्य अग्नि-स्थापन कर चन्दन-काष्ठ से उसे प्रज्वलित किया और उसे दाहिनी ओर लेकर प्रदक्षिणा की। फिर वे कमनीय दम्पति पल्लवों के आसन पर दक्षिण की ओर मुख करके बैठ गये ॥१५-१६॥ तब राजा शिखिध्वज ने उस अग्नि में तिल और लाजा का होम करते हुए बारंबार उठ कर अपने हाथों से उस रमणीयामदनिका का परिग्रहण किया ॥१७॥ फिर वन में शिव-पार्वती के समान सुशोभित उस मंगल रूप दम्पति ने उठ कर अग्नि की प्रदक्षिणा की ॥१८॥ अग्नि की तीन प्रदक्षिनाएँ करके उन्होंने लाजा का होम किया। फिर इस विवाह क्रम से परम तुष्ट हुए वर-वधु ने परस्पर पकड़े हुए हाथ पृथक् कर लिये ॥१९॥ उस समय दोनों के मुख ऐसे कान्तिमय लग रहे थे जैसे दो नव चन्द्रमा उदित हुए हों। इसके बाद वे दोनों पुष्पों की पूर्व निर्मित शैय्या पर शयन करने के लिए चले गए ॥२०॥ फिर परस्पर में अनिर्वचनीय प्रेममयी वाणी के विविध विलासों और विभिन्न प्रणयोपचारों तथा नवीन समागमादि सुख से परिपूर्ण वह दीर्घरात्रि एक मुहूर्त्त के समान व्यतीत होगई ॥२१॥

---

## ५१—माया द्वारा इन्द्र-दर्शन

अथ सूर्याख्यरङ्गेण रञ्जिते भुवनोदरे।
शिखिध्वजाङ्गना प्रातर्मदनी कुम्भतां ययौ ॥१

एवं महेन्द्रदर्यां तावुभौ कुम्भशिखिध्वजौ।
स्वयं विवाहिताविष्टौ सम्पन्नौ देवदम्पती ॥२

ततो यातेषु मासेषु शनैः कतिपयेषु सा।
चूडाला चिन्तयामास देवपुत्रकरूपिणी ॥३

सुरूपभोगभारेण परीक्षेऽहं शिखिध्वजम् ।
मा कदाचन चेतोऽस्य भोगेषु रतिमेष्यति ।।४
इति सञ्चिन्त्य चूडाला मायया विपिनावनौ ।
आगतं दर्शयामास समुराप्सरसं हरिम् ।।५
इन्द्रमभ्यागतं दृष्ट्वा परिवारसमन्वितम् ।
यथावत् पूजयामास वनसंस्थः शिखिध्वजः ।।६
आत्मना किं कृता दूरादभ्यागमकदर्थना ।
देवराज यथा तन्मे प्रसादाद्वक्तुमर्हषि ।।७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! इस प्रकार रात्रि के व्यतीत होने पर जब भास्कर के उदय होने की लाली ने सम्पूर्ण लोक को रंजित कर दिया, तब राजा शिखिध्वज की वह पत्नी पुनः कुम्भ रूप होगई ।।१।। इस प्रकार कुम्भ ऋषि और राजा शिखिध्वज ने स्वयं ही विवाह कर लिया और देवताओं जैसे ऐश्वर्यों से परिपूर्ण होकर देवदम्पति होगए ।।२।। इसके पश्चात् शनैः शनैः कुछ मास बीतने पर देवपुत्र रूपिणी चूडाला इस प्रकार विचार करने लगी ।।३।। अब मैं नाना प्रकार के सुरम्य उपभोगों को प्रस्तुत करके शिखिध्वज की परीक्षा लूँगी । इस प्रकार जब इसकी अनासक्ति दृढ़ होजायगी, तब यह भोगों को नितान्त छोड़ देगा ।।४।। ऐसा विचार कर उसने उस अरण्यभूमि में अपनी माया के द्वारा देवताओं और अप्सराओं सहित आते हुए इन्द्र का दिग्दर्शन कराया ।।५।। सपरिवार आये हुए इन्द्र को देखते ही उस वनवासी राजा ने यथा विधि अर्घ्य, पाद्य आदि से उनका पूजन किया ।।६।। फिर राजा बोला—हे देवराज ! आपने स्वयं इतनी दूर से यहाँ आने का कष्ट क्यों किया है ? आप अपने यहाँ आने का कारण प्रसन्नतापूर्वक बताइये ।।७।।

इमे वयमिहाऽऽयातास्त्वद्गुणातिशयेन खात् ।
हृदि लग्नेन सूत्रेण खगा वनगता इव ।।८
उत्तिष्ठ स्वर्गमागच्छ तत्र सर्वे त्वदुन्मुखाः ।
त्वद्गुणश्रवणाश्चर्याः स्थिता देवाङ्गनागणाः ।।९

सर्वं स्वर्गसमाचारं वेद्मि देवाधिनायक।
किन्तु सर्वत्र मे स्वर्गो नियतो न तु कुत्रचित् ॥१०
साधो विदितवेद्यानां परिपूर्णधियां समम्।
सज्जनाचरितं युक्तं मन्ये भोगोपसेवनम् ॥११
देवेशे प्रोक्तवत्येवं तूष्णीमेव स्थिते नृपे।
किमितो नापयाम्येष त्वमिति प्रोक्तवान् हरिः ॥१२
नाऽहमद्यैव कालेन वदतीति शिखिध्वजे।
कल्याणं तेऽस्तु कुम्भेति वदन्नन्तर्धिमाययौ ॥१३
तद्देववृन्दमखिलं त्रिदशेशयुक्तं
तत्र क्षणादलमदृश्यमभूद्द्वितीयम्।
कल्लोलराशिरिव वारिनिधौ प्रशान्ते
वाते स्फुरन्मकरफेनफणीन्द्रवृन्दः ॥१४

इन्द्र ने उत्तर दिया—हे राजन्! आपके हृदयस्थ सद्गुणों के आकर्षण से ही हम, वशीभूत हुए वन पक्षियों के समान यहाँ चले आये हैं ॥८॥ अब आप उठ कर स्वर्ग चलिये। वहाँ आपके गुणों की प्रशंसा सुनकर विस्मय को प्राप्त सब देवगण और देवांगनाए आपकी प्रतीक्षा में तत्पर हैं ॥९॥ राजा बोला—हे देवाधिनायक! मैं तो सभी स्थानों को स्वर्ग के समान ही सुखप्रद मानता हूँ। क्योंकि जो भूमानन्दात्मक परम आत्मा है, वही स्वर्ग है, उसकी सत्ता सर्वत्र है, अन्यत्र कहीं भी मेरे लिए स्वर्ग नहीं है ॥१०॥ इन्द्र बोले—हे साधो! जिन्हें ज्ञातव्य तत्व का ज्ञान होगया है और जो परिपूर्ण बुद्धि वाले होगए हैं, उनके द्वारा भोगों का उपभोग करना या न करना समान ही है। ऐसा होने पर भी अपने प्रारब्ध का क्षय करने के लिए सज्जनों ने विषयों का उपभोग किया ही है, मैं भी इसे उचित मानता हूँ ॥११॥ यद्यपि इन्द्र ने पुनः राजा से इसी प्रकार कहा परन्तु स्वर्गगमनमें अनिच्छुक राजा ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, तब उसे मौन बैठा देख कर इन्द्र ने खेद सहित कहा—हे राजन्! जब आप स्वर्ग-गमन में निरपेक्ष ही हैं, तो मुझे यहाँ से चला क्यों नहीं जाना चाहिए। क्योंकि मेरे आगमन का

प्रयोजन तो आपसे सिद्ध हो नहीं रहा है ॥१२॥ तदनन्तर राजा शिखिध्वज कह ही रहे थे कि मैं आज तो स्वर्ग नहीं चल सकता, तभी 'हे राजन् ! आपका शीघ्र कल्याण हो' कहते हुए इन्द्र अन्तर्हित होगए ॥१३॥ इन्द्र के अन्तर्धान होते ही उनके साथ आये हुए देवतागण भी उस प्रकार अन्तर्हित होगए, जैसे कि वायु के रुकने पर समुद्रस्थ मगर, सर्प, फेन आदि को व्याकुल करने वाली तरंगें अन्तर्हित होजाती हैं ॥१४॥

---

## ५२—माया द्वारा विचित्र दृश्यों का प्राकट्य

तां मायां शममानीय चूडाला समचिन्तयत् ।
दिष्टचा भोगेच्छया नाऽयं ह्रियते वसुधाधिपः ॥१
भूय एव प्रपञ्चेन विमृशाम्येव सादरम् ।
रागद्वेषप्रधानेन केनचिद्बुद्धिहारिणा ॥२
इति सञ्चिन्त्य सा रात्राविन्दावभ्युदिते वने ।
गृहीतमङ्गनारूपं कान्ता मदनिका सती ॥३
वाते वहति फुल्लाढ्ये मधुरामोदमांसले ।
सन्ध्याजप्यपरे नद्यास्तीरसंस्थे शिखिध्वजे ॥४
सन्तानकलतागेहं नीरन्ध्रैः पुष्पगुच्छकैः ।
शुद्धान्तं वनदेवीनां प्रविवेश मदान्विता ॥५
तत्र सङ्कल्पिते पुष्पशयने माल्यमालिता ।
कण्ठे सङ्कल्पितं कान्तं खिङ्गमादाय संस्थिता ॥६
आगत्याऽन्विष्य कुञ्जात्स प्रददर्श शिखिध्वजः ।
लतागेहे मदनिकां कण्ठे खिङ्गं मनोहरम् ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! इन्द्रागमन की माया का शमन करने के पश्चात् चूडाला ने सोचा कि यह राजा विषय-भोग की ओर आकृष्ट नहीं है ॥१॥ अब पुनः मैं रागद्वेष-प्रधान एवं बुद्धि को क्षुब्ध करने वाले एक अन्य माया प्रपंच की रचना द्वारा सादर परीक्षा लेती हूँ ॥२॥ यह निश्चय कर वह रात्रिकाल में चन्द्रोदय के पश्चात् जब अपने मद-

निका रूप में परिवर्तित हुई ॥३॥ तब विकसित अरण्य-पुष्पों के स्पर्श से सुगन्धित हुई पर्वतीय वायु प्रवहमान हुई। उस समय शिखिध्वज सांध्य जप में भागीरथी के तट पर स्थित थे। तभी सघन पुष्प गुच्छों से समन्वित, देवतरुओं से निर्मित सघन कुंज में मालाओं से अलंकृत वह कोममयी मदनिका प्रविष्ट हुई और अपने संकल्प से प्रकट की हुई पुष्प-शय्या पर माया-रचित एक युवक को, जोकि दाढ़ी-मूँछ विहीन तथा शिखिध्वज से अधिक मनोहर प्रतीत होता था, अपने कंठ से लगा कर लेट गई ॥४-६॥ इधर जप पूर्ण होने पर संध्या स्थान से उठ कर राजा शिखिध्वज मदनिका को खोजता हुआ उस कुंज लता में पहुँचा, जहाँ उसने, उसे जार पुरुष के कंठ से लगे हुए देखा ॥७॥

तदालोक्याऽविकारेण चेतसाऽलं तुतोष सः।
अहो सुखं स्थितौ खिन्नावित्याह स शिखिध्वजः ॥८
तिष्ठताऽङ्ग यथाकामं सुखं खिन्नौ यथास्थितम्।
विघ्न माकरवं भीताविर्युक्त्वा निर्जगाम सः ॥९
ततो मुहूर्तमात्रेण प्रपञ्चं तमुपेक्ष्य सा।
निर्ययौ दर्शयन्ती स्वं रतिफुल्लाकुल वपु. ॥१०
उपविष्टं ददर्शैनं नृपं हेम शिलातले।
समाधिसंस्थमेकान्ते मनाग्विकसितेक्षणम् ॥११
तं प्रदेशमुपागम्य लज्जावनमिताननना।
तूष्णीमासीत् क्षणं खिन्ना म्लाना मदनिकाऽङ्गना ॥१२
क्षणाच्छिखिध्वजो ध्यानाद्विरतस्तामुवाच ह।
अत्यन्तमधुरं वाक्यमिदमक्षुब्धया धिया ॥ ३

उसे इस प्रकार देख कर क्रोधरूपी विकार से शून्य अन्तःकरण वाले राजा ने सन्तोष पूर्वक यही सोचा कि अहो, यह दोनों इस समय कैसे सुख में निमग्न हैं ॥८॥ अकस्मात् अपने आने के कारण उन दोनों को भयभीत हुए देख कर राजा बोला—तुम दोनों जिस प्रकार सुखपूर्वक अवस्थित हो, वैसे ही रहो, मैं कोई विघ्न नहीं डालता। यह कह कर राजा वहाँ से चला गया ॥९॥ फिर एक मुहूर्त मात्र में उस माया-दृश्य

का शमन कर चूडाला, रति कर्म से प्रफुल्लित हुए अपने शरीर को दिखलाती हुई लताकुंज से निकली ॥१०॥ तब उसने राजा को एक एकान्त हेमशिला पर अधमुंदे नेत्रों से समाधि लगाये बैठे हुए देखा ॥११॥ वहाँ जाकर वह लज्जा से नीचा मुख किये हुए क्षण भर मौन खड़ी रही। उसका मुख अपने कर्म से म्लान और खिन्न होरहा था ॥१२॥ क्षणभर बाद ही राजा शिखिध्वज ध्यान छोड़ कर उठा और क्षोभ-रहित अन्तःकरण से मदनिका से मधुर वचन कहने लगा ॥१३॥

तन्वि किं शीघ्रमेव त्वं विघ्नितानन्दमागता।
आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानिचित् ॥१४
अहमेतेन चाऽर्थेन नोद्वेगं यामि मानिनि।
यद्यदिष्टतमं लोके तत्तदेवं विजानता ॥१५
अबला स्त्री तथा बाला मूढाऽहमपराधिनी :
क्षन्तुमर्हसि नाथ त्वं क्षमावन्तो हि साधवः ॥१६
मन्युर्मम न बालेऽन्तर्विद्यते ख इव द्रुमः।
केवलं साधुनिन्द्यत्वान्नेच्छामि त्वामहं वधूम् ॥१७
सुहृत्त्वेन वनान्तेषु पूर्ववत् सुखमङ्गने।
वीतरागतया नित्यं सममेव रमावहे ॥१८

हे तन्वि ! क्या तुम्हारे आनन्द में शीघ्र ही कोई बाधक हुआ है ? तुम उस आनन्द का पूर्ण उपभोग तो कर सकीं न ? क्योंकि आनन्द के लिए ही सब जीव विभिन्न वस्तुओं की उपलब्धि में यत्नशील रहते हैं ॥१४॥ हे मानिनी ! तुम्हारे इस कार्य से मैं किसी प्रकार भी उद्वेगित नहीं हूं। क्योंकि संसार की वस्तु स्थिति के ज्ञाता यह जानते हैं कि संसार में सभी इष्टतम वस्तुएं तुम्हारे समान ( पर उपभोग्य ) ही हैं ॥१५॥ चूडाला बोली—हे नाथ ! मैं मूर्ख बाला अबला एवं घोर अपराधिनी हूं, आप मुझे क्षमा कीजिए, क्योंकि साधुजन तो क्षमावान् ही होते हैं ॥१६॥ राजा ने कहा—हे बाले ! मेरे हृदय में तुम्हारे इस कार्य से आकाशवृक्ष के समान किंचित् भी क्रोध नहीं है। परन्तु साधुजनों की निन्दा के भय से मैं तुम्हें अब अपनी पत्नी के रूप में नहीं

रखना चाहता ॥१७॥ हे अंगने ! अब हम दोनों परस्पर मित्र रूप से पूर्ववत् राग-रहित होकर इन वन प्रान्तों में सुखपूर्वक विहार करेंगे ॥१८॥

एवं समतया तत्र स्थिते तस्मिञ्छिखिध्वजे ।
चूडाला चिन्तयामास तत्सत्त्वेनोदिताशया ॥१९
अहो बत परं साम्य भगवानयमागतः ।
वीतरागतयाऽक्रोधो जीवन्मुक्तोऽवतिष्ठते ॥२०
आत्मवृत्तान्तमखिलं तमेनं स्मारयाम्यहम् ।
कुम्भरूपमिदं त्यक्त्वा चूडालेव भवाम्यहम् ॥२१
इति सञ्चिन्त्य चूडाला चूडालावपुरक्षता ।
दर्शयामास तत्राऽऽशु त्यक्त्वा मदनिकावपुः ॥२२
समुदितामिव माधवपद्मिनी-
मुपगतामिव भूमितलाच्छ्रियम् ।
प्रकटितामिव रत्नसमुद्गका-
त्परिददर्श निजां दयितां नृपः ॥२३

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! राजा शिखिध्वज को इस प्रकार अविकारी रूप में स्थित देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुई चूडाला विचार करने लगीं ॥ १९॥ अहो, मेरे स्वामी राजा शिखिध्वज को समभाव की प्राप्ति हो चुकी है, वीतराग होने के कारण इनके हृदय में किंचित् भी क्रोध नहीं रहा । अब यह जीवन्मुक्त रूप में अवस्थित हैं ॥२०॥ यही समय है कि इन्हें अब अपने पूर्व वृत्तान्त का स्मरण कराऊँ । इसलिए अपने कुम्भरूप को त्यागकर मैं चूडाला रूप में स्थित होती हूं ॥२१॥ यह निश्चय कर चूडाला ने अपने मदनिका रूपी देह का त्याग कर तुरन्त ही राजा को अपना चूडाला रूप प्रदर्शित किया ॥२२॥ वसन्तकालीन विकसित कमलिनी के समान और सीता रूप से भू-गर्भ में प्रविष्ट होकर पुनः निकली हुई लक्ष्मी के समान एवं पिटारी से निकली हुई रत्न-प्रभा के समान उस प्रकट हुई अपनी भार्या चूडाला को राजा शिखिध्वज ने देखा ॥२३॥

पूर्ण समर्थ हैं। हे तत्वज्ञ ! आप ध्यान लगा कर यह सब देख लीजिए ॥६॥ चूडाला के इस प्रकार कहने पर राजा ने योग धारणा से विशिष्ट ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण बातें जान लीं ॥७॥

घनानन्दक्षणं स्थित्वा तूष्णीं प्रणयपेशलम्।
कान्तां चिबुकसंलग्नकरः प्रोवाच भूपतिः ॥८
कियत्प्रमाणस्तन्वङ्ग्या त्वया वालेन्दुमुग्धया।
अनुभूतश्चिरं क्लेशो भर्तुरर्थेन दारुणः ॥९
सखा भ्राता सुहृद्भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम्।
शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः ॥१०
सर्वदा सव यत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः।
लोकद्वयसुखं सम्यक्सर्वं यासु प्रतिष्ठितम् ॥११
देव शुष्कक्रियाजालपरे त्वय्याकुलात्मनि।
भूयो भूयो भृशमहं त्वदर्थं दुःखिताऽभवम् ॥१२
तेन त्वदवबोधात्मा स्वार्थ एवोपपादितः।
मया तदत्र किं देव करोषि मम गौरवम् ॥१३
वुध्यसे कान्त विश्रान्तो जगज्जालतटे विभो।
अद्य तं प्राक्तनं किञ्चिन्मोहं समनुपश्यसि ॥१४
इदं करोमि नेद तु प्राप्नोमीदमिति स्थितिम्।
अन्तर्हससि तां कच्चिद्दृशा पेलवतां धिया ॥१५

फिर अत्यन्त आनन्द में डूबे हुए राजा चूडाला की ठोड़ी पर हाथ लगा कर प्रेम से मृदु हुई वाणी से बोले ॥८॥ हे सूक्ष्म अंग वाली ! तुम शिशुचन्द्र के समान अत्यन्त मुग्ध हो। तुम्हें अपने पति के कारण चिरकाल तक कितना घोर क्लेश सहन करना पड़ा ॥९॥ पति के लिए ऐसी नारियाँ ही सखा, भ्राता, सुहृद, भृत्य, गुरु, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, गृह, दास आदि सभी कुछ होती हैं ॥१०॥ ऐसी कुलांगनाएँ सर्दव, सभी प्रकार के प्रयत्नों से निरन्तर पूजनीया होती हैं। क्योंकि दोनों लोकों का सम्पूर्ण सुख इन स्त्रियों में ही प्रतिष्ठित है ॥११॥ चूडला बोली—हे देव ! शुष्क क्रियाओं के जाल में फँसे हुए और

हे प्रभो ! अब अज्ञान-नाशक सर्वत्र ऐक्य बोध से युक्त हुए हम सब प्रकार की इच्छाओं से विमुक्त और आकाश के समान विशद रूप में अवस्थित हैं ॥१६॥ हे प्रभो ! अब हमारी जो अवशिष्ट आयु है, उसे राज्य के उपभोग द्वारा व्यतीत करके, समय आने पर हम विदेहत्व को प्राप्त होंगे ॥१७॥ शिखिध्वज बोले—हे विशाल नयन वाली ! तुमने समबुद्धि द्वारा जो कुछ कहा, वह यथार्थ है, क्योंकि राज्य ग्रहण करने अथवा त्याग देने में भी आत्मा का क्या उपकार होना है ? ॥१८॥ सुख-दुःख प्राप्ति विषयक चिन्ता और मात्सर्य से विहीन होकर हम जिस प्रकार अवस्थित हैं, उसी प्रकार अपने रूप में निष्ठावान् होजाँय ॥१९॥ इस प्रकार के वार्तालाप में ही उन दोनों का दिन प्रायः व्यतीत हो चला, तब उन राग-रहित दोनों ने उठ कर सांध्य-कर्म किया। अभीष्ट भोग के लिए उत्कंठित होते हुए भी वे वासना-रहित होने के कारण उत्कंठा से निर्मुक्त और कब क्या प्राप्त करना है, इसके ज्ञाता थे। फिर स्वर्ग की प्राप्ति का आदर न करने वाले उन दम्पति ने एक साथ शयन किया। उनकी वह रात्रि प्रणय-चेष्टाओं में सुखपूर्वक व्यतीत हुई। पारस्परिक अनुभव से सिद्ध भोग और मोक्षरूपी सुख की प्रणयात्मक वाणी-विलास से युक्त प्रशंसा करते हुए उस प्रेमी दम्पति में उत्कंठा जगाने वाली वह दीर्घ रात्रि एक मुहूर्त्त के समान ही बीतगई ।२०-२३।

---

## ५४—भोगोपभोग के पश्चात् ही मुक्ति

ततः समुदिते सूर्ये वितमस्यम्बरे स्थिते ।
समुद्गकादिव जगन्मणौ तस्मिन् विनिर्गते ॥१
विकसत्यरुणोपान्ते चक्षुषीवाऽम्बुजाकरे ।
आचारेष्विव लोकेषु प्रसृतेष्वर्करश्मिषु ॥२
दम्पती तौ समुत्थाय कृतसन्ध्याक्रमौ स्थितौ ।
पद्मासने मृदुस्निग्धे कान्तौ काञ्चनकन्दरे ॥३
अथोत्थायाऽत्र चूडाला रत्नकुम्भं पुरःस्थितम् ।
कान्ता सङ्कल्पयामास पूर्णं सप्ताब्धिवारिभिः ॥४

इति कान्तवचः श्रुत्वा चूडाला वरवर्णिनी ।
सैन्यं सङ्कल्पयामास प्रावृड्घनमिवोद्भटम् ॥१२
सैन्यं ददृशतुस्तत्तौ वाजिवारणसंकुलम् ।
पताकापूरिताकाशं नीरन्ध्रीकृतकाननम् ॥१३
तूर्यारवध्वनच्छैलगुहागहनकोटरम् ।
मौलिरत्नमहोद्योतविचूर्णिततमः पटम् ॥१४

उस वन में इस प्रकार कहे जाने पर राजा ने यह कहते हुए कि अच्छा, यही करता हूँ, महाराज स्वरूप को धारण किया ॥८॥ फिर जो प्रतीहार का कार्य था ( उसके अभाव में ) राजा ने उसकी स्वयं पूर्ति करते हुए उस मानिनी से कहा—हे देवि ! मैं तुम्हें महारानी के पद पर अभिषिक्त करता हूँ ॥९॥ यह कह कर राजा ने उसे सरोवर में स्नान कराया और महारानी के पद पर अभिषिक्त किया, फिर वह अपनी प्रिया से बोला ॥१०॥ हे कमलाक्षि ! तुम योग-सिद्धि के द्वारा प्राप्त सत्य संकल्प से विविध अलंकारों, शस्त्रास्त्रों और सम्पूर्ण साज-सज्जा से सम्पन्न विशाल सेना उत्पन्न करने में समर्थ हो ॥११॥ अपने कान्त का यह वचन सुन कर उस वरवर्णिनी चूडाला ने वर्षाकालीन मेघ के समान युद्धोद्भट सेना का संकल्प किया ॥१२॥ तब गज और अश्वों से परिपूर्ण आकाश-पाताल को एक कर देने वाली, सम्पूर्ण वन प्रान्त को अवकाश-शून्य कर देने वाली विशाल सेना दोनों को दिखाई दी ॥१३॥ उस सेना के तूर्य आदि शब्दों से गिरि-गुफाएँ और गहन कोटर प्रतिध्वनित होरहे थे । जिसकी मस्तक-मणियों के प्रकाश से अन्धकार-समूह भी विचूर्ण होगया था ॥१४॥

तव गन्धद्विपवरे कृतपार्थिवमण्डले ।
रक्षिते हृष्टसामन्तरारूढौ नृपदम्पती ॥१५
तस्मान्महेन्द्रशैलेन्द्राच्चलितः स महीपतिः ।
पति पश्यन्गिरीन्देशान्नदीग्रामान्सजङ्गलान्॥१६
दर्शयन् स्वप्रियायास्तमात्मवृत्तान्तसञ्चयम् ।
प्रागल्पेनैव कालेन स्वां पुरीं स्वर्गशोभनाम् ॥१७

तत्र ते तस्य सामन्तास्तदागमनमादृताः ।
विविदुर्जयशब्देन निर्जग्मुश्चोदिताशयाः ॥१८
पुरोत्सवं भृशं कृत्वा दिनसप्तकमुत्तमम् ।
अकरोद्राजकार्याणि स्वानि स्वान्तःपुरे नृपः ॥१९
दशवर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा महीतले ।
सह चूडालया राम विरतो देहधारणात् ॥२०
भुक्त्वा भोगाननेकान् भुवि सकलमहीपालचूडामणित्वे
स्थित्वा वै दीर्घकालं परममृतपदं प्राप्तवान् सत्त्वशेः ।
एवं रामाऽऽगतं त्वं प्रकृतमनुसरन् कार्यजातं विशोक-
स्तिष्ठोत्तिष्ठ स्वयं वा प्रसभमनुभवन् भोगमोक्षादिलक्ष्मीः ॥२१

राजाओं के मंडलों से युक्त उस सेना में, जिसके मदगन्ध को अन्य गजराज भी सहन करने में समर्थ नहीं थे, ऐसे गजराज पर वह राज दम्पति आरूढ़ हुए ॥१५॥ तब उस महेन्द्र पर्वत से वह महीपति चल दिया। मार्ग में पर्वतों, प्रान्तों, नदियों, वनों और ग्रामों को देखते हुए तथा राज्य छोड़ कर आने पर जो घटनाएं घटीं उन्हें अपनी प्रिय भार्या को दिखाते हुए उस राजा ने अपनी स्वर्गोपम सुन्दर नगरी में शीघ्र ही प्रवेश किया ॥१६-१७॥ ज्योंही उसके सम्मानित सामन्तों को जय घोष से उसके आगमन का ज्ञान हुआ, त्योंही वे उत्कंठा पूर्वक उसके स्वागतार्थ बाहर निकले ॥१८॥ फिर सात दिनों तक नगर में महोत्सव मनवाता हुआ राजा शिखिध्वज अपने अन्तःपुर में प्रविष्ट होकर राज कार्य करने लगा ॥१९॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! राजा शिखिध्वज ने चूडाला के साथ इस भूतल पर दस सहस्र वर्ष तक राज्य किया और तदन्तर देह-मुक्त होगया ॥२०॥ हे राघव ! सभी राजाओं के मस्तक के चूडामणि रूप से विभूषित हुआ राजा शिखिध्वज चिरकाल तक अनेक भोगों का उपभोग करता हुआ, अन्त में परम अमर पद में लीन हुआ। उसी के समान प्रकृत कार्यों का अनुसरण करते हुए आप भी शोक-रहित रूप से समाधि में अवस्थित होजाइये या भोगमोक्ष आदि रूपिणी लक्ष्मी के अनुगत हो सम्पूर्ण व्यवहारों में तत्पर रहिए ।२१।

## ५५—कच को आत्मज्ञान की प्राप्ति

एतत्ते सर्वमाख्यातं शिखिध्वजकथानकम् ।
अनेन गच्छन् मार्गेण न कदाचन खिद्यसे ॥१
शिखिध्वजक्रमेणैव यथा बोधमवाप्तवान् ।
कचो बृहस्पतेः पुत्रस्तथा बुध्यस्व राघव ॥२
बृहस्पतेर्भगवतः पुत्रोऽसौ भगवान् कचः ।
यथाप्रबुद्धो भगवन् समासेन तथा वद ॥३
शृणु राजन् कथां श्रीमाञ्छिखिध्वजवदेव सः ।
प्रबोधं परमं यातो देवदेशिकजः कचः ॥४
बालभावात् समुत्तीर्णः संसारोत्तरणोन्मुखः ।
कचः पदपदार्थज्ञो बृहस्पतिमभाषत ॥५
भगवन् सर्व धर्मज्ञ कथं संसृतिपञ्जरात् ।
अस्मान्निर्गम्यते ब्रूहि जन्तुना जीवतन्तुना ॥६
अगनर्थमकरागारादस्मात् संसारसागरात् ।
उड्डीयते निरुद्वेगं सर्वत्यागेन पुत्रक ॥७

वसिष्ठजी बोले— हे राम ! इस प्रकार यह राजा शिखिध्वज का कथानक मैंने आपके प्रति कहा है । इस मार्ग पर चलते हुए आप कभी खेद को प्राप्त नहीं होंगे ॥१॥ हे राघव ! राजा शिखिध्वज के समान ही बृहस्पति पुत्र कच को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उसी प्रकार आप भी ज्ञान प्राप्त करिये ॥२॥ राम बोले—हे भगवन् ! बृहस्पति का वैभव शाली पुत्र कच जिस प्रकार ज्ञानी होगया, वह मुझे संक्षिप्त रूप से बताइये ॥३॥ वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! राजा शिखिध्वज के समान ही उस ऐश्वर्य शाली कच ने जिस प्रकार ज्ञान प्राप्त किया था, उसे आप श्रवण कीजिए ॥४॥ कच अपनी बाल्यावस्था समाप्त होने और यौवनावस्था में प्रविष्ट होने पर ही भवसागर से तरने के लिए प्रयत्नशील हो गया । वह पद-पदार्थ का श्रेष्ठ ज्ञाता कच अपने पिता बृहस्पति से बोला ॥५॥ उसने कहा—हे भगवन् ! हे सर्व धर्म के ज्ञाता ! तन्तु के समान बंधनदायक

जीव वाला मेरे समान जन्तु इस जगज्जाल से कैसे छूट सकता है ? ।।६।। बृहस्पति ने कहा—हे पुत्र ! अनर्थ रूपी मकरों के भंडार रूपी इस भव-सागर से निरुद्वेग निकलने के लिए सर्व त्याग आवश्यक है ।।७।।

इत्याकर्ण्य कचो वाक्यं पितुः परमपावनम् ।
सर्वमेव परित्यज्य जगामैकान्तकाननम् ।।८
बृहस्पतेस्तद्गमनं नोद्वेगाय बभूव ह ।
संयोगे च वियोगे च महान्तो हि महाशयाः ।।९
अथ वर्षेषु जातेषु त्रिषु पञ्चसु सोऽनघ ।
पुनः प्राप महारण्ये कस्मिंश्चित् पितरं कचः ।।१०
परिपूज्याऽभिवाद्यैनं समालिङ्गितपुत्रकम् ।
अपृच्छद्वाक्पतिं भूयः स कचः कान्तया गिरा ।।११
अद्येदमष्टमं वर्षं सर्वत्यागः कृतो मया ।
तथापि तात विश्रान्तिं नाऽधिगच्छाम्यनिन्दिताम् ।।१२
एवमार्तवचस्तस्मिन्कचे वदति कानने ।
सर्वमेव त्यजेत्युक्त्वा वाक्पतिर्दिवमुद्ययौ ।।१३
गते तस्मिन् कचो देहाद्वल्कलाद्यप्यथाऽत्यजत् ।
गतेन्द्वभ्रार्कतारेण शरद्व्योम्ना समोऽभवत् ।।१४

वसिष्ठजी बोले—अपने पिता के यह परम पवित्र वचन सुनकर कच ने सर्वस्व परित्याग किया और निर्जन वन में चला गया ।।८।। उसके चले जाने पर बृहस्पति उद्विग्न नहीं हुए, क्योंकि महान् पुरुष संयोग और वियोग दोनों में समान मति रखते हैं ।।९।। हे अनघ ! कच को वनवास करते हुए आठ वर्ष व्यतीत हो गए, तब किसी महावन में कच के पास उसके पिता पुनः पहुँचे ।।१०।। कच ने उनका पूजन और अभि-वादन किया तब बृहस्पति ने उसको हृदय से लगा लिया। तब कच ने मधुर वाणी से उनसे पूछा ।।११।। हे तात ! मुझे सर्वत्याग किये हुए आठवाँ वर्ष चल रहा है, तो भी मैं अनिन्दित विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हो रहा हूँ ।।१२।। उस वन में कच ने इस प्रकार के आर्त वचन कहे हो

थें कि वृहस्पतिजी 'सर्वस्व त्याग' का उपदेश देकर आकाश में अन्तर्हित हो गए ॥१३॥ उनके जाते ही कच ने अपने वल्कल वस्त्र आदि भी उतार दिये और चन्द्र, मेघ, तारे और सूर्य से निर्मुक्त शरत्कालीन आकाश के समान नग्न हो गया ॥१४॥

पुनर्वर्षत्रयेणैष कस्मिंश्चित् काननान्तरे ।
तत्याजाऽम्बुदवर्षादि शरदीव नभस्तलम् १५
उवासैको दिगन्तेषु शान्तशून्यवपुः श्वसन् ।
दूयमानमनाः प्राप तमेव पितरं गुरुम् ॥१६
कृतपूजाक्रमो भक्त्या समालिङ्गितपुत्रकम् ।
अपृच्छत्स कचो भूयः खेदगद्गदया गिरा ॥१७
तात सर्वं परित्यक्तं कन्थावेणुलताद्यपि ।
तथापि नास्ति विश्रान्तिः स्वपदे किं करोम्यहम् ॥१८
चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तत्त्यक्त्वा पुत्र राजसे ।
चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं सर्वविदो जनाः ॥१९
इत्युक्त्वा वाक्पतिः पुत्रं पुप्लुवे तरसा नभः ।
अन्वियेष कचश्चित्तं परित्यक्तुमखिन्नधीः ॥२०
चिन्तयन्नप्यसौ चित्तं न यदा वेद कानने ।
तदा सञ्चिन्तयामास धियैव पितरं ययौ ॥२१

शरत्कालीन आकाश के समान उसने वर्षाऋतु में गुफा आदि का आश्रय लेकर वर्षा का त्याग किया और शरदादि ऋतुओं में गुहा आदि को छोड़ कर बाहर रहने लगा। उसको देह शान्त, शून्य और श्वास मात्र लेने के योग्य रह गया था। तब तीन वर्ष व्यतीत होने पर खिन्न चित्त से उसने अपने पिता वृहस्पति को पुनः वहाँ पाया ॥१५-१६॥ भक्ति पूर्वक पूजनादि कर, पिता का आलिंगन प्राप्त करता हुआ, खेद से गद्गद वाणी से वह उनसे प्रश्न करने लगा ॥१७॥ कच ने कहा—हे तात ! मैंने सर्व त्याग कर दिया। कन्था, वेणु, लता आदि कुछ भी तो पास नहीं रखा; फिर भी मैं अपने आत्मपद में अवस्थित नहीं हो सका।

अब मुझे क्या करना उचित है ? ॥१८॥ बृहस्पति बोले—हे पुत्र ! चित्त ही सर्वस्व है, उसी का परित्याग करने पर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो सकोगे। क्योंकि ज्ञानियों ने चित्त के त्याग को ही सर्व त्याग कहा है ॥१९॥ यह कहकर वागीश तुरंत ही आकाश में चले गए। तब अपने अन्तः करण को भेद-रहित करता हुआ कच परित्याग करने के लिए चित्त का अन्वेषण करने लगा ॥२०॥ उसे ढूंढने पर भी चित्त कहीं नहीं मिला, तब वह सोचता हुआ अपने पिता का स्मरण करने लगा ॥२१॥

पितुः सकाशं गच्छामि ज्ञातुं चित्तं महारिपुम्।
ज्ञात्वा तत्सन्त्यजाम्याशु ततस्तिष्ठामि विज्वरः ॥२२
इति सञ्चिन्त्य स कच उज्जगाम त्रिविष्टपम्।
वाक्पतिं प्राप्य सस्नेहं ववन्दे प्रणनाम च ॥२३
अपृच्छच्चैनमेकान्ते किं चित्तं भगवन् वद।
स्वरूपं ब्रूहि चित्तस्य येन तत्सन्त्यजाम्यहम् ॥२४
चित्तं निजमहङ्कारं विदुश्चित्तविदो जनाः।
अन्तर्योऽयमहम्भावो जन्तोस्तच्चित्तमुच्यते ॥२५
अयस्त्रिंशन्महाकोटिप्रमाणस्य महामते।
गुरो गीर्वाणवृन्दस्य कथमेतद्वदेति मे ॥२६
मन्येऽस्य दुष्करस्त्यागो न सिद्धिमुपगच्छति।
कथमेष किल त्यक्तुं शक्यते योगिनां वर। २७
अपि पुष्पावदलनादपि लोचनमीलनात्।
सुकरोऽहंकृतेस्त्यागो न क्लेशोऽत्र मनागपि ॥२८

इस महाशत्रु चित्त को जानने के लिए पिताजी के पास ही चलना चाहिए। उसे जान कर ही तो परित्याग करूँगा और सब शोकों से छूट सकूँगा ॥२२॥ यह निश्चय कर वह कच स्वर्ग में पहुँचा और अपने पिता के पास जाकर उनको प्रणाम किया ॥२३॥ फिर एकान्त पाकर उसने पूछा—हे प्रभो ! मुझे यह तो बताइये कि चित्त है क्या ? उसका स्वरूप

मुझसे कहिए, जिससे कि मैं उसका परित्याग कर सकूँ ॥२४॥ वृहस्पति बोले—हे पुत्र ! चित्त के ज्ञाताजन अहंकार को ही चित्त जानते हैं। जन्तु का अहंभाव ही चित्त कहा गया है ॥२५॥ कच ने कहा—हे महामते ! आप तेतीस करोड़ देवताओं के गुरु हैं। मुझे बताइये कि अहंकार चित्त रूप किस प्रकार हो सकता है ? ॥२६॥ हे योगिश्रेष्ठ ! मैं तो समझता हूँ कि इसका परित्याग संभव नहीं है। किस प्रकार इसमें समर्थता प्राप्त हो सकती है ? ॥२७॥ वृहस्पति बोले—हे पुत्र ! यह कार्य तो पुष्प-मर्दन अथवा नेत्रोन्मीलन से भी अत्यन्त सरल है। किंचित् भी क्लेश नहीं होगा ॥२८॥

यथैतदेव तनय तथा शृणु वदामि ते ।
अज्ञानमात्रसंसिद्धं वस्तु ज्ञानेन नश्यति ॥२९
वस्तुतो नास्त्यहङ्कारः पुत्र मिथ्याभ्रमो यथा ।
असन्सन्निव सम्पन्नो वालवेतालवत्स्थितः ॥३०
असदेव यथा द्वित्वं मोहादिन्दौ विलोक्यते ।
तथा स्फुरत्यहंकारो न सत्यो वाऽप्यसन्न च ॥३१
एकमाद्यन्तरहितं चिन्मात्रममलान्तरम् ।
खादप्यतितरामच्छं विद्यते सर्ववेदनम् ॥३२
अयं सोऽहमिति व्यर्थं प्रत्ययं त्यज पुत्रक ।
तुच्छं परिमिताकारं दिक्कालविवशीकृतम् ॥३३
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं स्वच्छं नित्योदितं ततम् ।
सर्वार्थमयमेकार्थं चिन्मात्रममलं भवान् ॥३४
फलकुसुमदलानां सर्वदिक्संस्थितानां
रस इव जगतां त्वं संस्थितः सर्वदेव ।
विमलतरचिदात्मा नित्यमेवाऽस्यनन्तः
क इव कच तवाऽहंनिश्चयो भावमूर्तः ॥३५

हे पुत्र ! चित्त के परित्याग का एक सुलभ उपाय तुम से कहता हूँ, उसका श्रवण करो। अज्ञान से उत्पन्न हुई वस्तु ज्ञान से नष्ट हो जाती

है। इस अहंकार की उत्पत्ति शुद्ध साक्षी के अपरिचय रूपी मोह से हुई है, इसलिए साक्षी परिचय होते ही नष्ट हो जायगा ॥२९॥ हे पुत्र ! जैसे मिथ्या भ्रम कोई वस्तु नहीं है, वैसे ही अहंकार भी कुछ नहीं है। बालक की दृष्टि से जैसे वेताल उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही अज्ञानियों की दृष्टि से यह असत् उत्पन्न हुआ है ॥३०॥ जैसे चंद्रमा के एक होते हुए भी मोह से उसमें द्वैत भाव दिखाई देता है, वैसे ही मोह से अहंकार दिखाई देता समझो। वह न सत्य है, न असत्य है तथा सत्यासत्य ( मिश्रित ) भी नहीं है ॥३१॥ एक, अनादि, अनन्त, चिन्मात्र, निर्मल, आकाश से भी अधिक स्वच्छ जो सर्वानुभव रूप आत्मा है, वही सत्य है ॥३२॥ हे पुत्र ! पिता आदि से उत्पन्न मैं हूँ, देह के प्रति इस अहं बुद्धि को परित्याग कर दो। क्योंकि यह तुच्छ, सीमित आकार वाली और देश–कालादि के दोष से वृद्धि को प्राप्त हुई है ॥३३॥ तुम तो देश, काल आदि परिच्छेदों से रहित, निर्मल, नित्य उदित रूप, सर्वार्थमय, एक चिन्मात्र स्वरूप हो ॥३४॥ जैसे सर्वत्र स्थित फल, फूल और पत्रादि का कारण भूत और सारभूत जो वृक्षों में विद्यमान रस है, वैसे ही तुम सम्पूर्ण विश्व के कारण भूत, सारभूत और अन्तर में अवस्थित निर्मल अन्त-रहित, नित्य एवं चिदात्मा हो। हे कच ! अखण्ड, अद्वितीय और चिन्मात्र स्वरूप तुम्हारे लिए यह परिच्छिन्न अहंभाव क्या वस्तु है ? ॥३५॥

———

## ५६—तुर्यपद का अभ्यास

इति प्राप्य परं योगमुपदेशमनुत्तमम् ।
जीवन्मुक्तो बभूवाऽसौ ततो देवगुरोः सुतः ॥१
निर्ममो निरहंकारश्छिन्नग्रन्थिः प्रशान्तधीः ।
कचो यथास्थितो राम तथा तिष्ठाऽविकारवान् । २
अथेमं शृणु दृष्टान्तं कथ्यमानं मयाऽधुना ।
प्रबुद्धोऽपि यथा बोधमुपैषि विबुधोपम ॥२

कस्मिंश्चित्काननाभोगे महामौन व्यवस्थितम्
दृष्ट्वाऽद्भुतमिदं किञ्चिन्मुनिं पप्रच्छ लुब्धकः
पश्चादुपगतो बाणभिन्नं मृगमभिद्रुतम् ॥४

मुने मदीयबाणेन विद्धो मृग इहाऽऽगतः ।
क्व प्रयातो मृग इति प्रत्युवाच स तं मुनिः ॥

समशीला वयं साधो मुनयो वनवासिनः ।
नाऽस्माकमस्त्यहङ्कारो व्यवहारेषु यः क्षमः ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि करोति हि सखे मनः ।
अहंकारमयं तन्मे नूनं प्रगलितं चिरम् ॥७

वसिष्ठ जी बोले—हे राम ! आत्मा-परमात्मा के एकत्व का ज्ञान अपने पिता, देवगुरु, बृहस्पति से प्राप्त करके, उसका पुत्र कच जीवन्मुक्त होगया ॥१॥ हे राम ! जैसे बृहस्पति-पुत्र कच ममता से शून्य, अहंकार से रहित और मोह-ग्रन्थि से निर्मुक्त होकर शान्त बुद्धि में अवस्थित हो गया, वैसे ही आप भी विकार रहित रूप से अवस्थित रहिये ॥२॥ हे देवोपम ! हे राम ! अब आप मेरे इस दृष्टान्त का श्रवण कीजिए, उससे प्रबुद्ध होकर आपके ज्ञान की और भी वृद्धि होगी ॥३॥ किसी एक घोर वन में एक अद्भुत मुनि नितान्त मौन धारण किये बैठे थे। उन्हें देख कर, बाण से विंधे हुए मृग के पीछे-पीछे भागता आता हुआ एक व्याध उनसे पूछने लगा ॥ ४ ॥ हे मुने ! मेरे बाण से आहत एक मृग यहाँ भागता हुआ आया था, वह किधर गया ? यह सुनकर मुनि ने उसे उत्तर दिया ॥५॥ हे साधो ! हम वनवासी मुनि समान शील वाले होते हैं। व्यवहार सक्षम जो अहंकार है, वह हम में नहीं होता ॥६॥ हे सखे ! सभी इन्द्रियों का कर्म करने वाला यह अहंकार रूपी मन ही है और चिर-काल से मेरा मन गलित हो ही चुका है ॥७॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्या दशा वेद्मि न काश्चन ।
तुर्य एव हि तिष्ठेऽहं तत्र दृश्यं न विद्यते ॥८

इति तस्य वचः श्रुत्वा मुनिनाथस्य राघव ।
लुब्धकोऽर्थमविज्ञाय जगामाऽभिमतां दिशम् ।।९
अतो वच्मि महाबाहो नास्ति तुर्येतरा दशा ।
निर्विकल्पा हि चित्तुर्यं तदेवाऽस्तीह नेतरम् ।।१०
जाग्रत्स्वप्नसुपुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः ।
घोरं शान्तं च मूढं च आत्मचित्तमिहाऽऽस्थितम् ।।११
घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम् ।
मूढं सुषुप्तभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत् ।।१२
यच्च चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम् ।
तदेव योगिनः सर्वे यत्नात्सम्पादयन्ति हि ।।१३

समस्तसंकल्पविलासमुक्ते
तुर्ये पदे तिष्ठ निरामयात्मा ।
यत्र स्थिताः साधु सदैव मुक्ताः
प्रशान्तभेदा मुनयो महान्तः ।।१४

मैं जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों में से किसी भी अवस्था का ज्ञान नहीं रखता, मैं तो उसी तुरियावस्था में अवस्थित हूँ जहाँ दृश्य का नितान्त अभाव रहता है ।।८।। हे राघव ! यह सुन कर, उनके अर्थ को न समझता हुआ वह व्याध, अपनी अभीष्ट दिशा में चला गया ।।९।। अतः मेरा कथन है कि तुरियावस्था से बढ़कर कोई अवस्था नहीं है, निर्विकल्प चित् ही तुर्य है, यहाँ उसी की स्थिति है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है ।।१०।। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति यह तीनों, चित्त के ही रूप हैं । यहाँ पर चित्त की स्थिति घोर, शान्त एवं मूढ़ इन तीनों रूपों में होती है ।।११।। जाग्रतावस्था वाला चित्त घोर, स्वप्नावस्था वाला शान्त और सुषुप्तावस्था वाला मूढ़ है । रजादि त्रिगुणात्मिका माया के उच्छेद होने पर चित्त मृत हो जाता है ।।१२।। मृत चित्त में सत्व मात्र ही, भस्म में श्वेतता के समान, समरूप से रहता है । सभी योगीजन समाधि के अभ्यास से इसी का यत्न पूर्वक सम्पादन करते हैं ।।१३।। सभी

संकल्प-विलासों से रहित उस तुर्यपद में अपनी आत्मा को स्वच्छ बनाकर ही आप भी अवस्थित रहिये। क्योंकि इसमें भली प्रकार अवस्थित रहकर महान् मुनिजन भी भेद-रहित रहते हुए सदैव मुक्त हो चुके हैं ॥१४॥

# योगवासिष्ठ

( द्वितीय खण्ड )

# निर्वाण प्रकरण ( उत्तरार्द्ध )

---

## ५७—विद्याधर कथा वर्णन

स्वभावं स्वं विजित्यादाविन्द्रियाणां सचेतसाम् ।
प्रवर्तते विवेके यः सर्वं तस्याऽऽशु सिध्यति ॥१
स्वभावमात्रं येनान्तर्न जितं दग्धबुद्धिना ।
तस्योत्तमपदप्राप्तिः सिकतातैललम्भवत् ॥२
शुद्धेऽल्पोऽप्युपदेशो हि निर्मले तैलबिन्दुवत् ।
लगत्युत्तानचित्तेषु नादर्श इव मौक्तिकम् ॥३
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मम पूर्वं भुशुण्डेन कथितं मेरुमूर्द्धनि ॥४
पुरा भुशुण्डः कस्मिंश्चित्पृष्ट आसीत्कथान्तरे ।
मया कदाचिदेकान्ते मेरोः शिखरकोटरे ॥५
मुग्धबुद्धिमनात्मज्ञं कं त्वं सुचिरजीवितम् ।
स्मरसीति मया पृष्टेनोक्तं तेनेदमंग मे ॥६
आसीद्विद्याधरः पूर्वमनात्मज्ञः सुखेदितः ।
लोकालोकान्तरशृङ्गे शुष्क आर्यो विचारवान् ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! मन के सहित इन्द्रियों के स्वभाव पर विजय प्राप्त करके नित्य अनित्य वस्तु के ज्ञान-साधन में प्रवृत्त हुए मनुष्य

के लिए ही सभी उपदेशों का फल सिद्ध हो सकता है ॥१॥ जिस दग्ध-मति पुरुष द्वारा विषयोन्मुख इन्द्रियों के स्वभाव को नहीं जीता गया, उसे वालू में से तैल निकालने के समान ही परमपद की प्राप्त सम्भव नहीं है ॥२॥ जैसे शुद्ध और स्वच्छ वस्त्र में तैल की बूंदें शीघ्र प्रविष्ट हो जाती हैं, वैसे हो निर्मल चित्त वाले पुरुष में उपदेश सरलता से प्रवेश कर लेता है। दर्पण में मोती के प्रविष्ट न होने के समान ही साधन चतुष्टय-हीन चित्त वालों में प्रविष्ट नहीं होता ॥३॥ विद्वज्जन इस विषय में एक प्राचीन इतिहास कहते हैं। एक बार मेरु पर्वत पर स्थित काकभुशुण्डिजी ने मुझ से यह कहा था ॥४॥ पुरा काल की बात है, सुमेरु पर्वत के शिखर के एकान्त कोटर में एक आध्यात्मिक प्रसंग के संदर्भ में मैंने भुशुण्डि से यह प्रश्न किया ॥५॥ हे काकश्रेष्ठ ! इस जगत् में मुग्धमति और आत्मज्ञान से रहित ऐसा कौन है, जिसका तुम्हें स्मरण है ? मेरे इस प्रश्न का उन्होंने यह उत्तर दिया ॥६॥ भुशुण्डि ने कहा—हे मुने ! पहिले कभी लोकालोकान्तर पर्वत क शिखर पर एक विद्याधर निवास करता था। वह न जीती हुई इन्द्रियों से अत्यन्त खिन्न, विश्रान्ति रहित, आत्मज्ञान-शून्य परन्तु आयुवृद्धि के कारणभूत सदाचार से युक्त और विचारवान् था ॥७॥

तपसा बहुरूपेण यमेन नियमेन च ।
अक्षीणायुरतिष्ठत्स पुरा कल्पचतुष्टयम् ॥८
ततश्चतुर्थं कल्पान्ते विवेकस्तस्य चोदभूत ।
विदूरस्येव वैदूर्यमौचित्याज्जलदोदयात् ॥९
पुनर्मृतिः पुनर्जन्म जरामेति विभावयन् ।
लज्जेऽहं तत्किमेकं स्यात् स्थिरमित्यवमृश्य सः ।
मामाजगाम सम्प्रष्टुमष्टादशमयीं पुरीम् ।
स्वामुपोह्य विरक्तात्मा संसाराऽरसतां गतः ॥११
स मत्समीपमागत्य कृतोदारनमस्कृतिः ।
मत्पूजितोऽवसरत उवाचेदमनिन्दितम् ॥१२

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके ही जीव सुखी हो सकता है, इसलिये अब इन भोग रूपी पदार्थों से मुझे क्या संबंध है ? इसी कारण मैं विरक्त और जिज्ञासु भाव से आपके पास उपस्थित हुआ हूँ ।।१४।।

---

## ५८—संसारवृक्ष का वर्णन

यदुदारमनायासं क्षयातिशयवर्जितम् ।
पदं पावनमाद्यन्तरहितं तद्वदाऽऽशु मे ।।१
एतावन्तमहं कालं सुप्त आसं जडात्मकः ।
इदानीं सम्प्रबुद्धोऽस्मि प्रसादादात्मनो मुने ।।२
मनोमहामयोत्तप्तं क्षुब्धमज्ञानवृत्तिषु ।
मामुद्धर दुरन्तेहं मोहादहमिति स्थितात् ।।३
ततस्तस्य मया ब्रह्मंस्तच्छ्रुत्वा पावनं वचः ।
इदमुक्तं यथापृष्टं सुस्पष्टपदया गिरा ।।४
साधु विद्याधराधीश दिष्ट्या बुद्धोऽसि भूतये ।
भवान्धकूपकुहराच्चिरेणोत्थानमिच्छसि ।।५
पावनीयं तव मती राजते घनरूपिणी ।
विवेकेनानलेनेव कनकद्रवसन्ततिः ।।६
उपदेशगिरामर्थमादत्तो हारि हेलया ।
मुकुरे निर्मले द्रव्यमयत्नेनैव विम्बति ।।७

विद्याधर बोला—हे मुने ! मुझे आप उस पावन पद का उपदेश शीघ्र दीजिए, जो कृपणता निवारक, विपद्-रहित, निरतिशय आनन्द स्वरूप होने के कारण परम उदार, अनायास, क्षय और अतिशय से रहित तथा अनादि और अनन्त है ।।१।। हे मुने ! अब तक मैं अत्यंत मूढ़ हुआ निद्रा में सो रहा था, परन्तु अब मन में उत्पन्न हुई तीव्र वैराग्य-लालसा से जाग उठा हूं ।।२।। हे प्रभो ! मैं मन के महारोग से उत्तप्त और अज्ञान की वृत्तियों से क्षुब्ध हो रहा हूं। मेरे सभी कर्म कठिनाई से कटने वाले हैं। इसलिए देहादि अनात्म में आत्मा का अभि-

मान होने से जो मोह मुझे हो गया है, उससे मुझे बचाइये ॥३॥ भुशुण्डि बोले–हे ब्रह्मन् ! उस विद्याधर के पावन वचनों को सुन कर जैसा उसने पूछा था, उसके अनुसार मैंने स्पष्ट पद वाली वाणी से कहा ॥४॥ हे विद्याधरों के अधीश्वर ! बड़ी प्रसन्नता है जो तुम कल्याणार्थ भाग्य से ही जाग गये हो। इसीलिए इस संसार रूपी अन्धकूप से आज चिरकाल बाद निकलने की तुम्हें इच्छा हुई है ॥५॥ जैसे अग्नि के ताप से स्वर्ण अत्यन्त चमकने लगता है, वैसे ही विवेक को प्राप्त हुई तुम्हारी बुद्धि अनिर्वचनीय सुन्दरता से शोभा को प्राप्त हो रही है ॥६॥ इसलिए मैं समझता हूं कि तुम्हारी यह बुद्धि मेरे उपदेश को बिना प्रयास ही सुख पूर्वक ग्रहण कर लेगी जैसे कि स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्ब बिना प्रयास ही पड़ता है ॥७॥

नाहं त्वमस्ति न जगदिति निश्चयिनस्तव ।
सर्वमस्ति शिवं तच्च न दुःखाय सुखाय ते ॥८
मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वमवस्तुत्वात्सदप्यसत् ।
यच्चेदं भाति तद् ब्रह्म न किञ्चित्किञ्चिदेव वा ॥९
विश्वबीजमहन्त्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते ।
साद्यव्युर्वीनदीशादिजगज्जरठपादपः ॥१०
अहन्त्वबीजादणुतो जायतेऽसौ जगद्द्रुमः ।
तस्येन्द्रियरसाढ्यानि मूलानि भुवनानि हि ॥११
तारकाजालकलिका ऋक्षौघः कोरकोत्करः ।
वासनागुच्छविसराः पूर्णचन्द्रः फलालयः ॥१२
स्वर्गादयो वृहद्वर्गा महाविटपकोटराः ।
मेरुमन्दरसह्यादिगिरयः पत्रराजयः ॥१३
सप्ताब्धयोऽप्रसुतयः पातालं मूलकोटरम् ।
युगानि घुणवृन्दानि पर्वाणि गुणपङ्क्तयः ॥१४

मैं नहीं हूं, तुम नहीं हो, यह जगत् भी नहीं है, ऐसा निश्चय करलो तो यह सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच ही शिवस्वरूप है, यह सुख या दुःख के लिए

नहीं होगा ॥८॥ जैसे मृगतृष्णा का जल मिथ्या है, वैसे ही सम्पूर्ण ससार अवस्तु रूप होने से, सद्रूप प्रतीत होता हुआ भी असद्रूप ही है। जो यह सभी भासमान है, वह ब्रह्म रूप ही है ॥९॥ इस अहकार को ही तुम विश्व का बीज जानो। क्योंकि केवल अहंकार ही पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, नदीश आदि युक्त इस जगत् रूपी पुरातन वृक्ष का उत्पत्तिकर्ता है ॥१०॥ अहंकार रूपी सूक्ष्म बीज से विश्वरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। उस वृक्ष की जड़ें विषयासक्ति रूपी रस से युक्त यह लोक है ॥११॥ तारों का जाल इस वृक्ष की कलियाँ हैं, वासनाएँ इसके पुष्प गुच्छ हैं, और पूर्णचन्द्र इसके फल का भंडार है ॥१२॥ स्वर्गादि लोक इन शाखाओं के गर्भस्थल हैं और मेरु, मन्दर, सह्य आदि पर्वत इस महावृक्ष के पत्तों की पंक्तियाँ हैं ॥१३॥ सातों समुद्र इसकी परिखाएँ हैं, पाताल इसका मूल कोटर और चतुर्युगो घुण समूह तथा युग के वर्ष, ऋतु आदि इसके पोरुए हैं ॥१४॥

अज्ञानमुत्पत्तिमही नरा विहगकोटयः।
उपलम्भो वृहत्स्तम्भो दवो निर्वाणनिर्वृतिः ॥१५
रूपालोकमनस्कारा विविधामोदवृत्तयः।
वनं विपुलमाकाशं शुक्तिजालं मुखत्वचः ॥१६
विचित्रशाखा ऋतव उपशाखा दिशो दश।
संविद्रसमहापूरो वातस्पन्दो निवर्तनः ॥१७
चन्द्रार्करुचयो लोला मज्जनोन्मज्जनोन्मुखाः।
रम्याः कुसुममञ्जयस्तिमिरं भ्रमरभ्रमः ॥१८
पातालमाशागणमन्तरिक्ष-
मापूर्य तिष्ठत्यसदेव सद्वत्।
तस्यानहन्ताग्निहतेहमर्थ-
वीजे पुनर्नास्ति सतोऽपि रोहः ॥१९

इस वृक्ष का उत्पत्ति स्थल अज्ञान है। इसमें जीवरूपी करोड़ों पक्षी निवास करते हैं। भ्रान्ति इसका स्तम्भ है। इस वृक्ष को भस्म करने

मण्डपोऽस्ति महास्तम्भो मुक्तामणिविनिर्मितः ।
बहुयोजनलक्षाणि कान्तकाञ्चनचित्रितः ॥६
हृल्लेखाजालविसरैः सर्वावर्तविवर्तनैः ।
विसरत्स्नेहसंमिश्रजडानुदयचर्वणैः ॥७

भुशुण्ड ने कहा—हे विद्यावर ! जिस वृक्ष का मूल सप्त अतः लोकों सहित यह पृथिवी है, जिसकी लोकालोकान्तर पर्वतों की गुफाएं हैं, दिग्दिगंत और आकाश में शाखा-विस्तार और उन-उन स्थानों में जीवों के भ्रमण से जो अति चलायमान हो रहा है वह संसार-वृक्ष अहंकार रूपी बीज से ही उत्पन्न होता है और जब वह बीज ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाता है, तब वह किंचित् भी उत्पन्न नहीं होता ॥१-२॥ जैसे रत्न की परीक्षा तत्व दृष्टि से की जाती है, वैसे ही भले प्रकार विचार पूर्वक 'यह सब ब्रह्म ही है' ऐसा विश्वास होने पर अहंकार का निःशेष होना ही ज्ञान है, अहंकार का दहन इसी से होजाता है ॥३॥ इस जगत् को तुम केवल चित्ति का ही चमत्कार जानो, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह न दिशाओं में है, और न बाहर या भीतर अन्यत्र ही कहीं है ॥४॥ संकल्प के उन्मेष से यह संसार चित्र के समान दिखाई देने लगता है और संकल्प के अभाव में उसी प्रकार अदृश्य हो जाता है, जिस प्रकार कि चित्रकार के चित्त से चित्र विलीन हो जाता है॥५॥यह विश्व मोतियों और मणियों से युक्त वृहत् स्तम्भों वाले स्वर्ण खचित लाखों योजन विस्तार वाले संकल्प से कल्पित हुए महामण्डल के समान है ॥६॥ मन को क्षुब्ध करने वाले वासना—जालों से निबद्ध, सब आवर्त रूपी विकारों से युक्त और मिथ्या स्नेह से विषयास्वादन से जो संवित् प्रसरित है, वही चित्र में चित्रित महाराज्य रूपी यह जगत् है ॥७॥

अहमित्यादिचिद्रूपे विकल्पेनोन्मुखी सती ।
न पराद्व्यतिरिक्तापा जलत्वादिव तोयता ॥८
चिदादित्यः स्व आत्मैव सर्ग इत्यभिधीयते ।
भूत्वाऽहमिति तेनान्यो न सर्गोऽस्ति न सर्जकः ॥९

स्पन्दात्मिकायां सत्तायां यथाऽस्पन्दो जलद्रवा।
तथा चिदात्मा व्योमत्वे न व्योमत्वादि वेत्ति हि ॥१०
देशकालादिनिर्माणपूर्वकं वेदनं विदः।
सर्गात्मकत्वात्तेनाम्बुद्रवसाम्यं न दूरगम् ॥११
मनोऽहम्भावबुद्ध्यादि यत्किञ्चिन्नामवेदनम्।
अविद्यां विद्धि यत्नेन पौरुषेणाऽऽशु नश्यति ॥१२
अर्द्धं मिथः संकथया भागः शास्त्रविचारणैः।
आत्मप्रत्ययतः शिष्टमविद्याया निवर्तते ॥१३
चतुर्भागात्मनि क्षीणे ह्यविद्याक्षये क्रमात्।
समकालाच्च यच्छिष्टं तदनामार्थसन्मयम् ॥१४

इस प्रकार आदि चिति ही अहंभाव आदि विकल्पों से निकल कर जीव रूप होने पर भी ब्रह्म से किंचित् भी भिन्न नहीं है, जैसे कि जल रूप से जलत्व में भिन्नता नहीं है ॥८॥ यह चिति रूपी आदित्य ही स्वात्मा है। उपाधि में प्रविष्ट होकर ही यह 'अहं' आदि संज्ञाओं वाला तथा 'सर्ग' कहा जाता है। अतः चेतन से भिन्न न तो कोई सृष्टि है और न कोई उस सृष्टि का रचने वाला ही है ॥९॥ जैसे स्पन्द रूपी अपने अस्तित्व में यथार्थतः जलद्रव में स्पन्द नहीं है, अपितु स्पन्द की प्रतीति विकल्प मात्र ही है। उसी प्रकार व्योमादि की रचना में चिदात्मा न तो आकाशादि रूप में अवस्थित है, न इनका कर्त्ता ही है और न इन पदार्थों को अपने से भिन्न ही मानता है ॥१०॥ सृष्टि रूपत्व से देश, काल आदि के निर्माण से ही चिदात्म के विकल्प का ज्ञान कहते है, अतः जलद्रव की समानता कहीं अन्यत्र चली गई, यह नहीं कहा जा सकता ॥११॥ मन, अहंकार, बुद्धि आदि जो विकल्पज्ञान है, उस सभी को केवल अविद्या ही जानो, जिसका नाश पौरुष द्वारा ही संभव है ॥१२॥ इस अविद्या का आधा भाग विनय, प्रणाम, दान, सम्मान आदि के सहित तत्व ज्ञानियों से वार्तालाप और वैराग्यादि साधन चतुष्टय से नष्ट हो जाता है, श्रवण, मनन आदि शास्त्र विचारों से इसका विक्षेप शक्ति रूप चतुर्थांश नष्ट

हो जाता है तथा अवशिष्ट चतुर्थांश ब्रह्मात्म साक्षात्कार से उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अन्धकार क्रमशः मिटता जाता है ॥१३॥ इस प्रकार समकाल में क्रमशः अभ्यास द्वारा चार भागों में विभक्त इस अविद्या के नष्ट किये जाने के पश्चात् जो शेष रह जाता है, वह संज्ञा और रूप रहित एवं सन्मात्र परम पुरुषार्थ ही है ॥१४॥

अर्द्धं मिथ संकथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
आत्मप्रत्ययतो भागः कथं तस्या निवर्तते ॥१५
समकाले क्रमाच्चेति मुनिनाथ किमुच्यते ।
तदनामार्थसच्चेति सच्चासच्चेति कि वद ॥१६
सुजनेन विरक्तेन संसारोअरणाथिना ।
सह चाप्यात्मविदुषा संसृति प्रविचारयेत् ॥१७
अर्द्धं सज्जनसम्पर्कादविद्याया विनश्यति ।
चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थैश्चतुर्भागं स्वयत्नतः ॥१८
साधुसङ्गमशास्त्राथस्वयत्नैः क्षीयते मलम् ।
एकैकेनाथ सर्वैश्च तुल्यकालं क्रमादपि ॥१९
यदविद्याक्षयैकात्म न किञ्चित्किञ्चिदेव च ।
शिष्यते तत्परं प्राहुरनामार्थभसच्च सत् ॥२०
ब्रह्मेदं घनमजराद्यनन्तमेकं
संकल्पस्फुरणमविद्यमानमेव ।
बुद्ध्वैवं व्यपगतमानमेयमोहो
निर्वाणं परिविहरन्विशोकमास्व ॥२१

श्रीराम बोले—हे भगवन् ! अविद्या का आधा भाग तत्व ज्ञानियों के साथ वार्तालाप से, चतुर्थांश शास्त्र-विचार से और शेष चतुर्थांश आत्म-साक्षात्कार से किस प्रकार नष्ट होता है, यह बताइये ॥१५॥ हे मुनीश्वर ! समकाल में और क्रम पूर्वक ऐसा क्यों कहा है ? वह नाम और अर्थ रहित सन्मय है और सत्-असत् भी कहा है, वह क्या है यह

कहिये ॥१६॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! संसार सागर से पार होने की कामना वाले विरक्त पुरुष को आत्मज्ञानी के साथ अपनी बुद्धि से विचार करे कि यह जगत् क्या है और इससे पार किस प्रकार से हों ॥१७॥ सज्जन का सम्पर्क होने मात्र से अविद्या का अर्द्ध भाग नष्ट हो जाता है, शेष दो चतुर्थ भागों में से एक का शास्त्रावलोकन से और दूसरे का आत्म साक्षात्कार से नाश करदे ॥१८॥ साधु-संग, शास्त्रों का स्वाध्याय और स्वप्रयत्न इनके सम्मिलित योग से एक ही समय में और एक-एक की उत्तरोत्तर प्राप्ति से क्रमशः अविद्या रूपी मल का नाश होता है ॥१९॥ जिसका एक मात्र स्व स्वरूप अविद्या का क्षीण होना है, ऐसा जो अविद्या-नाश के पश्चात् अकिंचित् या किंचत् रूप शेष रहता है वही परमार्थ भूत, नाम और अर्थ रहित, तथा असत् और सत् कहा जाता है ॥२०॥ आनन्दघन, जरा आदि विकारों से रहित, अनन्त, एक और संकल्प के स्फुरण से अविद्यमान है, अतः स्वयं को परमात्मतत्त्व रूपी समझ कर मान, मेय, आदि मोह से शून्य होकर सब ओर से व्याप्त ब्रह्म रूप में विहार करते हुए शोक—रहित रूप से अवस्थित रहिये ॥२१॥

---

## ६०—परमाणु में इन्द्रराज्य की कल्पना

जगत्प्रसरस्यस्य न देश उपयुज्यते ।
न कालो वारणे स्तम्भ आलोकस्याम्बरे यथा ॥१
मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम् ।
शान्तं तनु लघु स्वच्छं वातान्तः सौरभादपि ॥२
चित्त्चमत्कृतिमात्रस्य सावो जगदणोः किल ।
वातान्तः सौरभ मेरुरन्यानुभवयोगतः ॥३
यं प्रत्युदेति सर्गाख्यं स एवेनं हि चेतति ।
पदार्थः सन्निवेशं स्वमिव स्वप्नं पुमानिव ॥४
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यद्वृत्तं देवराजस्य त्रसरेणूदरे पुरा ॥५

क्वचित्कदाचित्कस्मिंश्चित्किञ्चित्कल्पद्रुमेऽभवत् ।
कस्यांचिद्युगशाखायां फलं जगदुदुम्बरम् ॥६
ससुरासुरभूतौघमशकाहितघुङ्घुमम् ।
शैलमांसलपाताल‌द्युभूम्युग्रकपाटकम् ॥७

भुशुण्ड ने कहा—हे विद्याधर ! इस मायामय विस्तृत जगद्रूप के धारण में, आकाश के धारण में खम्भों की अपेक्षा न होने के समान, देश-काल की अपेक्षा नहीं है ॥१॥ शान्त, वायु में स्थित सुगंध अथवा प्रकाश से भी सूक्ष्म, लघु, और निर्मल यह त्रिजगत् मन के मनन से हो उत्पन्न हुआ है ॥२॥ हे साधो ! चिति के चमत्कार मात्र से दिखाई पड़ने वाले इस जगद्रूपी अणु की अपेक्षा वायु में सुगंध भी मेरु के समान स्थूल है। क्यों कि वायु में सुगंध का अनुभव तो घ्राणेन्द्रिय के द्वारा सब को हो जाता है, परंतु इस संसार की सृष्टि का अनुभव वही करता है जिसके मन में यह उदय होती है। जिस प्रकार कि स्वप्न के मनोराज्य का अनुभव स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वयं करता है ॥३-४॥ देश और काल से अनुपेक्षित एवं अन्य के अनुभव में न आने वाले अत्यन्त सौम्य इस विषय का एक पुरातन इतिहास है, जिसका अनुभव त्रसरेणु के उदर में इन्द्र को हुआ था ॥५॥ किसी समय, कहीं किसी एक कल्पवृक्ष में ब्रह्माण्ड रूपी उदम्बर का एक फल उत्पन्न हुआ ॥६॥ वह फल दूसरे फलों से अद्भुत था। देव—दानव आदि अनेक प्रकार के भिनगों की भिनभिनाहट से परिपूर्ण था, असंख्य शैल रूपी कीलों से जड़े हुए पाताल, स्वर्ग और पृथिवी रूपी दुर्धर्ष किवाड़ों से रक्षित था ॥७॥

चिच्चमत्कृतिचारूच्चैर्वासनारसपीवरम् ।
त्रिविधानुभवामोदं चित्तास्वादमनोहरम् ॥८
बृहद्ब्रह्मतरुप्रौढसरावततिकोटिगम् ।
अहंकारमहावृन्तं समालोकनमुज्ज्वलम् ॥९
तत्राऽभूदमराधीशः शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः ।
क्षौद्रकुम्भनिषण्णानां क्षुद्राणामिव नायकः ॥१०

गुरूपदेशस्वाभ्यासात्स क्षीणावरणोऽभवत् ।
महात्मा भावितान्तात्मा पूर्वापरविदां वरः ॥११
नारायण.दिषु ततः कदाचिद्वीर्यशालिषु ।
क्वचिदेव निलीनेषु सत्स्वेकः स सुराधिपः ॥१२
शस्त्रज्वालानलोद्गारैरयुध्यत महासुरैः ।
विजितस्तैर्महावीर्यैरतो ऽद्रवदाद्रुतम् ॥१३
दिशो दश सुवेगेन दुद्रावाऽभिद्रुतोऽरिभिः ।
न विश्रामास्पदं प्राप परलोक इवाऽधमः ॥१४

वह फल चिति की चमत्कारिक अद्भुत निर्माण—शक्ति से नितान्त रम्य, विशाल, वासना-रस से वृद्धि को प्राप्त हुआ, विषयानुभव रूपी सुगंध से सुरभित और चित्त के आस्वाद से मनोहर हो रहा था ॥८॥ वह फल पहिले कहे हुए उस ब्रह्मरूपी कल्पवृक्ष में प्रकट हुआ सूक्ष्म संसार की सत्ता रूपी कोटिशः लताओं के मध्य में लगा हुआ था, अहंकार रूपी महावृन्त से संयुक्त एवं साक्षी चेतन से समुज्वल प्रतीत होता था ॥६॥ उस गूलर के फल में त्रैलोक्य-स्वामी, देवराज इन्द्र उसी प्रकार निवास करता था, जिस प्रकार कि किसी क्षुद्र कलश में मधुमक्षिकाओं का स्वामी निवास करता हो ॥१०॥ अपने हृदय में आत्म-विचार-रत पूर्व और अपर ज्ञानियों में श्रेष्ठ वह महात्मा गुरु का उपदेश पाकर और निरंतर अभ्यास करता हुआ अविद्या रूपी जो परदा है, उससे पृथक् हो गया था ॥११॥ फिर नारायणादि वीर्यशाली देव जब क्षीरसागर में शयन करते थे, तब उस इन्द्र ने एकाकी ही शस्त्र-ज्वाला को धारण करने वाले भयंकर असुरों के साथ भीषण युद्ध किया और अन्त में पराजय को प्राप्त होकर रणक्षेत्र से पलायन कर गया ॥१२-१३॥ तब शत्रुओं ने उसका पीछा किया। यह देखकर वह दसों दिशाओं में वेग से भागने लगा, परन्तु पापी पुरुष को श्रेष्ठ लोक की प्राप्ति न होने के समान उस भागते हुए इन्द्र को कहीं भी आश्रय स्थान नहीं मिला ॥१४॥

सम्भ्रान्तदृष्टिर्वैरिषु मनाक् छिद्रमवाप्य सः ।
प्रशमं कायसङ्कल्पं नीत्वा स्वं स्वान्तरे बहिः ॥१५
कमप्यर्कांशुकोशस्थं त्रसरेणुं विवेश सः ।
संविद्रूपतया पद्मकोशं मधुकरो यथा ॥१६
स तत्राऽऽशु विशश्राम चिरादाश्वासमाययौ ।
अथ विस्मृतसङ्ग्रामो निर्वृतिं समुपागमत् ॥१७
कल्पितं सद्म तत्राथ स क्षणादनुभूतवान् ।
तस्मिन्सद्मनि पद्मासने रेमे स्व इव विष्टरे ॥१८
गृहस्थः स ददर्शाथ कल्पितं नगरं हरिः ।
मणिमुक्ताप्रवालादिकृतप्राकारमन्दिरम् ॥१९
नगरान्तर्गतोऽपश्यत्ततो जनपदं हरिः ।
नानाद्रिग्रामगोवाटपत्तनारण्यराजितम् ॥२०
तादृग्रतिश्चेतितवान्स शक्रो भुवनं ततः ।
साद्र्यब्ध्युर्वीनदीशान्तं सक्रियाकालकल्पनम् ॥२१

तदनन्तर जब वह किसी प्रकार शत्रुओं की दृष्टि से बचा तभी अवसर पाकर अपने स्थूलाकार संकल्प को आन्तरिक सूक्ष्म भूत में लय करके वह अत्यन्त अणु रूप हो गया। फिर पद्मकोश में प्रविष्ट होने वाले भौंरे के समान, वह सूर्य-रश्मियों के कोश में स्थित किसी त्रसरेणु प्रवेश संकल्प द्वारा घुस गया ॥१५-१६॥ वहाँ प्रविष्ट हुआ इन्द्र विश्राम करने लगा, उसे चिरकाल के पश्चात् शान्ति प्राप्त हुई। दीर्घकाल तक वहाँ रहता हुआ वह युद्ध की बात भूल गया, अब उसे बाहर निकलने की भी याद नहीं रही। उसने वहाँ अपने निवास-स्थान की कल्पना की और तुरन्त ही घर बना हुआ पाया। वह अपने कल्पित घर में पद्मासन पर स्थित होकर उसी प्रकार विहार करने लगा जिस प्रकार अपके स्वर्गस्थ सिंहासन पर अवस्थित होकर किया करता था ॥१७-१८॥ उस घर में ही कल्पना से निर्मित एक ऐसा नगर उसने देखा जिसमें सुन्दर प्रकारों वाले, मणि, मुक्ता और प्रवालों से जटित अनेक मन्दिर स्थित थे ॥१९॥ इन्द्र उस

नगर में गया, वहाँ उसे एक ऐसा देश दिखाई दिया जिसमें विविध प्रकार के पर्वत, ग्राम, गोष्ठ, नगर और वन विद्यमान थे ॥२०॥ तदनन्तर उसी प्रकार के संकल्प वाले इन्द्र ने लोक को देखा जो अनेकों पर्वत, समुद्र, भू-खण्ड, नदी, राजा, राज्यों की सीमा एवं क्रिया-काल आदि कल्पनाओं से युक्त था ॥२१॥

ताहग्प्रतिश्चेतितवान् स शक्रस्त्रिजगत्तता ।
सपातालमहीव्योमविष्टपार्कादिपर्वतम् ॥२२
तत्राऽतिष्ठत्सुरेशत्वे स भोगभरभूषितः ।
पुत्रो बभूव तस्याथ कुन्दो नामाथ वीर्यवान् ॥२३
ततो जीवितपर्यन्ते त्यक्त्वा देहमनिन्दितः ।
निर्वाणमाययौ शक्रो निःस्नेह इव दीपकः ॥२४
कुन्दस्त्रैलोक्यराजोऽभूज्जनयित्वा सुतं निजम् ।
कालेन जीवितस्यान्ते जगाम परमं पदम् ॥२५
तत्पुत्रोऽपि तथैवाथ कृत्वा राज्ये सुतं निजम् ।
जगाम जीवितस्यान्ते पावनं परमं पदम् ॥२६
एवं पौत्रसहस्राणि समतीतानि सुन्दर ।
तत्राद्यापि सुरेशस्य येषां राज्ये स्थितोऽशकः ॥२७
इत्यद्ययावदमरेश्वरवंश एव
संकल्पिते जगति शक्रपदं विधत्त ।
तस्मिन् क्षतेऽपि गलितेऽपि हतेऽपि नष्टे
क्वाप्यम्बरे दिनकरातपपावनाणौ ॥२८

फिर उसी प्रकार के संकल्प वाले इन्द्र ने त्रिजगत् का अवलोकन किया जो पाताल, पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, सूर्य पर्वत आदि से सम्पन्न थे ॥२२॥ फिर विविध भोगों से सम्पन्न वह इन्द्र देवलोक में देवताओं के अधीश्वर पद पर अधिष्ठित हुआ और कुछ समय व्यतीत होने पर उसके कुन्द नामक वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२३॥ तत्पश्चात् उस अनिन्दित इन्द्र ने अपने जीवन के अन्तिम काल में पंचभौतिक देह को छोड़ कर तैल

बुझे दीपक के समान निर्वाणपद प्राप्त किया ॥२४॥ तब उसका पुत्र कुन्द त्रैलोक्य का राजा हुआ, उसके भी पुत्रोत्पत्ति हुई और अन्त काल में वह भी परमपद को प्राप्त हो गया ॥२५॥ कुन्द के पश्चात् उसका पुत्र दीर्घकाल तक अपने पिता के समान राज्य भोगता रहा, फिर वह भी अपने पुत्र को राज्य देकर परम पवित्र पद को प्राप्त हो गया ॥२६॥ इस प्रकार, हे सुन्दर ! उस इन्द्र के सहस्रों ही पुत्र-पौत्रादि हो गए। आज भी उसके उस राज्य-सिंहासन पर बैठ कर अशक नामक राजा राज्य करता है ॥२७॥ हे विद्याधर ! इस प्रकार जैसा कि मैंने कहा है, सूर्य के आतप से भी पावन उस त्रसरेणु के व्योम में क्षीण, गलित, हत अथवा नष्ट हो जाने पर भी, इन्द्र से संकल्प से रचित त्रसरेणु-स्थित लोक में इन्द्र का वंश ही राज्य चला रहा है ॥२८॥

---

## ६१—आकाश में इन्द्रत्व का वर्णन

तस्य शक्रस्य कुलजः कश्चिदासीत्सुराधिपः ।
तत्रोत्तमगुणः श्रीमान्पाश्चात्या यस्य सा तनुः ॥१
अथेन्द्रकुलपुत्रस्य तस्य तत्र बभूव ह ।
प्रतिभाज्ञानसम्प्राप्तिर्बृहस्पतिगिरोदिता ॥२
ततो विदितवेद्योऽसौ यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
चकार जगतां राज्यमाज्यपानामधीश्वरः ॥३
युयुधे दानवैः सार्द्धमजयत्सर्वशात्रवान् ।
शतं चकार यज्ञानामज्ञानोत्तीर्णमानसः ॥४
उवास कार्यवशतो विसवालान्तरे चिरम् ।
अन्यान्यपि च वृत्तान्तशतान्यनुबभूव ह ॥५
कदाचिदासीत्तस्येच्छा प्रबोधबलशालिनः ।
ब्रह्मतत्त्वमवेक्षेऽहं यथावद्ध्यानवानिति ॥६

भुशुण्ड बोले—हे विद्याधर ! उसी इन्द्र के वंश में एक श्रेष्ठ-गुण समन्वित, श्री से युक्त एक इन्द्र हुआ। देवलोक में वह अन्तिम राजा

॥१॥ उस देवलोक में इन्द्र के उस वंशज को बृहस्पति के उपदेश-पूर्ण वाक्यों से आत्म-ज्ञान की उपलब्धि हो गई ॥२॥ फिर ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कराने वाले और प्रारब्ध-जनित प्राप्त कार्यों का सम्पादन करने वाले उस देवेश्वर ने सम्पूर्ण जगत् का राज्य किया ॥३॥ उसने दानवों से संग्राम किया और अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की, फिर उस अज्ञान से शून्य हुए राजा ने सौ अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया ॥४॥ फिर उसने कार्यवश चिरकाल तक कमल-तन्तु में निवास किया, वहाँ उसने कल्पित ब्रह्माण्ड में राज्य और संग्राम में हार-जीत आदि विविध वृत्तों का अत्यन्त अनुभव किया ॥५॥ ज्ञान-बल से सम्पन्न उस राजा ने अकस्मात् यह इच्छा की कि मैं ध्यान के द्वारा ब्रह्मतत्व का साक्षात्कार करूँ ॥६॥

सोऽपश्यत्प्रणिधानेन तत एकान्तसंस्थितः ।
सबाह्याभ्यन्तरेऽशेषकारणत्यागशान्तधीः ॥७
सर्वशक्तिपरं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम् ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम् ॥८
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य संस्थितम् ॥९
सर्वेन्द्रियगुणैर्मुक्तं सर्वेन्द्रियगुणान्वितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१०
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥११
घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे नरे ।
धाम्नि व्योम्नि तरावद्रावनिले सलिलेऽनले ॥१२
नानाचारविचाराणि विवधावृत्तिमन्ति च ।
परमाण्वंशमात्रेऽपि त्रिजगन्ति ददर्श सः ॥१३

फिर वह एकान्त में बैठकर बाह्याभ्यंतर के सब विक्षेप-हेतुओं का त्याग करके, शान्तमति पूर्वक समाधि लगाकर, सब प्रकार की शक्तियों से समन्वित, सर्वार्थमय, सर्वथमय सर्वदा, सर्वरूप, सर्व सहित और

सर्वगामी परब्रह्म को देखने लगा, जो अनेक हाथ-पाँवों वाला, सर्वत्र चक्षु, मस्तक और मुख वाला, अनेक श्रवणेन्द्रियों से सम्पन्न और लोक में सब को आवृत्त करके विद्यमान था ॥७-९॥ वह सभी इन्द्रियों के गुणों से मुक्त होकर भी उनके गुणों को ग्रहण करने में सशक्त था। सब से पृथक् रहता हुआ भी व्यवहार रूप में सभी को धारण किये रहता। निर्गुण रहता हुआ भी वह सब गुणों का उपभोग करने वाला था ॥१०॥ सब जीवों के वाह्याभ्यन्तर में रहकर चर और अचर, सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय और दूर होते हुए भी समीप में अवस्थित था ॥११॥ घट, पट, वट, शकट, वानर, नर, गृह, आकाश, वृक्ष, पर्वत, पवन, जल, अग्नि आदि में तथा परमाणु के अंश में भी उसने विभिन्न प्राणियों के आचार विचार वाले स्वर्ग, नरक आदि के आवागमन युक्त तीनों लोकों का अवलोकन किया ॥१२-१३॥

मरीचस्यान्तरे तैक्ष्ण्यं शून्यत्वमिव चाऽम्बरे।
त्रिजगत्सत्यसति च विद्यते चिन्मयात्मनि ॥१४
इत्येवं भावयन्मुक्तभावया शुद्धसंविदा।
शक्रः क्रमेण तेनैव तथैव ध्यानवानभूत् ॥१५
ध्यानेन सर्वमेकत्र पश्यंश्चिरमुदारधीः।
ददर्शेममसौ सर्गमस्मदीयं महामतिः ॥१६
ततोऽस्मिन् विचरन्सर्गे शक्रान्ते शक्रतां गतः।
चकार जगतां राज्यं वृत्तान्तशतशोभितम् ॥१७
विद्याधरकुलाधीश इत्यद्यैव स देवराट्।
तस्येन्द्रस्य कुलोत्पन्न इति विद्धि यथास्थितम् ॥१८
ततो हृदयबीजस्थप्राङ्मुख्याभ्यासयोगतः।
त्रिसवालनिवासादिवृत्तान्तमनुभूतवान् ॥१९
यथैष शक्रः कथितस्त्रसरेणूदरास्पदः।
त्रिसवालास्पदश्चैतत्कुलजा कान्तिमानथ ॥२०
तथा शतसहस्राणि त्वत्रैतश्चान्यतश्च खे।
तादृग्व्यवहाराणि समतीतानि सन्ति च ॥२१

मरीच में तीक्ष्णता और व्योम में शून्यता के समान सत् और असत् रूप त्रिजगत् चिन्मय ब्रह्म में विद्यमान हैं ॥ १४ ॥ इस प्रकार भाव-रहित शुद्ध ज्ञान से अवलोकन करता हुआ वह इन्द्र पूर्व वासना से कल्पित उसी देह से क्रमपूर्वक ध्यान में संलग्न हो गया ॥१५॥ उस महामति एव उदार बुद्धि वाले इन्द्र ने ध्यान के द्वारा हमारे द्वारा अनुभूयमान सब ब्रह्माण्ड को ब्रह्म में स्थित देखा ॥१६॥ फिर हमारे इस ब्रह्माण्ड में क्रमशः मन से भ्रमण करता हुआ वह इन्द्रलोक में इन्द्र के पास पहुँच गया और इन्द्र को देखते ही, 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसे संस्कार के जागृत होने पर और पूर्व अनुष्ठित अश्वमेधों के फल को प्राप्ति की अनिवार्यता से इन्द्र होकर उसने सैकड़ों वृत्तान्तों से विभूषित जगतों का राज्य किया ॥१७॥ हे विद्याधर वंश के अधीश्वर ! इस प्रकार उसे त्रसरेणु में इन्द्र—वंश में उत्पन्न हुआ वह राजा ब्रह्माण्ड में देवताओं के राजा रूप से अवस्थित है, इसे जान लो ॥१८॥ ब्रह्माण्ड का अधीश्वर बन कर उसे हृदय में बीज के समान संस्कार रूप से अवस्थित अपने पूर्व ज्ञान-योगाभ्यास के कारण कमल-तन्तु में स्थित अपने वृत्तान्त को याद आई ॥१९॥ त्रसरेणु के उदरस्थ कमलतन्तु में रहता हुआ जैसा यह कान्तिमान इन्द्र बताया गया है, वैसे ही सैकड़ों और सहस्रों व्यवहार चिदाकाश में हुए और हो रहे हैं ॥२०-२१॥

वहतीयमविच्छिन्ना चिरायैवं तरङ्गिणी ।
तावद्दृश्यसरित् प्रौढा रूढारूढे च तत्पदे ।।२२

इति मायेयमादीर्घा प्रसृता प्रत्ययोन्मुखी ।
सत्यावलोकमात्रातिविलयैकविलासिनी ।।२३

यतः कुतश्चिन्मायेयं यत्र क्वचन वाऽनघ ।
यथाकथञ्चित्सम्पन्नमात्रैव परिदृश्यते ।।२४

अहंभावचमत्कारमात्राद्वृष्टिरिवाम्बुदात् ।
जायते मिहिकेवाऽऽशु प्रेक्षामात्रविनाशिनी ।।२५

येनायताभिमतदर्शनद्रष्टदृश्य-
मुक्तस्वभावमवभासनमात्मतत्त्वम् ।
सर्वार्थशून्यमत एव च शून्यरूप-
मेकं खमात्रमिव मात्रविकल्पमेव ॥२६

आत्म-साक्षात्कार के न होने तक यह दृश्यमान प्रबल नदी चिरकाल तक इसी प्रकार बहती रहती है। उस ब्रह्मपद के अविरूढ़ एवं अनारूढ़ होने पर यह दूर तक विस्तृत आकार वाली माया, अनुभव में आती है। यह विलास-तत्परा माया सत्य ब्रह्म के साक्षात्कार से ही विलीन होती है ॥२२ २३॥ हे निष्पाप ! जिस किसी कारणवश यह माया जहाँ कहीं उत्पन्न होती हुई देखी जाती है। इसलिए इसकी विचित्रता विशेष चिन्तनीय विषय नहीं है ॥२४॥ बादल से वर्षा होने के अहंकार रूपी चमत्कार से कुहरे के सदृश यह माया प्रकट होती है और आत्मसाक्षात्कार से क्षणभर में नष्ट हो जाती है ॥२५॥ सर्वसाक्षी स्वरूप ब्रह्म के विकल्प-रहित होने से अहंभाव से विस्तृत मन के विकल्पों और द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, इस त्रिपुटी रूपी ऐन्द्रिक विकल्पों से मुक्त स्वभाव होने के कारण वासनामय और स्वप्नमय पदार्थों से शून्य रूपी व्योम के समान पूर्ण अवभासित चिद्रूप आत्मतत्त्व मात्र ही परिशेष रहता है ॥२६॥



## ६२—विद्याधर को निर्वाणपद-प्राप्ति

अहन्त्वपवनस्पन्दो जगदित्यवगम्यताम् ।
अहन्त्वपद्मसौगन्ध्यं जगदित्यवबुध्यताम् ॥१

जगदस्त्यहमर्थेऽन्तरहमस्ति जगद्धृदि ।
अन्योन्यभाविनी त्वेते आधाराधेयवत्स्थिते ॥२

जगद्बीजमहन्त्वं यो मार्ष्टि बोधादवेदनात् ।
अलं चित्रं जलेनेव तेन धौतं जगन्मलम् ॥३

अहन्त्वं नाम तत्किञ्चिद्विद्याधर न विद्यते ।
अकारणमवस्तुत्वाच्छशशृङ्गमिवोदितम् ॥४
ब्रह्मण्यतितते‍ऽनन्ते संकल्पोल्लेखवर्जिते ।
अहन्त्वकारणाभावान्न कदाचन सन्मयम् । ५
अवस्तुन्येति सर्गादौ न सम्भवति कारणम् ।
अतोऽहन्त्वादि नास्त्येव वन्ध्यासुत इव क्वचित् ॥६
तदभावाज्जगन्नास्ति चित्त्वं जगदभावतः ।
शिष्टं निर्वाणमेवाऽतः शान्तमास्व यथासुखम् ॥७
कथयत्येवमप्येवं स विद्यावरनायकः ।
आसीत्संशान्तसंवित्तिः समाधिपरिणामवान् ॥८

भुशुण्ड बोले—हे विद्याधर ! तुम इस जगत् को अहं रूपी वायु का स्पन्दन मात्र अथवा अहं रूपी पद्म की गन्ध मात्र ही समझो ॥१॥ अहंकार में यह विश्व और विश्व में यह अहंकार अवस्थित है । यही एक-दूसरे के उत्पत्तिकर्त्ता और एक-दूसरे के अधीन रहने वाले हैं ॥ २ ॥ जो पुरुष अहं रूपी इस जगत् के बीज को अनहं रूपी ज्ञान से क्षीण कर देता है, वह मल युक्त जगद्रूपी चित्र को ज्ञान रूपी जल से स्वच्छ करता है ॥३॥ परमार्थ में किंचित् अहंभाव नहीं है । अवास्तविक होने से शश-शृंग के समान यह अकारण ही उदय को प्राप्त है ॥४॥ सर्व व्यापक, अन्त-रहित, संकल्पों के उल्लेखों से वर्जित ब्रह्म में अहंकार के कारण का अभाव होने से, वह कभी सन्मय नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ कारण की संभवता से लोक में अवस्तु केलिए कुछ भी कर सकना शक्य नहीं है, प्रकृत सर्ग आदि में तो कारण को संभावना ही नहीं हो सकती । इस प्रकार जैसे बन्ध्या के पुत्र नहीं होता, वैसे ही अहंकार का सर्वत्र अभाव है ॥६॥ अहंभाव आदि रूपी बीज के अभाव में जगत् का भी अभाव है और जगत् के अभाव से ही कैवल्य रूपी चिन्मात्र ही शेष रहता है । इसलिए तुम शान्त ब्रह्म स्वरूप में ही अवस्थित होओ ॥७॥ हे मुने ! मेरे द्वारा यह कहे जाने पर वह विद्याधरेश पूर्ण दृश्यज्ञान के शान्त होने पर नीरक्षीर विवेक के समान समाधि रूप चित्त वाला हो गया ॥८॥

प्रबोध्यमानोऽपि मया भूयोभूयस्ततस्ततः ।
न पपात पुरो दृश्ये परं निर्वाणमागतः ॥९
स प्राप परमं स्थानं तावन्मात्रप्रबोधवान् ।
कनचिन्नाधिकेनाङ्ग यत्नेनातिशयैषिणा ॥१०
अत उक्तं मया राम यदि शुद्धे हि चेतसि ।
उपदेशः प्रसरति तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥११
एवंविधा मुनिश्रेष्ठ मूढा अपि चिरायुषः ।
भवन्त्यनियमो ह्यंग दीर्घायुष्यस्य कारणम् ॥१२
अन्तःशुद्धमनस्का ये सुचिरायाभयप्रदम् ।
मनागप्युपदिष्टास्ते प्राप्नुवन्ति परं पदम् ॥१३
मेरुमूर्द्धनि मामेवमुक्त्वा स विहगाधिपः ।
तूष्णीं बभूव मुक्तात्मा ऋष्यमूक इवाम्बुदः । १४
अहमापृच्छ्य तं सिद्धं विद्याधरमथो पुनः ।
प्राप्त आत्मास्पदं राम मुनिमण्डलमण्डितम् ॥१५
एतत्तवाद्य कथितं वलिभुक्कथोक्तं
विद्याधरोपशमनं लघुबोधनोत्थम् ।
अस्मिन् भुशुण्डविहगेन्द्रसमागमे मे
चैकादशेह हि गतानि महायुगानि ॥१६

फिर मैंने बारम्बार उसे जगाने की चेष्टा की, किन्तु वह परम निर्वाणपद में लीन होने के कारण विषयों की ओर प्रवृत्त न हो सका ॥९॥ वह मेरे उतने से उपदेश से ही प्रबोध को प्राप्त होकर परमपद में अवस्थित होगया, उसे श्रवण, मनन, निध्यासनादि कोई भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा ॥१०॥ हे राम ! मैंने इसीलिए तो कहा था कि जैसे जल में तैल की बूँदें फैलती हैं, वैसे ही निर्मल चित्त पर उपदेश-वाणी फैल जाती है ॥११॥ भुशुण्डजी बोले—हे मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार कभी-कभी मूर्ख भी चिरजीवी होते पाये जाते हैं, इसका कारण तत्वज्ञान ही होगा, ऐसा नियम नहीं माना जा सकता ॥१२॥ जिन पुरुषों का अन्तःकरण

चिरकालीन अभ्यास से स्वच्छता को प्राप्त हो गया है, वह अल्प उपदेश प्राप्त करके ही अभयपद को पा लेते हैं ॥१३॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! उस मेरु-शिखर पर अवस्थित महात्मा भुशुण्ड यह कह कर उसी प्रकार मौन होगए जैसे ऋष्यमूक पर्वत पर मतंग ऋषि के शाप से भयभीत हुए बादल मौन साध लेते हैं ॥१४॥ हे राम ! फिर उन सिद्ध भुशुण्डजी से आज्ञा लेकर मैं उस विद्याधर के पास गया और उक्त संवाद को भले प्रकार जानकर मैं मुनियों से युक्त अपने आश्रम में आपहुँचा ॥१५॥ काकभुशण्डजी ने जो कथा मुझसे कही थी, उसके द्वारा प्रतिपादित उस विद्याधर की, तत्वज्ञान से प्राप्त विश्रान्ति पूर्ण रूपेण मैंने आपको सुना दी है हे राम ! खगेन्द्र भुशुण्ड और मेरे इस वर्णित समागम के पश्चात् अब इस कल्प के ग्यारह दिव्य युग व्यतीत हो चुके हैं ॥१६॥



## ६३—दृश्यमान जगत् भ्रान्ति है

रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यादीन्द्रियवेदनम् ।
स्वरूपं विदुरम्लानमस्वभावस्य वस्तुनः ॥१
अस्वभावतनुत्वेन स्वभावस्थितिरातता ।
यदादेति तदा सर्गो भ्रमाभः प्रतिभासते ॥२
यदा स्वभावविश्रान्तिः स्थितिमेति शमात्मिका ।
जगद्दृश्यं तदा स्वप्नः सुषुप्त इव शाम्यति ॥३
भोगा भवमहारोगा बन्धवो दृढबन्धनम् ।
अनार्थायार्थसम्पत्तिरात्मनाऽऽत्मनि शाम्यताम् ॥४
अस्वभावात्मता सर्गः स्वभावैकात्मता शिवः ।
भूयतां परमव्योम्ना शाम्यतां मेह ताम्यताम् ॥५
नात्मानमवगच्छामि न दृश्यं च जगद्भ्रमम् ।
ब्रह्म शान्तं प्रविष्टोऽस्मि ब्रह्मैवाऽस्मि निरामयः ॥६
त्वमेव पश्यसि त्वन्त्वं स त्वंशब्दार्थजृम्भितम् ।
पश्यामि शान्तमेवाऽहं केवलं परमं नभः ॥७

वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! बाह्याभ्यन्तर विषय और बुद्धि आदि इन्द्रियों को स्वच्छ रूप से प्रकाशित करने वाले साक्षी स्वरूप चैतन्य को ही ज्ञानीजन आकार-हीन जगद्रूप मानते हैं ॥१॥ अपरिच्छिन्न वस्तु के स्वाभाविक रूप में अविद्याकृत परिच्छेद और देह रूप में उदय को प्राप्त होती है, तभी यह सृष्टि भ्रान्तिके समान प्रतीत होने लगती है ॥२॥ जब आत्मज्ञान से शान्ति रूप विश्रान्ति अपनी स्थिति में होती है तब जैसे सुषुप्ति में स्वप्न विलीन हो जाता है, वैसे ही यह जगद्रूपी दृश्य लीन हो जाता है ॥३॥ यह सम्पूर्ण, भोग, संसार के रूप में महा-रोग ही हैं, बाँधव दृढ़ बन्धन रूप और सभी अर्थ अनर्थ स्वरूप हैं। इस-लिए अपने से ही अपने आत्मा में शान्ति प्राप्त करिये ॥४॥ ब्रह्म से विपरीत भाव ही सृष्टि है और स्वाभाविक ब्रह्मत्व की प्राप्ति ही श्रेय है। इसलिये आप परम चिदाकाश रूप में अवस्थित होकर शान्ति प्राप्त करिये ॥५॥ मैं स्वयं को नहीं जानता और न दृश्यमान जगत् की भ्रान्ति को ही जानता हूँ। मैं शान्त ब्रह्म में अवस्थित होकर निरामय ब्रह्म ही हो गया हूँ ॥६॥ 'तुम हो' इस परत्व को आप देख रहे हो, परन्तु मैं सभी को शान्त स्वरूप एवं केवल परम चिदाकाश रूप ही देखता हूँ ॥७॥

ब्रह्मण्येव पराकाशे रूपालोकमनोमयाः ।
विभ्रमास्तव संजातकल्पाः स्पन्दा इवानिले ॥८

ब्रह्मात्मा वेत्ति नो सर्गं सर्गात्मा ब्रह्म वेत्ति ना ।
सुषुप्तो वेत्ति नो स्वप्नं स्वप्नस्थो न सुषुप्तकम् ॥९
प्रबुद्धो ब्रह्मजगतोर्जाग्रत्स्वप्नदृशोरिव ।
रूपं जानाति भास्वं जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥१०

यथाभूतमिदं सर्वं परिजानाति बोधवान् ।
सर्गाम्यति च शुद्धात्मा शरदीव पयोधरः ॥११

स्मृतिस्थः कल्पनस्थो वा यथाख्यातश्च सङ्गरः ।
सदसद्भ्रान्तिमात्रस्तथाहन्त्व जगद्भ्रमः ॥१२

आत्मन्यपि नास्ति हि या
द्रष्टा यस्या न विद्यते कश्चित् ।
न च शून्यं नाशून्यं
भ्रान्तिरियं भासते सेति ॥१३

हे राम ! जैसे पवन में स्पन्दन होता है, वैसे ही चिदाकाश रूपी ब्रह्म में ये बाह्याभ्यन्तर सभी पदार्थ भ्रान्ति रूप से ही उत्पन्न हैं। वे परमार्थ से उत्पन्न न होते हुए भी, उत्पन्न जैसे भासित होते हैं ॥ ८ ॥ ब्रह्मरूप में अवस्थित पुरुष सृष्टि को और उसमें अवस्थित पुरुष ब्रह्मरूप को उसी प्रकार नहीं जानता जिस प्रकार सुषुप्त पुरुष स्वप्न में स्थित पुरुष सुषुप्ति के ज्ञान से रहित होता है ॥९॥ प्रबुद्ध पुरुष ब्रह्म और जगत् के क्रम को जाग्रत और स्वप्न-द्रष्टा पुरुष के उनके रूप जानने के समान ही जानता हैं। इसी लिए वह प्रशान्त बुद्धि वाला जीवन्मुक्त उपदेष्टा होता है ॥१०॥ जीवन्मुक्त ज्ञानी इस सम्पूर्ण विश्व को यथावत् ही जानता है और जैसे शरत्कालीन मेघ स्वच्छ होते हैं, वैसे ही वह शुद्धात्मा एवं शान्त होता है ॥११॥ जैसे कोई युद्ध की बात कहे तो स्मृति या कल्पना में युद्ध की प्रतीति होती है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को सत्-असत् की भ्रान्ति रूपी अहंभावना आदि ही जगद्रूपी भ्रम प्रतीतः होता है ॥१२॥ भले प्रकार दृश्यमान जगत् रूपी माया परमार्थ सत्य आत्मा में और असत् रूपी शून्य में नहीं है तथा कोई जीव जिसका देखने वाला नहीं है,इस प्रकार की शून्य और अशून्य वाली अद्भुत भ्रांति अनिर्वचनीय ही प्रतीत होती है॥१३॥

---

## ६४—अविद्या कठ पुतली का नृत्य

अस्दभावस्वभावोऽयं सर्वोहन्तादिवेदनः ।
स्वभावैकस्वभावेन निर्वाणीक्रियतां स्वयम् ॥१
यात्रादित्यो भवेत्तत्र यथाऽऽलोकस्तथा भवेत् ।
परं विषयवैरस्यं तत्र यत्र प्रबुद्धधीः ॥२
अकर्तृकमकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
जगदग्र्यं ह्यसंसारमभित्तौ चित्तमुत्थितम् ॥३

न चोत्थितं किञ्च न वा शान्ते शान्तं यथास्थितम् ।
अनामयं परं ब्रह्म सत्यमव्ययमेव तत् ।।४
चिच्चमत्कारमात्रात्मकल्पनारङ्गरञ्जनाः ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते खे जगच्चित्रपुत्रिकाः ।।५
रसभावविकाराढ्यं नृत्यन्त्यभिनयैर्नवैः ।
परमाणुप्रतिप्रायः खे स्फुरन्त्यम्बरात्मिकाः ।।६

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! अविद्या स्वभाव वाला यह आत्मा ही सम्पूर्ण विश्व रूप से अहंकार आदि का ज्ञाता बन जाता है। इस अनिर्वाणत्व को प्राप्त हुए आत्मा की विद्या से प्रकट, अद्वितीय, स्वप्रकाश एवं पूर्णानन्द रूपी आत्मस्वभाव से निर्वाणमय बनाइये ।।१।। जैसे जहाँ आदित्य है वहाँ प्रकाश होगा ही, वैसे ही विषयों ने जहाँ वैराग्य होगा वहाँ तत्व बुद्धि होगी ही ।। २ ।। कर्त्ता, कर्म, कारण, दृश्य, द्रष्टा, दर्शन और उपादेय पदार्थों से रहित यह जगत् बिना आधार और भित्ती के ही बना है ।।३।। यह दृश्य रूप से स्थित जगत् ब्रह्म में न कभी उत्पन्न हुआ और शान्त ही हुआ। यथार्थ में तो वह ब्रह्म विकार-रहित, नाश-रहित, सत्य और परब्रह्म ही है ।। ४।। चिति के चमत्कार रूपी संकल्पमय नृत्यमंडप में विविध रसों से युक्त इस जगत् चित्र की पुतलियाँ चिदाकाश में नृत्य कर रही हैं इनकी गिनती करने में कौन समर्थ है ।।५।। रसादि भाव विकारों के द्वारा नवीन अभिनय-दृश्यों से युक्त परमाणु मात्राओं में स्थित चिदाकाश में, यह पुतलियाँ नाच कर रही हैं ।।६।।

सर्वर्तुशेखरधरा दिग्बाहुलतिकाकुलाः ।
पातालपादलतिका ब्रह्मलोकशिरोधराः ।।७
चन्द्रार्कलोलनयनास्तारोत्करमनूरुहाः ।
सप्तलोकाङ्गलतिकाः परिनीरन्ध्राम्बराम्बराः ।।८
द्वीपाम्बुराशिवलया लोकालोकाद्रिमेखलाः ।
भूतभारदलज्जीवप्रहत्प्राणमारुताः ।।९

वनोपवनविन्यासहारकेयूरभूषिताः ।
पुराणवेदवचनाः क्रियाफलविनोदनाः ॥ १०
त्रिजगत्पुत्रिकानृत्यं यदिदं दृश्यते पुरः ।
ब्रह्मवारिद्रवत्वं तत्तद्ब्रह्मानिलवेपनम् ॥ ११
अस्वभावस्थितैवास्य कारणं कारणात्मकम् ।
असुषुप्तस्थिता स्वापे स्वाप्नस्येव सतीत्र सा ॥ १२

इन पुतलियों के शिरोभूषण सभी ऋतु, बाहुलतिका सभी दिशाएं, पादलतिका पाताल, कन्धे ब्रह्मलोक, चंचल चक्षु चन्द्र और सूर्य, रोमावलि तारागण, अंगलतिका सातों लोक और सब ओर से स्वच्छ आकाश इन का परिधान है इनके करकंकण द्वीप और समुद्र, करधनी लोकालोक पर्वत, चलते-फिरते देहधारी इनके प्राण वायु और वन-उपवन इनके केयूरों से युक्त हार हैं । इनके वचन वेद-पुराण और हास—विलास विभिन्न कर्मों के फल रूपी सुख-दुःख हैं। इस प्रकार त्रैलोक्य रूपी पुत्तलिकाओं का जो नाच होता दिखाई देता है वह ब्रह्म रूपी जल वायु का जलत्व और स्पन्दन ही है ॥७-११॥ जैसे सुषुप्ति में उसके स्वभाव से रहित चिति स्वप्न का कारण होती है, वैसे ही अस्वाभाव में अवस्थित होकर यह चिति ही नृत्य की कारण होगई है । ब्रह्म इसी प्रकार का कारणात्मक कहा गया है ॥१२॥

असुप्तसुषुप्तस्थः स्वभावं भावयन् भव ।
जाग्रत्यपि गतव्यग्रो मा स्वप्नमिदमाश्रय ॥ १३
यज्जाग्रति सुषुप्तत्वं बोधादरसवासनम् ।
तं स्वभावं विदुस्तज्ज्ञा मुक्तिस्तत्परिणामिता ॥ १४
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
अरूपालोकमननं स्थितं ब्रह्म जगत्तया ॥ १५
कान्ते कान्तं प्रकचति पूर्णे पूर्णं व्यवस्थितम् ।
द्वित्वैक्यरहिते भाति द्वित्वैक्यपरिवर्जितम् ॥ १६

सत्यं सत्ये स्थितं शान्तं सर्गात्मन्यात्मनि स्वयम् ।
आकाशकोशसदृशं शिलाजठरसंनिभम् ॥१७
सुरत्नजठराकारं घनमप्यम्बरोपमम् ।
प्रतिबिम्बमिव क्षुब्धमप्यक्षुब्धमसच्च सत् ॥१८

हे राम ! आप व्यग्रता-रहित पारमार्थिक भाव में स्थित होकर जागृति में भी असुप्त–सुप्त पद में अवस्थित हो जाइये । इस जगत् रूपी स्वप्न का अवलम्बन त्याग दीजिए ॥१३॥ तत्वज्ञान द्वारा जागृति में जिस राग-रहित सुषुप्ति की प्राप्ति होती है, ज्ञानीजनों ने उसी को ब्रह्म स्वभाव कहा है । उस स्वरूप में नितान्त अवस्थित होना ही मोक्ष है ॥१४॥ ब्रह्मरूप में निश्चित हुए ज्ञानी के लिए तो कर्ता, कर्म, करण, दृश्य, द्रष्टा और दर्शन से शून्य तथा बाहर–भीतर के विषयों से रहित जगद्रूप से अवस्थित ब्रह्म ही है ॥१५॥ ऐसी अवस्था होने पर ज्ञानी प्रकाशमान में प्रकाश, पूर्ण, द्वित्व और एकत्व से शून्य, प्रत्यगात्मा में द्वित्व और एकत्व-रहित ब्रह्म ही एक रस रूप से अनुभव करता है ॥१६॥ यथार्थतः सृष्टि रूप से अवस्थित आकाश के समान शान्त और सत्य आत्मा ही पाषाण-जठर के समान सत्य स्वरूप में अवस्थित है ॥१७॥ वह रत्नमय पाषाणोदर के समान प्रकाशमान और घन होते हुए भी आकाश के समान है । जगत्—रूपी प्रतिबिम्ब से क्षुब्धसा स्थित होकर भी अक्षुब्ध ही है और जगत्–रूप से असत् भासित होने पर भी सत्स्वरूप ही रहता है ॥१८॥

भविष्यन्नवनिर्माणं चेतसीव स्थितं पुरम् ।
ब्रह्म बृंहितभारूपमभेदीकृतमानसम् ॥१९
यथा संकल्पनगरं संकल्पान्नेव भिद्यते ।
तथाऽयं जगदाभासः परमार्थान्न भिद्यते ॥२०
हेमपीठमिवाऽनेकभविष्यत्सन्निवेशवत् ।
लक्ष्यमाणमपि स्फारं शान्तमव्ययमास्थितम् ॥२१

अजस्रनाशोत्पादाढ्यमेकरूपमनामयम् ।
अनाशोत्पादमजरमनेकमिव कान्तिमत् ॥२२
ब्रह्मैव शान्तिघनभावगतं विभाति
सर्गोदयेन विगतास्तमयोदयेन ।
व्योमेव शून्यविभवेन गलत्स्वभाव-
लाभं प्रति प्रसभमेव ननु प्रवुद्धे ॥२३

जैसे नये नगर के निर्माण से पूर्व उसका अस्तित्व चित्त में कल्पना रूप से रहता है, इस प्रकार नगर चित्तस्वरूप ही है, वैसे ही यह आभासित जगत् अपने स्वरूप में ब्रह्मरूप ही है, जिससे मन भी अभिन्न है । १९।। जिस प्रकार संकल्पित नगर सकल्प से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार यह जगदाभास परमार्थ रूप ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता ॥२०॥ जिस स्वर्णपीठ में होने वाली रचनाएँ (संकल्प द्वारा) विद्यमान हैं, उसके समान अनेक प्रकार से विस्तृत और परिपूर्ण भासमान यह जगत् शान्त और अव्यय ब्रह्म ही है ।।२१।। यह उत्पत्ति और नाश से मुक्त होकर भी उत्पत्ति एवं विनाश से युक्त होकर भी उत्पत्ति एवं विनाश से रहित है तथा अनेक रूप में भासमान होकर भी एक रूप है ।।२२।। तत्वज्ञान की प्राप्ति पर सृष्टि रूप से प्रकट हुई भी उत्पत्ति-विनाश-रहित हो जाती है । उस अवस्था में वह पूर्ण स्वपद में अवस्थित होकर एक आनन्द घन ब्रह्म की ही प्रतीति करता है । जिस प्रकार कि आकाश में भ्रान्ति से भासित स्वभाव के बाध होने पर शून्य भाव से भासित होने लगता है ।।२३।।

---

## ६५—विश्व और ईश्वर का एकत्व वर्णन

चित्तत्वरकचनं शान्ते यत्तत्तस्मान्न भिद्यते ।
अव्याकृतामलतया स्वातः सर्गादिसम्भवः ॥१
चित्तदीपे गते यान्ति भ्रान्तिवद्भ्रान्तिखे स्थिते ।
रूपालोकमनस्कारसंविदोऽम्बुद्रवाशयः ॥२

निरस्तकरणापेक्षं मरुतः स्पन्दनं यथा ।
यथा विसरणं भासस्तथा जगदिदं परे ॥३
द्रवत्वमिव कीलाले शून्यत्वमिव चाम्बरे ।
स्पन्दत्वं मरुतीवेदं किमप्यात्ममयं परे ॥४
महाचीति महाकाशे यदिदं भासते जगत् ।
तच्चित्त्वमेव कचति निर्मलत्वं मणाविव ॥५
यथा द्रवत्वं पयसि यथा शून्यत्वमम्बरे ।
यथा प्रस्पदनं वायौ महाचिति तथा जगत् ॥६

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! शान्त कूटस्थ आत्मा जो चित्तवत् प्रकाश होता है, वह चिदात्मा से भिन्न नहीं है । इसलिए सर्ग आदि कहीं संभव नहीं है, क्योंकि वह अव्याकृत और मल-रहित है ॥१॥ कूटस्थ आत्माकाश में बाह्याभ्यन्तर विषयों का उदय होना ऐसा है, जैसे जल-रूपी द्रव की तरंगें । वे मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या हैं । जब चित्त रूपी सूर्य अस्त होजाता है, तब वे भी लीन हो जाती हैं ॥२॥ जैसे पवन में स्पन्दन अनपेक्ष रूप से होता है अथवा जैसे सूर्य में प्रभा प्रसारित होती है वैसे ही यह जगत् ब्रह्म में हो है ॥३॥ जल में द्रवत्व, व्योम में शून्यत्व और पवन में स्पन्दन के समान ही अनिर्वचनीय आत्मा का विवर्तरूप यह विश्व परब्रह्म में है ॥४॥ महा-चिद्रूप आकाश में भासमान यह जगत, मणि में प्रकाश के समान, चिद्रूप ही भासित होता है ॥५॥ जल में द्रवत्व, आकाश में शून्यत्व और पवन में स्पन्दन के समान ही यह जगत् महाचिति में है ॥६॥

वेत्ति वायुर्यथा स्पन्दं तथा वेत्ति जगच्चितिः ।
न द्वैतैक्यादिभेदानां मनागप्यत्र सम्भवः ॥७
अविवेकाम्यां भासुरं भंगुरं जगत् ।
बोधे सदैव सद्रूपमभासुरमभंगुरम् ॥८
ज्ञप्तिमात्रादृते शुद्धादादिमध्यान्तवर्जितात् ।
नान्यदस्तीह निर्णीतं महाचिन्मात्ररूपिणः ॥९

तत्कस्य चिच्छिवं शान्तं कस्यचिद्ब्रह्म शाश्वतम् ।
कस्यचिच्छून्यतामात्रं कस्यचिज्ज्ञप्तिमात्रकम् ॥१०

तदनन्तात्म चिद्रूपं चेत्यतामिव भावयत् ।
स्वसंस्थमेव जैयत्वमज्ञत्वमिव गच्छति ॥११

चित्तया नास्ति सत्ता च चित्तता नास्ति तां विना ।
विना विना यथा वायोर्यथा स्पन्देषु कारणम् ॥१२

जैसे स्पन्दन को पवन अपना ही रूप जानता है, वैसे ही जगत् को चिति अपना ही रूप मानती है । अतः द्वैत-अद्वैत आदि भेदों की किंचित संभावना नहीं है ॥७॥ यह सम्पूर्ण विश्व अज्ञान से चमकता और विवेक से नाशवान् है । जब परमार्थ का ज्ञान हो जाता है, तब वह उज्वल या नश्वर कैसा भी भासित नहीं होता, केवल सद्रूप ब्रह्म रूप में ही रहता है ॥८॥ ज्ञान मात्र, शुद्ध, अनादि, अमध्य, अनन्त, महाचिन्मात्र रूपी ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं रहता, यह तत्वज्ञान से निर्णीत तथ्य है ॥९॥ कोई उसे शान्त शिव, कोई शाश्वत ब्रह्म, कोई शून्य रूप और कोई ज्ञान स्वरूप मानता है ॥१०॥ वही अनन्तात्मा, चिद्रूप, चेतनात्मक स्वयं को विषय स्वरूप जैसा मानता हुआ, अपने स्वरूप में स्थित रहकर भी विषय रूप एव अज्ञानी जैसा हो जाता है ॥११॥ अध्यास से प्रतीत होने वाले पदार्थों का प्रकाश अधिष्ठान भूत चैतन्य के अभाव से होता है, अतः विषयों का अस्तित्व अधिष्ठान भूत चेतन के बिना संभव नहीं है और अस्तित्व नहीं तो विषयात्मक चित्तत्व भी नहीं हो सकता । जैसे कि शून्य रूप कूटस्थ आकाश ही पवन का कारण है और स्पन्दनों का कारण पवन है ॥१२॥

तथा महाचितीच्छायाः सर्गसंवित्तिवृत्तिषु ।
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥१३

यथा स्पन्दानिलद्वित्वं शाब्दमेव न वास्तवम् ।
विश्वविश्वेश्वरद्वित्वं तथैवासन्मयात्मकम् ॥१४

किसी जन्मान्ध को रूप का अनुभव हो, वैसे ही इन उपदेश वचनों से यदि परोक्ष रूप में आपको कुछ ज्ञान हुआ तो वह कोई यथार्थ ज्ञान नहीं है, क्योंकि अपरोक्ष वस्तु का परोक्ष ज्ञान तो भ्रमयुक्त ही है। अतः आप ऐसे ज्ञान का उलंघन करके आप प्रत्यगात्म रूपी अपरोक्ष आत्मज्ञान में स्थित होकर जन्मादि से रहित आत्मानुभव स्वरूप ही हो जाइये ॥१८॥

---

## ६६—तत्वज्ञान से ब्रह्मपद-प्राप्ति

अहन्तादि जगच्चेदं परिज्ञानादसत्यताम्।
याति सानुभवो मोहात्सत्यमेवाऽन्यथाधियाम् ॥१
अज्ञानज्वरमुक्तस्य बोधशीतलितात्मनः।
एतदेव भवेच्चिह्नं यद्भोगाम्बु न रोचते ॥२
अलमन्यैः परिज्ञानैर्वाच्यवाचकविभ्रमैः।
अनहंवेदनामात्रं निर्वाणं तद्विभाव्यताम् ॥३
परिज्ञाता यथा स्वप्ने पदार्था रसयन्ति नो।
न च सन्ति तथैवास्मिन्नहं जगदिदं भ्रमे ॥४
यथा स्वभावनाद्यक्षस्तरौ सस्वजनं पुरम्।
पश्यत्यसत्यमेवैवं जीवः पश्यति संसृतिम् ॥५
विभ्रमात्मा यथा यक्षो यक्षलोकश्च ते मिथः।
सद्रूपौ सुस्थितौ मिथ्या तथाऽहन्त्वजगद्भ्रमौ ॥६
अनावरणतोऽरण्ये यक्षा विभ्रमरूपिणः।
यथा स्फुरन्ति भूतानि तथेमानि चतुर्दश ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम! भोक्ता और भोग्य स्वरूप यह अहन्तादि जगत् तत्वज्ञान की प्राप्ति पर असद् रूप हो जाता है। भोग का चिति से नाश होता है, वह भोक्ता और भोग्य से संबंधित अनुभव है। उसी अनुभव से मोह द्वारा आत्म-अनात्म धर्मों को परस्पर समझने वाले में

आत्मबुद्धि वाले मूर्खों को वाह्य जगत् का भोग होता है। अतः वाह्याभ्यंतर जगत् का अनुभय ब्रह्मरूप ही समझो ॥१॥ अज्ञान से भले प्रकार रहित जिस पुरुष के आत्मा को ज्ञान रूपी शीतलता प्राप्त हो चुकी है, उसका लक्षण यही है कि उसे भोग रूपी जल रुचिकर प्रतीत नहीं होता ॥२॥ वाच्य-वाचक रूपी भ्रमों से सम्पादित ज्ञान निष्फल है। अहंभाव का अभाव होना ही निर्वाणपद है ॥३॥ जिस प्रकार जागे हुए पुरुष को स्वप्न में देखे हुए पदार्थों से कोई आनन्द नहीं मिलता, उसी प्रकार 'यह जगत् है' ऐसी भ्रान्ति से देखे गये अस्तित्व हीन पदार्थों से तत्वज्ञानी को आनन्द की प्राप्ति नहीं होती ॥४॥ जैसे कोई यक्ष किसी वृक्ष में, अपनी भावना से अपसे परिजनों से युक्त किसी मिथ्या नगर को देखे, वैसे ही जीव भी अविद्या के कारण इस मिथ्या जगत् को देखता है ॥५॥ जैसे भ्रमित आत्मा वाला यक्ष सद्रूप की तरह स्थित मिथ्या यक्षलोक को देखता है, वैसे ही अहन्ता और जगत् का भ्रम भी मिथ्या ही है ॥६॥ वन में जैसे यक्ष आदि भ्रान्ति ही स्फुरित होती है, वैसे ही अनावरण से यह चौदह भुवन स्फुरित होते हैं ॥७॥

भ्रममात्रमहं मिथ्यैवेति बुद्ध्वा विभावयन्।
यक्षोऽयक्षत्वमायाति चित्तं चित्तस्वामिदम् ।८
निरस्तकलनाशंक त्यागग्रहणवर्जितम् ।
अविसारिसमस्तेच्छं शान्तमास्व यथास्थितम् ॥९
यदिदं जगदाभासं शुद्धं चिन्मात्रवेदनम्।
काऽत्रैकता द्विता का वा निर्वाणमलमास्यताम् ॥१०
भूयतां चिन्मयव्योम्ना पीयतां परमो रसः ।
स्थीयतां विगताशंकं निर्वाणानन्दनन्दने ॥११
किमेतास्वतिशून्यासु संसारारण्यभूमिषु ।
मानवा वातहरिणा भ्रमथो भ्रान्तवुद्धयः ॥१२
जगत्त्रयमरीच्यम्बुविप्रलब्धान्धवुद्धयः ।
मा धावत गतव्यग्रमाशयोपहताशयाः ॥१३

जिस प्रकार 'यह मेरे भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं' ऐसा बोध होने पर यक्ष अक्षत्व को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अहमादि जगत् को मिथ्या जानता हुआ चित्त चिद्रूपता को प्राप्त होता है ।।८।। सभी कल्पनाओं और शंकाओं से शून्य, त्याग और ग्रहण से रहित तथा अत्यन्त दूर जाने वाली कामनाओं से विलगित एवं शान्त रूप से जैसे स्थित हैं, वैसे ही रहिये ।।९।। यह सब जगदाभास शुद्ध चिन्मात्र वेदन स्वरूप है, इसमें द्वैत-अद्वैत क्या हो सकता है ? अतः आप पूर्ण निर्वाणपद में अवस्थित रहिये ।।१०।। आप सभी चिन्मयाकाश बनिये, परम रस का पान करिये और निर्वाण रूपी नन्दन कानन में निःशंक होकर विचरण कीजिये ।।११।। हे मनुष्यो ! आप सभी इस नितान्त शून्य संसार रूपी महा-अरण्य के मरुखंडों में भ्रान्त बुद्धि वाले मृगों के समान क्यों भ्रमते फिर रहे हैं ? ।।१२।। हे अन्ध मति जीवो ! आपको त्रैलोक्य रूपी मृगतृष्णा ने ठग लिया है । आप इस व्यर्थ माया में चंचल एवं व्यग्र होकर मत दौड़ते फिरो ।।१३।।

निर्वाणमाऽश्वासनता पराऽपतापताज्ञता ।
संसाराध्वनि खिन्नस्य शान्ता विश्रामभूमयः ।।१४
तज्ज्ञज्ञातो मूर्खाणां मूर्खज्ञातो न तद्विदाम् ।
विद्यते जगदर्थोऽप्राववाच्यार्थमयो मिथः ।।१५
भ्रान्तिशान्तौ प्रबुद्धस्य विनिर्वाणस्य विश्वता ।
यथास्थितैव गलिता विद्यते च यथास्थितम् ।।१६
देशकालं विनैवाऽऽत्मा बोधाबोधेन चित्तताम् ।
अबुद्धो नीयते न्यायैरेकमेवैप सुस्थितः ।।१७
अत्र यद्यप्यबोधादेः सम्भवो नास्ति कश्चन ।
तथापि कल्प्यतेऽत्रैव बोधनाय परस्परम् ।।१८

महानुभावा विगताभिमाना
विमूढभावोपशमे गलन्ति ।
निर्भ्रान्तियोऽनन्ततयैव शान्ता
नित्यं समाधानमया भवन्ति ।।१९

इस संसार-मार्ग में निरन्तर भ्रमते हुए पथिक के लिए निर्वाणता, वासना-रहितता और त्रिविधताप शून्यता ही विश्राम भूमियाँ हैं ॥१४॥ परस्पर कहने के अयोग्य अर्थों वाले इन जगत् के पदार्थों को जैसा तत्व-ज्ञानी जानते हैं, वैसा मूर्ख नहीं जानते अथवा जैसा मूर्ख जानते हैं, वैसा तत्वज्ञानी नहीं जानते ॥१५॥ भ्रान्ति के नष्ट होने पर प्रबुद्ध पुरुष के लिए यह संसार रूप प्राप्त नहीं होता। उसके लिए तो आत्मरूप में अव-स्थित केवल ब्रह्म ही स्थित रहता है ॥१६॥ बोध रूपी आत्मा के अवोध से ही देश-कालादि रहित यह अज्ञानी आत्मा चित्तता को प्राप्त हो गया है। यथार्थ में तो यह एक ही है ॥१७॥ शुद्ध चिदात्म में अज्ञान की संभावना न होते हुए भी परस्पर में बोध का आदान-प्रदान करने के लिए ही ऐसी कल्पना की गई है ॥१८॥ हे राम ! तत्वज्ञान द्वारा मूल अज्ञान के शमन होने पर महात्मा पुरुष अभिमान का परित्याग करके घृत के समान अपने स्वरूप में ही लीन हो जाते हैं और निरतिशय आनन्द की उपलब्धि से शान्ता विक्षेप-रहित एवं निरंतर समाधि रूपी उत्कृष्ट विश्रान्ति में अवस्थित होते हैं ॥१९॥

---

## ६७—ध्यान से दृढ़ वैराग्य की उत्पत्ति

परमार्थफले ज्ञाते मुक्तौ परिणतिं गते।
बोधोऽप्यसद्भवत्याशु परमार्थो मनोमृगः ॥१
क्वापि सा मृगता याति प्रक्षीणस्नेहदीपवत्।
परमार्थदर्शवास्ते तत्रानन्तावभासिनी ॥२
ध्यानद्रुमफलप्राप्तौ बोधतामागतं मनः।
वज्रसारां स्थितिं धत्ते छिन्नपक्ष इवाचलः ॥३
मनस्ता क्वापि संयाति तिष्ठत्यच्छैव बोधता।
निर्बाधा निर्विभागा च सर्वाऽखर्वात्मिका सती ॥४
स्वयमेव ततस्तत्र निरस्तसकलेषणम्।
अनाद्यन्तमनायासं ध्यानमेवावशिष्यते ॥५

यावन्नाधिगतं ब्रह्म न विश्रान्तं परे पदे ।
तावत्तन्मननत्वेन न ध्यानमवगम्यते ॥६

परमार्थैकतामेत्य न जाने क्व मनो गतम् ।
क्व वासना क्व कर्माणि क्व हर्षामर्षसंविदः ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम! परमार्थ फल के जानने पर जब मुक्ति दृढ़ता होती है, तब साक्षात्कार वृत्ति रूपी ज्ञान भी अज्ञान के बाधित होने से असद्रूप हो जाता है और यह मन रूपी मृग परमार्थ को प्राप्त होता है ॥१॥ तब बिना तैल के दीपक के समान इसकी पूर्वकालीन मृगता ( राग-चंचलता ) न जाने कहाँ लोप हो जाती है ? उस समत आत्मरूप-प्रकाशिका परमार्थ-स्थिति ही शेष रह जाती है ॥२॥ जब ध्यान रूपी वृक्ष परमार्थ रूपी फल को प्राप्त कर लेता है तब बोधता को प्राप्त हुआ यह मन पंख-रहित पर्वत के समान वज्र-सदृश दृढ़ हो जाता है ॥३॥ बाह्यपदार्थों के मनन का स्वभाव नष्ट होकर निर्बाध, निर्विभाग, सम्पूर्ण अखर्वात्मिका चिन्मात्रता ही शेष रह जाती है ॥४॥ तब सभी इच्छाओं के विगत होने तथा कोई अन्य गति न रहने के कारण आदि और अन्त-रहित, अनायास आत्म-ध्यान ही अवगत होता है ॥५॥ जब तक ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और जब तक परम पद में विश्रान्ति की उपलब्धि नहीं हो जाती, तब तक विषयों के मनन में उलझा हुआ मन आत्म-ध्यान का अनुभव भी नहीं कर पाता ॥६॥ परमार्थ रूपता के प्राप्त होने पर यों वह मन न जाने किधर चला जाता है ? तब कहाँ वासना रहती है, कहाँ कर्म रहते हैं और हर्ष-अमर्ष की वृत्तियाँ कहाँ रहती हैं ? ॥७॥

केवलं दृश्यते योगी गतो ध्यानैकनिष्ठताम् ।
स्थितो वज्रसमाधाने विपक्ष इव पर्वतः ॥८

तावद्विषयवैरस्यं भावयन्त्युचिताशयाः ।
न पश्यन्त्येव तान्यावद्भोगांश्चित्रनरो यथा ॥९

अपश्यञ्जागतानर्थान्निर्वासनतयाऽऽस्मन्नान् ।
वलाद्वज्रसमाधाने त्वन्येनेव निवेश्यते ॥१०
यस्मै न स्वदते दृश्यं स सम्वुद्ध इति स्मृतः ।
न स्वदन्ते यदा भोगाः सम्यग्वोधस्तथोदितः ॥११
यस्य स्वभावविश्रान्तिः कथं तस्यास्ति भोगिता ।
अस्वभावो हि भोगित्वं तत्क्षये तत्कथं कुतः ॥१२
श्रुतपाठजपान्तेषु समाधिनिरतो भवेत् ।
समाधिविरतः श्रान्तः श्रुतपाठजपाञ्छ्रयेत् ॥१३

निर्वाणमासीत निरस्तखेदं
समस्तशंकास्तमयाभिरामम् ।
सुषुप्तसौम्यं समशान्तचित्तं
शरद्घनाभोगविशुद्धमन्तः ॥१४

इस अवस्था में योगी ध्यान में एकनिष्ठ दिखाई देता है और वह पंख-रहित पर्वत् अथवा वज्र के समान दृढ़ रूप से अवस्थित हो जाता है ॥८॥ शुद्ध अन्तः करण वाले योगियों को विषयों में विरक्ति हो जाती है तव चित्र में चित्रित मनुष्यों को चित्र-चित्रित पुरुष द्वारा देखे जाने के समान हो भोगों की ओर वे अर्थ-हीन रूप से देखते हैं ॥९॥ वासना-रहित होने से जगत् के पदार्थों को न देखता हुआ आत्मज्ञानी ऐसा हो जाता है जैसे वह वज्र के समान अटूट समाधि में मानो किसी अन्य के द्वारा वलात् नियुक्त किया गया हो ॥१०॥ जिसे विषयों से विरक्ति हो, वही ज्ञानी कहा जाता है और भोगों में अरुचि होने पर ही उसे सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥११॥ जो अपने आत्म स्वभाव में अवस्थित हो गया उसे भोग कैसे ? क्योंकि भोग तो आत्मा के विरुद्ध स्वभाव वाला ही है, उसके क्षीण होने पद वह टिक ही कैसे सकता है ? ॥१२॥ प्रथम शास्त्रों का श्रवण पाठ और जप आदि करे, फिर समाधि में तत्पर हो और समाधि टूटने पर पुनः श्रवण, पाठ और जपादि करे ॥१३। राम ! अपने अन्तर में एक मात्र निर्वाण रूप समाधि को देखता हु

स्थित रहे, खिन्न मन न रहे और शंकाओं का परित्याग कर दे। यही समाधि सुषुप्ति के समान परम शान्त, सुखद और शरत्कालीन मेघ के समान स्वच्छ है। ऐसी ही अवस्था में चित्त सम्यक् रूप से शान्त रहता है ॥१४॥

---

## ६८—जगत् परमार्थमय है

भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ।
आदावेव हि नोत्पन्नाः सर्गादौ कारणं विना ॥१
न त्वमूर्तो हि चिद्धातुः कारणं भवितुं क्वचित् ।
स्वात्मा: शक्तः स मूर्तानां बीजमुर्वीरुहामिव ॥२
स्वभावमेव सततं भावयन् भावनात्मकम् ।
आत्मन्येव हि चिद्धातुः सर्वोऽनुभववान् स्थितः ॥३
आस्वादयति यं भावं चिद्धातुर्गगनात्मकः ।
लब्धः सर्गः प्रलापेन क्षीवः क्षुब्धतया यथा ॥४
यदा सर्वमनुत्पन्नं नास्त्येवापि च दृश्यते ।
तदा ब्रह्मैव विद्धीदं समं शान्तमसत्समम् ॥५
चिन्नभश्चिन्नभस्येव पयसीव पयोद्रवः ।
चित्त्वात्कचति यत्तेन तदेवेदं जगत् कृतम् ॥६
स्वप्ने तदेव जगदित्युदेति विमला यथा ।
काचकस्येव कचति तथेत्थं सादि सर्गखे ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म और चराचर सहित यह जगत् सृष्टि के आरम्भ में ही प्रकट हुए हैं, क्योंकि इनके उत्पत्तिकर्त्ता किसी कारण का उस समय भाव नहीं होता ॥१॥ आकार-हीन चितितत्व कहीं भी कारण रूप नहीं हो सकता। साकार वृक्षों से ही साकार बीज के उत्पन्न होने के समान, यदि अपना आत्मा साकार होता तो साकार पदार्थों को उत्पन्न कर सकता था ॥२॥

सभी तत्वज्ञानी पुरुष चिति तत्व रूप से अपने आत्मा में ही आत्म-रूपत्व की भावना करके अवस्थित हैं ॥३॥ चिदाकाश रूपी आत्मा जिस भाव का आस्वादन करता है, वही भाव इस प्रकार साकार हो जाता है, जिस प्रकार कि मद्य के क्षोभ से प्रलाप करता हुआ मद्यपायी अपने आत्मा से ही स्वस्वरूप प्राप्त कर लेता है ॥४॥ जब यह सभी अनुत्पन्न है और कुछ न होते हुए भी दिखाई देता है, तब आप इस अज्ञानावस्था में असद्रूप को आप शान्त ब्रह्म ही जानिये ॥५॥ जल में द्रवत्व के समान चिदाकाश में चिदाकाश रूपी विश्व है। चिदात्मा के कारण इस सम्पूर्ण प्रपंच के प्रकाशित होने से यह विश्व ब्रह्मरूप ही है और उस जगदाकार ब्रह्म ने ही इसकी रचना की है ॥६॥ स्वप्न में जिस प्रकार निर्मल चेतन ही जगद्रूप से उदय को प्राप्त होता है अथवा काँचदोष वाले चक्षु से आकाश में केशोण्ड्रक आदि की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार सृष्टि रूप से उत्पन्न चिदाकाश में ऐसा सादि रूप विश्व प्रकाशित होता है ॥७॥

आदिसर्गे हि चित्स्वप्नो जाग्रदित्यमिशब्द्यते ।
आद्यरात्री चितेः स्वप्नः स्वप्न इत्यपि शब्द्यते ॥८
पूर्वप्रवृत्ता सरितां रूढाद्यापि यथास्थिता ।
तरङ्गलेखा दृष्टीनां पदार्थरचना तथा ॥९
कुकर्मभयस्तु चेद्भीतिः सा समेह परत्र च ।
तस्मादेते समसुखे सर्वेषां मृतिजन्मनी ॥१०
मरणं जीवितं वाऽस्तु सहजे वासने तयोः ।
इति विश्रान्तचित्तो यः सोऽन्तःशीतल उच्यते ॥११
सर्वसंवित्तिविगमे संविद्रोहति यादृशी ।
भूयते तन्मयेनैव तेनासौ मुक्त उच्यते ॥१२
अत्यन्ताभावसंवित्या सर्वदृश्यस्य वेदनम् ।
उदेत्यपास्तसंवेद्यं सति वाऽसति सर्गके ॥१३
यन्न चेत्यं न चिद्रूपं यच्चितेरप्यचेतितम् ।
तद्भावैक्यं गतास्तज्ज्ञाः शान्ता व्यवहृतौ स्थिताः ॥१४

प्रथम प्रवृत्त हिरण्यगर्भ की सृष्टि में स्थित चिति-स्वप्न ही 'जाग्रत' कहा जाता है और घोर रात्रि में प्रवृत्त चिति-स्वप्न ही 'स्वप्न' कहलाता है ।।८।। प्रथम संकल्प सर्ग के अन्तिम काल तक व्यवस्थापिका नियति है। उसी के अनुसार भले प्रकार व्यवस्थित पदार्थ-रचना एक प्रकार से पूर्व-में प्रवाहित नदियों की तरंगलेखा के समान प्रत्यक्ष प्रतीत होती है ।।९।। कुकर्म के फलरूप नरक आदि का भय जीवित और मृतक के लिए समान ही है। सभी के जन्म-मरण में सुख दुःख की समानता होने से उनमें कोई भेद नहीं है ।।१०।। मरण अथवा जीवन दोनों अवस्थाओं में विद्यमान वासनाओं अथवा उनकी सूक्ष्म सत्ता के ब्रह्म सुखरूप होने से, वे ब्रह्म सुखरूपी हैं। अतः ब्रह्म सुख में विश्रान्ति प्राप्त करने वाला धीर पुरुष ही शीतलात्मा कहा गया है ।।११।। सभी प्रकार के भिन्न ज्ञानों के अस्त होने पर उत्पन्न हुआ एक रूप ज्ञान ही तद्रूप हो जाता है। तब दृश्य सत्ता के नष्ट होने पर ही पुरुष मुक्त कहलाता है ।।१२।। तीनों काल में विषयों के अस्तित्वहीन होने का ज्ञान होते ही ब्रह्मरूप से सृष्टि की पारमार्थिक सत्ता उसकी दृष्टि में असत्ता बन जाती है। तब सभी दृश्य का ज्ञान विषय-रहित रूप से ही उदित होता है और मुक्त रूपत्व की प्राप्ति होती है ।।१३।। जो न चेत्य रूप है, न चितिक्रिया रूप है तथा जो चितिक्रिया से प्रकाश को भी प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार ब्रह्म रूपत्व से एक रूप बने वह तत्वज्ञ पुरुष परम शान्ति रूपी व्यवहार में स्थित रहते हैं ।।१४।।

चित्काचकाचकच्यं यज्जगन्नाम्ना तदुच्यते।
अत्यच्छे परमाकाशे बन्धमोक्षदृशः कुतः ।।१५

चिन्नभःस्पन्दमात्रात्म सङ्कल्पात्मतया जगत्।
सद्भूतमयमेवेदं न पृथ्व्यादिमयं क्वचित् ।।१६

नेह देशो न कालोऽस्ति न द्रव्यं न क्रिया न खम्।
सादिवाखिलमुच्छूनं वाऽप्यनुच्छूनमप्यसत् ।।१७

भाति केवलमेवेत्थं परमार्थघनं घनम्।
यन्न शून्यं न वाऽशून्यमत्यच्छं गगनादपि ॥१८
साकारमप्यनाकारमसवेद्यातिभास्वरम् ।
अतिशुद्धैकचिन्मात्रस्फारं स्वप्नपुरं यथा ॥१९
निर्वाणमेवमिदमाततमित्थमन्त-
श्चिद्व्योम्न आविलमनाविलरूपमेव ।
नानेव न क्वचिदपि प्रसृतं न नाना
शून्यत्वमम्बर इवाम्बुनिधौ द्रवत्वम् ॥२०

अति निर्मल चिदव्योम में चिति का निरंतर प्रकाशन ही तो जगद्रूप कहा गया है, अतः उसमें बंध और मोक्ष की दृष्टियाँ ही संकल्प से आकार को प्राप्त हुआ यह जगत् चिदाकाश का स्पन्दन स्वरूप ही है, इसलिए वह तीनों कालों से बाधित ब्रह्ममय है, पृथिव्यादिमय नहीं है ।।१५-१६।। यहाँ देश, काल, द्रव्य, क्रिया, आकाश आदि कुछ भी नहीं है, केवल प्रतिभासित होने से ही यह सब प्रकट और सत् के समान प्रतीत होता है । यथार्थ में तो प्रतिभासित होने से उत्पन्न है, वह अनुत्पन्न और असत्य ही है ।।१७।। इस प्रकार इस जगद्-रूप में केवल परमार्थ घन रूपी ब्रह्म ही भासमान है, ब्रह्म न तो शून्य है और न अशून्य है, वह तो आकाश से भी अधिक निर्मल है ।।१८।। स्वप्न में देखे गये नगर के समान साकार लगता हुआ ब्रह्म निराकार ही है। वह अत्यन्त भास्वर, स्वच्छ और चिन्मात्र होने से विस्पष्ट है ।।१९।। चिदाकाश में स्थित कलुषित स्वरूप ही बताये हुए मार्ग से कलुष-हीन होकर निर्वाण स्वरूप हो जाता है । यह निर्वाण रूप सर्वत्र उपलब्ध है। यह जगत् भिन्न नहीं है, अपितु व्योम में शून्य और समुद्र में जलत्व के समान अभिन्न है ।।२०।।

---

## ६६—चिति ही सब कुछ है

सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा व्योम्नि चिन्मये ।
साधु सम्भवति वच्छशून्यत्वं ख इवाखिले ॥१

यत्र चित्तत्र सर्गश्रीरव्योम्नि व्योम्निवाऽस्ति चित् ।
चिन्मयत्वात्पदार्थानां सर्वेषां नास्त्यचित् क्वचित् ।।२
पदार्थे जातं शैलादि यथा स्वप्ने पुरादि च ।
चिदेवैकं परं व्योम तथा जाग्रत्पदार्थभूः ।।३
पाषाणाख्यानमत्रेदं शृणु राम रसायनम् ।
पूर्वं मयैव यद्दृष्टं चित्र प्रकृतमेव च ।।४
अहं विदितवेद्यत्वात्कदाचित्पूर्णमानसः ।
त्यक्तुमिच्छुरिमं लोकव्यवहारं घनभ्रमम् ।।५
ध्यानैकतानतामेत्य शनैर्विश्रान्तये चिरम् ।
त्यक्ताजवं जवीभाव एकान्तार्थी शमं व्रजन् ।।६
इदं चिन्तितवानस्मि कस्मिंश्चिदमरालये ।
संस्थितो विविधाः पश्यन् भंगुरा जागतीर्गतीः । ७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! चिन्मय व्योम में सर्वत्र, सर्वथा एवं असंकोच से अवस्थित एवं स्वच्छ है। जैसे नील रूप से शून्यता आकाश में मलीनता उत्पन्न कर उसे दूषित नहीं करती, वैसे जगत् के मल से चिति दूषित नहीं होती ।।१।। जहाँ चिति है, वहीं श्री है । पृथिवी, आकाश सभी में विद्यमान है । सभी पदार्थों के चिति रूप होने के कारण कहीं चिति नहीं है, ऐसा संभव नहीं है ।।२।। जिस प्रकार स्वप्न में पर्वत, नगर आदि सब चिति रूप हैं, उसी प्रकार जाग्रत में भी यह सब पदार्थ चिति रूप ही हैं ।। ३ ।। हे राम ! अब इस विषय में तुम मुझसे पाषाण-आख्यायिका सुनो। यह सब रसों से परिपूर्ण और भ्रम रूपी रोग की परमौषधि एवं अत्यंत अद्भुत है ।।४।। एक समय जब मैंने ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया और मेरा मन भी पूर्णता को प्राप्त हो चुका, तब मुझे इस घोर भ्रम वाले लोक व्यवहार को त्याग देने की इच्छा हुई ।।५।। फिर मैं समाधि में एकनिष्ठ होकर चिर-विश्रान्ति के निमित्त सब प्रकार की चंचलता छोड़कर एकान्त शान्ति की ओर बढ़ने लगा ।।६। तब शान्ति की ओर चलता हुआ मैं किसी देवता के स्थान में अवस्थित होकर

लोक की अद्भुत नाशवान गतियों का पर्यालोचन करता हुआ सोचने लगा ॥७॥

विरसा खल्वियं लोकस्थितिरापातसुन्दरी ।
न जातु सुखदा मन्ये कस्यचित्केनचित् क्वचित् ॥८
उद्वेगं जनयन्त्यन्तस्तीव्रसंवेगखेदतः ।
इमा दृश्यदृशो द्रष्टुरिष्टानिष्टफलप्रदाः ॥९
किमिदं दृश्यते किं वा प्रेक्षते कोऽहमेव वा ।
सर्वं शान्तमजं व्योम चिन्मात्रात्मनि रिङ्खकम् ॥१०
तस्मात्समस्तसिद्धेन्द्रदेवदैत्यादिदुर्गमम् ।
सुप्रदेशमितो गत्वा संगोप्यात्मानमात्मना । ११
अदृश्यः सर्वभूतानां निर्विकल्पसमाधिगः ।
समे स्वच्छे पदे शान्ते आसे विगतवेदनम् ॥१२
तस्मात्को नु प्रदेशः स्यादत्यन्तं शून्यतां गतः ।
यत्रैता नानुभूयन्ते पञ्च बाह्यार्थवेदनाः ॥१३
शब्दकाननवार्यब्दभूतौघाभिसमाकुलः ।
क्षोभयन्त्यथ संक्षुब्धास्तस्मान्मे गिरयोऽरयः ।१४

मैंने विचार किया—लोकों की यह अवस्था नीरस ही है, केवल बाह्य रूप से सुन्दर प्रतीत होती है। अतः मैं समझता हूं कि यह कभी भी, कहीं, किसी को, किसी भी कारण सुखदायी नहीं हो सकती है ॥८॥ यह दृश्य दृष्टियाँ अत्यंत संवेग और खेद उत्पन्न करने वाली, इच्छित और अनिच्छित फल के देने वाली हैं। तथा यह द्रष्टा के लिए अत्यन्त उद्वेगप्रद हैं ॥९॥ यह क्या दिखाई दे रहा है, कौन देखता है, मैं कौन हूं ? अर्थात् यह सभी कुछ शान्त, अजन्मा और चिदाकाश रूप है तथा चिदाकाश में किंचित् रेंगने वाला बन गया है ॥१०॥ यह सोचता हुआ मैं इच्छा करने लगा कि सब सिद्ध, इन्द्र, देवता दैत्य आदि को भी दुर्गम किसी रमणीक स्थान में जाकर अपने शरीर को अन्तर्हित रखता हुआ निर्विकल्प समाधि द्वारा एक अद्वितीय एवं शान्तपद में अवस्थित और सब विकल्पों से मुक्त होजाऊं ॥११-१२॥

वह शून्यता प्राप्त श्रेष्ठ प्रदेश कौन-सा है जहाँ मुझे समाधिस्थ होना चाहिए। वहाँ पंचेन्द्रियों से उत्पन्न पाँच प्रकार के बाह्यार्थज्ञान का भी नितान्त अभाव हो ॥१३॥ क्षुब्ध करने वाले शब्दों से आक्रान्त वन, जल, मेघ, सिंह आदि से व्याप्त पर्वत भी शत्रु के समान प्रतिकूल हैं, क्योंकि वे स्वयं क्षुब्ध होने के कारण दूसरों को भी वैसा ही कर देते हैं ॥१४॥

गायन्त्यनिलझंकारैर्नृत्यन्ति लतिकाः करैः ।
पुष्पैर्हसन्त्यगेन्द्राणां गुहा गहनकोटराः ॥१५
मौनिमीनमुनिस्पर्शकम्पितनालचलाम्बुजाः ।
सरस्यो विरसा एव वार्यावर्तविराविताः ॥१६
तस्मादाकाशमाशून्यं कस्मिंश्चिद्दूरकोणके ।
अत्र तिष्ठाम्यवष्टभ्य योगयुक्तिमनिन्दिताम् ॥१७
इति सञ्चिन्त्य यातोऽहमाकाशमसिनिर्मलम् ।
यावत्तदपि पश्यामि सकलं विततान्तरम् ॥१८
क्वचित् भ्रमत्सिद्धगणं क्वचिद्गर्जदम्बुदम् ।
क्वचिद्विद्याधराधारं यक्षोत्क्षिप्तक्षयं क्वचित् ॥१९
क्वचिद्भ्रमत्पुरवरं प्रारब्धसमरं क्वचित् ।
क्वचिद्द्रवज्जलधरं क्वचिदुद्वृत्तयोगिनि ॥२०
क्वचिद्दैत्यपुरोड्डीनसगन्धर्वपुरं क्वचित् ।
क्वचिद्भ्रमद्ग्रहगणं तारकाकुलितं क्वचित् ॥२१

पर्वतों की गहन गुफाएं भी पवन के झंकारादि शब्दों में गाती, लतिका रूपी हाथों से नाचतीं और पुष्पों के साथ हास-परिहास करती हैं, इसलिए वे भी क्षोभ उत्पन्न करने वाली हैं ॥१५॥ दर्प और भय से भीत मछलियों और मुनियों के स्थान-स्पर्श से कम्पनशील और नालदण्डों से चंचल नीरजों से परिपूर्ण सरोवर भी जल से शब्दायमान होने के कारण समाधि में विघ्न के कारण हैं, इसलिए वे भी नीरस ही हैं ॥१६॥ इसी लिए मैंने निश्चय किया कि सब ओर विक्षेप-कारणों से शून्य आकाश ही

समाधि के लिए उपयोगी रहेगा, अतः आकाश के किसी एक कोने में जाकर आनन्द से युक्त समाधि लगा लूँ ॥१७॥ ऐसा विचार कर मैं असि की धार जैसे स्वच्छ आकाश की ओर दढ़ा, तभी मैंने देखा कि वह आकाश भी असंख्य विक्षेपों से व्याप्त उदर वाला है ॥१८॥ वहाँ कहीं सिद्धगण भ्रमण कर रहे हैं तो कहीं घोर गर्जनशील मेघ हैं, कहीं विद्याधर हैं तो कहीं यक्षों का साम्राज्य है ॥१९॥ कहीं श्रेष्ठ नगर-समूह चल रहे हैं, कहीं संग्राम की तैयारी हो रही है, कहीं मेघ वर्षा कर रहे हैं और कहीं रौद्ररूप वाली योगिनियाँ स्थित हैं ॥२०॥ कहीं दैत्य नगरों के कारण गंधर्व और देवताओं के नगर उड़े जा रहे हैं, कहीं ग्रहगण विचरणशील हैं और कहीं वह तारागणों से समाकुल है ॥२१॥

क्वचित्खे खगसंघृष्टं क्वचित् क्रुद्धमहानिलम् ।
क्वचिदुत्पातवलितं क्वचिन्मण्डलमण्डितम् ॥२२
क्वचिदपूर्वभूतौघं नागरावलितं क्वचित् ।
क्वचिदर्करथाक्रान्तं क्वचिदन्यरथोद्धुरम् ॥२३
क्वचिदादित्यदाहान्तं शशिशैत्यान्वितं क्वचित् ।
क्वचिद्रक्षद्रजनासह्यं क्वचिदरण्यौष्ण्यदुर्गमम् ॥२४
क्वचिदुत्तालवेतालं गरुडोड्डामरं क्वचित् ।
क्वचित्सप्रलयाम्भोदं क्वचित्सप्रलयानिलम् ॥२५
ततो भूतगणांस्त्यक्त्वा दूराद्दूरतरं गतः ।
प्राप्तवानहमेकान्तं शून्यमत्यन्तं विस्तृतम् ॥२६
अत्यन्तमन्दपवनं स्वप्नेऽप्यप्राप्यभूतकम् ।
मङ्गलोत्पातरहितमगम्यं विद्धि संसृतेः ॥२७
कल्पिताथ मया तत्र कुटी प्रकटकोटरा ।
नीरन्ध्रकुड्यनिविडा पद्मकुड्मलसुन्दरी ॥२८

कहीं पक्षियों का प्राबल्य है, कहीं कुपित वायु का प्रकोप है, कहीं उत्पात हो रहे हैं तो कहीं मेघ-मंडल आदि की व्याप्तता है ॥२२॥ कहीं विचित्र भूतों का समाज है, कहीं विविध नगरों के समूह हैं, कहीं वह सूर्य

के रथ से और कहीं चन्द्रमा के रथ से आक्रान्त होरहा है ॥२३॥ कहीं सूर्य की निकटता से जीव दग्ध होरहे हैं, कहीं शीत ऋतु की शीतता, कहीं भूत-प्रेतादि की वीभत्सता है और कहीं अग्नि की दुर्गम उष्णता है ॥२४॥ कहीं घोर रूप वाले दीर्घकाय वेताल हैं, कहीं मेघ प्रलय जैसी वर्षा कर रहे हैं, कहीं वायु प्रलय जैसा दृश्य उपस्थित कर रहा है ॥२५॥ इस सबको देखता हुआ मैं दूर-अति दूर चलता-चलता एक ऐसे एकान्त स्थान में पहुँचा, जो नितान्त शून्य और विस्तृत था ॥२६॥ उस प्रदेश में मन्द वायु प्रवाहित था, भूतगण की तो स्वप्न में भी वहाँ पहुँच नहीं हो सकती थी, वह शुभ और अशुभ सभी चिन्हों से रहित स्थान संसारी जीवों के लिए तो अगम्य ही था ॥२७॥ मैंने अपने सत्य संकल्प से, उस शून्य प्रदेश में, एक कुटी बनाई, उसके कोटर अत्यंत स्वच्छ थे, भीतें छिद्र-रहित निबिड़ एवं पद्म की कलियों के समान सुरम्य थीं ॥२८॥

घुणक्षुण्णाङ्गपूर्णेन्दुविम्बोदरमनोहरा ।
कह्लारकुन्दमन्दारपुष्पश्रीकोशशोभिता ॥२९
समस्तभूतागम्यत्वं तत्र संकल्प्य चेतसा ।
अगम्ये सर्वभूतानामहमासं तदा ततः ॥३०
बद्धपद्मासनः शान्तमनाः परममौनवान् ।
संवत्सरशतान्तेन निर्णीयोत्थानमनः ॥३१
निर्विकल्पसमाधिस्थो निद्रामुद्रामिवागतः ।
समः सौम्यनभः स्वस्थः समुत्कीर्ण इवाम्बरात् ॥३२
चिरं यदनुसंधत्ते चेतः पश्यति तत्क्षणात् ।
चिरेण चाशापवनव्यक्तिवद्वितत यदा ॥३३
तदा वर्षशतेनात्र बोधबीजं वृतान्तरम् ।
आसीन्मे हृदयक्षेत्रे कालमेकं विकासतः ॥३४
संप्रबुद्धोऽभवन्मेऽथ जीवः सम्बुद्धवेदनः ।
शिशिरक्षीणगात्रस्य मधाविव रसस्तरोः ॥३५

वह कुटी ऐसी सुरम्य थी,जैसे पूर्णचन्द्र में घुन ने छेद कर दिया हो। वह कल्हार, कुन्द और मन्दार पुष्पों द्वारा सुसज्जित की गई॥२९॥प्रथम तो मैंने अपने मानसिक संकल्प द्वारा उसे सब जीवों के लिए अगम्य बनाया और फिर मैं उस कुटी में प्रविष्ट हुआ ॥३०॥ फिर वहाँ मैं पद्मासन में स्थित हुआ, मन को शान्त कर मौनावलम्बी रहता हुआ सौ वर्ष तक समाधि लगाने का निश्चय कर निर्विकल्प रूप से समाधिस्थ होगया। उस समय मैं एकवृत्ति से निश्चल हुआ आकाशोपम अपने स्वरूप में इस प्रकार अवस्थित होगया, जैसे मैं आकाश से ही लिपट गया हूँ ॥३१-३२॥ मन जिसका दीर्घकाल तक स्मरण करे, उसे वह तुरन्त ही देखता है, इस नियम के अनुसार सौ वर्ष का लम्बा समय व्यतीत होने पर, जब आशा और वायु के उत्पन्न होने पर कर्म का आन्तरिक भाग आवृत था, तब ज्ञेय का ज्ञान प्राप्त करके मेरा जीव,शिशिर में क्षीणकाय हुए तरु का रस मधु मास में प्रवुद्ध होने के समान ही, प्रबोध को प्राप्त हो गया ॥३३-३५॥

तच्छतं तत्र वर्षाणां निमेषमिव मे गतम् ।
बह्वयोऽपि कालगतयो भ न्त्येकधियो मनाक् ॥३६
विकासमागतो बाह्यं गतो बुद्धीन्द्रियक्रमः ।
वासन्तः पुष्परूपेण मदस्येव रसो मम ॥३७
मां प्राणपूरितमुपागतसंविदंश-
मभ्यागतं त्वहमिति प्रसृतः पिशाचः ।
इच्छाङ्गनाविवलितोऽथ कुतोऽपि सद्यः
प्रोन्नामसन्नमनवायुरिवोग्रवृक्षम् ॥३८

वहाँ मेरे वह सौ वर्ष निमेषमात्र के समान बीत गए, क्योंकि एकाग्र चित्त होने से काल की गति भी स्वल्प ही हो जाती है ॥३६॥ वृक्षों के रस का मद पुष्टि और हर्ष का हेतु भूत वसन्त कालीन रस पुष्परूप से जैसे प्रकट होता है, वैसे ही शनैः शनैः विकसित होती हुई बुद्धि-इन्द्रियों की परम्परा बाहर गमनशील होगई ॥३७॥ फिर पंचवृत्यात्मक प्राण

वायु और इन्द्रियों से पूर्ण होने के कारण चिति-अंश युक्त देह वाले मुझ अभ्यागत को देखकर तुम और मैं संज्ञक अहंकार-पिशाच अपनी इच्छा रूपिणी पत्नी के सहित किसी ऐसे तर्क-रहित प्रदेश से मेरे पास शीघ्र आ पहुंचा, जैसे कि उग्र वृक्षों के निकट ऊँचे वृक्षों को झुका देने वाला प्रचंड वायु आ जाता है ॥३८॥

---

## ७०—दृश्यप्रपंच की चिन्मात्रता

त्वामप्युदितनिर्वाणमहङ्कारपिशाचकः ।
बाधते किमिति ब्रूहि मुने सन्देहशान्तये ॥१
अहंभावं विना देहस्थितिस्तज्ज्ञाज्ञयोरिह ।
आधेयस्य निराधारा न संस्थेहोपपद्यते ॥२
अयं त्वत्र विशेषस्तं शृणु विश्रान्तचेतसः ।
श्रुतेन येनाहंभावपिशाचः शान्तिमेति ते ॥३
अहंभावपिशाचोऽयमज्ञानशिशुनाऽमुना ।
अविद्यमान एवान्तःकल्पितस्तेन संस्थितः ॥४
अज्ञानमपि नास्त्येव प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
विचारिणा दीपवता स्वरूपं तमसो यथा ॥५
यथायथा विलोक्यते तथातथा विलीयते ।
इहाज्ञता पिशाचिका तथा विचारिता सती ॥६
किल सत्यामविद्यायामज्ञतोदेति शाश्वती ।
बुद्धिमोहात्मिका यक्षी निर्देहैव यथा निशि ॥७

श्रीराम बोले—हे मुने ! आप तो निर्वाणपद में अवस्थित हैं, क्या आपको भी अहंकार रूपी पिशाच बाधा पहुंचाता है ? कृपया मेरे इस संशय का शमन कीजिये ॥१॥ वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! अहंभाव के बिना इस जगत् में ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में से किसी की भी देह-स्थिति संभव नहीं है। क्योंकि आधेय पदार्थ कभी निराधार नहीं रह

सकता ॥२॥ परन्तु, इसमें ज्ञानी चित्त वाले के लिए जो विशेषता है, उसे सुनो। क्योंकि इसके श्रवण से आपका अहंकार रूपी पिशाच शान्ति को प्राप्त हो जायगा ॥३॥ यह जो अज्ञान रूपी शिशु है, इसने अपने चित्त में अहंकार रूपी पिशाच की कल्पना की है, इसी से इसकी यह स्थिति है ॥४॥ विचार पूर्वक देखने पर तत्व ज्ञानी पुरुष को अज्ञान उसी प्रकार नहीं रहता, जिस प्रकार दीपक युक्त पुरुष को अंधकार दिखाई नहीं देता ॥५॥ यह अज्ञानता रूपी पिशाची ज्यों-ज्यों अनुभव में चढ़ती जाती है, त्यों-त्यों विचारित होती हुई नाश को प्राप्त होती है ॥६॥ अवश्य ही अविद्या की स्थिति से अविद्या बारम्बार वैसे ही प्रकट होती रहती है, जैसे कि रात्रि में भ्रान्ति से देह-रहित यक्षी प्रकट होती है ॥७॥

सति सर्गे त्वविद्यायाः सम्भवो नान्यतः क्वचित्।
सति द्वितीये शशिनि द्वितीयो विद्यते शशः ॥८
सर्गस्त्वयमजातत्वादज्ञज्ञातो न विद्यते।
न जातः कारणाभावात्पूर्वमेव खवृक्षवत् ॥९
परमाकाशकोशान्तरादिसर्गे निरामये।
पृथ्व्यादेरुपलम्भस्य भवेत् किमिव कारणम् ॥१०
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं मनःषष्ठेन्द्रियात्मनः।
साकारस्य निराकारं कथं भवति कारणम् ॥११
बीजात्कारणतः कार्यमंकुरः किल जायते।
न बीजमपि यत्रास्ति तत्र स्यादंकुरः कुतः ॥१२
कारणेन विना कार्यं न च नामोपपद्यते।
कदा क इव खे केन दृष्टो लब्धः स्फुटो द्रुमः ॥१३
सङ्कल्पेनाम्बरे यद्वद्दृश्यते विटपादिकम्।
स सङ्कल्पस्तथाभूतो न तत्रास्ति पदार्थता ॥१४

अविद्या की सृष्टि से ही उसकी सत्ता है, जैसे कि चन्द्रमा की अवस्थिति में ही दूसरा खरगोश दिखाई देता है ॥८॥ अज्ञानी द्वारा जाना

हुआ यह जगत् अनुत्पन्न होने से ही नहीं है, क्योंकि जैसे आकाश-वृक्ष नहीं होता, वैसे ही जगत् भी कारण हीन होने से उत्पन्न नहीं हुआ समझो ।।९।। चिदाकाश में अवस्थित सृष्टि के निरामय होने से पृथिवी आदि की उपलब्धि का कारण ही क्या है ? ।।१०।। मन-सहित छः इन्द्रियों से अज्ञात निराकार ब्रह्म, मन-सहित छः इन्द्रियों से अज्ञात साकार संसार का कारण कैसे होगा ? ।। ११ ।। कारणबीज रूप है, उसी से अंकुर रूपी कार्य की उत्पत्ति है तो जहाँ बीज रूपी कारण ही नहीं है, वहाँ अंकुर ही कैसे उत्पन्न होगा ? ।।१२।। सभी जानते हैं कि कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता । लहलहाते हुए प्रत्यक्ष आकाश वृक्ष को किसने देखा या ग्रहण किया है ।।१३।। जिस प्रकार संकल्प से ही आकाश में वृक्ष आदि देखे जाते हैं, वैसे ही यह जगत् संकल्पात्मक है, इसमें पदार्थता नहीं हो सकती ।।१४।।

एवं येयं चिदाकाशे सर्गादावनुभूयते ।
शून्यरूप इवाकाशे सर्गस्थितिरनर्गला ।।१५

सम एव चिदाकाशः कचत्यात्मनि तत्तथा ।
स्वभाव एव सर्गाख्यश्चित्त्वाच्चेतन्यमीश्वरः ।।१६

स्वप्नसर्गोऽत्र दृष्टान्तः प्रत्यहं योऽनुभूयते ।
स्वयं संवेदने स्वप्ने स्फुरत्यद्रिपुराकृतिः ।।१७

चित्स्वभावे यथा स्वप्ने आस्ते सर्ग इवेह यः ।
असर्गं सर्गवद्भाति तथा पूर्वं महाम्बरे ।।१८

अवेद्यवेदनं शुद्धमेकं भात्यजमव्ययम् ।
सर्गादौ यदनाद्यन्तं स्थितः सर्गः स एव नः ।।१९]

नेह सर्गोऽस्ति नैवायं पृथव्यादिगणगोलकः ।
सर्वं शान्तमनालम्बं ब्रह्मैव ब्रह्मणि स्थितम् ।।१२

सर्वशक्त्यात्म तद्ब्रह्म यथा कचति यादृशम् ।
रूपमत्यजदेवाच्छं तथा भवति तादृशम् ।।२१

सर्गारम्भ में इस अर्गला-रहित स्थिति का चिदाकाश में अनुभव होता है, वह भी आकाश में शून्य रूपी वृक्ष आदि के समान ही है ॥१५॥ विषय सृष्टि के आकार से शून्य चिदाकाश ब्रह्म ही अपने स्वभाव से सर्ग रूप होता है। सर्ग नामक चिति स्वभाव चिद्रूप होने से वह ईश्वर चैतन्य रूप है। इसलिए सृष्टि रूप से चिति ही भासमान होती है ॥१६॥ नित्यप्रति अनुभव में आने वाला स्वप्न-सर्ग ही इसमें दृष्टान्त स्वरूप है, क्योंकि स्वप्न विषयों में आत्मा ही विभिन्न रूपों में प्रकट होता है ॥१७॥ जैसे स्वप्न ने प्रकट होने वाली सृष्टि, सृष्टि-रहित आत्मा में विद्यमान चित्स्वभाव ही है, वैसे ही ज्ञान होने से पहिले दिखाई पड़ने वाली यह सृष्टि महाकाश में सर्ग-रहित चित्स्वभाव ही भासित होता है ॥१८॥ सर्ग के आदि में अवेद्यवेदन, शुद्ध, एक, अजन्मा, अव्यय, आदि अन्त से रहित जो ब्रह्म है, वही सर्ग रूप से अवस्थित है ॥१९॥ उस परब्रह्म में यह सर्ग अथवा यह पृथिवी आदि लोक नहीं हैं। वह तो सर्वशान्त, निरावलम्ब एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म में अवस्थित है ॥२०॥ सर्वशक्तिमान ब्रह्म जिस प्रकार स्फुरित होता है, वह अपने निर्मल स्वरूप को न छोड़ता हुआ उसी प्रकार का होजाता है ॥२१॥

यथा स्वप्नपुरं जन्तोश्चिन्मात्रप्रविजृम्भितम् ।
तथैव सर्गः सर्गादौ शुद्धचिन्मात्रजृम्भितम् ॥२२

स्वच्छे चित्परमाकाशे चिदाकाशो यः आस्थितः ।
स्वभाव एव सर्गोऽसाविति तेनैव भावितः ॥२३

भाव्यभावकभावादिभूमीनां भावनं भृशम् ।
सर्वं चिन्नभ एवाच्छमात्मनात्मनि संस्थितम् ॥२४

एवं स्थिते कुतः सर्गः कुतो विद्या क्व चाज्ञता ।
ब्रह्म शान्तं घनं सर्वं क्वाहंकारादयः स्थिताः ॥२५

अहंभावस्य संशान्तिरेपाऽसौ कथिता तव ।
अहंभावः परिज्ञातः पिशाच इव शाम्यति ॥२६

आकाशकोशविशदाकृतिरेव तिष्ठ
निर्दशवच्चिरमपह्नुतसर्वभावः ।
अद्यादितश्च किल चिन्मयमेव सर्वं
नो दृश्यमस्ति शिवमेवमशेषमित्थम् ॥३३

हे राम ! समाधि में अहंकार-शून्यता और व्यवहार में उसके विषयों में समता और सृष्टि की विद्यमानता-अविद्यमानता में मेरी दशा उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि अवकाश-रहित आकाश मेघ, वायु और आतप से शून्य होता हैं ॥२६॥ मैं न तो अहंकार का हूँ और न अहंकार ही मेरा है, ऐसा जानकर आप इस सम्पूर्ण जगत् को घन-रहित चिदाकाश ही समझो ॥३०॥ चित्रगत अग्नि की निष्फल दाह क्रिया के इस अभाव आदि की भ्रान्ति जैसे मेरी दृष्टि में नहीं है, वैसे ही अन्य ज्ञानी महात्मा पुरुषों की दृष्टि में भी नहीं है ॥३१॥ न मैं हूं, न कोई अन्य है और न यह दिखाई पड़ने वाला प्रपंच ही है, ऐसा निश्चय करके आप भी प्रकृत व्यवहार का पालन करते हुए पाषाण के समान मौन में अवस्थित हो जाइये ॥३२॥ चिरकाल के लिए सभी भावों का अपह्नव करते हुए आप अवकाश हीन पाषाण के समान एव आकाशकोश के समान विशदाकार से अपने स्वरूप में अवस्थित रहिये, क्योंकि इस सर्गकाल में सर्ग से पूर्व भी जो कुछ स्थित है, वह निःसंदेह शिव ही है । यह दृश्य प्रपंच यथार्थ में कुछ भी नहीं है ॥३३॥

---

## ७१—सृष्टिशोभा का भावाभाव दृष्टिभेद

अहो न विततोदारा विमला विपुलाचला ।
भवता भगवन् भूत्यै भूयो दृष्टिरुदाहृता ॥१
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
सदित्येव स्थितं सत्यं समं समनुभूतितः ॥२

अयमस्ति मम ब्रह्मन् संशयस्तं निवारय ।
किमिदं भगवन्नाम पाषाणाख्यानमुच्यते ॥३
सर्वत्र सर्वदा सर्वमस्तीति प्रतिपादने ।
पाषाणाख्यानदृष्टान्तो मयाऽयं तव कथ्यते ॥४
नीरन्ध्रैकघनाङ्गस्य पाषाणस्यापि कोटरे ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥५
भूताकाशे महत्यस्मिन् खशून्यत्वमनुज्झति ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥६
अन्तर्गुल्मांकुरादीनां प्राणवाय्यम्बुतेजसाम् ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥७

श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! आपने मेरे प्रति व्यापक, महान् उदार, विमल, विपुल और अचल दृष्टि का उपदेश दिया है ॥१॥ यह सर्वत्र, सर्व प्रकार से सत् है और असत् है, इस विषय पर विचार किया जाय तो यह सम, अविषम, एक रस और सत्य स्वरूप ही प्रतीत होता है, क्योंकि सभी धर्म धर्मी और उनका देशकाल सर्वात्मक हो जाय तो भेद आदि की सिद्धि नहीं होती ॥२॥ हे भगवन ! अब मेरे इस संदेह का शमन कीजिये कि यह पाषाणाख्यान किस की समानता में कहा है। क्योंकि भेद के कारण वाले पदार्थों की ही साधारण धर्म से समानता मानी जाती है ॥३॥ वसिष्ठजी बोले—सर्वत्र, सर्वदा और सर्व के प्रतिपादन में ही पाषाणाख्यायिका का यह दृष्टान्त है । अब इसकी सदृश्यता को कहता हूं ॥४॥ छिद्र-रहित और घनीभूत अवयवों से युक्त पाषाण के उदर में भी सहस्रों सृष्टियाँ है, यही बात इस आख्यायिका द्वारा समझाई गई है ॥५॥ आकाश को शून्यता का त्याग न करने वाले महा भूताकाश में भी सहस्रों सर्गों का आरोप संभव है, यह भी इसके द्वारा बताया गया है ॥६॥ गुल्म, अंकुर आदि तथा प्राण, वायु, जल, अग्नि आदि के उदर में भी सहस्रों सृष्टियां संभव हैं, यह निरूपण भी इसके द्वारा किया गया है ॥७॥

एतत्ते वर्णितं राम मुख्यमेव मयाऽखिलम् ।
योऽययालक्ष्यते सर्गः स ख एव खमास्थितम् ॥८
आदावेव हि नोत्पन्नमद्यापि न च विद्यते ।
दृश्यं यच्चावभातीदं तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ॥९
नास्ति भूरणुमात्रापि सर्गैर्निर्विवरा न या ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव ते ॥१०
न तेजसोऽणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥११
न वायोरणुप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥१२
खं नाणुमात्रमप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरं न यत् ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥१३
न सा महाभूतताऽस्ति सर्गैर्निर्विवरा न या ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥१४

हे राम ! यथार्थ में मुख्य चेतन में सम्पूर्ण जगत् का आरोप है, यही बात मैंने आप से कही है । यह दृश्यमान सर्ग चिदाकाश में चिदाकाश रूप से ही स्थित है ॥८॥ यह दृश्य जगत् न तो पहिले कभी उत्पन्न हुआ, न आज ही है, किन्तु इसका जो आभास हो रहा है, वह ब्रह्म में ब्रह्म ही स्थित है ॥९॥ सम्पूर्ण पृथिवी सृष्टियों से परिपूर्ण न हो, ऐसी बात नहीं है, परन्तु जो कुछ है, वह सभी ब्रह्माकाश रूप ही है ॥१०॥ तेज का ऐसा अणु कोई नहीं है, जिसमें सर्ग न हो। यथार्थ में तो सर्ग कहीं है ही नहीं, यह जो कुछ भासित है वह सब ब्रह्माकाश है ॥११॥ ऐसे वायु का भी कोई अणु नहीं है, जिसमें सृष्टि न हो । यथार्थ में तो सर्ग कहीं नहीं है, केवल ब्रह्माकाश ही है ॥१२॥ अणु भी आकाश सर्गों से रहित नहीं है, यह जो सृष्टियों से भरा हुआ है, वह सृष्टि ब्रह्माकाश रूप ही है ॥१३॥ महाभूत भी सर्गों से रहित नहीं है, यह सर्गों से पूर्ण ही हैं । कहीं भी सर्ग नहीं हैं, वे सब चिदाकाश ही है ॥१४॥

सर्गा एव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गता ।
मनागप्यस्ति न द्वैतमत्राग्न्यकौंष्ण्ययोरिव ॥१५
इमे सर्गा इदं ब्रह्म तेऽत्यन्तावाच्यदृष्टयः ।
विदार्यदारुरववद्भान्त्यर्थपरिवर्जिताः ॥१६
द्वैतमैक्यं च यत्रास्ति न मनागपि तत्र ते ।
सर्गब्रह्मादिशब्दार्थाः कथं कस्येव भान्तु के ॥१७
शान्तमेकमनाद्यन्तमिदमच्छमनामयम् ।
व्यवहारवतोऽप्यङ्ग ज्ञस्य मौनं शिलाघनम् ॥१८
निर्वाणमेवमखिलं नभ एव दृश्यं
त्वं चाहमद्रिनिचयाश्च सुरासुराश्च ।
तादृग्जगत्समवलोकय यादृगङ्ग
स्वप्नेऽथ जन्तुमनसि व्यवहारजालम् ॥१९

जिस प्रकार सूर्य और अग्नि की उष्णता समान हैं, वे दोनों एक रूप ही हैं, उसी प्रकार सर्ग और परब्रह्म में भी कोई भेद नहीं है, वे एक रूप ही हैं ॥१५॥ यह सर्ग और ब्रह्म वाचक जो शब्द हैं, उन पर दृष्टिपात करें तो वे अर्थ शून्य एवं अनिर्वचनीय वस्तु का ज्ञान कराने वाले उस प्रकार दिखाई देंगे, जिस प्रकार कि कुठार से विदीर्ण हुए काष्ठ के बोधक जो विभिन्न शब्द हैं, वे पृथक् अर्थ वाले न होकर काष्ठ का ही बोध कराते हैं ॥१६॥ जिस अवस्था में द्वित्व और एकत्व है, उसमें भी सर्ग और ब्रह्म के अर्थ का आभास नहीं होता, तब क्या वे अर्थ द्वित्व द्रष्टा को भासते हैं अथवा एकत्व द्रष्टा को ? ज्ञानी पुरुष के लिए यह सभी कुछ शान्त, एक, अनादि, अनन्त, स्वच्छ, विकार-रहित, पाषाण के समान घन एवं मौन रूप ब्रह्म ही रहता है, उससे भिन्न नहीं रहता ॥१७-१८॥ यह सम्पूर्ण दृश्य निर्वाण एवं चिदाकाश ही है । तुम, मैं, पर्वत, देवता, दैत्य आदि भी तद्रूप है । इस जगत् को आप उसी प्रकार आत्मरूप जानिये जिस प्रकार जागने पर स्वप्नगत दृश्य, याद आने पर आत्मरूप ही होता है ॥१९॥

———

## ७२—अनन्तकोटि जगत् का बोध

अनन्तरं नभःकोशकुटीकोटरतो मुने ।
तव ध्यानात्प्रबुद्धस्य वृत्तं वर्षशतेन किम् ॥१
ततो ध्यानात्प्रबुद्धोऽहं श्रुतवांस्तत्र निःस्वनम् ।
मृदु व्यक्तपदं हृद्यं न च वाच्यानुगो यतः ॥२
स्त्रीस्वभावादिव मृदु मधुरं वा निनादि वा ।
स्वल्पाङ्गत्वादनिर्ह्रादि मया तद्वाक्यमूहितम् ॥३
तदाकर्ण्याऽऽशु तत्रेदमहं चिन्तितवानथ ।
शाब्दिकान्वीक्षणात्पश्यन् दिशो दश सविस्मयः ॥४
व्योम्नोऽयं सिद्धसञ्चारमार्गशून्यान्यनन्तरम् ।
भागो योजनलक्षाणि समतिक्रम्य संस्थितः ॥५
तदिहेदृग्विधस्य स्यात्कुतः शब्दस्य सम्भवः ।
शाब्दिकं न च पश्यामि यत्नेनापि विलोकयन् ॥६
यदेति चिन्तयित्वाऽहं भूयोभूयो विलोकयन् ।
शब्देश्वरं न पश्यामि तदा चिन्तितवानिदम् ॥७

श्रीराम ने कहा—हे मुने ! आकाश कोटि की उस कुटी में जब सौ वर्ष व्यतीत होने पर आपका ध्यान भंग हुआ, तब जानने योग्य जो घटना घटी हो, उसका वर्णन कीजिए ॥१॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! जब मेरा ध्यान भंग हुआ, तब मैंने एक अत्यन्त मृदु और स्पष्ट ध्वनि सुनी। वह पदार्थ प्रतिपादन या वाक्यार्थ प्रतिपादन शक्ति से रहित थी ॥२॥ मुझे लगा कि वह ध्वनि किसी नारी-कंठ से निकली हुई मृदु और मधुर है। अधिक उच्च न होने से निकट से ही आरही प्रतीत हुई ॥३॥ उसे सुनकर मैं अत्यन्त विस्मित हुआ, उस शब्द करने वाले की खोज में मैंने दसों दिशाओं में देखा और फिर सोचने लगा ॥४॥ जहाँ सिद्ध पुरुष विचरण कर सकते हैं, उन मार्गों से भी लाखों योजन दूर पर आकाश का यह उन्नतम स्थान है ॥५॥ अतः इस एकान्त में नारी के समान

स्वर किस प्रकार संभव हुआ ? बड़े यत्न पूर्वक देखने पर भी मैं शब्दकर्त्ता को नहीं देख सका ॥६॥ इस प्रकार विचार करता हुआ मैं जब सब ओर भले प्रकार देख चुका और शब्दकर्त्ता कहीं भी दिखाई न दिया, तो मैं पुनः सोचने लगा ॥७॥

आकाश एव भूत्वाऽहमाकाशैकतां गतः ।
आकाशगुणशब्दार्थान् करोम्याकाशकोशके ॥८
चिन्तयित्वेत्यहं त्यक्तुं देहं पद्मासनस्थितः ।
आसं समाधिभावातुं पुनरामीलितेक्षणः ॥९
त्यक्त्वा बाह्यार्थसंस्पर्शानैन्द्रियानान्तरानपि ।
चित्ताकाशोऽहमभवं संवित्स्पन्दमयात्मकः ॥१०
क्रमात्तदपि सन्त्यज्य बुद्धितत्त्वपदं गतः ।
सम्पन्नोऽहं चिदाकाशे जगज्जालैकदर्पणः ॥११
ततस्तेन स्वभावेन भूतव्योमैकतामहम् ।
सम्प्रयातोऽम्बुनेवाम्बु सौरभं सौरभेन वा ॥१२
सम्पन्नोऽथ महाकाशं व्याप्यानन्तोऽप्य सर्वगः ।
अनाकारोऽप्यनाधारः सर्वार्थाधारतां गतः ॥१३
अपं त्रैलोक्यवृन्दानि संसाराणां शतानि च ।
तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि पश्याम्यगणितान्यपि ॥१४

मैं उपाधि छोड़ कर चिदाकाश रूप में एकत्व प्राप्त करूँ और अव्याकृत आकाश के कार्य भूताकाश के गुण, शब्द और अर्थों का वहीं अनुभव करूँ ॥८॥ ऐसा निश्चय कर मैंने पद्मासन लगाये हुए ही देह का परित्याग करने के लिए समाधिस्थ होने के उद्देश्य से नेत्र बंद कर लिये ॥९॥ मैंने बाह्य विषयों और आन्तरिक विषयों का स्पर्श छोड़ दिया तथा मन्तव्य आदि का भी त्याग करके एकमात्र संवित्-स्पन्दनात्मक चित्ताकाश रूप हो गया ॥१०॥ फिर क्रमशः सत्र का त्याग करता हुआ मैं बुद्धितत्व के पद में स्थित हो गया, फिर उसे भी छोड़ कर चिदाकाश में पहुँचा और अपने आत्मा में अध्यस्त सम्पूर्ण विश्व के प्रतिबिम्बों का एक दर्पण

बन गया ॥११॥ इसके पश्चात् उसी चित्स्वभावात्मक हुआ मैं भूताकाश में वैसा ही एकाकार हो गया, जैसा कि जल में जल अथवा सुगंध में सुगंध मिल जाता है ॥१२॥ फिर चिद्रूप आकाश में अभिन्न होकर सर्वथा सर्वगामी बन गया । मैं संग-रहित एवं अद्वितीय होने से आकार-रहित और आधार-रहित होकर सर्व धारण योग्य सत का ही आधार भूत हो गया ॥१३॥ इस प्रकार भूताकाश-अवस्था को प्राप्त हुआ मैं चिदाकाश में त्रैलोक्य-समूह, सैंकड़ों संसार तथा लाखों ब्रह्माण्डों को देखने लगा ॥१४॥

परस्परमदृष्टानि मिथः खान्यमलानि च ।
नानाचारविचाराणि शून्यान्येव परस्परम् ॥१५
जायमानानि नश्यन्ति वर्द्धमानानि भूरिशः ।
वर्तमानान्यतीतानि भविष्यन्ति च सर्वशः ॥१६
तथा जलैकपूर्णानि पवनैकमयानि च ।
स्तब्धानि परमाकाशे वहन्ति च तयाऽनिशम् ॥१७
देवमात्रैकसर्गाणि नरमात्रमयानि च ।
दैत्यवृन्दमयान्येव कृमिनिर्विवराणि च ॥१८
अन्तरन्तस्तदन्तश्च स्वकोशेऽप्यणुकं प्रति ।
जातानि जायमानानि कदलीदलपीठवत् ॥१९
विविधान्यप्यनन्तानि स्वच्छाकाशात्मकान्यलम् ।
अन्योऽन्यमन्यवृत्तीनि न मिथोऽन्यस्थितीनि च ॥२०
चित्संकल्पनभस्येव भासमानानि भूरिशः ।
वासनावातनुन्नानि विलुठन्त्यात्मचेष्टितैः ॥२१

यह सभी सृष्टि अव्याकृत आकाश रूप होने से परस्पर एक दूसरे के देखने में नहीं आती थी । वह अनेक प्रकार के आचार विचार वाली तथा परस्पर शून्यरूप ही थी ॥१५॥ उनमें कुछ उत्पत्ति को, कुछ विनाश को और कुछ वृद्धि को प्राप्त हो रही थीं । कुछ वर्तमान थीं, कुछ अतीत में छिपी थीं और कुछ भविष्य में अवस्थित थीं ॥१६॥ कुछ जल से

परिपूर्ण थीं, कुछ वायु में एकाकार हो रही थीं, कुछ परमाकाश में निश्चल और कुछ दिन-रात गतिशील थीं ॥१७। कुछ सृष्टि केवल देवरूप थी, कुछ मनुष्य रूप और कुछ दैत्य रूप थी तथा कुछ कीड़ों से परिपूर्ण थीं ॥१८॥ कहीं कदली-दल के समान प्रत्येक परमाणु में, उसके भी भीतर तथा उससे भी और भीतर अपने कोश में कुछ उत्पन्न हो चुके थे और कुछ हो रहे थे ॥१६॥ कुछ सृष्टियाँ विविध प्रकार की, कुछ अनन्त और निर्मल आकाश के समान थीं। उनकी क्रियाएँ भिन्न और स्थिति विषम थी ॥२०॥ चिति के संकल्प रूपी आकाश में ऐसे अनगिनती जगत् भासमान हैं, वे सभी वासना रूपी वायु के थपेड़ों से अपनी चेष्टाओं द्वारा ही लुढ़कते फिर रहे हैं ॥२१॥

अभिजातस्वभावस्य सर्गारम्भकरस्य च।
शुद्धचित्तत्त्वबालस्य संकल्पनगराणि खे ॥२२
त्वमहं स इदं चेति धिया वलद्दढान्यलम्।
सम्पन्नान्यर्कदीप्त्येव पंकक्रीडनकानि च ॥२३
वृत्तानि रसशालिन्या नियत्या नित्यतृप्तया।
वनान्युग्रफलानीव वसन्तरसलेखया ॥२४
महाकर्तृण्यकर्तृणि न कृतान्येव खानि वा।
स्वयं सम्पन्नरूपाणि चिद्व्योम्न्येव कृतानि वा ॥२५
परमार्थमयान्येव तदन्यद्वोदितान्यपि।
अलब्धान्येव लब्धानि सदाऽसन्त्येव सन्ति च ॥२६
चतुर्दशदशैकादिविधभूतगणानि च।
पुनस्तान्येव तान्यन्तरन्यान्यन्यान्यथो बहिः ॥२७
नरकस्वर्गपातालबन्धुमित्रमयान्यपि।
महारम्भमयान्येव शून्यानि परमार्थतः ॥२८

चिदाकाश में स्थित यह सभी सर्ग सुन्दर स्वभाव वाले विशुद्ध चितितत्व रूपी बालक के रमणीय संकल्प नगर ही समझो ॥२२॥ वे सभी 'त्वं' 'अहं' 'इदं' आदि अहंभावात्मक बुद्धि-बल से सूर्य की दीप्ति के

समान चमकते मिट्टी के खिलौनों के समान ही निर्मित हुए हैं ॥२३॥ निरंतर तृप्त हुई, राग-रस से भरी हुई कर्म फल देने वाली नियति ने उनको शाखा-उपशाखा को ऐसे बढ़ाया है, जैसे वसन्त की रस-रेखा फल वाले वनों की शाखा-उपशाखाओं को बढ़ाती है ॥२४॥ उनका कर्ता ब्रह्मा ही है अथवा ब्रह्म नहीं भी है। यथार्थ में तो वे महा चिदाकाश में अपने रूप को स्वयं ही धारण करके स्थित हैं और किसी के द्वारा सम्पादित भी लगते हैं ॥२५॥ वैसे तो यह परमार्थ चिद्रूप ही हैं तो भी अन्य द्वारा उत्पन्न प्रतीत होते हैं। अप्राप्य हैं, तो भी प्राप्त जैसे और असद्रूप होकर भी सद्रूप दिखाई देते हैं ॥२६॥ चौदह भुवन, केवल दश सख्यक देवता और मनुष्य की एक-एक जाति सहित, विभिन्न प्रकार के भूत समूहों से युक्त अनेक रूप वाले होकर भी एक रूप ही हैं, परंतु अन्य रूप के बाहर-भीतर उत्पन्न रहते हैं ॥२७॥ यद्यपि सभी जगत् नरक, स्वर्ग, पाताल, बन्धु और मित्र रूप से महारम्भ वाले हैं तो भी परमार्थतः शून्य रूप ही हैं ॥२८॥

क्षीराम्बुधेर्जलानीव स्नेहसाराणि सर्वतः।
तरङ्गभगुराण्यन्तर्बहिश्चावृत्तिमन्ति च ॥२९
आभासमात्ररूपाणि तेजस्यात्मविवस्वतः।
जातानीव स्वतस्तानि स्पन्दनानि नभस्वतः ॥३०
वृक्षरूपाणि पत्राणां बुध्यहंकारचेतसाम्।
असतामप्यसन्त्येव स्वप्ने न्यस्तनृणामिव ॥३१
पुराणवेदसिद्धान्तकल्पनातल्पपालिषु।
घननिद्राणि सुप्तानि बिभ्रन्ति शवतामिव ॥३२
परमार्थमहारण्ये चिद्गन्धर्वकृतानि वै।
सूर्यदीपकदीप्तानि गृहाणि गहनात्मनि ॥३३
प्रजायमानानि नभस्यनन्ते
विशीर्यमाणानि च निर्निमित्तम्।
तदा त्वहं वै तिमिराक्षदृष्ट-
केशोण्डुकानीव जगन्त्यपश्यम् ॥३४

क्षीर सिन्धु के जल के समान यह सब ओर से स्नेह रूपी सार से भरे हुए, तरंगों के समान नाशवान् और वाह्याभ्यन्तर रूप से परिवर्तन शील हैं ॥२९॥ आत्म रूपी सूर्य के तेज में वे आभास-मात्र प्रतीत होते हैं और जैसे वायु में स्पन्दन स्वयं उत्पन्न होता है वैसे वह स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं ॥३०॥ यह जगत् बुद्धि, अहंकार और चित्त रूपी पल्लवों के लिए एक प्रकार से वृक्ष रूप ही है। स्वप्न-दृश्यों के असत्य होने के समान ही अपने से भिन्न देखने वालों के लिए वे असद्रूप ही हैं ॥३१॥ पुराण और वेद के सिद्धान्त रूपी कल्पना-स्वप्नों में विश्वास रूपी प्रगाढ़ निद्रा में निद्रित यह जगत् भ्रान्ति से मृतकों के समान हो रहे हैं ॥३२॥ परमार्थ भूत ब्रह्म रूपी उस महा विपिन में चिति रूपी गंधर्व द्वारा निर्मित और सूर्य रूपी दीपक से दीप्त वे जगद्रूप गृह अत्यन्त गहन है ॥३३॥ मैंने उस समाधि में अनन्त चिदाकाश कारण-रहित रूप से उत्पन्न हुए और अकारण ही जीर्ण-शीर्णता को प्राप्त, तिमिर-रोग में दिखाई देने वाले केशोण्डूक के समान भ्रान्ति से अवतीर्ण अनन्त जगत् देखे ॥३४॥



## ७४—विचित्र जगत् का दर्शन

ततोऽहमभितो भ्रान्तस्तादृशं प्रविचारयन् ।
वहुकालमसंरुद्धसंविदाकाशतां गतः ॥१
शब्दं पश्चात्तमश्रौषमहं वीणास्वनोपमम् ।
क्रमात्स्फुटपदं जातं तत आर्यात्रमागतम् ॥२
शब्ददेशपतद्दृष्टिर्दृष्टवान्वनितामहम् ।
पार्श्वे कनकनिस्पन्दप्रभया भासिताम्वराम् ॥३
सा पूर्णचन्द्रवदना पुष्पप्रकरहासिनी ।
यौवनोद्दामवदना पक्ष्मलक्षणशालिनी ॥४
आकाशकोशसदना शशांककरसुन्दरी ।
मुक्ताकलापरचना कान्ता मदघुसारणी ॥५

स्वरेण मधुरेणैवमार्यामार्यविलासिनी ।
पपाठाकठिनं वामा मत्पार्श्वे मृदुहासिनी ॥६

असदुचितरिक्तचेतन-
संसृतिसरिति प्रमुह्यमानानाम् ।
अवलम्बनतटविटपिन-
मभिनौमि भवन्तमेव मुने । ७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! उन अगणित संसारों को देखता हुआ मैं उस शब्द के कारण की खोज करता-करता बहुत काल तक भ्रमण करता रहा और फिर निरावरण संविदाकाश रूप हो गया ॥१॥ फिर मुझे वीणा के स्वर के समान शब्द सुनाई पड़ा और जब उसके पद भी क्रमशः स्फुट हो गये, तब मुझे आर्याछिन्द की प्रतीति होने लगी ॥२॥ फिर जहाँ से यह शब्द निकल रहा था, उस स्थान पर मेरी दृष्टि गई । तब वहाँ मुझे एक स्त्री दिखाई दी, जो अपनी स्वर्ण जैसी स्पन्दन शील प्रभा से आकाश मंडल को सब ओर से प्रकाशित कर रही थी ॥३॥ पूर्णचन्द्र के समान उस नारी का मुख था, पुष्प-राशि के समान लुभावनी हँसी एवं यौवन से उद्दाम वदना वह श्रेष्ठ चिह्नों से युक्त एवं अत्यन्त शोभामयी थी ॥४॥ उसका गृह वह आकाश कोश ही था, शशांक चन्द्रकिरणों के समान वह सुन्दरी अर्द्धचन्द्राकार एक मुक्ता-हार धारण किये थी । लगता था कि वह मेरी ओर आना चाहती है ॥५॥ उस स्त्री ने मेरे पास आकर एक आर्या का मृदु स्वर से उच्चारण किया । आर्यों के समान विलास वाली वह नारी मृदु हास से संयुत थी ॥६॥ उसने कहा—हे मुने ! खल पुरुषों में स्थित जो काम-क्रोधादि दोष हैं, उनसे अलिप्त रहने वाले आप संसार-सरिता में डूबते हुए प्राणियों के लिए तट पर अवस्थित वृक्ष जैसे आश्रय हैं । मैं आपको सब ओर से नमस्कार करती हूँ ॥७॥

इत्याकर्ण्याहमालोक्य तां चारुवदनस्वनाम् ।
ललनेयं किमतयेत्यनादृत्यैव तां गतः ॥८

ततो जगद्-वृन्दमयीं मायां संप्रेक्ष्य विस्मितः ।
अनादृत्यैव तां व्योम्नि विहर्तुमहमुद्यतः ॥९

ततस्तां तत्कृतां चिन्तामलमुत्सृज्य खे स्थिताम् ।
जगन्मायां कलवितुं व्योमात्माऽहं प्रवृत्तवान् ॥१०

यावत्तानि तथोग्राणि जगन्ति सकलानि खम् ।
शून्यमेव यथा स्वप्ने संकल्पे कथने तथा ॥११

न पश्यन्ति न शृण्वन्ति कदाचित्कानिचित्क्वचित् ।
तानि कल्पमहाकल्पमहाजन्मैकतान्यथ ॥१२

प्रमत्तपुष्करावर्तानुन्मत्तोत्पातमारुतान् ।
स्फुटिताद्रीन्द्रढाकारघटितब्रह्ममण्डपान् ॥१३

ज्वलत्कल्पाग्निविस्फोटचटदंडविडास्पदान् ।
प्रतपद्द्वादशाकारकल्पमार्तण्डमण्डलान् ॥१४

यह सुनकर मैं उस चारु वदना और सुन्दर स्वर वाली नारी को देखता हुआ सोचने लगा—इस स्त्री से मेरा क्या प्रयोजन है? इस प्रकार उसकी उपेक्षा करता हुआ मैं आगे बढ़ने लगा ॥८॥ फिर मुझे अगणित जगतों से परिपूर्ण माया दिखाई दी। आश्चर्य में भरा हुआ मैं उसकी भी उपेक्षा कर आकाश मंडल में विहार करने के लिए बढ़ा ॥९॥ फिर शून्याकाश में स्थित उस जगत् रूपी माया को जानने के लिए चिदाकाश रूप होकर मैं जैसे ही प्रवृत्त हुआ, वैसे ही वे सभी लोक स्वप्न में, मनोराज्य में और कथार्थ में उत्पन्न लोकों के शून्य रूप होने के समान ही होगये ॥१०-११॥ इस प्रकार यह सब शून्य रूप ही हैं, परमार्थत: ये कहीं, कभी देखते या सुनते नहीं हैं। इसीलिए वे सभी कल्प, महाकल्प और सर्ग सभी में अभिन्नता के अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥१२॥ जिनमें प्रमत्त पुष्करावर्त्त नामक मेघ वर्षण करते, उन्मत्त पवन उत्पात करते और विशाल पर्वतों के टूटने के भीषण शब्दों से जो व्याप्त हैं; उन-उन लोकों में प्रवृत्त हुए कल्पान्तों को भी यह लोक परस्पर नहीं जानते

॥१३॥ धधकती हुई प्रलयज्वाला के विस्फोटों से चटकते हुए कुबेर-भवन, जिनमें गोलाकार द्वादश आदित्य आकाश में घूमते रहते हैं, ऐसे कल्पान्त उन्हें परस्पर में दिखाई नहीं देते ॥१४॥

देवासुरनरागारघघराक्रन्दकर्कशान् ।
सप्तार्णवमहापूरपूरितार्केन्दुमण्डलान् ॥१५
तत्र रुद्रसहस्राणि ब्रह्मकोटिशतानि च ।
दृष्टानि विष्णुलक्षाणि कल्पवृन्दान्यलं मया ॥
तत्र क्वचिदनादित्ये निरहोरात्रभूतले ।
अकल्पयुगवर्षान्ते जगत्यूहैः क्षयोदयः ॥१७
चिति सर्वं चितः सर्वं चित्सर्वं सर्वतश्च चित् ।
चित्सत्सर्वात्मिकत्येतद्दृष्टं तत्र मयाऽखिलम् ॥१
दृश्यदृष्टिरियं भ्रान्तिराकाशतरुमञ्जरी ।
चिद्व्योमाङ्ग कमेवेति तत्राहमनुभूतवान् ॥१९
बुद्ध्याकाशैकरूपेण व्यापिना बोधरूपिणा ।
तत्रानन्तेन संकल्पमनुभूतमिदं मया ॥२०
ब्रह्मव्योम जगज्जालं ब्रह्मव्योम दिशो दश ।
ब्रह्मव्योम कलाकालदेशद्रव्यक्रियादिकम् ॥२१

सुर, असुर और मनुष्यों के घर्घर स्वर तथा क्रन्दनों से परिपूर्ण एवं द्यु लोक और सप्त सागरों की वृद्धि करते हुए जल से सूर्य और चन्द्रमा के मण्डलों को परिपूर्ण कर देते हैं, उन कल्पान्तों को भी वे लोक परस्पर में नहीं जानते ॥१५॥ वहाँ मुझे सहस्रों रुद्र, शतकोटि ब्रह्मा, लाखों विष्णु और अगणित कल्प दिखाई दिये ॥१६॥ उस प्रकार विविध ब्रह्माण्डों का जो मैंने वर्णन किया है उनमें अवस्थिति चिति रूप वस्तु में संकल्पों से उदय और विनाश होता हुआ देखा। उसमें सूर्य मण्डल, दिवस, रात्रि, पृथिवी, कल्प, युग या वर्षान्त कुछ भी नहीं है ॥१७॥ सब कुछ चिति है, उसी से यह सब है, सब ओर चिति ही है, वही सत् और सर्वात्मक है, अन्वय व्यतिरेक से परीक्षा करने पर मुझे यही दिखाई दिया

॥१८॥ हे राम ! दृश्यों का यह ज्ञान, केवल भ्रान्ति ही है, इसे आकाश-वृक्ष की मञ्जरी के समान भ्रम समझो। लोक में परिशिष्ट चिदाकाश ही सुख है, मुझे यही अनुभव हुआ है ॥ १९ ॥ अन्तिम साक्षात्कार की वृत्ति सद्रूप आकाश में आविर्भूत होने से एक, पूर्ण, अनन्त और ज्ञानरूप हुए मैंने संकल्पशून्यता का उस समाधि में ही अनुभव किया ॥२०॥ यह सभी जगज्जाल ब्रह्माकाश ही है, दसों दिशाएँ, कला, काल, देश, द्रव्य, क्रिया आदि जो कुछ भी है, वह सभी मैंने ब्रह्माकाश रूप ही देखा ॥२१॥

तत्राऽहमिव संसारशते भाते मुनीश्वराः ।
दृष्टा वसिष्ठनामानो ब्रह्मपुत्राः सदुत्तमाः ॥२२
ब्रह्मन् द्वासप्ततिस्त्रेताः सर्वा एव सराघवाः ।
तत्र दृष्टं कृतशतं द्वापराणां शतं तथा ॥२३
भेदोदयेन वै दृष्टास्तास्ताः सर्गदशास्तथा ।
बोधेन चेत्यादत्यच्छमेकं ब्रह्म नभस्ततम् ॥२४
नेदं ब्रह्मणि नामास्ति जगद्ब्रह्मण्यथ त्विदम् ।
ब्रह्मैवाजमनाद्यन्तं तत्सर्वं तत्पदादिकम् ॥२५
पाषाणमौनप्रतिमं न किञ्चिदभिशब्दितम् ।
यत्तत्किञ्चिदिति द्योतरूपं ब्रह्म जगत्स्मृतम् ॥२६
विभात्यचेत्यं चिद्व्योम्नि स्वसत्तैव जगत्तया ।
निराकारे निराकारा स्वप्नानुभवसन्निभा ॥२७

पातालपातिषु तथाऽम्बरमुत्पतत्सु
तिष्ठत्सु विभ्रमपदेष्वथ दिङ्मुखेषु ।
नाना जगत्सु किमिवास्ति मया न दृष्टं
यन्नाम चिज्जलधिचञ्चलबुद्बुदेषु ॥२८

अपने संकल्प के अनुसार ही विभिन्नता वाले जो जगत् मुझे दिखाई दिए, उनमें मेरे समान वसिष्ठ नामक अत्यन्त श्रेष्ठ मुनीश्वर और ब्रह्मपुत्र थे ॥२२॥ वहाँ मुझे रामावतार से युक्त बहत्तर त्रेतायुग दिखाई

दिये, सैकड़ों सत्ययुग और सैकड़ों ही द्वापर भी देखे ॥२३॥ वासना-भेद के प्राबल्य से उन-उन सृष्टियों की विविध प्रकार की अवस्थाएँ मुझे दिखाई दीं, परन्तु उन सबमें यथार्थ रूप से तो मैंने ब्रह्म को ही देखा था ॥२४॥ ब्रह्म में जगद्रूप नाम की कोई वस्तु नहीं है। वह तो तत्पदादिरूप, अजन्मा, आदि-अन्त-रहित केवल ब्रह्म ही है ॥२५॥ पाषाण के समान जो मौन और नाम-रूपों से रहित है, वही प्रकाशमान ब्रह्म नाम-रूपात्मक बन कर जगद्रूप में स्फुरित होता है ॥२६॥ यथार्थ में तो चेत्य चिद्व्योम में नहीं है, किन्तु चिति की स्वसत्ता ही जगद्रूप प्रतीत होती है। वह स्वप्न के समान भ्रान्ति होने के कारण निराकार ब्रह्म में प्रतीत होती हुई सृष्टि परमार्थतः तो निराकार ही है ॥२७। हे राम ! पाताल में गिरती हुई, आकाश में उड़ती हुई, दिशाओं में उन्मुख होती हुई जो विभिन्न प्रकार की सृष्टियाँ हैं, वे सब भ्रान्ति से ही विदित हैं, वे चिति रूप समुद्र के चंचल बुद्बुदों के समान ही हैं। ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो वहाँ मैंने न देखी हो ॥२८॥

---

## ७४—ब्रह्मज्ञान से जगत्सत्ता का अभाव

चिदाकाशाच्चिदाकाशे पयसीव पयोरयाः।
चित्त्वाज्जीवाः स्फुरन्त्येते एत एव मनांसि नः ॥१
विशदाकाश रूपाणि तान्येव च मनांसि नः।
जगन्ति तान्यनन्तानि सम्पन्नान्यभितः स्वयं॥२
सर्वभूतगणे मोक्षं महाकल्पक्षये गते।
पुनः कस्य कथं सर्गसंवित्तिरुपजायते ॥३
आकाशपरमाणुसहस्रांशमात्रेपि या।
शुद्धचिन्मात्रसत्ता विद्यते ॥४
वपुर्जगदिदं तस्या ननु नाम महाचितेः।
कथं नश्यत्यनष्टायां तस्यां सा च न नश्यति ॥५

संविदो हृदयं स्वप्ने यथा भाति जगत्तया ।
व्योमात्मैव तथैवादिसर्गात्प्रभृति भासते ॥६
चिद्व्योमावयवः सर्गः सर्गस्यैतादृशाः क्षयाः ।
उदयाश्चेति खं सर्वं किंनाशि किमनाशि च ॥७

वसिष्ठ जी बोले—हे राम ! जल में जो तरंग उठती हैं, वे जल-रूप ही हैं, उसी के समान यह सभी जीव चिदाकाश से ही स्फुरित होते हैं। वही जीव सहस्रों संकल्प-विकल्पों से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए बीज रूप होकर 'मन' कहे जाते हैं ॥१॥ वे ही विशदाकाश रूपी मन हैं, जो स्वयं सब ओर अनन्त जगत्-स्वरूप को प्राप्त होगए हैं ॥२॥ श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! जब महाकल्प का नाश होने पर यह सभी जीव मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं, फिर किसे, किस प्रकार से सर्ग-ज्ञान को उत्पत्ति होती है ? ॥३॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! आकाश के बड़े से बड़े और परमाणु के छोटे से छोटे जितने भी यह असंख्य पदार्थ हैं, उन सभी में विशुद्ध चिन्मात्र की सत्ता है ॥४॥ यह सम्पूर्ण जगत् उसी महाचिति का देह है, जब महाचिति का नाश नहीं होता तो यह जगत् ही कैसे नष्ट हो सकता ? ॥५॥ स्वप्न में जगद्रूप से ज्ञान का ही हृदय प्रतीत होने के समान ही यह सर्ग प्रभृति जो कुछ भी भासमान है, आत्मा का हृदय ही है। यह सभी चिदाकाशरूप समझो ॥६॥ यह सर्ग चिदाकाश का ही संकल्पित अंग है और अंगभूत इस सर्ग का उदय और अस्त भी ऐसे ही कल्पित अंग हैं। इसलिए यह सभी कुछ चिदाकाश है, तब कौन नाशवान् और कौन नाश-रहित होगा ? ॥७॥

इतो भाव्य इतो भाव इतः सर्ग इतः क्षयः ।
स्वभाव एवानुभव इति ब्रह्माऽचलं स्थितम् ॥८
एवंमयेऽपि परमे ब्रह्माकाशे न रञ्जनाः ।
काश्चिदेवाङ्ग सन्तीन्दुबिम्बे विमलता यथा ॥९
निर्मले परमाकाशे क्व भावाभावरञ्जनाः ।
क्वादिमध्यान्तकलनाः क्व लोकान्तरविभ्रमाः ॥१०

अपरिज्ञानमेवैकं तत्र दोषवदुत्थितम् ।
केवलं तत्परावृत्य प्रेक्षणात्परिशाम्यति ॥११
अज्ञानं ज्ञप्तिबोधेन परामृष्टं प्रणश्यति ।
येनैवाभ्युदितस्तेन पवनेनेव दीपकः ॥१२
अज्ञानं संपरिज्ञातं नासीदेवेति बुध्यते ।
अबन्धमोक्षं ब्रह्मैव सर्वमित्यवगम्यते ॥१३
एवं बोधादयो राम मोक्ष उक्ताः स्वसंविदा ।
विचारयत्नो लभते नात्र कश्चन संशयः ॥१४

इदं जगज्जालमनाद्यजातं
ब्रह्मार्थमाभातमितीह दृष्ट्वा ।
विचारदृष्ट्याऽष्टगुणेश्वरत्वं
पश्यंस्तृणं स्वात्मनि जीव आस्ते ॥१५

हे राघव ! यह जितने भी होने वाले अथवा हो चुके पदार्थ हैं तथा वर्तमान में जो पदार्थ हैं अथवा जितने भी सर्ग या प्रलय हैं, उन सभी की सिद्धि अनुभव से है और अनुभव निज सत्तात्मक आत्मा है, इसलिए यह सब ब्रह्म ही अचलरूप से विद्यमान है ॥८॥ इस प्रकार सृष्टि के ब्रह्मात्मक होने पर भी परम ब्रह्माकाश में सृष्टि या प्रलय आदि उसी प्रकार नहीं हैं, जिस प्रकार चन्द्रबिम्ब में कलंक नहीं होता ॥९॥ निर्मल परम आकाश में सृष्टि के भाव या अभाव, मध्य, अन्त आदि कल्पना और लोकान्तर की भ्रान्ति कहाँ से आई ? ॥१०॥ आत्म-ज्ञान का अभाव ही उसमें दोष रूप से अवस्थित है, अतः केवल तत्व बुद्धि से देखें तो उसका शमन हो जाता है ॥११॥ जिस ज्ञान रूप आत्मा से अज्ञान की सिद्धि हुई है, उसी से वह वैसे ही नाश को प्राप्त हो जाता है जैसे वायु से अभ्युदय को प्राप्त हुआ अग्नि रूप दीपक, वायु से ही नष्ट हो जाता है ॥१२॥ अज्ञान का भले प्रकार ज्ञान होने पर उसके न होने का ज्ञान होता है और बन्ध-मोक्ष से शून्य ब्रह्म के ही सब कुछ होने का निश्चय हो जाता है ॥१३॥ यह बोध आदि रूपी उपाय मोक्ष के लिए ही मैंने

कहे हैं। आत्म-चिन्तन में जो पुरुष सतत प्रयत्नशील रहता है, वह अधिकारी पुरुष अवश्य ही इन उपायों को प्राप्त करता है ॥१४॥ यह अनादि जगज्जाल अनुत्पन्न ही है। किन्तु यह जो जीवादि स्वरूप जगत् प्रतीत होता है, वह मोक्ष की कामना वाला (आत्मज्ञान-रहित) ब्रह्म ही है। विचार दृष्टि से देखे तो आठ सिद्धियों से सम्पन्न ईश्वर भी माया-रूप होने से सार-हीन ही है। इस प्रकार उस ईश्वरत्व को भी तृण के समान समझने वाला अधिकारी पुरुष आत्मा में ही निरतिशय आनन्दरूपता का अनुभव करता हुआ अपने आत्मा में ही पूर्ण संतुष्ट रहता है ॥१५॥

---

## ७५—आकाशरूपी स्त्री से वार्तालाप

यदेतद्भवता दृष्टं चिद्व्योमवपुषा तदा।
तदेकदेशसंस्थेन किमुत भ्रमताऽम्बरे ॥१
सम्पन्नोऽहमनन्तात्मा व्यापी व्योम तदा किल।
स्यातां तस्यामवस्थायां कीदृशौ तौ गमागमौ ॥२
नैकस्थानस्थितमयो नाहं गतिमयोऽभवम्।
तदनेन स्व एवास्मिन् दृष्टमेतन्मयात्मनि ॥३
यथाऽङ्गानि शरीरत्वे पश्याम्यापादमस्तकम्।
चिन्नेत्रेणाप्यनेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥४

अनाकृतेर्निरवयवस्थितेस्तदा
तथाऽभवद्विमलचिदम्बरात्मनः।
जगन्ति तान्यवयवजालकानि मे
यथा स्वतो न विगलिता न वस्तुता ॥५

प्रमाणमत्र ते स्वप्नदृष्टो भुवनविभ्रमः।
स्वप्नेऽनुभूयते दृश्यं न च किञ्चित्खमेव तत् ॥६
यथा पश्यति वृक्षः स्वं पत्रपुष्पफलादिकम्।
स्वसंवेदननेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥७

श्रीराम बोले—हे भगवन् ! आपने उस समय, पक्षियों के समाना उड़ते हुए, जिन लोकों को देखा, वह एक देश में अवस्थित होकर देखा या चिदाकाश रूपी देह से ? ॥१॥ वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! जब सर्वव्यापी अनन्तात्मा चिदाकाश रूपी होगया तब उस अवस्था में गमन और आगमन कैसे संभव होता ? ॥२॥ उस समय में न तो एक स्थान में स्थित था और न गतिमय ही था, अपने इसी अपरिच्छन्न रूप से आत्म रूपी चिद्व्योम में अवस्थित होकर मैंने इन सब लोकों का अवलोकन किया ॥३॥ जिस प्रकार देह में आत्मभाव होने के कारण पांव से शिर पर्यन्त सभी अंगों का अवलोकन करता हूं, उसी प्रकार इस चर्म-नेत्र से रहित हुए मैंने चिद्रूपी नेत्र से लोकों का दर्शन किया ॥४॥ उस समाधि में अनाकृति और अवयव-रहित रूप से चिदाकाश रूप हुए वे लोक मेरी सत्ता से ही अस्तित्व पाकर अवयवों के रूप में परिणित होगए थे, जिससे मेरी वस्तुस्वभावता गलित न हो सकी और सत्ता-रहित होने से उनमें वस्तुता का भी अभाव था ॥५॥ इस सम्बन्ध में प्रमाण रूप तो स्वप्न में देखे गये लोकों की भ्रान्ति ही है, क्योंकि स्वप्न में अनुभूत दृश्य चिदाकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ॥६॥ जिस प्रकार वृक्ष रूपी जीव पत्र, पुष्प,फल आदि से सम्पन्न अपने को ही देखता है, वैसे ही मैंने इस सम्पूर्ण विश्व को अपने ज्ञान-चक्षुओं से देखा ॥७॥

अद्यापि तानहं देहे व्योम्नि शैले जले स्थले ।
तथैव सर्गान्पश्यामि राम बोधकतां गतः ॥८

ब्रह्मन्ननुभवत्येवं त्वयि तायरसेक्षण ।
सा किं कृतवती ब्रूहि कान्ताऽऽर्यापाठपाठिनी ॥९

तामेवार्यां पठन्ती सा तथैवानुनयाऽन्विता ।
मत्समीपे नभोदेहा व्योम्नि देवीव संस्थिता ॥१०

यथाऽहमाकाशवपुस्तथैवासौ खरूपिणी ।
तेन दृष्टा न सा पूर्वदेहेन ललना मया ॥११

अहमाकाशमात्रात्मा सा खमात्रशरीरिणी ।
जगज्जालं खमात्रं तदिति तत्र तदा स्थितम् ।।१२
शरीरस्थानकरणप्रयत्नप्राणसम्भवैः ।
यदुदेति वचो वर्णैस्तत्कुतस्तादृशाकृतेः ।।१३
रूपालोकमनस्काराः शब्दपाठवचांसि च ।
यथा स्वप्ने नभस्येव सन्ति तत्र तथाऽम्बरे ।।१४

बोध रूपी आत्मा से एकत्व को प्राप्त हुआ मैं अब भी उन विभिन्न रूप वाली सृष्टियों को शरीर, आकाश, पर्वत और स्थल सर्वत्र देख रहा हूं ।।८।। श्रीराम ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! जब आपको इस प्रकार का अनुभव हो रहा था तब उस आर्याछन्द पाठ करने वाली स्त्री ने क्या किया यह बताइये ।।९।। वसिष्ठजी बोले—हे राम ! आर्याछन्द पढ़ती हुई, वह नारी अनुनय से झुकती हुई, चिदाकाश रूपी देह से मेरे पास देवी के समान अवस्थित होगई ।।१०।। जिस प्रकार मेरा देह आकाशमय था, वैसा ही देह वह धारण किये हुए थी इसीलिए समाधिकाल से पूर्व के अपने शरीर से मैं उसको देख नहीं पाया ।।११।। फिर तो जैसा मैं आकाश रूप था, वैसी ही वह थी, तथा आकाशमय वह सम्पूर्ण जगज्जाल भी उस समय चिद्व्योम में स्थित हो रहा था ।।१२।। श्रीराम बोले—देह में तो जीभ, तालु, ओष्ठ आदि होते है, उनके तथा प्राणों के प्रयत्न से वर्ण-वाक्यों की उत्पत्ति होती है, उसकी उत्पत्ति उस आकाश-देह वाली नारी से कैसे संभव हुई ? ।।१३।। वसिष्ठजी ने बताया-जिस प्रकार स्वप्न में बाह्याभ्यन्तर-ज्ञान, शब्द–पाठ और वचन आकाश में विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार वे सब पदार्थ चिदाकाश में अवस्थित है ।।१४।।

रूपालोकमनस्कारैः स्वप्ने चिन्नभ एव ते ।
यथोदेति तथा तत्र तद्दृश्यं खात्मकं स्थितम् ।।१५
शरीरस्थानकरणसत्तायां का तव प्रमा ।
यथैव तेषां देहादि तथाऽस्माकमिदं स्थितम् ।।१६

स्वप्नशब्देन बोधार्थं तव व्यवहराम्यहम् ।
दृश्यं त्विदं न सन्नासन्न स्वप्नो ब्रह्म केवलम् ॥१७

अथ राघव सा कान्ता मया कान्तानुषङ्गिणी ।
संविदं तन्मयीं कृत्वा पृष्टेदं दृश्यरूपिणी ॥१८

व्यवहारो यथोदेति स्वप्ने स्वप्नजनैः सह ।
तथा तदा तया सार्द्धं व्यवहारो ममोदितः ॥१९

यथैव स्वप्नसंकाशो व्ययहारः खमेव सः ।
तथैव त्वमिमं विद्धि मामात्मानं जगच्च खम् ॥२०

स्वप्नोऽयं जगदाभोगो न किंचिद्वा खमेव च ।
निर्मलं ज्ञप्तितामात्रमित्थं सन्मात्रसंस्थितम् ॥२१

जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही वाह्याभ्यंतर पदार्थों का रूप धारण कर लेता है, वैसे ही मेरे उस समाधिकाल में जो दृश्य-प्रपंच था, वह चिदाकाश रूप में ही अवस्थित था ॥१५॥ देह में जीभ, तालु, ओष्ठ आदि की सत्ता में आपको क्या संदेह है ? जिस प्रकार उनके शरीर आदि है, उसी प्रकार हमारा भी है ॥१६॥ मैंने आपको समझाने के निमित्त ही स्वप्न शब्द का व्यवहार किया है, यथार्थ में तो यह दिखाई पड़ने वाला प्रपंच और स्वप्न, दोनों ही न सत् हैं, न असत् हैं, केवल ब्रह्म ही हैं ॥१७॥ हे राघव ! फिर कान्त की इच्छा वाली उस दृश्यरूपिणी नारी से, उसके अभिप्राय को जानने वाली संवित् का संकल्प करके मैंने प्रश्न किया ॥१८॥ स्वप्नकाल में दिखाई पड़ने वाले स्वप्न शरीरों के के साथ जिस प्रकार के व्यवहार की प्रवृत्ति होती है, वैसा ही व्यवहार मैंने भी उस स्त्री के साथ किया ॥१९॥ स्वप्न के व्यवहार के समान वह व्यवहार जैसे आकाशरूप था, वैसे ही इस आत्मा, मैं और जगत् को भी चिदाकाश रूप ही समझो ॥२०॥ इस जगत् का आभोग स्वप्न ही है, अथवा कुछ भी नहीं है, वह तो चिदाकाश मात्र ही है। क्योंकि यह सब दृश्य प्रपंच स्वच्छ, सत् और ज्ञप्तिमात्र ब्रह्म ही अवस्थित है ॥२१॥

स्वप्नस्य विद्यते द्रष्टा साकारो युष्मदादिकः ।
द्रष्टा तु सर्गस्वप्नस्य चिद्व्योमैवामलं स्वतः ॥२२

यथा द्रष्टाऽमलं व्योम दृश्यं तद्वद्गतं तथा ।
स्वरूपजगत्युच्चैर्जगत्त्वेनामलं नभः ॥२३

चिद्व्योम्नोऽनाकृतेः स्वप्नो हृदि स्फुरति यः स्वतः ।
सर्गस्तस्य कुतस्तेन साकृतित्वं कथं भवेत् ॥२४

साकारस्यैव यत्स्वप्नजगत्तद्व्योम निर्मलम् ।
निराकारस्य चिद्व्योम्नः सर्गः स्वप्नः कथं न खम् ॥२५

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चिन्नभः ।
पश्यत्यकृतमेवेमं जगत्स्वप्नं कृतं यथा ॥२६

मृद्वचा चिदाकाशमृदा ब्रह्मणा ब्राह्मणेन खे ।
कृतोऽपि न कृतः सर्गमण्डपोऽक्षगवाक्षकः ॥२७

नो कर्तृता न च जगन्ति न भोक्तृताऽस्ति
नास्तीति नास्ति न च किञ्चिदतो बुधः सन् ।
पाषाणमौनमवलम्ब्य यथाप्रवाह-
माचारमाचर शरीरमिदास्तु मा वा ॥२८

हे राम ! वासना के आकार से ही स्वप्न द्रष्टा का आकार है, किन्तु सर्गरूपी स्वप्न का द्रष्टा तो स्वयं चिदाकाश ही है ॥२२॥ द्रष्टा और दृश्य दोनों के स्वच्छ चिदाकाश होने के समान ही द्रष्टा और दृश्य के मध्यगत जो दर्शन है, वह भी चिदाकाश रूप है । स्वप्न रूपी इस विशाल जगत् में निर्मल चिदाकाश ही जगत्-रूप से स्थित है ॥२३॥ उस आकार-हीन चिदाकाश का जो जो जगत् रूप स्वप्न हृदय में स्फुरित होता है, वह स्वप्न कैसे साकार होगा ? अथवा वन्ध्या-पुत्र के समान वह चिदाकाश सर्ग रूप से कैसे साकार होगा ? ॥२४॥ साकार का जो स्वप्नलोक है, यदि वही निर्मल चिदाकाश रूप है तो निराकार ब्रह्म रूपी जगत् स्वच्छ चिदाकाशरूपी क्यों नहीं होगा ? ॥२५॥ उपादान आदि साधनों के बिना

जो अभित्ति है (दीवार नहीं है) उसमें ही इस जगत्-रूपी स्वप्न को बिना बनाये ही बना हुआ देखता है ॥२६॥ मृदु चिदाकाशरूपी मृत्तिका से, हिरण्यगर्भ रूपी ब्राह्मण ने, इन्द्रिय रूपी झरोखों वाले शरीर आदि सर्ग-मण्डल को बनाया है, फिर भी उसका वह बनाना नहीं के समान ही है ॥२७॥ न कर्तृता है, न जगत है, न भोक्तृता है, न भाव है, और न अभाव ही है, इसीलिए सब दृश्यों के परिमार्जन से परमार्थ ही उनका साक्षी है। अतः आप पाषाण के समान मौनावलम्बी होकर जैसा प्रवाह हो वैसा ही आचरण करते रहिये। प्रारब्ध कर्म के शेष रहने तक शरीर का रहना या न रहना कुछ विशेषता नहीं रखता ॥२८॥



## ७६—चिद्घन ब्रह्म ही सब कुछ है

सव स्त्रियाऽस्वरूपेण देहेनाभूत्तया कथम् ।
कथमुच्चारितास्तत्र वर्णाः कचटतादयः ॥१
चर्णेषु खशरीराणां वर्णाः कचटतादयः ।
कदाचनापि नोद्यन्ति शवानामिव केचन ॥२
वर्णोच्चारो भविष्यच्चेत्प्रकटार्थ स्ततः क्वचित् ।
स्वप्नेष्वन्वभविष्यत्तं विनिद्रः पार्श्वगो जनः ॥३
तस्मान्न किञ्चित्स्वप्नेषु तत्सत्यं भ्रान्तिरेव सा ।
चिन्मात्राकाशकचनं तत्राया खे स्वभावजम् ॥४
सदेन्दुकाष्ठ्यखतनुशिलागेयादितां गताः ।
इवाभान्ति चिदाकाशास्तथा देहरवादयः ॥५
तच्चिदाकाशकचनं यन्नाम स्वप्नवेदने ।
आकाशमेव नभसः कचनं विद्धि नेतरत् ॥६
यथा स्वप्नस्तथैवेदं जाग्रदग्रे व्यवस्थितम् ।
आकाशमप्यनाकाशं यथैवेदं तथैव तत् ॥७

श्रीराम बोले—हे ब्रह्मन् ! आपका उस स्त्री के साथ मुखादि स्वरूप के बिना, केवल वासनारूपी देह से ही बोलना किस प्रकार हो सका ? उस समय जीभ के बिना कचटत आदि वर्णों का उच्चारण कैसे कर सके ? ॥१॥ वसिष्ठजी बोले–हे राम ! चिदाकाशरूप शरीरों में कचटत आदि वर्णों का उच्चारण उसी प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार मृतकों के मुख से कोई वर्ण उच्चरित नहीं होता, क्योंकि वे सब कल्पनारूप ही हैं ॥२॥ स्वप्न में वर्णों का उच्चारण यदि यथार्थ होता तो निकटस्थ जागे हुए व्यक्ति को भी उसका अनुभव होता ही ॥३॥ अतः स्वप्न में उसकी किंचित् भी सत्यता नहीं है, वह केवल भ्रम ही है। निद्रास्वभाव के बल से कल्पित चिदाकाश का वह स्फुरण चिदाकाश में ही होता है ॥४॥ जिस प्रकार नेत्र-रोग से दिखाई पड़ने वाला चन्द्रमा में कृष्णवर्ण, आकाश में साकारता, पाषाण प्रतिमा आदि में गेयता आदि का आभास चिदाकाश रूप ही है, उसी प्रकार स्वप्नमय देह और शब्दादि भी उस-उस जाने हुए पदार्थ के संस्कारों से उपठित चिद्व्योम रूप होकर ही अनुभव में आते हैं ॥५॥ जैसे आकाश की साकारता का आभास आकाश से अभिन्न है, वैसे ही स्वप्नज्ञान में चिदाकाश का जगदाकार स्फुरण चिदाकाश से अभिन्न ही है। उसे आप चिदाकाश रूप ही जानो ॥६॥ जैसे स्वप्नजगत् चिदाकाश रूप है, वैसे ही यह जाग्रत-दृश्यप्रपंच चिदाकाश रूप है। और जैसे यह चिदाकाश होकर भी चिदाकाश नहीं है, वैसे ही मेरा समाधिकालीन वह संसार है ॥७॥

यथा कचति तच्चारू चेतनं चतुरं तथा ।
यथास्थितं तदेवेदं सत्यं स्थिरमिव स्फुरत् ॥८
भगवन्स्वप्न एवेदं कथं जाग्रदवस्थितम् ।
असत्यमेव सत्यत्वमिव यातं कथं भवेत् ॥९
शृणु स्वप्नमयान्येव कथं सन्ति जगन्त्यलम् ।
नान्यानि न च सत्यानि न स्थिराणि स्थितानि च ॥१०
प्रत्येकमन्तरन्यानि तथा वाभ्युदितानि च ।
परस्परमदृष्टानि बहूनि विविधानि च ॥११

अन्योन्यं तानि सर्वाणि न पश्यऽन्त्येव किञ्चन ।
जडानीवैकराशीनि बीजानीव गलन्त्यपि ॥१२
व्योमात्मत्वान्न गगनं न विदन्ति परस्परम् ।
अपि चेतनरूपाणि सुप्तानीव निरन्तरम् ॥१३
सुप्ताः स्वप्नजगज्जालमहनि व्यवहारिणः ।
असुरा निहता देवैस्ते स्वप्नजगति स्थिताः ॥१४
अज्ञानान्न गता मुक्ति न जाड्याज्जडतामिताः ।
न देहवन्तः किं सन्तु विना स्वप्नजगत्स्थितेः ॥१५

जिस प्रकार से यह सौन्दर्यमय जगत् स्फुरित है, उस प्रकार उस चतुर ब्रह्म को ही स्फुरित हुआ समझो । यह सत्य-सा और स्थिर-सा स्फुरित संसार जैसा है वैसा ही वह चतुर ब्रह्म स्फुरित है ॥८॥ श्रीराम ने पूछा हे भगवन् ! स्वप्नरूप यह संसार जाग्रत रूप में कैसे स्थित है । यह असत्य होते हुए भी सत्य-सा कैसे संभव हुआ है ? ॥९॥ वसिष्ठजी बोले—यह संसार स्वप्नरूप कैसे है, इसे सुनो । यह स्वप्नरूप जगत् न तो आत्मा से भिन्न है और न आत्म-सदृश सत्य एवं स्थिर ही है । यह सब आत्मसत्ता से ही विद्यमान है ॥१०॥ प्रत्येक लोक के भीतर परस्पर एक दूसरे द्वारा न देखे जाते हुए विभिन्न रूप वाले यह लोक केले की छाल के समान ही अभ्युदय को प्राप्त हुए हैं ॥११॥ यह परस्पर एक-दूसरे को न देखते हुए सभी जगत् खत्तो में रखे हुए बीजों के समान भीतर ही भीतर गल जाते हैं ॥१२॥ गलने पर भी चेतनरूप रहते हैं, तप्त खर्पर में गिरी हुई जल की बूँद के समान शून्यरूप होकर भी शून्य नहीं होते । वे परस्पर न देखते हुए और अज्ञान से ढके हुए होने के कारण सोते हुए से रहते हैं ॥१३॥ वे सुप्त प्राणी स्वप्नमय जगज्जाल को पाकर ही अपना व्यवहार करते हैं । स्वप्नलोक में स्थित हुए वे सुरों या असुरों के द्वारा मारे जाकर न तो मुक्त होते हैं, न जड़भाव को ही प्राप्त होते हैं और न शरीर में ही रहते हैं । इस अवस्था में वे स्वप्न जगत् में स्थित होने के अतिरिक्त क्या हो सकते हैं ॥१४-१५॥

सुप्ताः स्वप्नजगज्जाले स्वाचारव्यवहारिणः ।
पुरुषा निहताः तुंभिस्ते तथैव व्यवस्थिताः ॥१६
निर्मोक्षा निःशरीरास्ते चेतनावासनान्विताः ।
दृष्टं स्वप्नजगज्जालं विना च क्व वसन्तु ते ॥१७
सुप्ताः स्वप्नजगज्जालव्यवस्थाचारचारिणः ।
ये हता राक्षसा देवैस्ते यथैव व्यवस्थिताः ॥१८
एवं ये निहता राम किं ते कुर्वन्ति कथ्यताम् ।
अज्ञत्वान्न गता मुक्तिं चेतनान्न दृषत्स्थिताः ॥१९
ते स्वप्नपुरुषास्तेषां सत्या एवानुभूतितः ।
आत्मनोऽपि परस्यापि सर्वगत्वाच्चिदात्मनः ॥२०
यथा ते स्वप्नपुरुषाः सत्यमात्मन्यथाऽपरे ।
तथापि स्वप्नपुरुषाः सत्यमेव तथैव ते ॥२१

इसी प्रकार का व्यवहार जगज्जाल में वासनाओं के कारण मनुष्य भी करते हैं । स्वप्न में स्थित मनुष्य अन्य मनुष्यों द्वारा वध को प्राप्त होकर स्वप्न में ही अवस्थित रहते हैं ॥१६॥ वे भी ज्ञान-शून्य, मोक्ष-रहित और देह-रहित रहने से चेतना युक्त और वासना से व्यवहार युक्त नहीं होते । इसलिए ऐसे मनुष्य दिखाई पड़ते हुए स्वप्न लोक के अतिरिक्त कहाँ स्थित रहें ? ॥१७॥ सुप्त एवं लोक-प्रपंच के अनुसार आचार-व्यवहार करते हुए जो राक्षस स्वप्न में देवताओं द्वारा निहत हुए असुरों के समान उसी स्वप्न में रहते हैं ॥१८॥ हे राम ! इस प्रकार स्वप्न में जो निहत हुए, वे बताओ क्या करते होंगे ? अज्ञानवश न तो उन्हें मुक्ति ही मिल सकी और न चेतन होने के कारण पाषाण के समान ही स्थित रह सके ॥१९॥ उनके स्वप्न के वे पुरुष अपने और अन्य पुरुष के अनुभव से समान होने के कारण सत्य ही हैं, क्योंकि उनकी सत्ता के हेतुभूत चिदात्मा सर्वगामी होने के कारण समान ही है ॥२०॥ आत्मा में उन स्वप्न पुरुषों के सत्य होने के समान ही अन्य पुरुष भी, जो स्वप्न में व्यवहृत होते हैं, सत्य ही हैं ॥२१॥

स्वस्वप्नपुरपौरा ये त्वया दृष्टा यथैव ते ।
स्थितास्तत्र तथाऽद्यापि ब्रह्म सर्वात्मकं यतः ॥२२
तेषामन्तर्जनाः सन्ति जनं प्रति पुनर्मनः ।
पुनर्मनः प्रति जगज्जगत्प्रति पुनर्जनः ॥२३
इत्थमाद्यन्तरहित एष दृश्यमयो भ्रमः ।
ब्रह्मैव ब्रह्मवित्पक्षे नावेयत्ताऽस्ति काचन ॥२४
कुड्ये नभस्युपलके सलिले स्थलेऽन्त
श्चिन्मात्रमस्ति हि यतस्तदशेषविश्वम् ।
तद्यत्र तत्र जगदस्ति कुतोऽत्र संख्या
तज्ज्ञेषु तत्परमथाज्ञमनःसु दृश्यम् ॥२५

हे राम ! आपको स्वप्न में दिखाई दिये हुए सब नगर और नागरिक अब भी उसी प्रकार अवस्थित हैं । क्योंकि ब्रह्म सर्व व्यापक और सर्वात्मक है ॥२२॥ जीवों को वासना में अनन्त जीव हैं, उन जीवों में अनन्त मन हैं, उन मनों में अनन्त लोक हैं, उन लोको में अनन्त जगत् हैं, उन जगतों में भी अनन्त जीव हैं, फिर उन जीवों में अनन्त मन और मनों में अनन्त लोक हैं ॥२३॥ इस प्रकार आदि-अन्त-रहित यह दृश्यमय भ्रान्ति निरन्तर चली आ रही है । इस भ्रान्ति का भी कहीं आदि-अन्त नहीं है । परन्तु ब्रह्मज्ञानी के लिए तो यह सब ब्रह्मरूप ही विद्यमान है ॥२४॥ भित्ती, नभ, पत्थर, जल और स्थल सब में चिन्मात्र की विद्यमानता होने से विश्वरूप में वही स्थित है, जगत् नाम की कोई अन्य वस्तु है ही नहीं । इस स्थिति में इनकी संख्या क्या बतलायी जा सकती हैं ? ज्ञानियों की दृष्टि में यह संसार ब्रह्म ही है, किन्तु अज्ञानियों के मन में यह दृश्य प्रपंच ही है ॥२५॥

---

## ७७—विद्याधरी की आत्मकथा

ततस्तत्कुवलोल्लासिमालतीमाल्यलोचना ।
ललना ललिताऽऽलोक्य लीलयाऽऽलपिता मया ॥१

या सूर्य-रश्मियों तक का प्रवेश नहीं हो पाता, कहीं यह मनुष्य से परिपूर्ण है तथा कहीं इसकी दिशाएँ नितान्त निर्जन हैं ॥१३॥ इसमें कहीं देवताओं के पुर हैं तो कहीं दैत्य नगर हैं, कहीं पाताल के समान गहन और कहीं कन्धों के समान उच्च शिखरों से युक्त है ॥१४॥

क्वचिच्छ्वभ्रभ्रम दगृध्र. क्वचित्सानुमनोहरः ।
क्वचिच्छृंगशिखाक्रान्तवैरिञ्चनगरान्तरः ॥१५
क्वचिदत्यन्तनिःशून्यः क्वच्चिज्जनपदावृतः ।
क्वचिच्छ्वभ्रान्तगम्भीरः क्वचित्पातालभीषणः ॥१६
क्वचिद्वृहत्कल्पतरुः क्वचिन्निर्ज्जलजङ्गमः ।
क्वचिन्महाकरिकुलः क्वचिन्मत्तहरिव्रजः ॥१७
शिखरेशु शिलास्तस्य सामान्याचलसन्निभाः ।
सन्ति सुस्थितकल्पाभ्रा रत्नमय्याऽम्बरामलाः ॥१८
तासामुत्तरदिग्भागे पूर्वश्रृङ्गशिलोदरे ।
निवसाम्यहमक्षीणवज्रसारसमत्वचि ॥१६
विधिना तत्र वद्धाऽस्मि वसाम्युपलयन्त्रके ।
अत्रासंख्ता मुने याता लन्ये युगगणा मम ॥२०
न केवलमहं वद्धा यावद्भर्तापि तत्र मे ।
वद्धा सायंतने पद्मकुड्मले पट्पदो यथा ॥२१

कहीं उसके खड्डों में गीध भ्रमण कर रहे हैं, कहीं वह समभू भाग वाला एवं रम्य है और कहीं उसके भीतरी भूभाग पर शिखा से आक्रान्त ब्रह्म-नगर विद्यमान है ॥१५॥ कहीं अत्यन्त शून्यता है, कहीं जनपदों से आवृतता है, कहीं वह जलयुक्त महाह्रदों से गंभीर है तो कहीं सूखे पातालों के कारण भयानक प्रतीत होता है ॥१६॥ उसमें कहीं विशाल कल्पवृक्ष हैं, कहीं जल का अभाव है, कहीं गतिवान् जीव भरे पड़े हैं, कहीं वड़े-वड़े हाथी, कहीं मदमाते सिंह और कहीं वन्दर आदि स्थित हैं ॥१७॥ उसके शिखर पर जो शिलाएँ हैं, वे साधारण पर्वतों के समान ही प्रतीत होती हैं, वे आकाश के समान स्वच्छ और रत्नमयी शिलाएँ

सुस्थिर मेघ जैसी लगती हैं ॥१८॥ उन्हीं शिलाओं के मध्य में, उस पर्वत के उत्तर भाग में तथा पूर्व दिशा की ओर जो शिला स्थित है, उसी में मैं रहती हूं। उस शिला का त्वचा भाग कभी नष्ट न होने वाला और वज्रसारमणि के समान ही है ॥१९॥ नियति ने मुझे ऐसा बांधा है कि मैं उस पाषाणयंत्र से दूर नहीं हो पाती। हे मुने! इस प्रकार उसमें रहते हुए मेरे असंख्य युग व्यतीत हो चुके हैं ॥२०॥ केवल मैं ही नहीं, मेरा भर्त्ता भी मेरे ही समान उस शिला में, कमलकली में भौंरे के बद्ध होने के समान, बँध गया है ॥२१॥

तेन सार्द्धं मया भर्त्रा शिलाकोटरसंकटे।
अनुभूताश्चिरं कालमत्र वर्षगणा गताः ॥२२

पाषाणसंकटे तस्मिन् वद्धावावां न केवलम्।
वद्धो यावदशेषेण परिवारोऽपि तत्र नौ ॥२३

पुराणपुरुषो वद्धो द्विजस्तत्रास्ति मे पतिः।
एकस्थानान्न चलति जीवन्युगशतान्यसौ ॥२४
शृणु तेन कथं ब्रह्मन् भार्याऽहं समुपार्जिता।
कथं वृद्धिमयं यातः स्नेहोऽस्माकमकृत्रिमः ॥२५
तेन जातेन मद्भर्त्रा वालेनैव सता पुरा।
किञ्चिज्ज्ञेन सतैकेन तिष्ठतात्मालयेऽमले ॥२६

श्रोत्रियत्वानुरूपेण जाया मे जन्मशालिनी।
कुतः सम्भवतीत्येव निर्णीय चिरचिन्तया ॥२७

स्वयमेवानवद्यांगी तेन तामरसेक्षण।
उत्पादिताऽस्मि नाथेन ज्योत्स्नेव शशिनाऽमला ॥२८

उस शिला के कोटर में, संकट में फँसी हुई मैंने चिरकाल तक अपने पति के साथ अनुभूति प्राप्त की और असंख्य वर्ष व्यतीत कर दिये ॥२२॥ हम पति-पत्नी ही नहीं, हमारा सम्पूर्ण परिवार ही उस शिला-संकट पूरी तरह जकड़ गया है ॥२३॥ उस शिला में बंधा हुआ मेरा पति द्विज

धारण किये हुए थी, मेरा मुख पूर्णचन्द्र के समान अत्यन्त सुन्दर हो गया और मैं स्वच्छ तारागण से युक्त आकाश के समान क्रमशः उज्वल होती गई। इस प्रकार मैं सब जीवों के चित्तों का हरण करने वाली बन गई ॥३०॥ तब मैं लीला विलास में ही रम गई। मेरे कटाक्ष तिरछे हो गये, गीत-वाद्य से प्रेम करती हुई मैं भोगों में अधिक अनुराग बढ़ने के कारण भोगों से कभी तृप्त न रहती थी ॥३१॥ सौभाग्य ही मेरे लिए परम भोग था, अपने समदर्शीपति के मन से उत्पन्न हुई मैं लक्ष्मी–अलक्ष्मी दोनों की प्रिय सखी हो गई। मोहजाल से खिन्न न होती हुई मैं सम्पदा और आपदा में समान मति वाली बन गई ॥३२॥ मैं अब अपने उस द्विज भर्त्ता के गृह को ही धारण नहीं करती, अपितु उनके मनोमय रूप में कल्पित तीनों लोकों को ही धारण करती हूँ ॥३३॥ मैं कुल की वृद्धि करने वाली पत्नी हूँ, सन्तानादि का भरण-पोषण करने में समर्थ हूँ, और त्रैलोक्य रूपी गृह की सब प्रकार की सामग्री का भार वहन करती हूँ ॥३४॥ फिर मैं अत्यन्त उन्नत स्तन वाली पूर्ण तरुणी होगई। अब मैं उल्लसित पुष्प गुच्छों से लता के सुशोभित होने के समान अपने विलास-रस से शोभा को प्राप्त हो रही हूँ ॥३५॥

पतिर्मां दीर्घसूत्रत्वाच्छ्रोत्रियत्वात्तपोरतः।
कयाप्यपेक्षयाऽद्यापि न विवाहितवानिमाम् ॥३६

तेन यौवनसम्पन्नविलासरसशालिनी।
तं विना व्यसनेनाहं दह्येऽग्नाविव पद्मिनी ॥३७

नलिनीनालदोलासु सारसीं सारसाश्रिताम्।
दीनानना विलोक्यान्तर्निन्दामि निजयौवनम् ॥३८

रम्ये रोदिमि मध्यस्थे पदार्थे यामि सौम्यताम्।
हृष्याम्यशोभने दीना न जाने किमहं स्थिता ॥३९

दृष्टानि कुन्दमन्दारकुमुदानि हिमानि च।
मया कामाग्निदग्धानां भस्मानीव दिशं प्रति ॥४०

आनीलपल्लवमृणाललतोत्पलानां
कह्लारकुन्दकदलीदलमालतीनाम् ।
शय्या ममाङ्गचलनेन विशोषयन्त्या
व्यर्थं गतानि नवयौवनवासराणि ॥४१

हे मुने ! मेरे पति दीर्घसूत्री, स्वाध्यायी और तपोनिष्ठ हैं, उन्होंने न जाने क्यों, अभी तक इस रमणी से विवाह नहीं किया है ॥३६॥ मैं यौवन सम्पन्ना और विलास-रस की कामना वाली हूं । अपने पति को भोग-व्यसनों से विरक्त देखकर उसी प्रकार दग्ध हो रही हूं, जिस प्रकार कमलिनी अग्नि में दग्ध होती है ॥३७॥ हे मुने ! जब मैं सारस-सारसी को कमलिनी के नाल रूपी हिंडोले पर साथ-साथ झूलते हुए देखती हूं, तब म्लान मुख वाली होकर अपने यौवन को ही निन्दित समझती हूं ॥३८॥ मैं रम्य पदार्थ में रुदन करती, मध्य पदार्थ में सौम्य होती और अरम्य पदार्थ में प्रसन्न होती हूं । क्योंकि उस दीनावस्था में मैं स्वयं को नहीं जान पाती ॥३९॥ अब कुन्द, मन्दार, कुमुद और हिम आदि भी मुझे कामाग्नि से जलते हुए जीवों की भस्म के समान ही दिखाई देते हैं ॥४०॥ हे मुने ! तमाल के कोमल नीले पत्ते, बिसन्तुओं की लता, नीले-लाल कमल, कह्लार, कुन्द, केले के पत्र और मालती-पुष्पों से निर्मित शय्या को अपने अङ्ग-संचालन से सुखाती हुई मैं अपने यौवन के मधुर दिनों को व्यर्थ ही गँवा बैठी हूं ॥४१॥

---

## ७८—विषयानुराग की वैराग्य में परिणति

अथ कालेन महता सोऽनुरागो विरागताम् ।
प्राप्तो मम शरच्छान्तौ विरसः पल्लवो यथा ॥१
वृद्ध एकान्तरसिको नीरसः स्नेहवर्जितः ।
भर्ताऽजिह्मतिमौनी किं मन्ये जीवितेन मे ॥२

वरं वैधव्यमाबाल्याद्वरं मरणमेव च ।
वरं व्याधिरथापद्वा नाहृद्यप्रकृतिः पतिः ॥३
एतावज्जन्मसाफल्यं सौभाग्यमविखण्डितम् ।
रसिकः पेशलाचारो यन्नार्यास्तरुणः पतिः ॥४
स्थिरयौवनया दुःखान्येतानि मुनिनायक ।
भुक्तानि वर्षवृन्दानि पश्य दौर्भाग्यजृम्भितम् ॥५
अथ क्रमेण तेनैव सरागो मे विरागताम् ।
आययौ हिमदग्धाया नलिन्या इव नीरसः ॥६
विरागवासनास्तेन सर्वभावानुरञ्जना ।
तवोपदेशेनेच्छामि मुने निर्वाणमात्मनः ॥७

विद्याधरी बोली—हे मुने ! इस प्रकार बहुत समय व्यतीत होने पर मेरा विषयानुराग वैराग्य में परिवर्तित होने लगा, जैसे कि हेमन्त के आरंभ में पल्लव रस-हीन हो जाते हैं ॥१॥ मैंने सोचा—मेरा पति वृद्ध हो गया है, एकान्त में ही उसकी रुचि है, नीरस होने से मेरे प्रति स्नेह-रहित भी है, वह कोमल चित्त वाला, मौन व्रत धारण किये भी रहता है, तो अब मेरा जीवन किस प्रकार सफल हो सकता है ॥२॥ बाल्यावस्था में ही वैधव्य की प्राप्ति हो जाय तो भी ठीक, अथवा मर जाना ही अच्छा, व्याधि या आपत्ति भी अच्छी, परन्तु मनोनुकूल पति का न मिलना कदापि ठीक नहीं है ॥३॥ स्त्रियों का जन्म तो तभी सफल हो सकता है जब कि अखण्ड सौभाग्य सहित युवा, रसिक और मृदु व्यवहार वाले पति की प्राप्ति हो ॥४॥ हे मुनिनायक ! ! मुझ स्थिर यौवन वाली सुन्दरी ने बहुत वर्षों तक ऐसे दुःखों को भोगा । आप मेरे इस विस्तृत दुर्भाग्य को तो देखिये ॥५॥ उसी दुःख के कारण मेरा जो अनुराग था वह नीरस होता हुआ वैराग्य को प्राप्त होगया, जैसे कि हिम से दग्ध हुई कमलिनी नीरस होती हुई राग-हीन हो जाती है ॥६॥ हे मुने ! उक्त प्रकार से राग-रहित होती हुई मैं अपने सब भावों को वैराग्य में ही लगा रही हूं । अब आपका उपदेश पाकर मैं मुक्त होना चाहती हूं ॥७॥

अप्राप्ताभिमतार्थानामविश्रान्तधियां परे ।
मरणैरुह्यमानानां जीवितान्मरणं वरम् ॥८
स मद्भर्ताऽद्य निर्वाणमीहमानो दिवानिशम् ।
राजा राज्ञेव मनसा मनो जेतुं प्रबुध्यते ॥९
ब्रह्मंस्तस्य च मद्भर्तुर्मम चाज्ञानशान्तये ।
न्यायोपपन्नया वाचा कुरु स्मरणमात्मनः ॥१०
यदा मामनपेक्ष्यैव स मद्भर्ताऽऽत्मनि स्थितः ।
तदा विरागो वैरस्यमनयन्मे जगत्स्थितिम् ॥११
संसारवासनावेशवर्जिताऽस्मि ततोऽवसम् ।
निवध्याभिमतां तीव्रां व्योमसञ्चारधारणाम् ॥१२
अर्जयित्वा तया व्योम्नि गतिं धारणया मया ।
अभ्यस्ता धारणा भूयः सिद्धसङ्गफलप्रदा ॥१३
ततः स्वजगदाधारपूर्वापरनिरीक्षया ।
स्थिताऽहं धारणां वद्ध्वा साऽपि सिद्धिं समागता ॥१४

जिन्हें न तो अपने इच्छित भोगों की प्राप्ति हुई और न जिनकी बुद्धि परमात्म-पद में ही विश्रान्ति को प्राप्त हो सकी, उन मरने के समान ही दुःखों के प्रवाह में बहते हुए मनुष्यों को तो जीवन की अपेक्षा तर जाना ही श्रेष्ठ है ॥८॥ अब भी मेरे मोक्ष-कामी पति रात दिन मन से मन को जीतने के लिए उसी प्रकार तत्पर हैं जिस प्रकार कि एक राजा अन्य राजा की सहायता से किसी राजा को जीतने के प्रत्यत्न में तत्पर होता है ॥९॥ हे ब्रह्मन ! मेरे भर्त्ता का और मेरा जो अज्ञान है, उसे नष्ट करने के लिए आप अपने न्यायमय वाक्यों से, भूली हुई आत्मा को प्रबुद्ध कीजिये ॥१०॥ जब मेरे पति मेरी अपेक्षा न करके अपनी आत्मा मे स्थित हो गए, तब जगत् की स्थिति में वैराग्य के द्वारा मुझे भी नीरसता की प्राप्ति हो गई ॥११॥ सांसारिक वासना के आवेश से वर्जित हुई मैं अब इच्छित, तीव्र, आकाश से संचार धारण वाली होकर अवस्थित हूं ॥१२॥ उस धारणा से मैंने आकाश-गमन की शक्ति प्राप्त करली और

द्धों की संगति का फल देने वाली धारणा का अभ्यास किया ॥१३॥
व में अपने जगदाधार पूर्वापर घटित आकार का निरीक्षण करने के
लए भावना रूपी धारणा बाँध कर उसमें अवस्थित हो गई और अब वह
सिद्धि भी मुझे प्राप्त हो गई ॥१४॥

अथ स्वजगतो दृष्ट्वा हृदयं तस्य बाह्यगा ।
अहं दृष्टवती स्थूलां लोकालोकगिरेः शिलाम् ॥१५
एतावताऽपि कालेन दम्पत्योरावयोर्मुने ।
परं द्रष्टुमभूदिच्छा न काचन कदाचन ॥१६
मद्भर्ता केवलं शुद्धवेदार्थैकान्तचिन्तया ।
न च यातं न चायातं वेत्यहो विगतैषणः ॥१७
तेनासौ मत्पतिर्विद्वानपि न प्राप्तवान्पदम् ।
अद्य सोऽहं च वाञ्छावः प्रयत्नेन परं पदम् ॥१८
तदेतामर्थितां ब्रह्मन् सफलां कर्तुमर्हसि ।
महतामर्थिनो व्यर्था न कदाचन केचन ॥१९
भ्रमन्ती सिद्धसेनासु सदा नभसि मानद ।
त्वद्दते नेह पश्यामि घनाज्ञानदवानलम् ॥२०

ब्रह्मन् विनैव करुणाकरकारणेन
सन्तो यतोऽर्थिजनवाञ्छितपूरणानि ।
कुर्वन्ति तेन शरणागततामुपेतां
मामर्हसीह न तिरस्करणेन योक्तुम् ॥२१

हे मुने ! फिर मैं अपने वासस्थान भूत संसार की सभी वस्तुओं को
देखती हुई उससे बाहर निकली, तब मुझे स्वलोक के भीतर की लोकालोक
पर्वत पर स्थित एक स्थूल शिला दिखाई दी ॥१५॥ हे मुने ! उसके
पहिले इतना अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी हम दोनों को उसके
देखने की कभी इच्छा ही नहीं हुई थी ॥१६॥ शुद्ध वेदार्थ के चिन्तन में
लीन रहने के कारण मेरे पति को तो यह भी ज्ञात नहीं रहता कि

कितना समय व्यतीत हो गया, कितना वर्तमान है, कितना होने को है और ब्रह्मत्व भी क्या है ? अहो, उनकी ऐषणा का कैसा अन्त हो चुका है ॥१७॥ यही कारण है कि विद्वान् होते हुए भी मेरे पति आत्मपद को प्राप्त नहीं कर सके। हम दोनों ही अब तक उस परम पद की इच्छा करते हुए भटक रहे हैं ॥१८॥ हे ब्रह्मन् ! आप हमारे निवेदन को सफल करने में पूर्णतया सक्षम हैं। महान् पुरुषों के पास आये हुए की प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जाती ॥१९॥ हे मानद ! मैं इस आकाश में स्थित सिद्धों के मध्य निरन्तर भटकती फिर रही हूं। अब इस अज्ञान रूपी वन के लिए आपके अतिरिक्त किसी अन्य को दावाग्नि स्वरूप नहीं देखती ॥२०॥ हे ब्रह्मन् ! हे करुणाकर ! क्योंकि सन्तजन इच्छा करने वालों की अभिलाषाएं अकारण ही पूरी कर देते हैं, इसलिए मुझ शरणागत की उपेक्षा न कीजिए क्योंकि उपेक्षा करना ही अर्थिजनों का तिरस्कार करना है ॥२१॥

---

## ७९—लोक-विस्तार का वर्णन

अथेत्युक्तवती पृष्टा सा मया कल्पितासना।
सङ्कल्पितासनस्थेन स्थितेन नभसि स्थिता ॥१
कथं शिलोदरे बाले त्वद्विधानां भवेत् स्थितिः।
कथं सञ्चलनं तत्र किमर्थं तत्र चास्पदम् ॥२
मुने यथेदं भवतां जगत्स्फारं विराजते।
तथाऽस्माकं जगत्तत्र सर्गसंसारयुक् स्थितम् ॥३
स्फुरन्ति नागाः पाताले तिष्ठन्ति भुवि पर्वताः।
आपश्छलछलायन्ते वहन्ति व्योम्नि वायवः ॥४
अर्णवा अर्णसा भान्ति यान्त्यन्तः शनकैः प्रजाः।

वान्ति वाता वहन्त्यापो भान्ति चाभान्ति खे सुराः।
तिष्ठन्त्यगाः समुद्यन्ति ग्रहा यान्ति महीं नृपाः ॥६
देवासुरमनुष्याणां व्यवहारपरम्पराः।
लोलाः प्रवृत्ता आकल्पमासमुद्रमिवापगाः ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! इस प्रकार कहती हुई उस आकाश में अवस्थित संकल्पोत्पन्न आसन पर बैठी हुई उस स्त्री से मैंने भी कल्पित आसन पर बैठे हुए, उससे पुनः पूछा ॥१॥ हे बाले ! अवकाश-हीन उस शिला के उदर में तुम्हारे समान देहधारी कैसे स्थित होंगे ? किस प्रकार चलना–फिरना होता होगा ? उसमें रहने से तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥२॥ विद्याधरी ने कहा— हे मुने ! आपका यह लोक जिस प्रकार स्फुरित रूप से स्थित है, उसी प्रकार हमारा लोक भी उस शिला के उदर में अवस्थित है, वह भी सर्ग-संसार युक्त ही है ॥३॥ जैसे पाताल में नाग स्फुरणशील हैं, पृथिवी पर पर्वत और छलाछल जल भरे हैं तथा आकाश में वायु प्रवाहित रहता है ॥४॥ उसमें भी यहीं के समान समुद्र जल से परिपूर्ण हैं; प्रजाजन भी चलते-फिरते हैं, भूतों की निरंतर उत्पत्ति और मृत्यु होती है ॥५॥ वहाँ भी वायु प्रवाहित रहती, जल बहते और आकाश में नक्षत्र आदि के रूप में देवता दिखाई देते हैं । पर्वतों की स्थिति, ग्रहों का उदय और पृथिवी पर राजाओं का गमनागमन भी होता है ॥६॥ वहां भी देव, असुर और मनुष्यों की व्यवहार परम्परा कल्प पर्यन्त उसी प्रकार वर्तमान रहती है, जिस प्रकार कि समुद्र पर्यन्त नदी की धारा विद्यमान रहती है ॥७॥

दिनपद्मानि भूलोकसरस्याकल्पमानभः।
लोलाभ्रालोनि फुल्लानि मीलितोन्मीलितान्यलम् ॥८
चन्द्रश्चर्चाश्चतुर्दिक्कं चन्दनेनात्मतेजसा।
रचयन्त्रात्रिरोहिण्योस्तमो हन्त्यपि हृद्गतम् ॥९
स्वदशास्वादनरता वातयन्त्रसुचारिता।
रोदःसद्मनि सूर्याख्या दीप्यते दिवि दीपिका ॥१०

कितना समय व्यतीत हो गया, कितना वर्तमान है, कितना होने को है और ब्रह्मत्व भी क्या है ? अहो, उनकी ऐषणा का कैसा अन्त हो चुका है ।।१७।। यही कारण है कि विद्वान् होते हुए भी मेरे पति आत्मपद को प्राप्त नहीं कर सके । हम दोनों ही अब तक उस परम पद की इच्छा करते हुए भटक रहे हैं ।।१८।। हे ब्रह्मन् ! आप हमारे निवेदन को सफल करने में पूर्णतया सक्षम हैं । महान् पुरुषों के पास आये हुए की प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जाती ।।१९।। हे मानद ! मैं इस आकाश में स्थित सिद्धों के मध्य निरन्तर भटकती फिर रही हूँ । अब इस अज्ञान रूपी वन के लिए आपके अतिरिक्त किसी अन्य को दावाग्नि स्वरूप नहीं देखती ।।२०।। हे ब्रह्मन् ! हे करुणाकर ! क्योंकि सन्तजन इच्छा करने वालों की अभिलाषाएँ अकारण ही पूरी कर देते हैं, इसलिए मुझ उपेक्षा न कीजिए क्योंकि उपेक्षा करना ही अर्थिजनों करना है ।।२१।।

---

## ७९—लोक-विस्तार का वर्णन

अथेत्युक्तवती पृष्टा सा मया कल्पितासना ।
सङ्कल्पितासनस्थेन स्थितेन नभसि स्थिता ।।१

कथं शिलोदरे बाले त्वद्विधानां भवेत् स्थितिः ।
कथं सञ्चलनं तत्र किमर्थं तत्र चास्पदम् ।।२

मुने यथेदं भवतां जगत्स्फारं विराजते ।
तथाऽस्माकं जगत्तत्र सर्गसंसारयुक् स्थितम् ।।३

स्फुरन्ति नागाः पाताले तिष्ठन्ति भुवि पर्वताः ।
आपश्छलच्छलायन्ते वहन्ति व्योम्नि वायवः ।।४

अर्णवा अर्णसा भान्ति यान्त्यन्तः शनकैः प्रजाः ।
भूतान्यजस्रं जायन्ते म्रियन्तेऽविरतं यथा ।।५

वान्ति वाता वहन्त्यापो भान्ति चाभान्ति खे सुराः।
तिष्ठन्त्यगाः समुद्यन्ति ग्रहा यान्ति महीं नृपाः ॥६
देवासुरमनुष्याणां व्यवहारपरम्पराः।
लोलाः प्रवृत्ता आकल्पमासमुद्रमिवापगाः ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! इस प्रकार कहती हुई उस आकाश में अवस्थित संकल्पोत्पन्न आसन पर बैठी हुई उस स्त्री से मैंने भी कल्पित आसन पर बैठे हुए, उससे पुनः पूछा ॥१॥ हे बाले ! अवकाश-हीन उस शिला के उदर में तुम्हारे समान देहधारी कैसे स्थित होंगे ? किस प्रकार चलना–फिरना होता होगा ? उसमें रहने से तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥२॥ विद्याधरी ने कहा— हे मुने ! आपका यह लोक जिस प्रकार स्फुरित रूप से स्थित है, उसी प्रकार हमारा लोक भी उस शिला के उदर में अवस्थित है, वह भी सर्ग-संसार युक्त ही है ॥३॥ जैसे पाताल में नाग स्फुरणशील हैं, पृथिवी पर पर्वत और छलाछल जल भरे हैं तथा आकाश में वायु प्रवाहित रहता है ॥४॥ उसमें भी यहीं के समान समुद्र जल से परिपूर्ण हैं; प्रजाजन भी चलते-फिरते हैं, भूतों की निरंतर उत्पत्ति और मृत्यु होती है ॥५॥ वहाँ भी वायु प्रवाहित रहती, जल बहते और आकाश में नक्षत्र आदि के रूप में देवता दिखाई देते हैं। पर्वतों की स्थिति, ग्रहों का उदय और पृथिवी पर राजाओं का गमनागमन भी होता है ॥६॥ वहाँ भी देव, असुर और मनुष्यों की व्यवहार परम्परा कल्प पर्यन्त उसी प्रकार वर्तमान रहती है, जिस प्रकार कि समुद्र पर्यन्त नदी की धारा विद्यमान रहती है ॥७॥

दिनपद्मानि भूलोकसरस्याकल्पमानभः।
लोलाभ्रालीनि फुल्लानि मीलितोन्मीलितान्यलम् ॥८
चन्द्रश्चर्चाश्चतुर्दिक्कं चन्दनेनात्मतेजसा।
रचयन्त्रात्रिरोहिण्योस्तमो हन्त्यपि हृद्गतम् ॥९
स्वदशास्वादनरता वातयन्त्रसुचारिता।
रोदःसद्मनि सूर्याख्या दीप्यते दिवि दीपिका ॥१०

पर्वत और महार्णवादि में विचरण करते रहते हैं। अतः यहाँ के समान ही उस पाषाणशिला में भी आप सम्पूर्ण व्यवहारों को जानिये ॥२०॥

---

## ८० — अभ्यास की महिमा

यावत्तां सर्गमागच्छ प्रसादः क्रियतां मुने ।
आश्चर्येषूपपन्नेषु महान्तो ह्यतिकौतुकाः ॥१
तथेत्युक्ते मया सार्धं गन्तुमारब्धमम्बरे ।
वात्यया सौरभेणेव शून्ये शून्येन शून्यया ॥२
अथाऽहं दूरमध्वानं शून्यमुल्लंघ्य नाभसम् ।
नभःस्थं भूतसंघातं तया सार्धमवाप्तवान् ॥३
तमुल्लंघ्य चिरेणात्र भूतसञ्चारमम्बरे ।
लोकालोकशिरोव्योम प्राप्तोस्मि धवलाम्बुदम् ॥४
उत्तरांशेन्दुशुभ्राभ्रपीठान्निर्गत्य तां शिलाम् ।
आनीतोऽस्मि तयोत्तुङ्गां तप्तकाञ्चनकल्पिताम् ॥५
यावत्पश्याम्यहं शुभ्रां शिलां तां न च तज्जगत् ।
कलधौतमयीमुच्चैरग्निलोकतटीमिव ॥६
तदा मयोक्ता सा कान्ता क्व भवत्सर्गभूरिति ।
क्व रुद्रार्काग्नितारादि क्व लोकान्तरसप्तकम् ॥७

विद्याधरी बोली—हे मुने ! आप स्वयं ही उस शिला के उदर म स्थित सृष्टि को चलकर देखिये, क्योंकि महान् पुरुषों को भी विस्मयकारी घटनाओं की प्राप्ति पर अत्यन्त कौतुक होता है ॥१॥ हे राम ! उसके ऐसा कहने पर हाँ कहता हुआ मैं उस आकाशरूपिणी नारी के साथ शून्यात्मक आकाश में जाने के लिए शून्य रूप से वैसे ही उद्यत हुआ, जैसे वायु के साथ सुगंध होती है ॥२॥ फिर मैं उसके साथ आकाश मार्ग से निकलता हुआ आकाश मंडल में अवस्थित देवता, सिद्ध आदि रूप भूत-

समूह में जा पहुंचा ॥३॥ कुछ समय पश्चात् मैं उस आकाश में देवतादि के विचरण मार्ग को भी लांघता हुआ धवल मेघ के समान अत्यन्त स्वच्छ लोकालोक पर्वत के शिखराकाश पर उसके साथ जा पहुँचा ॥४॥ चन्द्रमा के समान अत्यन्त श्वेत, आकाश पीठ से नीचे उत्तर दिशा के पूर्व भाग में स्थित उस शिला के पास वह मुझे ले गई। अत्यन्त उन्नत वह शिला तप्त स्वर्ण जैसे वर्ण की थी ॥५॥ सुमेरु तटी के समान अत्यन्त ऊंची उस स्वर्णिम शिला का मैंने सब ओर से भले प्रकार अवलोकन किया, परन्तु उसमें मुझे जगत् कहीं भी दिखाई न पड़ा ॥६॥ हे राम ! तब मैंने उस कान्ता से पूछा कि तुमने जिस सृष्टि का वर्णन किया था, वह कहाँ है ? रुद्र, सूर्य, अग्नि तारागण और अन्यान्य सात लोक कहाँ हैं ? ॥७॥

क्वाऽर्णवाकाशककुभः क्वोन्मज्जननिमज्जने ।
क्व महाम्भोदसम्भारः क्व ताराम्बरडम्बरम् ॥८
क्व शैलशिखरश्रेण्यः क्व महार्णवलेखिकाः ।
क्व द्वीपवलयाः सप्त क्व तप्तकनकावनिः ॥९
क्व कार्यकालकलनाः क्व भूतभुवनभ्रमः ।
क्व विद्याधरगन्धर्वाः क्व नरामरदानवाः ॥१०
पश्याम्यखिलमात्मीयमहं सर्वमिहोपले ।
मुकुरप्रतिबिम्बस्थपुरान्यपुरवज्जनम् ॥११
नित्यानुभव एवात्र दर्शने कारणं मम ।
तदभावो मुने मन्ये ते कारणमदर्शने ॥१२
अन्यच्च चिरकालेऽद्वैतसंकथयाऽनया ।
शुद्धाऽऽतिवाहिकं कात्मदेहता विस्मृताऽऽवयोः ॥१३
ममातिसुचिराभ्यस्तमपि व्योमलतामिव ।
गतं निजं जगदिदं यतः पश्यामि न स्फुटम् ॥१४

हे ललने ! यहाँ समुद्र, आकाश, दिशाएं कहाँ हैं ? प्राणियों के जन्म-मरण यहाँ कहाँ हो रहे हैं ? बड़े-बड़े मेघमण्डल और तारागण से समन्वित उज्वल आकाश का आडम्बर यहाँ कहाँ है ? ॥८॥ पर्वत-

शिखरों की श्रेणियाँ, लवणों के महासागरों के समूह, सप्तद्वीप कंकण और तप्त सुवर्ण के समान चमकती हुई पृथिवी यहाँ कहाँ ॥९॥ काल, क्रिया, कल्पना, भूतलोक का विभ्रम, विद्याधर, मनुष्य, देवता और दानव यह सब यहाँ कहाँ हैं ? ॥१०॥ विद बोली—हे मुने ! इस पाषाण-शिला में, जो कुछ पहिले था, वह अब दिखाई नहीं देरहा है। परंतु, मैंने जिस सर्ग का आप से वर्णन किय उस सब को मैं दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप से स्थित प्रसिद्ध नगर से जो नगर है, उसके समान ही मैं प्रतिबिम्ब रूप से देख रही हूँ ॥११॥ जो मुझे दिखाई दे रहा है, उसका कारण नित्य का अनुभव ही है,आप उस नित्य अनुभव के न होने से ही जगत् दिखाई नहीं देरहा है ॥१ एक अन्य कारण यह भी है कि चिरकाल तक चलती हुई अप इस द्वैत-कथा के कारण शुद्ध, सूक्ष्म मनोमात्र शरीर को हम भूल गये इसीलिए हम उसे अस्फुट रूप में देखते हैं, पर आप नहीं देख पाते ॥१३ यहाँ जो मेरा जगत् था, वह अब नष्ट प्रायः हो चुका है, यद्यपि चिरका तक मुझे उसका अभ्यास रहा है, फिर भी आकाशलता के समान मुझे अ स्फुट रूप से दिखाई नहीं देता ॥१४॥

अभूद्यत्स्वजगत्पूर्वमतिप्रकटमेव मे ।
तत्पश्याभीदमादर्श इव विम्बितमस्फुटम् ॥१५

चिरव्यर्थोत्यया नाथ सकथाव्यथया मिथः
स्वास्थ्यं विस्मृतमात्मीयमवदाततमं ततम् ॥१६

न सच्छाबेण सा विद्धि न सन्न्यायेन सा कला ।
अस्ति नास्त्यमितोद्योगाद्यदभ्यासान्न सिद्ध्यति ॥१७

स्वजगत्सन्तताभ्यासवशतो मां कथाभ्रमः ।
नूनमाक्रान्तवानेष द्वयोर्हि बलवान् जयी ॥१८

इष्टवस्त्वर्थिनां तज्ज्ञसूपदिष्टेन कर्मणा ।
पौनःपुन्येन करणान्नेतरच्छरणं मुने ॥१९

अयमित्थमिहाज्ञानभ्रमः प्रौढोऽहमात्मकः ।
शाम्यति ज्ञानचर्चाभिः पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥२०
अहं शिलाबला बाला पश्यामि त्वं न पश्यसि ।
सर्वज्ञोऽपि शिलासर्गं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥२१

जो जगत् पहिले मेरे लिए अत्यन्त प्रकट था, उस जगत् को अब मैं दर्पण में प्रतिविम्ब के समान अस्पष्ट रूप में ही देख रही हूँ ॥१५॥ हे मुनिनाथ ! हमारा परस्पर दीर्घकाल तक जो निरर्थक संभाषण चलता रहा था, उससे जो व्यथा उत्पन्न हुई, उसके कारण अपना व्यापक स्वास्थ्य स्मृति में नहीं रहा ॥१६॥ वह कला सत्शास्त्र अथवा श्रेष्ठ न्याय से सिद्ध नहीं हो सकती, उसकी सिद्धि तो उद्योग युक्त अभ्यास से ही संभव है । आप जान लीजिये कि अभ्यास से उसकी सिद्धि न होती हो, ऐसी बात नहीं है ॥१७॥ आपके साथ हुए कथाभ्रम रूपी संवाद ने अपने जगत् के निरन्तर अभ्यास के कारण मुझ भ्रमग्रस्त को वश में कर लिया, इसलिए वह संस्कार नष्ट हो गया । क्योंकि भूतकालीन भ्रम से वर्तमान कालीन भ्रम के अधिक बलवान् होने से वर्तमानकालीन भ्रम जीत गया ॥१८॥ हे मुने ! अपनी-अपनी इच्छित वस्तु की अभिलाषा वालों के लिए बारम्बार जो श्रेष्ठ उपदेश किया जाता है, उसी से उन्हें अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है, इसके अतिरिक्त उनका अन्य आश्रय नहीं हो सकता ॥१९॥ इस प्रकार का जो अहंरूपी महा अज्ञान रूपी भ्रम है, वह ज्ञान-चर्चा के अभ्यास से ही शान्त होता है, अभ्यास की इस महिमा को देखिये ॥२०॥ मैं एक शिला की अबला और बाला भी हूँ, फिर भी शिला में जो सृष्टि है उसे देखती हूँ, परन्तु आश्चर्य है कि आप सर्वज्ञ होकर भी इसे नहीं देख पाते, इस अभ्यास के फल को तो आप देखिये ॥२१॥

अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते ।
बाणोऽप्यति महालक्ष्यं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥२२

इत्थं नाम परिप्रौढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
शाम्यत्येव विचारेण पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥२३
अभ्यासेन कटु द्रव्यं भवत्यभिमतं मुने ।
अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ॥२४
आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलम् ।
आधिभौतिकतामेति भावनाभ्यासयोगतः ॥२५
आधिभौतिकदेहोऽसौ धारणाभ्यासभावनात् ।
विहङ्गवत् खमभ्येति पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥२६
येनाऽभ्यासः परित्यक्त इष्टे वस्तुनि सोऽधमः ।
कदाचिन्न तदाऽप्नोति वन्ध्या स्वतनयं यथा ॥२७
यथा कल्पद्रुमलताः सच्चिन्तामणयो यथा ।
फलन्ति शरदश्चैतास्तथैवाऽभ्यासभूमयः ॥२८

अभ्यास के द्वारा अज्ञानी भी शनैः शनैः ज्ञानी हो जाता है, अभ्यास से पर्वत भी चूर्ण हो जाते हैं, जड़ बाण भी अपने सूक्ष्म लक्ष्य पर पहुँच जाता है, अभ्यास के इस फल का आप अवलोकन कीजिये ॥२२॥ इस प्रकार अज्ञान रूपी यह महामारी जो सब ओर फैली हुई है, वह विचार रूपी अभ्यास से ही शमन होती है,आप अभ्यास के इस फल को तो देखिये ॥२३॥ हे मुने ! कड़वा पदार्थ भी अभ्यास से अच्छा लगने लगता है, अभ्यास से कोई नीम को पसन्द करता है तो कोई मधु को ॥२४॥ यह विशुद्ध चिदाकाश रूपी आतिवाहिक शरीर भावना रूपी अभ्यास से ही आधिभौतिकता को प्राप्त हो जाता है ॥२५॥ धारणा के अभ्यास से ही यह आधिभौतिकता को प्राप्त शरीर पक्षियों के समान आकाश में उड़ने की सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इस अभ्यास के फल को देखिये ॥२६॥ इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए जिसने अभ्यास का परित्याग कर दिया, वह अधम पुरुष वंध्या-पुत्र के समान, उस इष्ट वस्तु को कभी नहीं पा सकता ॥२७॥ जिस प्रकार कल्पद्रुम की लता, श्रेष्ठ चिन्तामणि अथवा शरद् ऋतु उन-उन इच्छित फलों के देने वाली हैं, वैसे ही यह सुनने

आदि की अभ्यास-भूमियाँ भी इच्छित वस्तु प्रदान करने वाली होती हैं ॥२८॥

सर्वस्य जन्तुजातस्य सर्वैवस्त्ववभासने ।
सर्वदैवैक एवोच्चैर्जयत्यभ्यासभास्करः ॥२९
चतुर्दशविधायास्तु भूतजातेनं कस्यचित् ।
सिध्यन्त्यभिमतं वस्तु विनाभ्यासमकृत्रिमम् ॥३०
पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते ।
पुरुषार्थः स एवेह तेनाऽस्ति न विना गतिः ॥३१
दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा ।
निजवेदनजेनेव सिद्धिर्भवति नाऽन्यथा ॥३२
अभ्यासभास्वति तपत्यवनौ वने च
वीरस्य सिद्धयति न यन्न तदस्ति किञ्चित् ।
अभ्यासतो भुवि भयान्यभयीभवन्ति
सर्वासु पर्वतगुहास्वपि निर्जनासु ॥३३

जितने भी उत्पन्न हुए जीव हैं, उन सभी के लिए सदैव सब वस्तुएँ प्रकाशित करने वाला अभ्यास रूपी सर्वोच्च सूर्य है ॥२९॥ चौदह भुवनों में जो चौदह प्रकार के प्राणी हैं, उनमें किसी भी प्राणी की स्वाभाविक इच्छित वस्तु अभ्यास के विना कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती ॥३०॥ किसी एक क्रिया का बारम्बार करना ही अभ्यास कहा गया है, जिस पुरुषार्थ का अनेक बार वर्णन हुआ है, वह भी यथार्थ में अभ्यास ही है। इस प्रकार अभ्यास के विना कोई गति नहीं है ॥३१॥ अभ्यास रूपी जो प्रयत्न है, वही अपना कर्म है, उसी से सिद्धि प्राप्त होती है, अन्य किसी से नहीं होती। यह अभ्यास रूपी सत्कर्म विवेक द्वारा ही प्रकट होता है ॥३२॥ इन्द्रियों को जीतने में समर्थ पुरुष के लिए अभ्यास रूपी सूर्य के तपते रहने तक पृथिवी, जल या आकाश में ऐसी कोई भी इच्छित वस्तु नहीं है, जो सिद्ध न हो सके। पृथिवी और निर्जन वन-कन्दराओं में सर्प,

सिंह आदि रूपी जितने भी भय हैं वे अभ्यास से भय-रहित हो जाते हैं ॥३३॥

---

## ८१—सत्य का आश्रय ही श्रेयस्कर है

ततः प्राचीनमभ्यासं बोधधारणयाऽमले ।
कुर्वः प्रकटतां तेन जगदेष्यति शैलगम् ॥१
युक्तियुक्ते तयेत्युक्ते विद्याधर्या धरोरसि ।
बद्धपद्मासनोऽथाहं समाधावुदितोऽभवम् ॥२
सर्वार्थभावनात्यागे चिन्मात्रैकान्तभावितः ।
अत्यजं तमहं पूर्वकथार्थकलनामलम् ॥३
अथ चिद्व्योमतां प्राप्तः परां दृष्टिमहं गतः ।
शरत्समयसम्प्राप्तौ व्योम निर्मलतामिव ॥४
ततः सत्यावधानैकघनाभ्यासेन देहके ।
ममाधिभौतिकभ्रान्तिर्नूनमस्तमुपागता । ५
उदयास्तमयोन्मुक्ता सततोदयमय्यपि ।
महाचिद्व्योमता स्वच्छा प्रोदितेव तदाऽभवत् ॥६
अथ पश्याम्यहं यावत्स्वस्यैवामलतेजसा ।
वस्तुतस्तु न चाकाशं नोपलः परमेव तत् ॥७

विद्याधरी ने कहा—हे मुने ! दृढ़ अभ्यास के बिना, देहादि में जो आधिभौतिक भ्रान्ति है, उसका निवृत्त होना और आतिवाहिक भाव का उदय होना संभव नहीं है । और अतः उस मल-रहित ब्रह्म में बोध रूपी धारणा से हमें आतिवाहिक भाव का पुनः अभ्यास करना चाहिए, तभी मेरे द्वारा कहे हुए शिला के उदर में जगत् का प्राकट्य हो सकता है ॥१॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! उस पर्वत पर स्थित विद्याधरी के यह युक्तियुक्त वचन सुनकर मैं पद्मासन बाँध कर समाधि के लिए तत्पर हुआ ॥२॥ उस समाधि में बाह्य पदार्थों की कल्पना से रहित एव एक

चिन्मात्र रूप होकर मैंने उस पूर्व कथार्थ की कल्पना और उसके विषयों नितान्त त्याग कर दिया ॥३॥ फिर चिदाकाश रूपत्व को प्राप्त होते हुए मुझे दिव्य दृष्टि की वैसे ही प्राप्ति हो गई, जैसे शरत्कालीन व्योम स्वच्छता की प्राप्ति करता है ॥४॥ तब तो सत्यात्मक ब्रह्म के दृढ़ अभ्यास द्वारा, देह के प्रति जो मेरी आधिभौतिक भ्रान्ति थी, उसका अस्त हो गया ॥५॥ ऐसा होने पर उदय और अस्त से उन्मुक्त, सदैव अभ्युदय स्वरूपा, अत्यन्त स्वच्छ महाचिदाकाश रूपता का ही प्रकाश फैल गया ॥६॥ तब मैं साक्षी स्वरूप अपने स्वच्छ तेज से देखने लगा, तब मुझे न तो वह आकाश ही दिखाई दिया और न वह शिला ही। सभी कुछ परमार्थमय ही दिखाई पड़ने लगा ॥७॥

परमार्थ घनं स्वच्छं तत्तथा भाति तादृशम् ।
तथा भावनया ह्यात्मा मदीयो दृष्टवांस्तथा ॥८
यथा स्वप्ने सुमहती दृष्टा गेहगता शिला ।
व्योमैव केवलं तद्वत्सुशुद्धं चिन्नभःशिला ॥९
स्वयं स्वप्नान्वितोऽन्यस्य स्वप्नपुस्त्वं गतो नरः ।
स्वप्नेऽज्ञानप्रवुद्धस्य यादृक्तादृक्स्वरूपतः ॥१०
स्वप्नस्थानां शिरश्छिन्नं येषां ते संसृतौ स्थिताः ।
कालेन ज्ञानलाभेन विना कुर्वन्तु किं किल ॥११
बोधः कालेन भवति महामोहवतामपि ।
यस्मान्न किञ्चनाप्यस्ति ब्रह्म तत्त्वादृतेऽक्षयम् ॥१२
अतस्तच्चिद्घनं स्वच्छं ब्रह्माकाशं शिलाकृति ।
दृष्टं मया तथा तत्र न तु पृथ्व्यादि सत् क्वचित् ॥१३
भूतानामादिसर्गे यच्छुद्धं यत्पारमार्थिकम् ।
व पुस्तदेव हृयेतेषां ध्यानलभ्यमवस्थितम् ॥१४

इस प्रकार सब परमार्थघन निर्मल परतत्व की ही प्रतीत होने लगी। वह परतत्व ही मेरा यह आत्मा है। शिला की भावना करने से उसे शिला ही दिखाई देने लगी थी ॥८॥ जिस प्रकार स्वप्न में अपने गृह में

एक बड़ी शिला का दिखाई देना चिदाकाशरूप है, वैसे ही शुद्ध चिदाकाश ही वहाँ शिला रूप में आभासित है ॥६॥ जैसे स्वप्न में 'स्वप्न से जगा हुआ' मानते हुए किसी अन्य पुरुष के स्वप्न में देखे गये पुरुष रूप को प्राप्त स्वप्नमय पुरुष स्वयं को प्रबुद्ध हुआ समझता है, उसी के समान उस व्यवहार को समझो ॥१०॥ जैसे स्वप्न में जिनका सिर छिन्न हो गया वे स्वप्न में स्थित पुरुष ज्ञान के बिना क्या करने में समर्थ हैं, वैसे ही संसार में स्थित प्राणी ज्ञान-बिना क्या कर सकते हैं? ॥११॥ महामोह में पड़े पुरुषों को समय आने पर जो बोध होता है, वही जागरण है। क्योंकि स्वप्न अथवा जागरण किसी भी अवस्था में ब्रह्मतत्त्व के अतिरिक्त कोई भी अक्षय पदार्थ नहीं है ॥१२॥ इसी कारण आत्मबोध के पूर्व मुझे जो शिला दिखाई दी थी, वह निर्मल चिद्घन ब्रह्माकाश ही मुझे दिखाई दिया था, पृथिवी आदि के विकार रूप से नहीं दिखाई दिया था ॥१३॥ भूतों के आदि सर्ग में विद्यमान जो शुद्ध पारमार्थिक ब्रह्म है, वह ज्ञानीजनों के ध्यान से उपलब्ध इन भूतों का देह ही विद्यनाम है ॥१४॥

आद्यं वपुर्हि भूतानामात्मीयं यत्पुरातनम् ।
तदेवाद्य मनोराज्यं सङ्कल्प इति कथ्यते ॥१५

सत्तातिवाहिको देहस्तत्परं परमार्थतः ।
प्रत्यक्षं परमं यत्तत्तदाद्यं कचनं चितः ॥१६

आतिवाहिकदेहत्वं प्रत्यक्षं प्रथमोदितम् ।
सत्यं सर्वगतं विद्धि त्वाधिभौतिकम् ॥१७

अनुभूतापि नास्त्येव हेम्नः कटकता यथा ।
तथाऽऽतिवाहिकस्याधिभौतिकत्वं न विद्यते ॥१८

भ्रममभ्रमतां यातमभ्रमं भ्रमता गतम् ।
वेत्ति जीवो विचारेण विनाऽहो नु विमूढता ॥१९

यदसत्तत्कृतं सत्यं यत्सत्यं तदसत्कृतम् ।
अहो नु मोहमाहात्म्यं जीवस्याऽस्याऽविचारजम्

योगिप्रत्यक्षमेवास्ति किञ्चिदस्ति तु मानसम् ।
यस्माल्लोकद्वयाचारस्ताभ्यामेव प्रसिध्यति ॥२१

ब्रह्म का आत्मीय और पुरातन रूप ही भूतों का पारमार्थिक रूप है। वही मनोराज्य या संकल्प रूप, अज्ञानियों का जगत् है ॥१५॥ मायाशवल सत् ब्रह्म में चिति की जो जगत्-संस्कार वाली अंश-सत्ता है, वही आतिवाहिक देह है तथा उसका नित्य, अप्रत्यक्ष चिदंश ही उसका स्वरूप में प्रकट होना है ॥१६॥ आतिवाहिक देह ही प्रत्यक्ष एवं प्रथम उदित होता है, उसी को सत्य और सर्वगत समझो। यह आधिभौतिक देह तो केवल माया ही है ॥१७॥ जिस प्रकार अनुभव से स्वर्ण में किंचित् भी कटकता नहीं जान पड़ती, उसी प्रकार सूक्ष्म देह में आधिभौतिकता का अभाव है ॥१८॥ अविचारी होने से ही यह प्राणी भ्रम में भ्रम-रहितता और भ्रम-रहितता में भ्रमरूपता को प्राप्त समझता है, अहो! यह मूढ़ता कैसी? ! ।१६।अहा ! प्राणी के अविचार जन्य मोह की प्रबलता तो देखो, जिसने असत् को सत्य और सत्य को असत् बना डाला है ॥२०॥ योगिया की जो प्रत्यक्ष चिति-स्फूर्ति है, यथार्थ में तो वही सत्य है और हृदय का स्पन्दन भी कुछ है ही, क्योंकि दोनों लोकों के आचार की सिद्धि इन दोनों से हो है ॥२१॥

आद्यं प्रत्यक्षमुत्सृज्य यः सत्येऽस्मिन्कृतस्थितिः ।
प्रत्यक्षे मृगतृष्णाम्बु पीत्वा स सुखमास्थितः ॥२२
यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः ।
अकृत्रिमनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥२३
प्रत्यक्षेणैवमध्यक्षं प्रत्यक्षं प्रविचार्यताम् ।
यदाद्यं तत्सदध्यक्षं तत्प्रत्यक्षेण दृश्यताम् ॥२४
लोकत्रयानुभवदं त्यक्त्वा प्रत्यक्षमैहिकम् ।
मायात्मकं यो गृह्णाति नास्ति मूढतमस्ततः ॥२५
आतिवाहिकमेवैषां भूतानां विद्यते वपुः ।
अत्राऽऽधिभौतिकव्याप्तिरसत्यैव पिशाचिका ॥२६

अजातसंकल्पमयं प्रत्यक्षं तत्कथं भवेत् ।
स्वयमेव नयत् सत्यं तत्स्यात्कार्यकरं कथम् ॥२७
यत्र प्रत्यक्षमेवासदन्यत् किं तत्र सद्भवेत् ।
क्व तत्सत्यं भवेद्वस्तु यदसिद्धेन साध्यते ॥२८

जो इस आद्य सूक्ष्म प्रत्यक्ष का त्याग कर स्थूल देह में सत्य बुद्धि रखते हैं, वह मानों मृगतृष्णा का जल पीकर ही संतुष्ट हो रहे हैं ॥२२॥ क्षणभंगुरता के अनुभव वाले ज्ञानी पुरुष विषय सुख को दुखःरूप बताते हैं और अकृत्रिम, अनादि, अनन्त सुख को यथार्थ सुख कहते हैं ॥२३॥ इस प्रकार साक्षी चेतन के द्वारा प्रत्यक्ष विचार और अनुभव से देखो तो जो सब का आदि साक्षी चित् का प्रत्यक्ष ही यथार्थ सुख है ॥२४॥ जो त्रैलोक्य का अनुभव देने वाले सूक्ष्म चित् प्रत्यक्ष का परित्याग कर इस लोक के स्थूल प्रत्यक्ष को ग्रहण करता है, उससे अधिक महामूढ़ अन्य नहीं है ॥२५॥ सभी प्राणियों का सूक्ष्म देह ही सत् है और आधिभौतिक देह की प्राप्ति ही असत् रूपी पिशाची है ॥२६॥ जो जन्म-रहित और संकल्प-मय है उसका प्रत्यक्ष होना कैसा ? और जो स्वयं सत् नहीं है, कार्यकर ही कैसे होगा ? ॥२७॥ प्रत्यक्ष की साधक जो नेत्रादि इन्द्रियाँ हैं, वे जब योगियों की दृष्टि में असत् रूप हैं, तो उनसे जनित पदार्थ ही सत् कैसे होंगे ? क्योंकि असत् से जिसकी सिद्धि होगी, वह सत् कहाँ से हो सकेगी ? ॥२८॥

प्रत्यक्ष एव भावत्वे नष्टे क्वेत्रानुमादयः ।
उह्यन्ते वारणा यत्र तत्रोर्मिषु का कथा ॥२९
अतः प्रमाणसंसिद्धं दृश्यं नास्त्येव कुत्रचित् ।
यदन्यदिदमस्तीव तत्तद्ब्रह्मघनं घनम् ॥३०
स्वप्ने द्रष्टुः खमेवाद्रिगृहे नान्यस्य वै यथा ।
तथा तद्भावनवतोरावयोः सा शिलैव चित् ॥३१
अयं शैल इदं व्योम जगदेतदिदं त्वहम् ।
इति चिन्मय आत्मान्तः ख चमत्कुरुते स्वयम् ॥३२

पश्यत्येतत्प्रबुद्धात्मा नाप्रबुद्धः कदाचन ।
श्रोतुः कथार्थसंवित्तिर्नाश्रोतुर्भवति क्वचिद् ॥३३
अप्रबुद्धमिति भ्रान्तिरेवेयं सत्यतां गता ।
क्षीवस्य सुस्थिरा एव नृत्यन्ति तरुपर्वताः ॥३४
सर्वत्राप्रतिहतमेकरूपबोधं
प्रत्यक्षं शिवमनुबुध्य चित्स्वरूपम् ।
प्रत्यक्षान्तरमिह पेलवं श्रयन्ते
ये मूढास्तृणतनुभिः शठैरलं तैः ॥३५

जब प्रत्यक्ष ही भावरूप नहीं है, तब उसके आश्रित अनुमानादि की गति कहाँ है ? जहाँ बड़े-बड़े गजराज भी बह जाते हों, वहाँ भेड़ों का तो कहना ही क्या है ? ॥२९॥ अतः इस सब का तात्पर्य यही है कि प्रमाण से सिद्ध दृश्य-प्रपंच की स्थिति कहीं भी नहीं है। जो यह सद्रूप भाव-जैसा प्रतीत हो रहा है वह घनरूप चिद्घन ब्रह्म ही है ॥३०॥ जिस प्रकार पर्वत देखने वाला स्वप्न अपने समय में भी शून्यरूप ही है, क्योंकि उसी गृह के किसी अन्य पुरुष के लिए उस पर्वत का अभाव है, वैसे ही, शिला-भावना वाले हम दोनों को भी यह दृश्य शिला के समान चिद्रूप ही है ॥३१॥ यह पर्वत, यह आकाश, यह जगत् और यह मैं—इस प्रकार यह जो कुछ भी है, वह सब चिन्मय आत्मा ही चिदाकाशरूप से अपने रूप में प्रकाशित है ॥३२॥ इस प्रकार चिन्मय आत्मा का आभास प्रबुद्धात्मा ही देखता है, अप्रबुद्धात्मा को यह कभी दिखाई नहीं देता। क्योंकि जो कथा सुनता है, उसी को उसका अर्थज्ञान होता है, जो नहीं सुनता उसे कभी नहीं हो सकता ॥३३॥ अप्रबुद्ध को यह जगत् रूप भ्रांति सत्यरूप है। क्योंकि मद्य पीकर मदमत्त हुए पुरुष को ही यह भले प्रकार स्थिर वृक्ष और पर्वत नृत्य करते हुए दिखाई देते हैं ॥३४॥ जो पुरुष सर्वत्र, अप्रतिहत, एक बोधरूप, प्रत्यक्ष, कल्याणरूप चित्स्वरूप का बोध करके भी उन इन्द्रियादि प्रत्यक्ष के आश्रित होते हैं, वे मूर्ख एवं शठ तिनके के समान नगण्य ही हैं ॥३५॥

# ८२—वसिष्ठ-ब्रह्मा सम्वाद

सा प्रविष्टा ततः सर्गं तमनर्गलचेष्टिता ।
अहमप्यविश तत्र सङ्कल्पात्मा तया सह ॥१
यावत्सा तत्र वैरिञ्चं लोकमासाद्य सोद्यमा ।
उपविष्टा विरिञ्चस्य पुरः परमशोभना ॥२
वक्त्ययं मुनिशार्दूल पतिर्मे पाति मामिमाम् ।
विवाहार्थमनेनाहं जनिता मनसा पुरा ॥३
पुराणः पुरुषोऽप्येष मामप्यद्य जरागताम् ।
न विवाहितवांस्तेन विरागमहमागता ॥४
विरागमेषोऽप्यायातो गन्तुमिच्छति तत्पदम् ।
यत्र न द्रष्टृता नैव दृश्यता न तु शून्यता ॥५
महाप्रलय आसन्नो जगत्यस्मिंश्च सम्प्रति ।
ध्यानान्न च चलत्येष शैलमीनादिवाऽचलः ॥६
तस्मान्मामेनमपि च बोधयित्वा मुनीश्वर ।
आमहाकल्पसर्गादौ परमे पथि योजय ॥७

वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! फिर यह अबाधगति वाली विद्याधरी उस शिला के उदर में विद्यमान जगत् में प्रविष्ट हुई तो संकल्पात्मा मैं भी उसके साथ ही घुस गया ॥१॥ फिर वह उद्यममयी परम शोभना उस ब्रह्मलोक में पहुँचकर ब्रह्माजी के सामने बैठ गई और मुझसे कहने लगी—हे मुनिशार्दूल ! यही मेरे रक्षक पति हैं । इन्हीं ने विवाह के अर्थ मुझे उत्पन्न किया था । यद्यपि यह और मैं दोनों ही वृद्धावस्था को प्राप्त हो गये हैं, तो भी इन्होंने अभी तक मेरे साथ विवाह नहीं किया है । इसी कारण मुझे वैराग्य हो गया तथा यह भी वैराग्य-युक्त हो गये हैं । यह उस परमपद में जाना चाहते हैं, जिसमें द्रष्टृता, दृश्यत्व अथवा शून्यत्व आदि कुछ भी नहीं है ॥२-५॥ हे राम ! विद्याधरी के इतना कहते-कहते ही महाप्रलय का समय पास आता जा रहा था, तब भी वह कहती

जा रही थी कि यह अभी भी अचल पर्वत के समान ऐसे बैठे हैं कि अपना ध्यान ही नहीं छोड़ते ॥६॥ हे मुनीश्वर ! इसलिए आप मुझे और इन्हें दोनों को ही बोध प्रदान करके परम पथ की ओर प्रेरित करिये, जो महा-प्रलय पर्यन्त सम्पूर्ण सर्गों का कारण रूप है ॥७॥

इत्युक्त्वा मामसौ तस्य बोधायेदमुवाच ह ।
नाथायं मुनिनाथोऽद्य सद्म सम्प्राप्तवानिदम् ॥८

एषोऽन्यस्मिन् जगद्गेहे ब्रह्मणस्तनयो मुनिः ।
पूजयैनं गृहायातं गृहस्थगृहपूजया ॥९

तयेत्युक्ते महाबुद्धिर्बुबुधे स समाधितः ।
स्वसंवित्तिद्रवात्मत्वात्तावर्त इव वारिधौ ॥१०
शनैरुन्मीलयामास नयने नयकोविदः ।
मधुः शिशिरसंशान्तावववनौ कुसुमे यथा ॥११
सुरसिद्धाप्सरःसंघाः समाजग्मुः समन्ततः ।
यथा हंसालयो लोलाः प्रातर्विकसितं सरः ॥१२
ददर्शासौ पुरःप्राप्तं मां च तां विलासिनीम् ।
उवाचाथ वचो वेधाः प्रणवस्वरसुन्दरम् ॥१३
करामलकवद्दृष्टसंसारासारसार हे ।
ज्ञानामृतमहाम्भोद मुने स्वागतमस्तु ते ॥१४

हे राम ! इतना कहकर वह विद्याधरी ब्रह्माजी को जगाती हुई बोली—हे स्वामिन् ! अपने इस ग्रह में आज मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी आये हैं, यह जगद्रूप ग्रह के निवासी ब्रह्माजी के पुत्र हैं । आप अपने घर पर आये हुए इनका, गृहस्थ घरों में हाने वाले अतिथि-पूजन से इन्हें सत्कारित कीजिए ॥८-९॥ उसके इस प्रकार कहने पर वह महामति मुनि अपनी समाधि से समुद्र में लहरों के समान उठे । उस समय वे अपनी आत्मा को पहिचानने के लिए द्रवात्मक हो रहे थे ॥१०॥ फिर उन नीति के ज्ञाता मुनि ने अपने नेत्र उस प्रकार खोल दिये, जिस प्रकार कि शिशिर

से शान्त हुई पृथिवी पर मधुमास अपने पुष्परूपी नेत्रों को खोलता है ॥११॥ फिर देवता, सिद्ध और अप्सराएँ सब दिशाओं से ऐसे आ गईं, जैसे प्रभात में विकसित कमलों से सम्पन्न सरोवर पर हंसों के समूह आ जाते हैं ॥१२॥ तब उन ब्रह्मा ने मुझे और उस विलासिनी को अपने सामने देखा और फिर ओंकारमय स्वरों के साथ सुरम्य स्वरों में कहने लगे ॥१३॥ उन शिलोदरस्थ जगत् के ब्रह्माजी ने कहा—हे मुने ! आप हाथ में रखे आँवले के समान असार संसार के तत्व के पूर्णज्ञाता एवं ज्ञानामृत की वर्षा करने वाले महामेघ हैं, आपका स्वागत है ॥१४॥

पदवीमसि सम्प्राप्त इमामतिदवीयसीम् ।
दूराध्वसुपरिश्रान्त इदमासनमास्यताम् ॥१५
इत्युक्ते तेन भगवन्नभिवादय इत्यहम् ।
वदन्मणिमये पीठे निविष्टो दृष्टिदर्शिते ॥१६
अथामरर्षिगन्धर्वमुनिविद्याधरोदिताः ।
प्रस्तुताः स्तुतयः पूजा नतयः स्थितिनीतयः ॥१७
ततो मुहूर्तमात्रेण सर्वभूतगणोदिते ।
शान्ते प्रणतिसंरम्भे तस्योक्तं ब्रह्मणो मया ॥१८
किमिदं भूतभव्येश यदियं मामुपागता ।
वक्ति ज्ञानगिराऽस्मांस्त्वं बोधयेति प्रयत्नतः ॥१९
भवान् भूतेश्वरो देव सकलज्ञानपारगः ।
इयं तु काममूर्खा किं ब्रूते ब्रूहि जगत्पते ॥२०
कथमेषा त्वया देव जायार्थं जनिता सती ।
नेह जायापदं नीता नीता विरसतां कथम् ॥२१

हे मुनिश्रेष्ठ ! आप इस दूर से भी अधिक दूर स्थित स्थान में आये हैं, इससे परिश्रान्त हो रहे होंगे, आप इस आसन पर बैठिये ॥१५॥ उनके इस प्रकार कहने पर मैंने कहा—हे भगवन् ! आपको नमस्कार करता हूँ, और फिर उनके नेत्र संकेत से बताये हुए आसन पर बैठ गया

॥१६॥ फिर देव, ऋषि, गंधर्व, मुनि विद्याधर आदि के द्वारा प्रस्तुत स्तुतियाँ होने लगीं और पूजन, प्रणाम और परस्पर के यथा योग्य व्यवहार की नीति सम्पन्न हुई ॥१७॥ सब भूतगणों द्वारा प्रस्तुत प्रणामादि का यह समारोह मुहूर्त-मात्र में ही शान्त हो गया। इसके पश्चात् मैं उन ब्रह्माजी से बोला ॥१८॥ हे भूतभव्येश ! इस विद्याधरी ने मेरे पास आकर प्रयत्न पूर्वक कहा है कि 'हमें उपदेश दीजिये' तो क्या उसका कथन उचित है ? ॥१९॥ हे देव ! आप तो सब भूतों के ईश्वर और सम्पूर्ण ज्ञान में पारगत हैं, फिर भी हे जगत्पते ! यह काम से मूढ़ हुई रमणी क्या कहती है, यह बताइये ॥२०॥ हे देव ! आपने इसे अपनी पत्नी बनाने के उद्देश्य से क्यों उत्पन्न की ? यदि उत्पन्न भी की तो पत्नी बनाई क्यों नहीं ? और उसे वैराग्य की ओर क्यों प्रेरित करदो ॥२१॥

मुने शृणु यथावृत्तमिदं ते कथयाम्यहम् ।
यथावृत्तमशेषेण कथनीयं यतः सताम् ॥२२
अस्ति तावदजं शान्तमजरं किञ्चिदेव सत् ।
ततश्चित्कचनैकान्तरूपिणा कचितोऽस्म्यहम् ॥२३
आकाशरूप एवाहं स्थित आत्मनि सर्वदा ।
भविष्यति स्थिते सर्गे स्वयंभूरिति नाम मे ॥२४
वस्तुतस्तु न जातोऽस्मि न च पश्यामि किञ्चन ।
चिदाकाशश्चिदाकाशे तिष्ठाम्यहमनावृतः ॥२५
यदयं त्वं ममाहन्ते यदिदं कथनं मिथः ।
तत्तरङ्गास्तरङ्गाग्रे रणतीवेति मे मतिः ॥२६
एवं रूपस्य मे कालवशतोऽविशदाकृतेः ।
सा कुमार्याश्चिदाभासमात्रस्यान्तः स्वभावतः ॥२७
ममानन्या तत्रान्यस्य चान्येवेह विभाति या ।
सोदितानुदितेवान्तर्ममाहमिति वासना ॥२८

शिलोदर जगत् के वे ब्रह्माजी बोले—हे मुने ! मेरा जो वृत्तान्त है, उसे आप सुनो। मैं उसे यथावत् कहता हूं। क्योंकि सज्जन पुरुषों के

समक्ष सब बात यथार्थ रूप में कह दें ॥२२॥ अजन्मा, शान्त, अजर और किसी भी काल में बाधित न होने वाली जो वस्तु है, वह चिति कही गई है। इसी चिति के उज्वल रूप से मेरी उत्पत्ति हुई है ॥२३॥ मैं सदैव अपने चिदाकाश रूप में स्थित हूँ। जब सर्ग की स्थिति हो जाती है, तब मेरा नाम स्वयंभू होता है ॥२४॥ वस्तुतः मैं न तो उत्पन्न हुआ हूँ, न कुछ देखता ही हूँ। मैं अनावृत रूप से अपने चिदाकाश रूप से चिदाकाश में ही अवस्थित हूँ ॥२५॥ यह जो तुम मेरे सामने हो अथवा मैं तुम्हारे सामने हूँ आदि जो अपना संभाषण है, वह एक ही समुद्र में उठे हुए एक तरंग के आगे अन्य तरंग उठा हो और वही एक समुद्र अपनी ही तरंगों के परस्पर आघातों से निनाद करता हो, ऐसा मैं मानता हूँ ॥२६॥ इस प्रकार एक ही समुद्र से उत्पन्न तरगों को भिन्न दृष्टि से देखे जाने पर भेद रूपी और कालवश अपने यथार्थ रूप के भूल जाने से म्लानरूप मुझ चिदाभास में स्वभाव से 'मेरी' या मैं ऐसी वासना ही इस कुमारी को भिन्न भासती है, परन्तु वही मुझे अनन्य दिखाई देती है। वही वासना हमारी दृष्टि से उदित और अनुदित भी है ॥२७-२८॥

अनाशसत्तानुदितस्त्वहमात्माऽत्मनि स्थितः।
स्वभावादच्युताकारः स्वात्मारामः स्वयं प्रभुः ॥२९
तस्या अहमिति भ्रान्तेर्वासनाया जगत्स्थितेः।
सम्पन्नेयमधिष्ठातृदेवता देहरूपिणी ॥३०
वासनाया अधिष्ठातृदेवतैवमियं स्थिता।
न तु मे गृहिणी नापि गृहिण्यर्थेन सत्कृता ॥३१
स्ववासनावेशवशेन भाव्रं
गृहिण्यहं ब्रह्मण इत्युपेत्य।
एषा स्वयं व्यर्थमिताऽतिदुःखं
यस्मात्किलैषैव हि वासनाऽन्तः ॥३२

हे मुने! मैं अविनाशी सत्ता वाला होने से कभी उत्पन्न ही नहीं था। मैं अपने स्वरूप में आत्मरूप से ही अवस्थित हूँ। स्वभाव से ही मैं

तो अच्युताकार, स्वात्माराम और स्वयं प्रभु हूँ ॥२९॥ इस प्रकार मैं शुद्ध स्वरूप पहिले-पहिले के अहंकार-संस्कार जनित स्मृति के समान जो अहंरूपी भ्रान्ति, जगत् की स्थिति और वासना है, उसका अधिष्ठातृ देवता ही देहरूप से स्थित हूं ॥३०॥ वासना का अधिष्ठातृ देव ही यह स्थित है, न यह मेरी गृहणी है और न मैंने गृहिणीत्व के उद्देश्य से इसे उत्पन्न किया है ॥३१॥ अपनी वासना के आवेशवश 'मैं ब्रह्मा की भार्या हूं' यह इस प्रकार की भावना अपने मन की इच्छा से ही किये हुए है। परन्तु यह उस वासना को प्राप्त करके व्यर्थ ही घोर दुःख में पड़ गई है ॥३२॥

---

## ८३—जगत् के प्रलय का वर्णन

अथाहंचिन्मयाकाशस्त्वन्याकाशमयीं स्थितिम् ।
परां ग्रहीतुमिच्छामि तेनेहोपस्थितः क्षयः ॥१
महाप्रलयकालेऽस्मिंस्त्यक्तुमेषा मयाऽधुना ।
मुनीन्द्र नूनमारब्धा तेन वैरस्यमागता ॥२
आकाशत्वाद्यदाद्योऽयं पराकाशो भवाम्यहम् ।
तदा महाप्रलयता वासनाश्च संक्षयः ॥३
तेनैषा विरसीभूता मन्मार्गं परिधावति ।
नानुगच्छति को नाम निर्मातारमुदारधीः ॥४
इहाद्यायं कलेरन्तश्चतुर्युगविपर्ययः ।
प्रजामन्विन्द्रदेवानामद्यैवान्तोऽवमागतः ॥५
अद्यैव चायं कल्पान्तो महाकल्पान्त एव च ।
ममायं वासनान्तोऽद्य देहव्योमान्त एव च ॥६
तेनेयं वासना ब्रह्मन् क्षयं गन्तुं समुद्यता ।
क्वेव पद्माकराशोषे गन्धलेखावतिष्ठताम् ॥७

अन्य जगत् के ब्रह्माजी कहने लगे—हे मुने ! अब चित्ताकाश रूपी मैं सर्वोच्च चिन्मयाकाश रूपी कैवल्य की स्थिति के लिये यत्नशील हूं, इसीलिए मेरी वासना से निर्मित इस जगत् में चारों प्रकार के प्रलय उपस्थित होगए हैं ॥१॥ इस महाप्रलय की प्राप्ति पर अब इसका मूलोच्छेद पूर्वक पतन करने का यत्न मैंने अपनी सत्ता से आरम्भ कर दिया है, इसीलिए यह वैराग्यमयी होगई है ॥२॥ मैं जब चित्ताकाश रूपता का परित्याग कर चिदाकाश रूपता को प्राप्त होरहा हूं तब यह महाप्रलयता एवं वासना का विनाश ही सत्य है ॥३॥ इसीलिए यह वैराग्य से युक्त होकर मेरे मार्ग पर भाग रही है। उदारमति वाला ऐसा कौन-सा प्राणी है, जो अपने उत्पन्न करने वाले के पीछे न भागे ? ॥४॥ आज ही यहाँ कलियुग की समाप्ति एवं चारों युग का अन्त उपस्थित हो रहा है तथा मनु, इन्द्र, देवता आदि प्रजाओं का विनाशकाल आगया है ॥५॥ मेरे कल्प का विनाश भी आज ही है, महाकल्प, वासना और देहाकाश का भी आज ही विनाश होना है ॥६॥ हे ब्रह्मन् ! इसीलिए यह अपनी विद्याधरी रूप की वासना के विनाश की ओर जाने के लिए तत्पर है। कहीं सरोवर के सूखने पर गंधलेखा स्थित रह सकती है ? ॥७॥

यथा जडाब्धिलेखाया जायते लहरी चला।
वासनातास्तथैवेच्छा मयोदेत्यपकारणम् ॥८

आभिमानिकदेहाया वासनायाः स्वभावतः।
अस्या आत्मावलोकेच्छा स्वयमेवोपजायते ॥९

आत्मतत्त्वं नु पश्यन्त्या धारणाभ्यासयोगतः।
दृष्टोऽनया भवत्सर्गो वर्गव्यग्रनिरर्गलः ॥१०

अनयाऽम्बरसञ्चारपरयाऽद्रिशिरःशिला।
दृष्टा स्वजगदाधारभूताऽस्माकं तु खात्मिका ॥११

एतद्यस्मिन् जगद्यत्र तद्दृपत्वं जगद्गिरी।
अस्मज्जगत्पदार्थेषु सन्त्यन्यापि जगन्त्यपि ॥१२

वयं तानि न पश्यामो भेददृष्टौ स्थिता इमे।
बोधैकतां गतास्त्वाशु पश्यामस्तानि वीक्षणात् ॥१३
घटे पटे वटे कुडये खेऽनलेऽम्भसि तैजसि।
जगन्ति सन्ति सर्वत्र शिलायामित्र सर्वदा ॥१४

जैसे जड़ समुद्रलेखा ही चचल तरंगों का कारण है, वैसे ही वासना अपने विनाश की आत्मदर्शन वाली इच्छा का कारण है ॥८॥ अभिमान रूपी देह वाली इस वासना को स्वभाव से ही स्वयं आत्मावलोकन की इच्छा उत्पन्न होती है ॥९॥ आत्मतत्व को देखने के लिए किए गये धारणाभ्यास के योग का फल जो सिद्धि है, उसी की परीक्षा के उद्देश्य से वह आकाश में जाकर आपके उस अनर्गल प्रजा वाले सर्ग को देखने लगी ॥१०॥ आकाशचारिणी इस विद्याधरी ने अपने जगत् की आधारभूत पर्वत-शिखर स्थित शिला को भी उसी सिद्धि के बल से देखा, जो कि हमारी दृष्टि में तो आकाशरूप ही है ॥११॥ हमारे अनेक जगद्रूपी पदार्थों के भीतर—जहां इस जगत् में उक्त पाषाण-शिला का रूप है—इस प्रकार के अन्यान्य जगत् भी स्थित हैं ॥१२॥ परन्तु, हम अपनी भेद दृष्टि में स्थित होने के कारण उनको नहीं देख पाते ! यदि समाधि ज्ञान से एकरूप होकर देखें तो ही देखने में समर्थ हैं ॥१३॥ घट, पट, वट, कुडच, आकाश, पवन, जल और तेज आदि में सर्वत्र ही इस शिला के समान ही असंख्य जगत् अवस्थित हैं ॥१४॥

जगन्नाम मुधा भ्रान्तिः किल स्वप्नपुरोपमा।
मिथ्यैवेयं क्व नामासौ चिद्रूपाऽस्त्यथ नास्ति च ॥१५
परिज्ञाता सती येषामेषा चिन्नभसैकताम्।
गता तेन विमुह्यन्ति शिष्टास्तु भ्रमभाजनम् ॥१६
अथान्यधारणाभ्यासात्स्वविरागवशोदितम्।
साधयन्त्यऽर्थमात्मीयं दृष्टस्त्वमनया मुने ॥१७
इति मायेत्र दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते।
इत्थमाद्यन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया ॥१८

यद्वत्स्वप्ने चिदेव स्वं रूपं व्योमैव पत्तनम् ।
वेत्ति तद्वदिदं वेत्ति पाषाणं जगदङ्गकम् ॥२४

न सरन्तीह सरितो न चक्रं परिवर्तते ।
नार्थाः परिणमन्त्यन्तः कचत्येतच्चिदम्बरम् ॥२५

न महाकल्पकल्पान्तसंविदः संविदम्बरे ।
सम्भवन्ति पृथग्रूपाः पयसीव पयोन्तरम् ॥२६

जगन्ति सन्त्येव न सन्ति शान्ते
चिदम्बरे सर्वगतैकमूर्तौ ।
नभोन्तराणीव महानभोन्त-
श्चित् सन्ति सत्तानि पराम्बराणि ॥२७

वसिष्ठ तद्गच्छ मुने जगत्स्वं
त्वं चासने सम्प्रति शान्तिमेहि ।
वुद्ध्यादिरूपाणि परं व्रजन्तु
वयं वृहद् व्रह्मपदं प्रयामः ॥२८

विज्ञानघन आत्मा को चिति ही जगत् मानती है। वह स्वयं आदि और अन्त से रहित होकर भी चित्स्वभाव के परिज्ञान बिना देश-वस्तु से उत्पन्न परिच्छिन्न भाव वाली चिति ही होजाती है ॥२२॥ यह चिति रूपी शिला यथार्थ में तो आदि-अन्त-रहित होकर भ्रान्तिवश आदि अन्त वाली हो जाती है तथा निराकार होकर भी साकार जगत्-रूपी अवयव वाली बन जाती है ॥२३॥ जैसे स्वप्न में चिति अपने स्वच्छ रूप को नगर रूप समझती है, वैसे ही जाग्रति में भी चिति पत्थर को अपना जगत्-रूपी अंग मानती है ॥२४॥ यहाँ न नदियां प्रवाहित हैं, न चक्र घूमता है, न अर्थों का फल मिलता है, अपितु अपने में केवल चिदाकाश ही आभासित है ॥२५॥ जैसे जल में स्थित जलत्व में कोई भेद नहीं होता, वैसे ही संविदाकाश में आभासित महाकल्प और कल्प की संवित् में भी अन्तर नहीं होता है ॥२६॥ जैसे महाकाश में अन्यान्य घटादि

वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! यह कहकर वे भगवान् ब्रह्माजी उस ब्रह्मलोक के सब निवासियों के सहित पद्मासन बाँधकर अनन्त समाधि में स्थित होगए ॥१॥ ओंकार की आधी मात्रा में विद्यमान नाद, बिन्दु आदि भागों में चित्त को लीन करने से उनकी सब वासनाओं का क्षय हो गया और तब वे चित्र-लिखित मूर्ति के समान अचंचल होगये ॥२॥ उन ब्रह्माजी का अनुसरण करती हुई वह सती विद्याधरी भी ध्यान में तन्मय हो गई तब वह समस्त वासनाओं के निःशेष होने पर शान्त और आकाशरूपिणी होगई ॥३॥ जब संकल्प-शून्यता को प्राप्त हुए ब्रह्माजी उत्तरोत्तर सूक्ष्म-भाव को पाने लगे, तब मैं भी समाधि से सर्वव्यापी चिदाकाशरूप होकर ब्रह्माजी के समान ही सब देखने लगा ॥४॥ जैसे-जैसे ब्रह्माजी का संकल्प नीरसता को प्राप्त होता गया; वैसे-वैसे ही पर्वत, द्वीप और समुद्रादि से युक्त पृथिवी की उर्वरा शक्ति विनाशोन्मुख होने लगी ॥५-६॥ पृथिवी विराटात्मरूप की एक देशता धारण करती है, उसके संवेदन का उपसंहार होने पर वह जड़ और रसहीन होकर उस प्रकार जर्जरता को प्राप्त होगई, जिस प्रकार कि मार्गशीर्ष समाप्त होने पर लता रस से अविधुरता को प्राप्त होती है ॥७-८॥

यथाऽस्माकमसंवित्तेरङ्गाली विरसा भवेत् ।
तथा विरञ्चिसंवित्तेर्धरा वैधुर्यमागता ॥९॥

सम्पन्ना संहतानेकमहोत्पातभरावृता ।
दुष्कृताङ्गारनिर्दग्धनरकोन्मुखमानवा ॥१०॥

दुर्भिक्षाकाण्डदौस्थित्यदैन्यदारिद्र्यदुर्भगा ।
दुःशीलाशेषवनिता निर्मर्यादनरावृता ॥११॥

पांसुप्रमन्दनीहारधूलिधूसरसूर्यका ।
द्वन्द्विमूर्खमहादुःखिव्यसनिव्याधिताकुला ॥१२॥

अग्निदाहजलापूरयुद्धप्रोच्छिन्नमण्डला ।
अकृष्टचवग्रहोन्नष्टकष्टचेष्टितपामरा ॥१३॥

कम्पैः कटकटारावपतत्पादपपङ्क्तयः ।
भूमेरन्वभवन् भूरिदोलान्दोलनमद्रयः ॥२०

भूकम्पलोलकैलासमेरुमन्दरकन्दराः ।
पेतुः कल्पतरून्मुक्ता रक्तस्तबकवृष्टयः ॥२१

लोकान्तराद्रिपुरवारिधिकाननान्त-
मुत्पातकल्पपवनेन मिथो हतानाम् ।
कोलाहलैर्जगदभूत्प्रविकीर्णशीर्णं
पूर्णार्णवे त्रिपुरपूर इवाऽभिपाती ॥२२

सम्पूर्ण पृथिवी अधर्म रूपी शूल से आक्रान्त मनुष्यों से व्याप्त और सैकड़ों कुशास्त्रों से पीड़ित होगई। उस समय दुर्जन धनों से ऐश्वर्यशाली और सज्जन विपत्तियों से आक्रान्त होगए ॥१५॥ तब अनार्य पृथिवी-पालक राजा होगए, पंडितों को वे सताने लगे, सर्वत्र लोभ, मोह, भय, द्वेष, राग और रोग रूपी धूलि उड़ने लगी ॥१६॥ आकाशमंडल के आवर्तों की गोलाई के समान वर्तुलाकार उत्पन्न करने वाले जो धूमकेतु गिरते थे, वे सुवर्ण, रत्न, मुक्ता और सिन्दूरिया सर्पों के समान वर्ण वाले थे ॥१७॥ पहिले मैंने जिन ब्रह्माजी के विषय में कहा है, उन्होंने जब अपने विधारण संकल्प का उपसंहार किया, तब उपेक्षित असुरादि और पृथिवी आदि दोनों प्रकार के महाभूत क्षोभ को प्राप्त होगए ॥१८॥ चन्द्रमा, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि और यम—यह सब अत्यंत कोलाहल से व्याकुल होगए, उनके अधिकार प्रवाह के ब्रह्मलोक में लीन होने से, यह सब अपने-अपने आसन से गिरने लगे ॥१९॥ भूकम्प होने से वृक्षों की पंक्तियाँ कटकट शब्द करती हुई गिरने लगीं। पर्वतों को भी झूलों के समान हिलने की अनुभूति होने लगी ॥२०॥ भूकम्प से कैलास, मेरु और मन्दर की कन्दराएँ भी चलायमान होगई और कल्पवृक्ष से रक्तरूप पुष्पगुच्छ बरसने लगे ॥२१॥ लोकान्तर पर्वत, पुर, समुद्र, वन—यह सम्पूर्ण जगत् उत्पातमयी कल्पवायु के प्रवाह से परस्पर टकराते मनुष्यों

टूट-टूट कर पृथिवी पर गिरने लगे, जैसे वृक्ष से पुष्प गिर रहे हों ॥३-४॥ ब्रह्माजी के संकल्प रूपी ईंधन के प्रलयोन्मुख होने पर सिद्धों की गतियाँ वैसे ही शान्त हो गईं जैसे दीप्त ज्योतियाँ शान्त हो जाती हैं ॥५॥ अपनी शक्ति के नष्ट होने पर प्रलयवायु से छोटे तूल के समान नभमंडल में उड़ती हुईं निःशब्द सिद्ध-पंक्तियाँ आकाश से पतित होने लगीं ॥६॥ कल्पतरु-समूह, इन्द्रादि सहित उनकी नगरियाँ और भूकम्प से डगमग होते हुए मेरु शिखर आदि गिरने लगे ॥७॥

चिति संकल्पमात्रात्मा विराड् ब्रह्मा जगद्वपुः ।
किमंगं यस्य भूलोकः किं स्वर्गः किं रसातलम् ॥८
कथमेतानि चांगानि ब्रह्मंस्तस्य स्थितानि च ।
कथं वा सोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः ॥९
ब्रह्मा संकल्पमात्रात्मा निराकृतिरिदं स्थितम् ।
जगदित्येव जातो मे निश्चयः कथयेतरत् ॥१०
आदौ तावदिदं नासन्न सदास्ते निरामयम् ।
चिन्मात्रपरमाकाशमाशाकोशैकपूरकम् ॥११
तत्स्वामाकाशतां चेतच्चेत्यमित्यवबुध्यते ।
स्वरूपमत्यजन्नित्यं चित्त्वाद्भवति चेतनम् ॥१२
विद्धि तच्चेतनं जीवं सघनत्वान्मनः स्थितम् ।
एतावति स्थितिजाले न किञ्चित्साकृति स्थितम् ॥१३
शुद्धं व्योमैव चिद्व्योम स्थितमात्मनि पूर्ववत् ।
यदेतत्प्रतिभातं तु तदन्यन्न शिवात्ततः ॥१४

श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! ब्रह्माजी चिति के संकल्परूप मन और विराट् जगद्रूप हैं, इनके भूलोक आदि अवयव नहीं हो सकते । यदि निराकार के अङ्ग होते हैं तो भूलोक कौन-सा अङ्ग है ? स्वर्ग कौन-सा और पाताल कौन-सा है ? ॥८॥ यदि यह मानें कि ब्रह्माजी साकार हैं तो छोटे-से देह वाले उनके यह विशाल पृथिवी आदि कैसे अङ्ग बन कर

स्थित हो सकते हैं ? यदि उनको अत्यन्त निर वृत्त कहें तो वे अपने ही देह रूपी इस ब्रह्माण्ड के सत्यलोक में ही कैसे निवास कर सकते हैं ? ॥९॥ इसलिए मैं तो इन संकल्पमात्र ब्रह्माजी को निराकार और जगत् को साकार मानता हूं। यदि इसके विपरीत है तो मुझे बताइये ॥१०॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! आदि में तो असत् या सत् नाम की कोई वस्तु ही नहीं थी, केवल शब्दादि विकारों से रहित चिन्मात्र स्वरूप परम व्योम ही था, वही सब आशाओं और दिशाओं को परिपूर्ण करता था ॥११॥ वही परम आकाश अपने यथार्थ रूप को न छोड़ कर अपनी अवकाश रूपता की वैसे ही कल्पना करने लगा, जैसे चंद्रमा किसी अन्य चन्द्ररूप की करे। इससे ही उसने चेत्य को अपने से भिन्न समझा और चिद्रूप होने के कारण वह चेतन हो गया ॥१२॥ बोध्य, बोध और बोद्धा के मनन से घनीभूत हुआ मन के वेश में स्थित वह चेतन जीव ही समझो। अध्यास जनित जितना भी स्थितिजाल है, उसमें पृथक्-पृथक् होने वाली साकारता नहीं है, वह शुद्ध चिदाकाश पूर्ववत् अपने रूप में विद्यमान है। इसलिए यह दृश्यमान जगत् शिव रूप से भिन्न नहीं हो सकता ॥१३-१४॥

अथ तन्मन आभोगि भाविताहंकृति स्फुरत् ।
संकल्पात्मकमाकाशमास्ते स्तिमितमक्षयम् ॥१५

ततसंकल्पचिदाभासनभोऽहमिति भावितम् ।
असत्तमेवानुभवत्सन्निवेशं खमेव खे ॥१६

शून्यमेव यथाकारि संकल्पनगरं भवान् ।
पश्यत्येवमजो देहं खे खमेवानुभूतवान् ॥१७

संविदो निर्मलत्वात्स यावदित्थं तथाविधम् ।
अनुभूयानुभवनं स्वच्छयैवोपशाम्यति ॥१८

यदा तत्त्वपरिज्ञानमस्मदादेस्तद ततम् ।
इदं संवरणं विद्धि शून्यं सत्यमिव स्थितम् ॥१९

यथाभूतपरिज्ञानादत्र शाम्यति वासना ।
अद्वैतान्निरहंकारात्ततो मोक्षोऽवशिष्यते ॥२०
एवमेष स यो ब्रह्मा स एवेदं जगत् स्थितम् ।
विराजो ब्रह्मणो राम देहो यस्तदिदं जगत् ॥२१

फिर विशाल मन के अहंकार भाव से स्फुरित होने पर अहंरूप धारण कर लेता है, परन्तु वह संकल्पात्मक भी अचल और अक्षय चिदाकाश ही है ॥१५॥ संकल्पात्मक चिदाभास रूपी जो आकाश अहंभाव वाला होकर स्थूल शरीर के रूप का अनुभव करता है। यथार्थ में तो असत् होने के कारण इसके अवयव भी आकाश में आकाशरूप के ही समान हैं ॥१६॥ जैसे आप शून्यरूपी संकल्प नगर को साकार रूप में देखते हैं, वैसे ही ब्रह्माजी ने भी शून्यरूपो आकाश को देह रूप में देखा और अनुभव किया ॥१७॥ संवित् के स्वयं ही निर्मल होने से इस प्रकार के जगत् के अनुभव की जब तक इच्छा रखता है, तब तक ही वैसा अनुभव करता है और स्वेच्छा से ही उसका शमन कर डालता है ॥१८॥ शून्यरूप होने पर भी सत्य के समान विद्यमान यह दृश्य प्रपंच तत्वज्ञान होने पर उपसंहार को प्राप्त हो जाता है ॥१९॥ यथार्थ में तो सद्रूप ब्रह्म का परिज्ञान होते ही मिथ्या वासना का शमन हो जाता है तब अद्वैत भाव की प्राप्ति और अहंकार का विलय होने पर मोक्ष ही शेष रह जाता है ॥२०॥ इस प्रकार जो ब्रह्मा है, वही यह जगत्-स्थिति है। हे राम! विराट् ब्रह्मा का शरीर ही यह जगत् है ॥२१॥

संकल्पाकाशरूपस्य तस्य या भ्रान्तिरुत्थिता ।
तदिदं जगदाभाति तद्ब्रह्माण्डमुदाहृतम् ॥२२
सर्वमाकाशमेवेदं संकल्पकलनात्मकम् ।
वस्तुतस्त्वस्ति न जगत् त्वत्तामत्ते च न क्वचित् ॥२३
जगदादिक्रिया भासा चिन्मात्रं स्वदते स्वतः ।
अमनाऽऽत्मास्म्बरेऽद्वैते स्पन्दनेनेव मारुतः ॥२४

इदं किञ्चिन्न किञ्चिद्वा द्वैताद्वैतविवर्जितम् ।
चिदाकाशं जगद्विद्धि शून्यमच्छं निरामयम् ।।२५
शान्ताशेषविशेषोऽहं तेन राघव संस्थितः ।
सन्नेवासन्निवातस्त्वमेवमेवाऽऽस्व निर्ममः ।।२६
निर्वासनः शान्तमना मौनी विगतचापलः ।
सर्वं कुरु यथाप्राप्तं कुरु मा वाऽस्त्र किं ग्रहः ।।२७
अनादिनित्यानुभवो य एकः
स एव दृश्यं न तु दृश्यमन्यत् ।
सत्यानुभूतेऽननुभूतयो याः
सुविस्तृता दृश्यमहादृशस्ताः ।।२८

संकल्पाकाश रूपी भ्रान्ति ही यह जगत्-रूप हो गई है । वही जगत् की स्थिति ब्रह्माण्ड कही जाती है ।।२२।। संकल्प-कल्पित इस जगत् के संकल्पाकाश रूप होने से उसकी सत्ता कहीं भी नहीं है ।।२३।। चिन्मात्र ब्रह्म ही जगत् आदि रूप में स्वयं आभासित है, वायु में स्पन्दन की अभिन्नता के समान ही स्वयं से ही अद्वैत चिदाकाश में जगद्रूप से स्पन्दित होता है ।।२४।। यह द्वैत या अद्वैत से वर्जित नहीं है । उस स्वयं निर्मल और विकार शून्य चिदाकाश को ही आप जगत् समझिये ।।२५।। हे राघव ! मैं इसीलिये सब विशेषणों से रहित होकर अवस्थित हूँ । यथार्थ में तो मैं देहादि रूप होकर भी सत् ही हूँ । आप भी मेरे समान सद्रूप और व्यवहार में देहादि रूप में ममता-रहित होकर स्थित हो जाइये ।।२६।। सब वासनाओं का त्याग कर, शान्त मन, मौन रूप से चंचलता-रहित हो जाइये और जो कुछ यथावसर प्राप्त हो उसे करिये अथवा न करिये इसमें कोई आग्रह नहीं है ।।२७।। अनादि, नित्य अनुभव स्वरूप एवं एक साक्षिचेतन ही यह दृश्य है, इससे भिन्न कुछ भी नहीं है । अनुभूति रूप ब्रह्म में जो विभिन्न अज्ञान हैं, वे ही विभिन्न भ्रान्तियों को उत्पन्न करते हुए दृश्य-अनुभव स्वरूप हो जाते हैं ।।२८।।

---

## ८६—ब्रह्मा के अङ्गभूतलोकों का वर्णन

तस्मिन् कल्पे तु संकल्पे तस्य यद्वपुरास्थितम् ।
शृणु तत्र व्यवस्थेयं विचित्राचारहारिणी ॥१
परमं यच्चिदाकाशं तद्विराडात्मनो वपुः ।
आद्यन्तमध्यरहितं लघुत्वस्य वपुर्जगत् । २
संकल्परहितो ब्रह्मा स्वाण्डं संकल्पनात्मकम् ।
वपुषः परितो भास्वत्पश्यत्याकाशमेव तत् ॥३
ब्रह्मात्मैष स्वसंकल्पं स्वमण्डमकरोद्द्विधा ।
तैजसं तैजसाकारः पुष्टः पुष्टं विहंगवत् ॥४
अण्डस्यैकं नभोदूरं गतं संवुद्धवानसौ ।
भुवोऽथःसंस्थितं भागं व्यतिरिक्तं च नात्मना ॥५
ब्रह्माण्डभाग ऊर्ध्वस्थो विराजः शिर उच्यते ।
अधोभागोऽस्य पादाख्यो नितम्बो मध्यमात्रखम् ॥६
दूरं विमुक्तयोः सन्धिः खण्डयोरिति विस्तृता ।
अनन्ता व्योमलेखा सा श्यामा शून्येति दृश्यते ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! अब उस शिलोदर में देखे हुए उस विराट् के संकल्प में स्थित ब्रह्माण्डात्मक देह और आचार से चित्र को हरण कर लेने वाली उसकी जन्म, कर्म, अवयव आदि की व्यवस्था का श्रवण करिये ॥१॥ आदि, अन्त और मध्य से रहित चिदाकाश ही विराट आत्मा का प्रथम कल्पना-रहित देह है और उसका कल्पित यह जगत्-रूपी शरीर तो अत्यन्त ही छोटा है ॥२॥ वह ब्रह्मा अपने संकल्प युक्त ब्रह्माण्ड रूपी देह से बाहर संकल्प रहित साक्षी और चिद्व्योम होकर अपने संकल्पात्मक अंड का सब ओर अवलोकन करता है। यथार्थ में तो ब्रह्माण्ड भी उज्वल चिद्व्योम ही है ॥३॥ उस ब्रह्मात्मा ने अपने संकल्पमय अण्ड के दो भाग वैसे ही कर दिये जैसे कि पक्षी अपने पुष्ट अण्ड के दो भाग करता है ॥४॥ उसने अण्ड के एक भाग को उन्नत आकाश

समझा और नीचे के भाग को पृथिवी माना। परन्तु उसने इनकी कल्पना अपने से भिन्न नहीं की ॥५॥ ब्रह्माण्ड का उच्च भाग था, वह उस विराट् पुरुष का सिर और नीचे का भाग पैर कहलाया। इन दोनों का मध्यभाग अन्तरिक्ष ही उसका नितम्ब कहा गया ॥६॥ बहुत दूरी पर विभक्त उन खण्डों की मध्य सन्धि अनन्त शून्य श्यामवर्ण की व्योमरेखा दिखाई देती है ॥७॥

द्यौस्तालुविपुलं तस्य तारारुधिरबिन्दवः।
संविद्वातलवा देहे सुरासुरनरादयः ॥८

देहान्तःक्रमयस्तस्य भूतप्रेतपिशाचकाः।
लोकान्तराणि रन्ध्राणि सुषिराण्यस्य देहके ॥९

ब्रह्माण्डखण्डमस्याधो विस्तृतं पादयोस्तलम्।
जानुमण्डलरन्ध्राणि पातालकुहराण्यधः ॥१०
जलैश्चलचलायन्ती सुषिरानेकरन्ध्रिका।
भूरन्तर्मण्डली लोला समुद्रद्वीपवेष्टना ॥११
जलैर्गुडगुडायन्त्यो नद्यो नाड्यः सरिद्रसः।
जम्बूद्वीपं हृदम्भोजमस्य हेमाद्रिकर्णिकम्। १२

कुक्षयः ककुभः शून्या यकृत्प्लीहादयोऽचलाः।
मृद्व्यः स्निग्धाः पटाकारा मेदसो जालिका घनाः ॥१३

चन्द्रार्कौ लोचने तस्य ब्रह्मलोको मुखं स्मृतम्।
तेजः सोमोऽस्य कथितः श्लेष्मा प्रालेयपर्वतः ॥१४

अन्तरिक्ष उसका तालु और तारागण रुधिर की बूँदे हैं। सुर, असुर, मनुष्यादि जो हैं वे शरीर में बुद्धि और प्राण की वृत्तियों के भेद समझो ॥८॥ भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो हैं, वह देहगत कृमि हैं, सूर्य-चन्द्र आदि जो लोक हैं, वे उसके छेद हैं तथा लोकों के अन्तर उसके देह-रन्ध्र हैं ॥९॥ पृथिवी तल ही उसके पांव का विस्तृत तलुआ और पाताल आदि के गर्त हैं वे जानुमंडल के रन्ध्र हैं ॥१०॥ जलों से चचल अनेक

रन्ध्रों से युक्त सभी समुद्र और द्वीप जिसके वेष्टन हैं, ऐसी पृथिवी उसकी मध्यस्थ मंडली है।।११।। जलों के गुड़गुड़ शब्द से युक्त नदियाँ उसकी नाड़ी और जल उसके देह का रस है। हेमाद्रिकर्णिका सहित जो जम्बूद्वीप है, वही उसका हृदय पद्म है ।।१२।। शून्य दिशाएँ उसकी कुक्षि, पर्वत उसके यकृत–प्लीहा आदि और मेघ उसके मृदु एवं चिकने पटाकार मेद-जाल हैं।।१३।। सूर्य-चन्द्र उसके नेत्र, ब्रह्मलोक मुख, सोम वीर्य और हिमालय उसका श्लेष्म बताया गया है ।।१४।।

अग्निलोकस्तथौर्वाग्निः पित्तमस्यातिदुःसहम् ।
वातस्कन्धमहावाताः प्राणापाना हृदि स्थिताः ।।१५

कल्पद्रुमवनान्यस्य सर्पवृन्दानि च क्वचित् ।
लोमजालान्यनन्तानि वनान्युपवनानि च ।।१६

ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डं तु समस्तमुरुमस्तकम् ।
ब्रह्माण्डप्रान्तरन्ध्रार्चिरस्य दीप्ता शिखोत्थिता ।।१७
स्वयमेष मनस्तेन मनो नास्योपयुज्यते ।
आत्मैव भोक्तृतामेति किल कस्य कथं कुतः ।।१८
स्वयमेवेन्द्रियाण्येष तेनान्यत्राऽस्तिता कृता ।
यतस्तत्कल्पनामात्रमेवेन्द्रियगणः किल ।।१९

अवयवावयविनोरिवेहेन्द्रियचित्तयोः ।
न मनागपि भेदोऽस्ति चैक्यमेकशरीरयोः ।।२०

तस्य तान्येव कार्याणि जगतां यानि कानिचित् ।
संकल्पा एव पुंवृत्या चलन्त्यारुपितद्विताः ।।२१

अग्निलोक और पृथिवी के भीतर की अग्नि उसका अत्यन्त दुःसह पित्त है। वात स्कंधों में प्रसिद्ध जो महावात हैं, वे इसके हृदय में स्थित प्राणापान हैं ।।१५।। कल्पद्रुम के वन सर्पवृन्द और वन-उपवन उसकी अनन्त रोमावली है ।।१६।। ब्रह्माण्ड खण्ड का उन्नत भाग इसका मस्तक है। ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्वप्रान्त के रन्ध्र दीप्त ज्योति ही उसकी खड़ी हुई

शिखा है ॥१७॥ यह मन के स्वयं विधाता मन रूप हैं, इसलिए किसी भी कल्पना में किसी अन्य मन का उपयोग नहीं करना होता। ऐसा होने पर आत्मा ही भोक्तृता को प्राप्त होता है तब किसका कहाँ से हो सकता है? ॥१८॥ वह स्वय इन्द्रिय रूप होने के कारण अन्य किसी इन्द्रिय का भी उपयोग नहीं करना होता। इस प्रकार ये सब इन्द्रियाँ यथार्थ में तो कल्पना स्वरूप ही हैं ॥१९॥ अवयव और अवयवी के समान एक देहधारी इन्द्रिय और चित्त में किंचित् भेद नहीं, अपितु ऐक्य ही है ॥२०॥ संसार के जितने भी कार्य हैं, वे सब उसी के हैं, क्योंकि उसके संकल्प ही सब प्राणियों के रूप से अपने में भेद का आरोप करके जगत् के सभी व्यवहारों में व्यवहृत हैं ॥२१॥

जागते तस्य विज्ञेये नान्येऽस्य मृतिजन्मनी।
स एवेदं जगत्यस्मत्संकल्पात्मास्य नेतरत् ॥२२
तत्सत्तया जगत्सत्ता तन्मृत्यैव जगत्मृतम्।
यादृशी स्पन्दमरुतोः सत्तैका तादृशी तयोः ॥२३
जगद्विराजोः सत्तैका पवनस्पन्दयोरिव।
जगद्यत्तु विराडेव यो विराट् तज्जगत्स्मृतम् ॥२४
जगद्ब्रह्मा विराट् चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः।
संकल्पमात्रमेवैते शुद्धचिद्व्योमरूपिणः ॥२५
संकल्पात्स विराडेव खमेवाकृतिमागतम्।
अस्तु नाम स्वदेहान्तः कथं ब्रह्मैव तिष्ठति ॥२६
यथा ध्यानेन देहान्तस्तिष्ठसि त्वं यथा स्थितम्।
तथास्ते निजदेहेऽन्तः संकल्पात्मा पितामहः ॥२७
नृणां तथा च मुख्यानां जीवो ब्रह्मपुरोदरे।
उत्पत्तिपुत्रिकादेहः प्रतिबिम्बोपमोऽस्ति सः ॥२८

सम्पूर्ण जगत् के जन्म-मरण को ब्रह्म का ही जन्म-मरण समझो। परन्तु हमारे जैसे विशिष्ट व्यक्तियों के जन्म-मरण को वैसा मत समझो, क्योंकि जगत् में वही समष्टि रूप है और हमारा संकल्प है, उसका रूप भी

वही है। उस ब्रह्म का समष्टि और व्यष्टि से भिन्न कोई अन्य रूप नहीं है ॥२२॥ उसी की सत्ता से जगत् की सत्ता और उसके अभाव से जगत् का अभाव है। वायु और स्पन्दन की अभिन्निता के समान ही ब्रह्म और जगत् की सत्ता भी अभिन्न है ॥२३॥ जैसे पवन और स्पन्दन की सत्ता एक ही है, वैसे ही विराट पुरुष और जगत् की सत्ता एक है ही। विराट् ही जगत् है और जगत् ही विराट् कहा जाता है ॥२४॥ जगत्, ब्रह्मा और विराट् तीनों का एक ही अर्थ है। विराट् और जगत् शुद्ध चिदाकाश रूपी ब्रह्म के संकल्पमात्र ही हैं ॥२५॥ श्रीराम बोले—हे ब्रह्मन्! मैं यह तो मानता हूँ कि वह विराट् पुरुष ही अपने संकल्प से साकार हो गया, परन्तु वह ब्रह्म अपने देह में किस प्रकार स्थित रहते हैं यह बतइये ॥२६॥ वसिष्ठजी ने कहा—हे राम! जैसे ध्यान के द्वारा हृदय में कल्पित देवता की पूजा करते हुए अपने को उस देवता की समीपता में आप अनुभव करते हैं, वैसे ही संकल्प रूप ब्रह्मा भी अपने देह में अवस्थित रहते हैं ॥२७॥ ज्ञानी पुरुषों का जीव अपने देह के हृत्पुण्डरीक में स्थित रहता है। सब की देह उत्पन्न हुई पुतली के समान है, इसीलिए वे ब्रह्माजी भी दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान ही हैं ॥२८॥

यत्र त्वमपि देहान्तः कर्तुं शक्तोऽस्यलं स्थितम्।
संकल्पात्मा विभुस्तत्र ब्रह्मा किं न करिष्यति ॥२९
बीजान्तः स्थावरं ह्यास्ते पदार्थं यत्र जङ्गमः।
किं नास्ते तत्र देहेन्तर्निजचित्कल्पनात्मिका ॥३०
साकारो गगनात्माऽस्तु निराकारं खमस्तु वा।
आस्ते बहिरथान्तश्च भिन्ने बाह्यान्तरे बहिः ॥३१
आत्मारामः काष्ठमौनी न जडोऽपि दृषज्जडः।
अहं त्वमित्यादिमयो विराडात्मनि तिष्ठति ॥३२
आवेष्टितोज्झितलतातृणदारुपुंव-
दुच्चल्दमम्बुरयवच्च विरोपिताङ्गः।
नानाविधेऽपि विहरन्नपि कार्यजाले
तज्ज्ञः शिलाजठरशान्तमनस्क एव ॥३३

जब अपने देह में आप भले प्रकार स्थित रह सकते हैं, तब वह संकल्पात्मा विभु ब्रह्माजी ऐसा क्यों नहीं कर सकते ? ॥२६॥ जब बीज में स्थावर प्राणी भले प्रकार स्थित रह सकते हैं, तब जंगम ब्रह्माजी चिति की कल्पनारूप होकर भी अपने देह में स्थित क्यों नहीं रह सकते ? ॥३०॥ इस प्रकार ब्रह्माजी चाहे साकार होकर भी चिदाकाश रूप रहे आवें या निराकार चिदाकाश रूप से रहें, इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। बाह्याभ्यंतर की दोनों कल्पनाएँ स्वरूप से बाहर स्थित हैं ॥३१॥ ब्रह्माण्डरूप से उसी विराट् पुरुष की बाह्य स्थिति है और व्यष्टि-समष्टि भूत भौतिक है। किन्तु निज स्वरूप में अवस्थित होकर काष्ठ के समान मौन और पाषाण के समान जड़ होकर भी यथार्थ में चिदेक रस होने से जड रूप से स्थित नहीं रहता ॥३२॥ विराट् पुरुष ही नहीं, सब तत्त्वज्ञ पुरुष, लता, तृण अथवा काष्ठ प्रतिमा के समान रत्नादि के बंधन से मुक्त होने पर क्षुब्ध नहीं होते तथा जल के प्रवाह के समान अवरुद्ध होकर भी अपनी शान्त स्थिति का त्याग नहीं करते और विभिन्न कार्यों में विहरते हुए भी शिलोदर के समान ही शान्त चित्त रहते हैं ॥३३॥

---

## ८७—द्वादश सूर्यों की उत्पत्ति

अथाग्रस्थब्रह्मलोको ब्रह्मणि ध्यानशालिनि ।
निक्षिप्ताक्षः शनैर्दिक्षु दृष्टवानहमग्रतः ॥१
द्वितीयमकर्कं मध्याह्ने पश्चादभ्युदितं स्फुटम् ।
दिग्दाहमिव दिग्वक्त्रे वनदाहमिवाचले ॥२
वह्निलोकमिव व्योम्नि वडवाग्निमिवार्णवे ।
ततोऽपश्यमहं दीप्तं सूर्यं नैर्ऋतदिङ्मुखे ॥३
सूर्यं याम्ये ककुब्भागे सूर्यमग्निककुब्मुखे ।
सूर्यमैन्द्रककुब्भागे सूर्यमीशानदिङ्मुखे ॥४

कुवेरकुकुभि सूर्यं सूर्यं वायव्यदिक्तटे।
सूर्यं वरुणदिग्भागे तेन विस्मयवानहम् ॥५
यावद्विचारयाम्याशु विधिवैधुर्यमाकुलम्।
उदभूद्भूतलात्तावदर्कं और्व इवार्णवात् ॥६
एकादशेऽखिलार्काणां प्रतिविम्वमिवोत्थितम्।
उदभूत्रयमर्कानामन्तरे दिग्गणाम्वरे ॥७

वसिष्ठजी वोले—हे राम ! ब्रह्माजी ध्यान में लीन हो गए और इन्द्र, उनके नगर और मेरु-शिखिर आदि को देखता हुआ मैं, दिशाओं की ओर दृष्टिपात करने लगा, तब मेरे समक्ष पश्चिम की ओर स्पष्ट रूप में उदित, दिशाओं के मुख में दाह के समान और पर्वत पर होते हुए वनदाह के सदृश मध्यकाल के सूर्य से भिन्न एक अन्य सूर्य दिखाई दिया ॥१-२॥ फिर आकाश में अग्नि लोक के समान और समुद्र में वड़वानल के समान प्रकाशित एक अन्य सूर्य मुझे नैऋत्य दिशा में उगे हुए दिखाई दिये ॥३॥ फिर मैंने दक्षिण, आग्नेय, पूर्व और ईशानकोण में उदित हुए इस प्रकार के पृथक्-पृथक् सूर्य देखे ॥४॥ तदनन्तर उत्तर में वायव्य में और फिर पश्चिम दिशा में भी भिन्न-भिन्न सूर्यों को देखता हुआ मैं विस्मय में पड़ गया ॥५॥ यह देखता हुआ मैं व्याकुलता पूर्वक दैव की इस विविधता पर विचार कर ही रहा था, तभी मुझे भूतल से उदित हुए सूर्य ऐसे दिखाई दिये, जैसे समुद्र से वड़वानल ॥६॥ दिशाओं के मध्याकाश में जो ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ, उसमें, दर्पण में प्रकट हुए प्रतिविम्व के समान तीन अन्य सूर्य उदित होगए ॥७॥

तद्धि रौद्रं वपुस्तत्र तन्मध्ये लोचनत्रयम्।
तद्द्वादशशरीराणां दीप्तं वृन्दं विवस्वताम् ॥८
सर्वदिक्कं ददाहोच्चैः शुष्कं वनमिवाऽनलः।
अथोदभूज्जगत्खण्डशोषण ग्रीष्मवासरः ॥९
अनग्निरग्निदाहो द्रागदृश्योल्मुकगुल्मकः।
अनग्निनाऽग्निदाहेन तेन तामरसेक्षण ॥१०

अङ्गानि दावदग्धानि खिन्नानीव ममाभवन् ।
प्रदेशं तमथ त्यक्त्वा दूरमारूढवानहम् ॥११
दृढहस्ततलाघातहतकन्दुकवन्नभः ।
अपश्यं गगनस्थोऽहमुदितं चण्डतेजसम् ॥१२
तपन्तं द्वादशादित्यगणं दिक्षु दशस्वपि ।
बृहत्तात्र सतारावज्वालेव भगणं चलम् ॥१३
महाकुहकुहाशब्दं क्वथत्सप्ताब्धिडम्बरम् ।
सज्वालोल्मुल्कनीरन्ध्रलोकान्तरपुरान्तरम् ॥१४

हे राम ! उस ग्यारहवें सूर्य में उदित वे तीनों सूर्य भगवान् रुद्र के देह ही हैं क्योंकि रुद्र के शरीर के मध्य तीन लोचन हैं। द्वादश सूर्यो के परिमाण वाला प्रदीप्त सूर्य-समूह रौद्रदेह होकर सभी दिशाओं को शुष्क वन को दावाग्नि द्वारा जलाने के समान ही दग्ध करने लगा। इसके पश्चात् जगत् के भूखण्ड को सुखाने वाला ग्रीष्म ऋतु का दिवस उत्पन्न होगया ॥८-९॥ फिर तुरन्त अग्नि के विना ही अग्नि का दाह और न दिखाई देने वाले उल्मुकों के गुल्मक प्रकट हुए। उस अनग्नि के अग्निदाह से मेरे सभी अवयव दावानल दाह के समान जलते हुए खिन्नता को प्राप्त हुए, तब मैं उस प्रदेश का परित्याग करके आकाश में बहुत दूर अवस्थित हो गया ॥१०-११॥ फिर हस्ततल के आघात से उछलते हुए गेंद के समान आकाश में पहुँचकर स्थित हुए मैंने उस प्रचण्ड तेज से तपते हुए द्वादश सूर्य-समूह को दसों दिशाओं में देखा। फिर उस तारामंडल युक्त आकाश को व्याप्त करने वाली अग्नि के समान चपल एवं वर्तुलाकार वृहद् नक्षत्र चक्र मुझे दिखाई दिया ॥१२-१३॥ कुलकुला शब्द करते हुए सात समुद्रों को तप्त कर क्वाथ जैसा बनाते हुए और ज्वालोल्मुक से सब लोकों और नगरों को भरने वाले उस द्वादश सूर्य-समूह को मैंने देखा ॥१४॥

क्षणेनैवानलात्तस्माद्धिमवान् जतुवद्द्रुतः ।
सर्वान्तःशीतलः शुद्धो दुर्जनादिव सज्जनः ॥१५

तस्यामपि दशायां तु मलयोऽमलसौरभः ।
आसीत्त्यजत्युदारात्मा न नाशेऽप्युत्तमं गुणम् ॥१६
नश्यन्नपि महान् ह्लादं न सम्प्रयच्छति ।
चन्दनं दग्धमप्यासीदानन्दायैव जीवताम् ॥१७
न कदाचन संयाति वस्तूत्तममवस्तुताम् ।
प्रलयानलनिर्दग्धमपि हेम न नष्टवत् ॥१८
द्वे हेमनभसी तस्मिन्न नष्टे प्रलयानले ।
तयोरेव वपुः श्लाघ्यं सर्वनाशेऽप्यनाशयोः ॥१९
नभो विभुतयाऽनाशि हेमाऽऽकृष्टतयाऽक्षयम् ।
सत्वमेकं सुखं मन्ये न रजो न च वा तमः ॥२०
चलदुच्चवनानीव विकीर्णाङ्गारवर्षणः ।
दग्धाब्दाद्रिर्महाधूमज्वालोऽभूद्वह्निवारिदः ॥२१

सर्वान्तर में शीतल और शुद्ध हिमालय उस प्रलयाग्नि से एक क्षण में ऐसे पिघल गया, जैसे दुर्जन के सामने सज्जन पिघल जाते हैं ॥१५॥ परन्तु उस प्रलय की अवस्था में भी मलयाचल अपनी अमल सुगन्ध से युक्त होकर ही अवस्थित रहा, जैसे कि विनाश-काल की प्राप्ति पर भी उदारात्मा पुरुष अपने श्रेष्ठ गुण का परित्याग नहीं करते ॥१६॥ महापुरुष तो नाश को प्राप्त होते हुए भी आनन्द देने वाले होते हैं, किसी को खिन्न नहीं करते, इसी प्रकार स्वयं जलता हुआ चन्दन जीवित प्राणियों को सुख देता हुआ यथागुण रहता है ॥१७॥ श्रेष्ठ वस्तु अपने वस्तुत्व (गुण) को कभी नहीं छोड़ती । प्रलयानल में दग्ध होता हुआ भी स्वर्ण कभी नाश को प्राप्त नहीं होता ॥१८॥ हे राम ! उस प्रलयाग्नि में स्वर्ण और आकाश इन दो का ही नाश नहीं हो सका । सर्वनाश होने पर भी वे यथावत् रहे आये, इसलिए उनके देह प्रशंसनीय ही हैं ॥१९॥ आकाश विभु होने के कारण नाशवान् नहीं है और स्वर्ण आकर्षक होने के कारण ( शोधित होने पर और भी उज्वल हो जाने के कारण ) कभी क्षीण न होने वाला ही है । अतः रज-तम रहित शुद्ध सत्व को ही ब्रह्मसुख को

अभिव्यक्ति के कारण मैं सभी गुणों का सार मानता हूँ ॥२०॥ मेघवर्णी पर्वतों को दग्ध करने वाला महाधूम्र युक्त ज्वाला के सहित प्रलयानल रूपी बादल इधर-उधर चलते हुए उच्च वनों के समान आकाश में स्फुरण को प्राप्त होकर विकीर्ण अंगारों की वर्षा करने लगा ॥२१॥

न लङ्घयति कैलासं यावदुल्लसितोऽनलः ।
तावत्तं कल्पकुपितो रुद्रो नेत्राग्निनाऽदहत् ॥२२
दाहस्फुटद्द्रुमस्थूलशिलाचटचटारवाः ।
लकुटोपललोष्टीघैरयुध्यन्तेव भूभृतः ॥२३
ज्वालाघनघटाटोपसावर्तसचलान्तिमाः ।
बभूवुर्व्योमविकसत्स्थलपद्मवना इव ॥
सर्गः कदाचिदेवासीदित्यगात्स्मरणीयताम् ।
कल्पान्तः स्मारयन्नूर्ध्वानगादस्मरणीयताम् ॥२४
अथ कल्पान्तमरुति वहत्यवधुताचले ।
बलेनाम्भोधिकल्लोलैर्नभस्यावर्तकारिणि ।
समुद्रेषु विमुद्रेषु मर्यादोल्लंघने घने ।
भुवनेषु वनिध्वम्बुदारिद्र्योपद्रवद्रुते ॥२५
भूतले भूतलेशांशवर्जिते वह्निभर्जिते ।
पातालमपि पाताले गते किमपि कालतः ॥२६
दिवि वा विद्यमानायां विशीर्णे सर्गवर्गके ।
लोके व्योमगतालोके शोकोकसि ककुब्गणे ॥२७
कुतोऽप्याकाशकुहराद्दृप्तदैत्यगणा इव ।
पुष्करावर्तका मेघाश्चक्रुर्गुलुगुलारवम् ॥२८

हे राम ! जब तक उल्लास को प्राप्त हुआ वह प्रलयानल कैलास को नहीं लांघ सका, तभी कल्पान्त में कुपित हुए भगवान् ने अपने नेत्रानल सेही उस कैलास को भस्म कर दिया ॥२२॥ उस अग्नि-दाह से चटकते हुए वृक्षों और शिलाओं के चटचट होने वाले शब्द से दह्यमान कैलास से नीचे के सब पर्वत लक्कड़ों और पत्थरों के समूहों

के रूप में होते हुए ऐसे लगने लगे जैसे परस्पर युद्ध कर रहे हों ॥२३॥ यह सब पर्वत ज्वालाओं के घन घटाटोपों से अवतंशमय एवं चलायमान शिखरों वाले होकर आकाश में विकसित होते हुए पद्मवनों के समान होगये । 'कभी सृष्टि रही होगी' इसका स्मरण-मात्र ही शेष रह गया । मूर्ख व्यक्तियों को जगत् के असार होने का स्मरण कराने वाला कल्पान्त प्रत्यक्ष उपस्थित होगया । फिर पर्वतों को कँपाने वाला और समुद्र की तरंगों से आकाश में आवर्त उत्पन्न करने वाला कल्पान्त वायु प्रवाहित था, समुद्रों और मेघों ने मर्यादा छोड़ दी थी, जल भी दरिद्र के दुःख के समान पीडित होकर भाग गये थे, धनिक निर्धन होगये थे, पृथिवी अपने अंश से हीन और अग्नि से दग्ध होगई, पाताल पाताल में समा गया, अन्तरिक्ष अपने रूप में मिल गया और सभी दिशाएं शोक-सन्तप्त होगईं, ऐसी अवस्था में किसी आकाशगर्त से, कुपित दैत्यों के समान पुष्करावर्तक मेघ गुलगुल जैसी ध्वनि करने लगे ॥२४-२८॥

ब्रह्मविस्फोटितस्वाण्डकुड्यविस्फोटनोद्भटत् ।
अन्योन्यास्फालनोत्फालमत्तार्णवरवाविलम् ॥२९
लोकार्णवपुरोद्गीर्णघनकोलाहलोल्वणम् ।
एतत्कुलाचलस्कन्धबद्धोग्ररवघर्घरम ॥३०
ब्रह्माण्डशङ्खजठरपूरणावर्तमन्थरम् ।
स्वर्लोकरोदःपातालतलतोऽतिसगुल्मकम् ॥३१
अथास्मिन्सति कल्पाग्नौ स्थितिमेति कथं घनः ।
इति विस्मितवानस्मि दृशं दिग्नवकेऽत्यजम् ॥३२
यावन्न क्वचिदेवात्र पश्याम्याशासु केवलम् ।
तरन्ति तरलास्फालमुल्मुकाशनिवृष्टयः ॥३३
तेन ज्वलनतापेन बहुयोजनकोटिषु ।
पदार्था भस्मतां यान्ति दूरे दिक्षु दशस्वपि ॥३४
अनन्तरं क्षणाद्व्योम्नि दूरेऽहमनुभूतवान् ।
ऊर्ध्वतः शीतलं वातमधस्तादनलोपमम् ॥३५

वैसी वह ध्वनि अत्यन्त भयंकर थी। जब ब्रह्माजी ने अपने अण्ड का भेदन किया, तब ब्रह्माण्ड-विस्फोट से निकली हुई उच्च ध्वनि के समान ही वह ध्वनि थी। परस्पर के आस्फालनों सहित तरंगित मत्त समुद्र की ध्वनि के समान ही वह भीषण थी ॥२९॥ लोक, सागर और पुरों से टकराकर घने कोलाहल रूप हुई वह ध्वनि असह्य थी और कुलाचल पर्वतों के शृंगों पर दाह की कर्कश ध्वनियों से मिलकर वह और भी वीभत्स होगई थी ॥३०॥ उस शब्द से समस्त ब्रह्माण्ड रूपी शंख का उदर परिपूर्ण हो गया और ब्रह्माण्डभित्तियों के प्रतिरोध से उत्पन्न अनेक आवर्तनों के कारण वह अत्यन्त निबिड़ होगया। इसलिए उसकी शाखें स्वर्ग, अन्तरिक्ष, पृथिवी और पाताल पर्यन्त फैल गईं॥३१॥ उपरोक्त ध्वनि को सुनकर मैं विस्मित होता हुआ सोचने लगा कि इस कल्पान्त में मेघ की स्थिति कैसे संभव है? यह सोचता हुआ मैं नीचे की दिशा छोड़कर अन्य नौओं दिशाओं की ओर देखने लगा ॥३२॥ उन दिशाओं में मुझे मेघ तो दिखाई नहीं दिये, किन्तु तरल आस्फालित उल्मुक रूपी वज्रों की वर्षा होती हुई दिखाई दी ॥३३॥ उसके उत्ताप दसों दिशाओं में करोड़ों योजन दूर पर्यन्त के सम्पूर्ण पदार्थ भस्म होते हुए मैंने देखे ॥३४॥ फिर क्षणभर में ही मुझे उस अत्यन्त दूर आकाश में ऊपर से ठंडी वायु का और नीचे से अग्नि के समान उष्ण वायु का अनुभव हुआ ॥३५॥

एतावति नभोमार्गे दूरे कल्पाम्बुदाः स्थिताः।
यस्तेषामग्नितापानां विषयो न च सद्दृशाम् ॥३६
अथ वारुणदिग्भागादाययौ कल्पमारुतः।
यस्मिंस्तृणवदुह्यन्ते विन्ध्यमेरुहिमालयाः ॥३७
सन्ध्याभ्रसदृशाकारास्तेरुरङ्गारवारिदाः।
भ्रेमुर्भस्मभराभ्राणि पूताङ्गारजांसि खे ॥३८
सज्वालविलसद्वातो दुष्टोऽनलदृशं व्रजन्।
हेमाद्रीणां सपक्षाणामनीकं द्रवतामिव ॥२९

अर्णवेष्वनलार्णस्सु क्वथनोत्फालवारिषु ।
वनेष्वसमृतपर्णेषु दीप्ताग्नितरुधारिषु ॥४०
ब्रह्मलोकस्थनाथेषु ब्रह्मलोकपुरेषु च ।
साङ्गनाबालवृद्धेषु दग्धेषु निपतत्सु खम् ॥४१
उष्ट्रसैन्यमिवाऽऽलक्ष्य गतिमन्निकटं नभः ।
आययावञ्जनश्यामः कल्पाम्बुदगणः क्वणन् । ४२

वे मेघ आकाश में इतने दूर पर स्थित थे कि उन तक न तो नीचे का अग्नि ताप ही पहुंच सकता था और न वह जीवित प्राणियों द्वारा दिखाई ही दे सकता था ॥३६॥ फिर पश्चिम दिशा से कल्पवायु प्रवाहित होने लगी, जिसमें विन्ध्य, सुमुरु और हिमालय आदि विशाल पर्वत भी तिनके के समान उड़े जारहे थे ॥३७॥ आकाश में सन्ध्याकालीन अभ्रों के समान आकार वाले अंगार रूपी मेघों की वर्षा कर रहे थे और उसमें जलचर मेघों और पवन से संशोधित हुए अंगारों की धूलि उड़ रही थी ॥३८॥ वह ज्वाल-विलास युक्त कुपित हुआ वायु अग्नि दिशा की ओर ऐसे ही जारहा था, जैसे हेमाद्रि आदि पर्वतों का समूह सपक्ष उड़ा जारहा हो ॥३९॥ समुद्र अग्नि के समान काढ़े के समान खौलते और उछलते हुए जल से परिपूर्ण होरहे थे और वन पत्रों से रहित और प्रज्वलित अग्नि रूपी वृक्षों के आश्रय बने हुए थे ॥४०॥ जब स्त्री, बाल और वृद्धों के साथ ब्रह्मलोक के अधिपति और ब्रह्मलोक के नगर दहन को प्राप्त हो-होकर आकाश में गिरने लगे ॥४१॥ तब ऊँटों की सेना के समान अलक्षित संचरणशील व्योम को देखते हुए काजल के समान काले घनघोर कल्पान्त के मेघ गर्जना करते हुए समीप आगये ॥४२॥

स्थिरकल्पानज्वालातुल्यविद्युन्मयाचलः ।
एककोणकविश्रान्तसप्तार्णवपयोभरः ॥४३
अथ ब्रह्माण्डविस्फोटकठिनं घटिताम्बरम् ।
प्राग्द्रुतोद्भटतोपारकाष्ठा वृष्टिः पपात ह ॥४४

से नष्ट हुए उग्र शस्त्रों से समन्वित युद्ध के समान अति भीषण प्रतीत होता था ।।४८।।

---

## ८८—ब्रह्माण्डकोटर का विनाश

अथावनिपयस्तेजः पवनानां युगक्षये ।
जाते परमसङ्क्षोभे बभूवास्मिन् जगत्रयम् ।।१
तापिच्छविपिनोड्डीतिनिभभस्माभ्रभासुरम् ।
महार्णवमहावर्तवृत्तिधूमविवर्त्तनम् ।।२
नीलज्वालालवोल्लासं हेलाटिमिटिमारटि ।
कृतभस्माभ्रसम्भारपूर्णलोकान्तरान्तरम् ।।३
उच्छलद्दीधरुत्कारैश्छमच्छममयारमकैः ।
तूर्यनुन्नमदासारविसारिजयघोषणम् ।।४
भ्रमद्भस्माभ्रधूम्राभ्रं बृहत्कल्पाभ्रसंभ्रमम् ।
बाष्पाभ्रविभ्रमोद्भ्रान्तसीकरोग्राभ्रवृन्दवत् ।।५
ब्रह्माण्डभित्तिभांकारभीषणैर्मातरिश्वनः ।
प्रसरैरम्बरोड्डीनदग्धेन्द्रादिपुरोत्करम् ।।६
जलानलानिलोल्लासस्फुटत्कोटिगताश्मनाम् ।
प्रविघट्टनटङ्कारैर्जडीभूताक्षकश्रुति ।।७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! पृथिवी, जल, तेज और वायु का विक्षोभ होने पर त्रिजगत् की जो उत्पत्ति हुई अब उसका वर्णन करता हूं, आप श्रवण कीजिये ।।१।। उस समय तीनों जगत् उड़ते हुए तमालवन के समान उड़ते हुए भस्मरूपी अभ्र से भासुर होते हुए महार्णवों के भ्रमण शील महान् आवर्तों के समान विचरणशील धूमों से ढक गये ।।२।। उनमें जो धूम युक्त नीली लपटें निकल रही थीं, उनमें विलास पूर्वक टिमटिम शब्द हो रहे थे । उन्होंने अपने भस्माभ्र के ढेरों से लोकान्तर के अन्तर को भी व्याप्त कर दिया ।।३।। उस घनघोर वृष्टि का सर्वत्र व्यापक घोष

हो रहा था, गीली लकड़ियों से छमछम की ध्वनि हो रही थी, इससे प्रतीत होता था कि कोई तुरही ही जयघोष कर रही है ॥४॥ सम्पूर्ण त्रिलोकी भ्रमण शील भस्मरूपी मेघों और धूम्र से व्याप्त हो गई। उसमें महाकल्प के मेघों की शोभा झलकने लगी। भापरूपी मेघ विभ्रम से वह युक्त हो गई, उद्भ्रान्त सीकर रूपी मेघों की उसमें भले प्रकार स्थिति हुई ॥५॥ ब्रह्माण्ड भित्ति में हो रहे झांकार शब्दों से युक्त भयकर पवन के प्रवाह द्वारा आकाश मंडल में उड़ाये गये एवं जले हुए इन्द्रादि पुरों के समूह से वह भर गया ॥६॥ जल, अग्नि और वायु के उल्लास पूर्ण ताण्डव से बड़े-बड़े पाषाण भी उड़े जा रहे थे, इनके परस्पर टकराने से निकलती हुई टङ्कार-ध्वनि से सब के श्रोत्र जड़ हो गये थे ॥७॥

निरर्गलोल्लसन्नादं सर्गलोपशमक्रमम् ।
सर्गलोपोल्लसच्छेषं सर्गलोपविवर्जितम् ॥८

अनारतविपर्यासकारिमारुतनिर्वृतम् ।
बीजराशिरिवाजस्रं पूर्यमाणं पुनःपुनः ॥९

उल्मुकान्योन्यनिष्पेषवह्निचूर्णसुवर्णजैः ।
रजोभिर्विवृतैर्हेमकुट्टिमाकाशकोटरम् ॥१०

भूमण्डलवृहत्खण्डैर्भ्रष्टैः सद्वीपसागरैः ।
पूर्णसप्तमपातालं लुठत्पातालमण्डलैः ॥११

आसप्तमसुतालान्तमामहीतलपर्वतम् ।
आव्योमैकार्णवीभूतं पूर्णं प्रलयवायुभिः ॥१२

उस समय निरर्गल नाद गूँज रहा था। सृष्टि के लोप हो जाने के कारण वातावरण शान्त-सा हो गया। सर्गलोप से ब्रह्म का विलास प्रत्यक्ष हो गया। यथार्थ में तो यह सम्पूर्ण सृष्टि ही उत्पत्ति और लय से रहित है ॥८॥ अथवा यह निरंतर परिवर्तन करने वाले पवन से वृत-रहित है और बीज के ढेर के समान ही बार-बार पूर्णता को प्राप्त होता है ॥९॥ सम्पूर्ण सर्ग में लुआठो के परस्पर आघातों से अग्नि चूर्ण और स्वर्ण से

उत्पन्न होकर फैली हुई अपार धूलों से आकाशकोटर स्वर्ण कुट्टिम जैसा ही हो गया ।।१०।। जगत् उस समय सातवें पाताल तक स्थान-च्युत द्वीपों और समुद्रों से परिपूर्ण पृथिवी मंडल के बृहत् खंडों से और लुढ़कते हुए पाताल से भर गया ।।११।। नीचे पाताल तक, बीच में पृथिवी और पर्वत तक तथा ऊपर आकाश तक प्रलय-पवनों से परिपूर्ण हुआ जगत एक समुद्र के रूप में हो गया ।।१२।।

एकार्णवोऽथ ववृधे शनैः शीघ्रं सरिच्छतैः ।
भुवने जलकल्लोलैः कोपो मूर्खाशये यथा ।।१३

मुसलोपमया पूर्वं ततः स्तम्भनिभागया ।
ततस्तालद्रुमाकारधारयाऽऽसारसारया । १४

ततो नदीप्रवाहोग्रजलपातैकपातया ।
सप्तद्वीपमहीपीठसममेदुरमेधया ।।१५
वह्निर्निदाहकृद्वृष्ट्या शममभ्याययौ तथा ।
शास्त्रपज्जनसंगत्या गाढमापत्पदं यथा ।।१६

ऊर्ध्वाधरस्थपरिवृत्तपदार्थजात-
मन्तः कणैः खणखणायितशैलमज्जम् ।
ब्रह्माण्डकोटरमभूद्विधुरं कुबाल-
लीलाविलोलमिव बिल्वफलं विशुद्धम् ।।१७

फिर वह एकार्णव ही शनैः शनैः शीघ्र बहने वाली सैकड़ों नदियों से, जल की तरंगों से बढ़ता हुआ, मूर्ख मनुष्य के चित्त में क्रोध के समान लोक में वृद्धि को प्राप्त होने लगा ।।१३।। प्रथम मूसल के आकार में, फिर स्तंभ के आकार में और फिर तालवृक्ष के आकार में उत्तरोत्तर अत्यंत मोटी होती हुई वृष्टि-धारा पड़ने लगी ।।१४।। फिर जैसे नदी प्रवाह से उग्र जलपात होता है उसके समान जल धारा गिराने वाली एवं सातों द्वीपों से युक्त भूपीठ के समान अत्यन्त मोटी जल धाराएं गिरने लगीं ।।१५।। उस बृहद् वृष्टि से वह दाहमयी अग्नि उसी प्रकार शान्त हो गई

जिस प्रकार कि सज्जनों और शास्त्रों की संगति से भीषण आपदाओं का पद भी शान्त हो जाता है ॥१६॥ जिसमें ऊपर-नीचे के अनेकों भ्रमण शील पदार्थ थे, जल-कणों से पर्वत रूपी मज्जा खनखना रही थी, ऐसा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड कोटर वैसे ही नष्ट हो गया, जैसे बलाकों की लीला से ही शुद्ध बिल्वफल नष्ट हो जाता है ॥१७॥



## ८९—छायारूपिणी कालरात्रि का वर्णन

अथ राघव रुद्रं तं तदा तस्मिन्महाम्बरे।
प्रवृत्तं नर्तितुं मत्तमपश्यं विततकृतिम् ॥१
व्योमेवाकृतिमापन्नमजहद्व्यापितां निजाम्।
महाकारं घनश्यामं दशाशापरिपूरकम् ॥२
अर्केन्दुवह्निनयनं चलद्दशदिगम्बरम्।
घनदीर्घप्रभाजालमालानं श्यामलार्चिषाम् ॥३
वडवाग्निदृशं लोलभुजोर्मिभरभासुरम्।
एकार्णवार्णो द्राग्देहबन्धेनेव समुत्थितम् ॥४
पश्याम्यनन्तरमहं यावत्तस्य शरीरतः।
छायेव परिनिर्याति नर्तनानुविधायिनी ॥५
सूर्येष्वविद्यमानेषु महातमसि चाम्बरे।
स्थिता कथमियं छाया भवेदिति मतिर्मम ॥६
यावद्विचारयाम्याशु तावत्तस्य तदा पुरः।
सा स्थिता परिनृत्यन्ती विस्तीर्णा श्रीत्रिलोचना ॥७

वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव! फिर उस महाकाश में मुझे मत्त हुए भगवान् रुद्र नृत्य करते हुए दिखाई दिये, उस समय वे आकाश के समान वृहदाकार, व्यापक, महदाकृति वाले, घन के समान श्याम वर्ण वाले, सूर्य-चन्द्र-अग्नि रूपी तीन नेत्र वाले, चंचल दिशारूपी परिधान धारी, दीर्घ

प्रभाजाल से समन्वित होने से नीलाभ के बंधन स्तम्भ के समान दिखाई देने वाले, बड़वानल जैसे दीप्त नेत्र और चंचल भुजा रूपी तरंगों से समुज्वल शरीर वाले ऐसे लग रहे थे, जैसे प्रलय कालीन महार्णव का जल ही देह धारण कर साक्षात् प्रकट हो गया हो। फिर मुझे दिखाई दिया कि उनके नृत्य का अनुकरण करती हुई एक छाया उनके देह से निर्गत हुई उसे देखते ही मैं सोचने लगा कि जब सूर्य ही उपस्थित नहीं है और आकाश घोर अंधकार से परिपूर्ण है, तब यह छाया कैसे स्थित हो गई ? मेरे इतना सोचते-सोचते ही वह छाया नृत्य करती हुई तत्काल भगवान् रुद्र के समक्ष सपस्थित होकर ठहर गई। वह विस्तीर्ण देह और तीन नेत्रों सहित साक्षात् श्री ही प्रतीत होती थी ॥१-७॥

कृष्णा कृशा शिरालांगी जर्जरा विततार्कृतिः ।
ज्वालाकुलानना लोलवनसंभारशेखरा ॥८
विश्वरूपमयार्कादिशिरःकमलजालकैः ।
कृतमालाऽमलालोकवातवह्निमयाञ्चला ॥९
प्रलम्बकर्णा लुलितनागा नृशवकुण्डला ।
शुष्कतुम्बीलताछीला दीर्घा लोलाऽसितस्तनी ॥१०
दन्तेन्दुमालाविमला विमलोद्योतपातनः ।
तमोर्णवोद्‌र्ध्वलेखेव वृत्तावर्तत्रिवर्तिनी ॥११
क्षणमेकभुजाकारा क्षणं वहुभुजाकुला ।
अनन्तोग्रभुजाक्षिप्तजगन्नर्तनमण्डपा ॥१२
क्षिप्रमेकमुखाकारा क्षिप्रं वहुमुखाकृतिः ।
अनन्तोग्रमुखी क्षिप्रं निर्मुखी चापि च क्षणम् ॥१३
एकपादान्विता क्षिप्रं क्षिप्रं पादशतान्विता ।
क्षणं चानन्तपादाढया निष्पादाकारिणी क्षणम् ॥१४

वह कृशांगी, काली नसों से परिपूर्ण अङ्ग वाली, जर्जरा, वितताकार और ज्वालाओं से व्याप्त मुख वाली थी। चंचल वन की समृद्धि रूप पुष्पादि से उसका शीश शोभित हो रहा था ॥८॥ विभिन्न वर्णों के सूर्य

आदि देवताओं के शिर रूपी कमलों की माला उसके कंठ में विभूषित थी और स्वच्छ आलोक वाले पवन से प्रदीप्त हुआ अग्नि ही उसका आँचल था ॥९॥ उसके लम्बे कानों में चपल नाग झूल रहे थे और दो मनुष्य देह कुंडलों के रूप में सुशोभित थे, सूखी हुई तुम्बी–लता के समान दीर्घ चंचल लटकते हुए असित वर्ण के दोनों स्तन थे ॥१०॥ दाँतों–रूपी चन्द्रमाला से स्वच्छ होने के कारण वह दन्त–प्रकाश के गिरने से और अन्धकार रूपी समुद्र के आवर्तों से चपल ऊर्ध्वलेखा सी प्रतीत हो रही थी ॥११॥ क्षण भर में ही वह कभी तो एक भुजा के आकार वाली और कभी अनेक भुजाकार हो जाती थी तथा क्षणभर में ही वह अपनी अनन्त एवं प्रचण्ड भुजाओं से जगत्-रूपी नर्तन-मण्डल को ऊपर फेंकती हुई व्यग्रता उत्पन्न करती थी ॥१२॥ क्षण में ही वह एक मुख वाली और क्षण में ही अनन्त मुख वाली हो जाती थी तथा क्षण भर में ही उसका एक भी मुख नहीं रहता था ॥१३॥ वह तुरन्त ही एक पाँव वाली, तुरन्त ही सैंकड़ों और अनन्त पैरों वाली तथा क्षण भर में ही एक भी पाँव से रहित हो जाती थी ॥१४॥

कालरात्रिरियं सेति मयाऽनुततिदेहका ।
काली भगवती सेयमिति निर्णीतसज्जना ॥१५
ज्वालापूर्णारिधट्टोग्रखाताभनयनत्रया ।
ज्वलद्वरेन्द्रनीलाद्रिसनूपमललाटभूः ॥१६
लोकालोकेन्द्रनीलोग्रश्वभ्रभीमहनुद्वया ।
वातस्कन्धगुणप्रोततारामुक्ताकलापिनी ॥१७
नृत्यद्भुजलतातुष्पनखशुभ्राभ्रामण्डलैः ।
पूर्णचन्द्रशतानीव भ्रामयन्ती नभस्तले ॥१८
ततो नृत्तावशावेशाद्वर्द्धमानशरीरिणी ।
मया दृष्टाविधानेन गगनाभोगभूरिणा ॥१९
यावत्तयाऽऽवृता देहे हेलावलनसारया ।
माला मलयकैलाससह्यमन्दरमेरुभिः ॥२०

तस्या अङ्गेषु दृष्टानि पुराणि नगराणि च ।
ऋतवश्च त्रयो लोका मासाहोरात्रमालिकाः ॥२१

उसका वह रूप देख कर मैंने अनुमान किया कि यह कालरात्रि हो सकती है। सज्जनों ने इसे काली भगवती निर्णीत किया है ॥१५॥ उसके तीन नेत्रों की समानता अरघट्ट यन्त्र के शिर में तीन गर्तों के ज्वालाओं सहित होने से की जा सकती है। उसका ललाटभू मानों इन्द्रनील पर्वत का वह प्रस्थ भाग है, जहाँ पृथिवी धधक रही हो ॥१६॥ उसके दोनों जबड़े मानों लोकालोक पर्वत के इन्द्रनील के उग्र गर्त जैसे भीषण हों, क्योंकि उसके कंठ में वातस्कन्ध रूपी धागे में पिरोये हुए तारे रूपी मोतियों की माला सुशोभित थी ॥१७॥ नृत्य करती हुई उसकी भुज-लता रूपी फूलों सहित नखों की शुभ आभा रूपी मेघ-मण्डल से आकाश तल में शतशः पूर्ण चन्द्रों को नाच-नचाती हुई लग रही थी ॥१८॥ फिर आकाश में विद्यमान अनन्ताकाश के समान व्यापक रूप वाली उस भगवती को अपने योग-बल से देखा कि नृत्य के आवेश में उसका शरीर बढ़ता चला जा रहा है ॥१९॥ फिर मुझे दिखाई दिया कि विलास पूर्वक नृत्य करती हुई उस काली ने मलय, कैलास, सह्य, मन्दर और सुमेरु आदि पर्वतों की माला सी बनाकर अपने देह में धारण करली है ॥२०॥ फिर मैंने उसके अंगों में नगर, ग्राम, ऋतु, मास, अहोरात्र और त्रैलोक्य रूपी मालाओं को विभूषित हुए देखा ॥२१॥

मुक्तालतादिकं नद्यः कालिन्दी त्रिपथादिका ।
धर्माधर्माबुभौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ॥२२
स्तनास्तस्यास्तु चत्वारः स्रवद्धर्मपयोलवाः ।
वेदाः सकलशास्त्रार्थचतुःसंस्थानचूचुकाः ॥२३
त्रिशूलैः पट्टिशैः प्रासैः शरशक्त्यृष्टिमुद्गरैः ।
निर्यदायुधजालानि स्रग्दामानि बिभर्ति सा ॥२४
चतुर्दशविधा भूतजातयो याः सुरादिकाः ।
तस्याः शरीरशालिन्यास्ता लोमावलयः स्थिताः ॥२५

तस्या अङ्गेषु दृष्टानि पुराणि नगराणि च ।
ऋतवश्च त्रयो लोका मासाहोरात्रमालिकाः ॥२१

उसका वह रूप देख कर मैंने अनुमान किया कि यह कालरात्रि हो सकती है। सज्जनों ने इसे काली भगवती निर्णीत किया है ॥१५॥ उसके तीन नेत्रों की समानता अरघट्ट यन्त्र के शिर में तीन गर्तों के ज्वालाओं सहित होने से की जा सकती है। उसका ललाटभू मानों इन्द्र-नील पर्वत का वह प्रस्थ भाग है, जहाँ पृथिवी धधक रही हो ॥१६॥ उसके दोनों जबड़े मानों लोकालोक पर्वत के इन्द्रनील के उग्र गर्त जैसे भीषण हों, क्योंकि उसके कंठ में वातस्कन्ध रूपी धागे में पिरोये हुए तारे रूपी मोतियों की माला सुशोभित थी ॥१७॥ नृत्य करती हुई उसकी भुज-लता रूपी फूलों सहित नखों की शुभ आभा रूपी मेघ-मण्डल से आकाश तल में शतशः पूर्णचन्द्रों को नाच-नचाती हुई लग रही थी ॥१८॥ फिर आकाश में विद्यमान अनन्ताकाश के समान व्यापक रूप वाली उस भगवती को अपने योग-वल से देखा कि नृत्य के आवेश में उसका शरीर बढ़ता चला जा रहा है ॥१९॥ फिर मुझे दिखाई दिया कि विलास पूर्वक नृत्य करती हुई उस काली ने मलय, कैलास, सह्य, मन्दर और सुमेरु आदि पर्वतों की माला सी बनाकर अपने देह में धारण करली है ॥२०॥ फिर मैंने उसके अंगों में नगर, ग्राम, ऋतु, मास, अहोरात्र और त्रैलोक्य रूपी मालाओं को विभूषित हुए देखा ॥२१॥

मुक्तालतादिकं नद्यः कालिन्दी त्रिपथादिकाः ।
धर्माधर्माबुभौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ॥२२
स्तनास्तस्यास्तु चत्वारः स्ववद्धर्मपयोलवाः ।
वेदाः सकलशास्त्रार्थचतुःसंस्थानचूचुकाः ॥२३
त्रिशूलैः पट्टिशैः प्रासैः शरशक्त्यृष्टिमुद्गरैः ।
निर्यदायुधजालानि स्रग्दामानि बिभर्ति सा ॥२४
चतुर्दशविधाभूतजातयो याः सुरादिकाः ।
तस्याः शरीरशालिन्यास्ता लोमावलयः स्थिताः ।२५

तस्याश्च नगरग्रामगिरयो देहशायिनः ।
नृत्यन्त्या सह नृत्यन्ति पुनर्जन्ममुदेव ते ॥२६

कालिन्दी, त्रिपथगा ( गंगा ) आदि नदियाँ उसके मुक्ताहार के रूप में और धर्म-अधर्म उसके अन्य कानों के आभूषण रूप में शोभित हो रहे थे ॥२२॥ चारों वेद उसके धर्म रूपी दूध देने वाले चार स्तन थे और सम्पूर्ण शास्त्रार्थ रूपी उसके चूचुक थे ॥२३॥ त्रिशूल, पट्टिश, प्रास, बाण शक्ति, खड्ग और मुद्गर आदि जितने प्रकार के भी शस्त्रास्त्र थे, वह सब पुष्पमालों के रूप में उसने धारण कर रखे थे ॥२४॥ सुरादिक रूपो जो चौदह प्रकार की भूत जातियाँ हैं, वे सब देहधारी उसकी रोमावली थीं ॥२५॥ उसकी देह में विद्यमान नगर, ग्राम, पर्वत आदि इस प्रकार नृत्य कर रहे थे, मानों वह अपने पुनर्जन्म की प्राप्ति के आनन्द में नृत्य कर रहे हों ॥२६॥

महती भैरवो देवी नृत्यन्त्यापूरिताम्बरा ।
तस्य कल्पान्तरुद्रस्य सा पुरो भैरवाकृतेः ॥२७

शिरोमन्दाश्रितोग्राग्निदग्धस्थाणुवनावनिः ।
कल्पान्तवातव्याधूता वनमालेव नृत्यति ॥२८

कुद्दालोलूखलव्रुसीफलकुम्भकरण्डकैः ।
मुसलोदञ्चनस्थालीस्तम्भैः स्नग्दामधारिणी । २९
एवंविधानां स्रग्दामजालानां कुसुमोत्करम् ।
किरन्ती संसृजन्तीव नृतक्षुब्ध क्षयक्षतम् ॥३०
वन्द्यमानस्तया सोऽहि तथैवाकाशभैरवः ।
तथैव वितताकारस्तदोच्चैः परिनृत्यति ॥३१
डिम्बंडिम्बं सुडिम्बं पचपच सहसा झम्यझम्यं प्रझम्यं
नृत्यन्ती शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं ताक्ष्यपक्षैः :
पूर्णं रक्तासवानां यममहिषमहाश्रृङ्गमादाय पाणौ
पायाद्वो वन्द्यमानः प्रलयमुदितयाः भैरवः कालरात्र्या ॥३२

हे राम ! सम्पूर्ण आकाश मण्डल को परिपूर्ण करने वाली वह महती कालरात्रि रूपी भैरवी उन भैरव रूप में स्थित कल्पान्त रुद्र के सामने नाच रही थी ॥२७॥ कल्पान्तकालीन उन महारुद्र के ललाट की आश्रिता तृतीय नेत्राग्नि से दग्ध होने के कारण स्थाणु रूप में अवशिष्ट वनों से सम्पन्न भूमिवाली एवं कल्पान्तवात से काँपती हुई वनमाला के समान ही वह नाच रही थी ॥२८॥ कुदाल, उलूखल, हल का फल, कुम्भ, करण्डक, मुसल, सूप, स्थाली और स्तम्भ आदि की मालाओं को धारण किये हुए वह नृत्य कर रही थी ॥२९॥ इस प्रकार माला में पिरोये हुए विभिन्न भाँति के पुष्पों को, जो नाचने में क्षुब्ध होते हुए टूट कर गिर रहे थे, उन्हें बखेर कर नवीनता प्रदान करती हुई नृत्य में लीन थी ॥३०॥ इस प्रकार उस भीषण रूप वाली कालरात्रि द्वारा वन्दित हुए, वैसा ही भयंकर रूप एवं आकार धारी अनन्ताकार भगवान् रुद्र भी उसी के समान महानृत्य में तन्मय थे ॥३१॥ रक्त और आसवों से युक्त यम के भैंसे का सींग हाथ में लेकर डिम्ब, डिम्ब और झम-झम आदि शब्द वाद्यों के सहित नृत्य करती हुई वह देवी कण्ठ में मुंडमाल और शिर में गरुड़-पंख धारण किये उस प्रलय-काल में जगत् को भक्षण का अत्यन्त आनन्दित हुई कल्पान्त रुद्र रूपी भैरव को नमस्कार कर रही थी । इस प्रकार नर्तन शीला एवं प्रसन्ना उस कालरात्रि द्वारा वन्द्यमान वह भगवान् भैरव आपका मंगल करें ॥३२॥

---

## ९०—स्वरूपज्ञान से परमशान्ति

किमेतद्भगवन्सर्वनाशे नृत्यति केन सा ।
किं शूर्पफलकुम्भाद्यैस्तस्या स्रग्दामधारणम् ॥१

किं नष्टं त्रिजगद्भूयः किं काल्या देहसंस्थितम् ।
परिनृत्यति निर्वाणं कथं पुनरुपागतम् ॥२

नासौ पुमान्न चासौ स्त्री न तन्नृत्तं न तावुभौ ।
तथाभूते तथाचारे आकृती न च ते तयोः ।।३

अनादिचिन्मात्रनभो यत्तत्कारणकारणम् ।
अनन्तं शान्तमाभासमात्रमव्ययमाततम् ।।४
शिवं तत्सच्छिवं साक्षाल्लक्ष्यते भैरवाकृति ।
तथास्थितो जगच्छान्तौ परमाकाश एव सः ।।५

चेतनत्वात्तथाभूतस्वभावविभवादृते ।
स्थातुं न युज्यते तस्य यथा हेम्ना निराकृति ।।६

श्रीराम बोले—हे भगवन् ! जब उस प्रलय में सर्वनाश ही होगया, तब वह भगवती किस अंग से नृत्य कर रही थी ? उस समय सूप, उलूखल, कुम्भ आदि सब नष्ट हो चुके थे तो उनको माला उसने कैसे धारण की हुई थी ? यह सब आप मेरे प्रति कहिये ।।१।। त्रिजगत् का क्या नष्ट हुआ ? उस काली के शरीर में क्या स्थित रहा ? और निर्वाण में लीन हुआ जगत् पुनः आकर कैसे नृत्य करने लग गया ? ।।२।। वसिष्ठ जी बोले—हे राम ! वह रुद्र भगवान् न तो पुरुष हैं, न स्त्री हैं और न उन्होंने कोई नृत्य ही किया है । यथार्थ में तो उन काली और रुद्र का न तो वैसा आचरण है और न वैसी आकृति ही है ।।३।। परन्तु जो कारणों का भी कारण, आदि रहित, चिन्मात्र, आकाशरूप, अनन्त, शान्त आभासमात्र और अव्यय है, वही सर्वव्यापी है ।।४।। वही शिव, सदा शिव ब्रह्म ही प्रलयाकाल में भैरव रूप से साक्षात् दिखाई देते हैं, क्योंकि जगत् के शान्ति-काल में वही परमाकाश भैरवाकार दिखाई देता है ।।५।। वह ब्रह्म चेतन होने के कारण अपने स्वरूपात्मक वैभव का परित्याग कर उस प्रकार स्थित नहीं रह सकता, जिस प्रकार कि स्वर्ण अपनी [illegible] है छोड़ता ।।६।।

विना तिष्ठति माधुर्यं कथयेक्षुरसः कथम् ।
निर्माधुर्यश्च यस्त्विक्षुरसो नहि स तद्रसः ॥८

अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते ।
न च चिन्मात्रनभसो नष्टं क्वचन युज्यते ॥९
स्वसत्तामात्रकादन्यत्किञ्चित्तस्य न युज्यते ।
अन्यत्वमुररीकर्तुं व्योमानन्यमसौ किल ॥१०
तस्मात्तस्य यदक्षुब्धं सत्तामात्रं स्वभासनम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं सर्वशक्तिमयात्मकम् ॥११
तदेतत्त्रिजगत्सर्गकल्पान्तौ व्योम भूर्दिशः ।
नाश उत्पादनं नाम विना माभासनं नभः ॥१२

हे प्राज्ञ ! बताओ तो सही कि चेतन के विना चिन्मात्र की स्थिति कैसे रह सकती ? बताओ तिक्तता के विना मिरच की स्थिति कैसे होगी ? ॥७॥ बताओ माधुर्य के विना ईख का रस कैसे रहेगा ? क्योंकि विना मिठास के, ईख का रस हो ही नहीं सकता ॥८॥ जो अचेतन है, वह चिन्मात्र कभी नहीं कहा जा सकता । चिन्मात्र आकाश का कुछ नष्ट होने की बात कहना भी युक्ति संगत नहीं है ॥९॥ उस ब्रह्म का स्वसत्ता-मात्र से भिन्न कुछ भी कहा जाना अयुक्त ही होगा । यथार्थ में तो वह जगदाकार से अन्य रूप होने के लिए प्रथम अपनी आत्मा को काकाश से अभिन्न बना लेता है।१०।इसलिए उस अक्षुब्ध, अनादि अमध्य,अनन्त और सर्वशक्तिमयात्मक ब्रह्म की जो स्वसत्तामात्र स्थिति है, वही इस त्रिजगत् का सृष्टि और कल्पान्त है । वही आकाश, पृथिवी और दिशा स्वरूप है । उसमें नाश और उत्पादन का आभास अविद्या से ही है ॥११-१२॥

जननं मरणं मायामोहमान्द्यमवस्तुता ।
वस्तुता च विवेकश्च बन्धो मोक्षः शुभाशुभे ॥१३
विद्याविद्याविदेहत्वं सदेहत्वं क्षणश्चिरम् ।
चञ्चलत्वं स्थिरत्वं वा त्वं चाहं चेतरश्च तत् ॥१४

सदसच्चाथ सदसन्मौर्ख्यं पाण्डित्यमेव च ।
देशकालक्रियाद्रव्यकलनाकेलिकल्पनम् ॥१५
रूपालोकमनस्कारकर्मबुद्धीन्द्रियात्मकम् ।
तेजोवार्यनिलाकाशपृथ्व्यादिकमिदं ततम् ॥१६
एतत्सर्वमसौ शुद्धचिदाकाशो निरामयः ।
अजहद्व्योमतामेव सर्वात्मैवंवमास्थितः ॥१७

जनन, मरण, माया, मोह, मान्द्य, अवस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, विदेहत्व, क्षण, चिरकाल, चपलता, स्थिरता, तुम, मैं, यह, वह, सत्, असत्, मूर्खता, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना रूप, आलोक, कर्म, बुद्धि, तेज, जल, पवन, आकाश और पृथिवी आदि जो कुछ भी है, वह सब निरामय चिदाकाश है और अपने रूप का कभी परित्याग न करता हुआ सदैव सर्वात्म रूप होकर ही अवस्थित है ॥१३-१७॥

चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मया ।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तो भवत्येष सनातनः ॥१८
स एष हरिरित्यास्ते भवत्येष पितामहः ।
चन्द्रोऽर्क इन्द्रो वरुणो यमो वैश्रवणोऽनलः ॥१९
अबोधो बोध इत्येवं चिद्व्योमैवाऽऽत्मनि स्थितम् ।
तस्माद्भेदो द्वैतमैक्यं नास्त्येवेति प्रशाम्यताम् ॥२०

तावत्तरङ्गत्वमयं करोति
जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभावं
निरामयं तन्मयतामुपेतः ॥२१
ज्ञाते तु शान्ति स तथोपयाति
यथा न सोऽब्धिर्न तरङ्गकोऽसौ ।
यथास्थितं सर्वमिदं च शान्तं
भवत्यनन्तं परमेव तस्य ॥२२

हे राघव ! जिस चिन्मय परमाकाश का मैंने आप से वर्णन किया है, वही 'शिव' नाम से कहा गया सनातन पुरुष है ॥१८॥ उपासकों की भावनानुसार वही 'हरि' वेश में, वही पितामह ब्रह्मा रूप में, वही चन्द्र, सूर्य इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर अथवा अग्निरूप में स्थित होता है ॥१९॥ वही चिदाकाश ब्रह्म अबोध रूप से सर्ग रूप में और बोधरूप से निज स्वरूप में स्थित रहता है। इसलिये द्वैत और अद्वैत का कोई भेद नहीं है, यह जानते हुए आप शान्त हो जाइये ॥२०॥ यह जीव अपने परब्रह्मात्मक स्वभाव को न जानता हुआ संसार-सागर की जन्म-मरणादि रूपी तरंगों की कल्पना करता है और अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर तन्मयता युक्त होकर अपने उसी निरामय स्वरूप में अवस्थित होजाता है ॥२१॥ स्वरूपज्ञान होने पर जीव को वह शान्ति मिल जाती है, जिससे न तो सागर ही रहता है, न तरंग ही। यथावस्थित यह सम्पूर्ण विश्व शान्त और अनन्तरूप ही होजाता है ॥२२॥

---

## ८१—शिव और काली चिन्मात्र ही हैं

चिन्मात्रपरमाकाश एष यः कथितो मया।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तस्तदा रुद्रः प्रनृत्यति ॥१

याऽसौ तस्याऽऽकृतिर्नासावाकृतिः कृतिनांवर।
तच्चिन्मात्रघनं व्योम तथा कचति तादृशम् ॥२

मया दृष्टा तदाकाशमेव शान्तं तदाकृतिः।
मयैव तत्परिज्ञातं नान्यः पश्यति तत्तथा ॥३

यथा नाम स कल्पान्तः स रुद्रः सा च भैरवी।
मायामात्रं तथा सर्वं परिज्ञातमलं मया ॥४

चिद्व्योमैव परं शून्यं सन्निवेशेन तेन तत्।
तथा संलक्ष्यते नाम भैरवकारतां गतम् ॥५

वाच्यवाचकसम्बन्धं विना बोधो न जायते ।
यस्मात्तस्मात् त्वयि मया दृष्टमेव प्रवर्णितम् ॥६

यदेव वाच्युपारूढमेतद् राम सदैव ते ।
रूढाधिभौतिकदृशः क्षणान्मायात्मतां गतम् ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! मेरे द्वारा कहा गया वह,चिन्मात्र परमाकाश ही है । शिवरूप से कहा जाने वाला यही प्रलयकाल में रुद्र रूप से नृत्य करता है ॥१॥ हे कृतियों में श्रेष्ठ ! रुद्र की भयंकर आकृति यथार्थ में उसकी अपनी नहीं है, अपितु उस प्रकार से वह चिन्मात्र घनाकाश ही स्फुरित होता है ॥२॥ मैंने उस भयंकर मूर्ति को परम शान्त चिदाकाश रूप ही देखा । जिस रूप में मैंने उन्हें जाना, उस रूप में कोई अतात्विक व्यक्ति नहीं देख सकता ॥३॥ जो वह कल्पान्त, वह रुद्र और वह भैरवी है, यह सब मायामात्र ही हैं, तात्विक बुद्धि से मैंने यह भले प्रकार जान लिया ॥४॥ वह परम शून्य चिदाकाश ही उस आकृति विशेष को धारण कर भैरवाकार दिखाई देता है ॥५॥ क्योंकि वाच्य-वाचक सम्बन्ध के बिना बोध नहीं हो सकता, इसलिए कल्पना से परिवर्तित रूप में जो कुछ मैंने देखा, वह आप से कह दिया ॥६॥ आधिभौतिक दृष्टि दृढ़ होने से आपकी वाणी को जो दृढ़ता प्राप्त हुई है, वह क्षणभर में ही मायात्मक हो जाती है ॥७॥

न भैरवी सा नैवाऽसौ भैरवो नैव संक्षयः ।
समस्तमेव तद्भ्रान्तिमात्रं चिद्व्योम भासते ॥८

स्वप्ननिर्माणपुरवत् सङ्कल्परणवेगवत् ।
कथाथसार्थरसवन्मनोराज्यविलासवत् ॥९

चिन्मात्राकाशमेवाऽच्छं कचति स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
तथा नाम यदाभाति तदात्मैव जगत्तया ॥१०

शिवयोरेवमाकारो निराकारोऽङ्ग वर्णितः ।
अधुना शृणु ते वक्ष्ये नृत्यस्याऽनृत्ततास्थितिम् ॥११

यन्नाम चेतनं यत्र तदवश्यं स्वभावतः ।
स्पन्दधर्मि भवत्येव वस्तुता हि स्वभावजा ॥१२
यः स्पन्दश्चिद्घनस्याऽस्य शिवास्याऽस्य स एव नः ।
स्ववासनावेशवशान्नृत्यमेव विराजते ॥१३
अतः स कल्पान्तशिवो रुद्रो रौद्राकृतिर्द्रुतम् ।
यन्नृत्यति हि तद्विद्धि चिद्घनस्पन्दनं निजम् ॥१४

यथार्थ में तो वह न भैरव है, न भैरवी है और न प्रलय काल ही है अपितु सब भ्रान्ति ही है । वस्तुतः यह चिदाकाश ही भासमान है ॥८॥ स्वप्न में निर्मित हुए नगर के समान, संकल्पित समर के वेग जैसा, कथा के अर्थ में जो रस है, वैसा अथवा मनोराज्य के तुल्य जो भ्रम है, वही चिद्घन में भासित है ॥९॥ बोध होने पर चिदाकाशमात्र ही निज स्वरूप में प्रकाशित रहता है और अवोधावस्था में प्रतीत होता है ॥१०॥ इस प्रकार यथार्थ में निराकार ब्रह्म का भैरव-भैरवी से मैंने वर्णन किया है; अब उस अनृत्यस्वरूप की नृत्यस्थिति को कहता हूं, उसे सुनिये ॥११॥ जिस चेतन में चेतनत्व का स्वभाव है, वह स्पन्दधर्मी ही है, वस्तुतः स्वभाव से ही स्थिति होती है ॥१२॥ चिद्घन का स्पन्द ही शिव का स्पन्द है और वही वासना के वशीभूत होकर नृत्य रूप से विराजता है ॥१३॥ कल्पान्त में जो शिव भयानक रुद्र रूप में द्रुत वेग से नृत्य करते हैं, उसे चिद्घन का अपना स्पन्दन ही जानिये ॥१४॥

यच्चेदं चेत्यते नाम तत्स्वभावोऽस्य वल्गति ।
चित्स्वभावस्य शान्तस्य स्वसत्तायामवस्थितेः ॥१५
यथा स्वप्ने चिदेवाऽन्तः पुरपत्तनवद्भवेत् ।
पुरादि न तु तत् किञ्चिद्विज्ञानाकाशमेव तत् ॥१६
आत्मनाऽऽत्मनि चिच्छून्यं ज्ञात्वा च ज्ञेयमप्यलम् ।
तथा च सर्गादारभ्य वेत्ति स्वं कंचनं च तत् ॥१७
तस्मान्न द्वैतमस्तीह न चैक्यं न च शून्यता ।
न चेतनाचेतनं वै मौनमेव न तच्च वा ॥१८

न चेतति क्वचित् किञ्चित्कश्चिच्चेत्यात्मभावतः ।
तेन चेतापि नास्तीव मौनमेवाऽवशिष्यते ॥१९

कुर्वन्निज प्रकृतमेव यथाप्रवाह-
माचारजालमचलः परमार्थमौनात् ।
निर्मानमोहमदभेदमनङ्गजीव-
माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्स्व ॥२०

और यह जो चेतित है, वही रुद्र, काली और उनके नृत्य रूप में हो जाता है, चित्स्वभाव और शान्तरूप यह ब्रह्म निज सत्ता में ही अवस्थित रहता है ॥१५॥ जिस प्रकार स्वप्न में चिति ही अन्तःकरण में ग्राम या नगर रूप हो जाती है, वस्तुतः वहाँ नगर आदि की शून्यता ही है, वह जो कुछ है, विज्ञानाकाश के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं है ॥१६॥ ज्ञेय का ज्ञान करके चिति आत्मा से आत्मा में सदा ही ज्ञेय को शून्य समझती है और सर्ग से प्रलय-पर्यन्त जो स्थिति होती है, उसे अपना स्फुरण मानती है ॥१७॥ इसलिए द्वैत-अद्वैत, चेतन, अचेतन आदि कुछ भी नहीं है, केवल मौन ही है या फिर मौन भी नहीं है ॥१८॥ चिति के चेत्य स्वरूप होने से कुछ चेतता नहीं, इसलिए चेत्य और चेतन क्रिया के अभाव में चेत्यता भी नहीं हो सकती है। केवल मौन ही शेष रहता है ॥१९॥ हे राम! आप भी अपने प्रकृत कार्यों को यथाक्रम चलने दीजिए और परमार्थ दृष्टि से मौन रह कर उससे मान, मोह, मद आदि अभेद अंगों और जीवाभिमान से रहित होकर आकाश कोश के समान विशद आशय एवं शान्त हो जाइये ॥२०॥

---

## ६२—काली का शिव में विलीन होना

इति नृत्यति सा देवी दीर्घदोर्दण्डमण्डलैः ।
परिस्पन्दात्मकैर्व्योम कुर्वाणा घनकाननम् ॥१

क्रियाऽसौ नृत्यति तथा चितिशक्तिरनामया ।
अस्या विभूषणं शूपकुद्दालपटलादिकम् ॥२

चित्स्पन्दोन्तर्जगद् धऽत्तो कल्पनेव पुरं हृदि ।
सैव वा जगदित्येव कल्पनैव यथा पुरम् ॥३

पवनस्य यथा स्पन्दस्तथैवेच्छा शिवस्य सा ।
यथा स्पन्दोऽनिलस्याऽन्तः प्रशान्तेच्छस्तथा शिवः ॥४

नृत्यन्त्याऽथ यदा तत्र तथा तस्मिन् परांम्बरे ।
काकतालीययोगेन संरम्भवशतः स्वयम् ॥५

निकटस्थः शिवः स्पृष्टः स मनागभ्रमन्तिकम् ।
वाडवोऽग्निः स्वनाशायाऽऽवहन्त्येवाऽम्बुलेखया ॥६

स्पृष्टमात्रे शिवे तस्मिस्ततः परमकारणे ।
प्रवृत्ता प्रकृतिं गन्तुं सा शनैस्तनुतां तथा ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! वह कालरात्रि रूपिणी जो काली नृत्य करती है, उसने तो अपनी परिस्पन्दनात्मक दीर्घ भुजाओं से सम्पूर्ण आकाश को एक घना अरण्य ही बना दिया है ॥१॥ क्रियारूप हुई वह चितिशक्ति ही वहाँ नाचती है परन्तु यथार्थतः उसमें नर्तनादि विकार का अभाव ही है । यह सूप, कुदाल और पटल आदि तो उस क्रियात्मक चिति के ही आभूषण हैं ॥२॥ जिस प्रकार हृदय को कल्पना ही नगर रूप हो जाती है । उसी प्रकार चिति का स्पन्दन जगद्रूप हो जाता है । जैसे कल्पना नगर है वैसे ही चिति जगत् है ॥३॥ वायु के स्पन्दन के समान ही, कालरात्रि रूप में यह शिव की इच्छा है । जैसे स्पन्दन वायु से भिन्न नहीं है, वैसे ही शिव की इच्छा शिव से भिन्न नहीं है ॥४॥ समुद्र की प्रवाहित जलरेखा का वडवानल का स्पर्श करने के समान ही चिदाकाश में नाचती हुई उस कालरात्रि ने काकतालीय योगवश स्नेह सहित रुद्र समीपस्थ रुद्र का स्पर्श किया, तभी उसका आवरण रूप शक्ति अंश न्यूनता को प्राप्त होगया ॥५-६॥ शक्ति अंश के न्यून होने पर शिव-

स्पर्श को प्राप्त हुई वह काल-रात्रि शनैः शनैः अपने अव्यक्त भाव और लघुत्व को प्राप्त होने लगी ॥७॥

अनन्ताकारतां त्यक्त्वा सम्पन्ना गिरिमात्रिका ।
ततो नगरमात्राऽसौ ततश्च द्रुमसुन्दरी ॥८
ततो व्योमसमाकारा शिवस्यैवाऽऽकृति ततः ।
सा प्रविष्टा सरिच्छान्तसंरम्भेव महार्णवम् ॥९
एक एवाऽभवदथो शिवया परिवर्जितः ।
शिव एव शिवः शान्त आकाशे शमनोऽभितः ॥१०
भगवञ्छिवसंस्पृष्टा सा शिवा परमेश्वरी ।
किमर्थमागता शान्तिमिति मे ब्रूहि तत्त्वतः ॥११
सा राम प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी ।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा ॥१२
स परः प्रकृते प्रोक्तः पुरुषः पवनाकृतिः ।
शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान् ॥१३
संविन्मात्रैकधर्मित्वात् काकतालीययोगतः ।
संविद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥१४

उसने अपने अनन्ताकार का परित्याग कर दिया और पर्वताकार हो गई, फिर नगराकार मात्र होकर वृक्ष सुन्दरी रूप होगई ॥८॥ फिर वह आकाश के आकार वाली होगई, उसके पश्चात् जैसे नदी समुद्र में मिल जाती है, वैसे ही वह सब आकृतियों का परित्याग कर शिव में लीन हो गई ॥६॥ तब तो शिवा-रहित एकमात्र शिव ही वहां रह गये । अब चिदाकाशस्वरूप, शान्त, और सब उपद्रवों का शमन करने वाले शिव ही स्थित थे ॥१०॥ श्रीराम ने पूछा—हे भगवन् ! शिवजी का स्पर्श करते ही वह परमेश्वरी शिवा शान्ति को किस लिए प्राप्त होगई, यह मुझे बताइये ॥११॥ वशिष्ठजी बोले—हे राम ! जो प्रकृति कही गई है, वही जगन्माया नाम से प्रसिद्ध स्वाभाविक स्पन्दन शक्ति है ॥१२॥ वह प्रकृति से परे, पवनाकृति पुरुष शिवरूप धारण किये हैं, शरत्कालीन आकाश के

के समान स्वच्छ शान्ति धारण करने वाले एवं शान्त वही हैं ॥१३॥ चिति शक्ति की आश्रयभूत होने से प्रकृति को चितिशक्ति हो जानो। काकतालीययोग से यही शिवजी का स्पर्श करके शिवरूप हो जाती है ॥१४॥

पुंसश्छायां निजच्छाया प्रविष्टस्य शरीरकम् ।
यथाऽऽशु प्रविशत्येव प्रकृतिः पुरुषं तथा ॥१५
चेतित्वा चिन्निजं भावं पुरुषाख्यं सनातनम् ।
भूयो भ्रमति संसारे नेह तत्तां प्रयाति हि ॥१६
साधुर्वसति चोरौघे तावद्यावदसौ न तम् ।
परिजानाति विज्ञाय न तत्र रमते पुनः ॥१७
द्वैते तावदसद्रूपे रमते भ्रमते चितिः ।
परं पश्यति नो यावत्तां दृष्ट्वा तन्मयीं भवेत् ॥१८
चितिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतिः परमं पदम् ।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिदब्धाविवाऽब्धिताम् ॥१९
तावद्विमोहवशतश्चितिराकुलेषु
सर्गेषु संसरति जन्मदशासु तासु ।
यावन्न पश्यति परं तमथाऽऽशु दृष्ट्वा
तत्रैव मज्जति घनं मधुनीव भृङ्गी ॥२०
संप्राप्य कस्त्यजति नाम तदात्मतत्त्वं
प्राप्याऽनुभूय च जहाति रसायनं कः ।
शाम्यन्ति येन सकलानि निरन्तराणि
दुःखानि जन्ममृतिमोहमयानि राम ॥२१

छाया में प्रविष्ट पुरुष की छाया जैसे उसी के देह में लीन होजाती है, वैसे ही पुरुष में लीन हुई प्रकृति पुरुषरूप ही हो जाती है ॥१५॥ अपने सनातन पुरुष रूप को प्रकाशित करके फिर न तो इस संसार में भ्रमता है और न प्रकृतित्व को प्राप्त होता है, क्योंकि उसके पुनर्जन्मरूपी

अज्ञान का नाश हो जाता है ॥१६॥ साधु पुरुष चोरों के समाज में रहता हुआ जब तक उसके कुकृत्य को नहीं जानता, तभी तक उसमें रहता है और जब उसके अकर्म का ज्ञान कर लेता है तब उनके मध्य नहीं रहता ॥१७॥ जब तक चिति आत्म स्वरूप को प्रत्यक्ष नहीं देखती, तब तक असद्-रूप द्वैत प्रपंच में रमती और भ्रमती है। जब उसे देख लेती है, तभी तन्मय होजाती है ॥१८॥ चिति में निर्वाणरूप होने से प्रकृति उसे पाकर नदी के समुद्ररूप होने के समान ही तद्-रूप होजाती है ॥१९॥ जब तक वह चिति ब्रह्म को नहीं देख लेती, तब तक मोहवश प्रतिकूल सृष्टि आदि में भटकती रहती है, और जब देख लेती है तब मधु में भृंगी के डूबने के समान ब्रह्म में लीन हो जाती है ॥२०॥ निरन्तर प्राप्त जन्म-मरण आदि के मोहमय कष्टों की जिससे शान्ति होती है, उस आत्मा को प्राप्त कर कौन त्याग देगा ? क्या कभी कोई रसायन को प्राप्त कर, उसका अनुभव कर लेने पर भी उसका परित्याग कर सकता है ? ॥२१॥

---

## ८३—धराधारणा से भूपीठ हो जाना

असदेवेदमाभाति हृद्येव जगदाततम् ।
सङ्कल्पनमनोराज्यं यथा स्वप्नपुरादिवत् ॥१
पार्श्वसुप्तजनस्वप्नस्तच्चित्तावेशनं विना ।
यथा न किञ्चित्तच्चित्तावेशनादनुभूयते ॥२
तथा जगत्तद्दृष्टपदं सम्प्रविश्याऽनुभूयते ।
आदर्शबिम्बिताकारं दृष्टमप्यन्यथाऽप्यसत् ॥३
आधिभौतिकभावेन नेत्रेण यदि लक्ष्यते ।
तदान्न दृश्यते किञ्चिद्गिरिरेव प्रदृश्यते ॥४
आतिवाहिकदेहेन परं बोधदृशा यदि ।
प्रेक्ष्यते दृश्यते सर्गः परमात्मैव चाऽमलः ॥५

यथा खमावृतं सर्गैस्तथा भूरिति बुद्धवान् ।
तदाऽहमभवं ध्याता धराधारणयाऽन्वितः ॥६
धराधारणया चैव धराधातूदरं गतः ।
द्वीपाद्रितृणवृक्षादिदेहोऽहमनुभूतवान् ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! यह असद्रूप जगत् अन्तःकरण में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार कि संकल्पित मनोराज्य या स्वप्न में देखे गये नगरादि व्याप्त रहते हैं ॥१॥ जैसे निकट ही सोये हुए पुरुष के स्वप्न का तब तक अनुभव नहीं हो सकता, जब तक कि उसके चित्त में प्रवेश न कर लिया जाय, वैसे ही जगत्-रूपी कल्पना के आश्रय भूत चितिशिला में प्रविष्ट हुए बिना दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान जगत् का अनुभव नहीं होता। क्योंकि दृश्यमान होते हुए भी वह असत् ही है ॥२-३॥ आधिभौतिक दृष्टि से शिला के भीतर स्थित ब्रह्माण्डों को आप नहीं देख सकते, केवल लोकालोक पर्वत को ही देख सकते हैं ॥४॥ परन्तु आतिवाहिक देह से और बोध दृष्टि से वह सम्पूर्ण सृष्टि स्वच्छ परमात्मरूप ही दिखाई देगी ॥५॥ जब मैंने अपनी योगदृष्टि से जान लिया कि सर्ग से व्याप्त आकाश के समान ही पृथिवी भी सृष्टिमयी है, तब मैं पृथिवी की धारणा वाला ध्याता रूप से स्थित हुआ ॥६॥ उस धरा की धारणा के कारण पृथिवी के अभिमानी जीवरूपता को मैं प्राप्त हो गया और तब द्वीप, पर्वत, तृण और वृक्षादि के शरीर का मैं अनुभव करने लगा ॥७॥

सम्पन्नोऽस्म्यथ भूपीठं नानावनतनूरुहम् ।
नानारत्नावलीव्याप्तं नानानगरभूषणम् ॥८
ग्रामगह्वरपर्वाढ्यं पातालसुषिरोदरम् ।
कुलाचलभुजाश्लिष्टद्वीपाब्धिवलयान्वितम् ॥९
हिमवद्विन्ध्यसुस्कन्धं सुमेरुदारकन्धरम् ।
गङ्गादिसरिदापूरमुक्तापारणत्तनुम् ॥१०
नित्यं कृषीवलैः कृष्टं वीजितं शिशिरानिलैः ।
तापितं तपनैस्तप्तैरुक्षितं प्रावृडम्बुभिः ॥११

भूपीठेन सता तत्र मया तदनु मानव ।
अनुभूतं नदनदीस्वसवेदनसंस्थितेः ।।१२

क्वचिन्मरणसाक्रन्दनारीकरुणवेदनम् ।
क्वचिदुत्ताण्डवस्त्रैणमहोत्सवमहासुखम् ।। ३

क्वचिद् दुर्वारदुर्भिक्षदुराक्रन्द दुरीहितम् ।
क्वचित्सकलसस्योवसपन्नघनसौहृदम् ।।१४

तब मैं विभिन्न प्रकार के वन और वृक्ष रूप रोमों से सम्पन्न, नाना रत्नावलियों से व्याप्त और अनेक प्रकार के नगर रूपी भूषणों से विभूषित हो गया ।।८।। अनेक ग्राम और गुफारूपी पर्वों और पाताल बिल रूपी उदर से युक्त तथा सात कुलाचल रूपी भुजाओं से आश्लिष्ट और द्वीप-समुद्रों रूपी वलयों से समन्वित भूपीठ बन गया।।९।।हिमालय और विन्ध्या-चल रूपी मेरे श्रेष्ठ कन्धे होगए,सुमेरु रूपी कंवर बन गया और गंगा आदि सरिताओं के प्रवाह मेरे शरीर के झनझनाते हुए मुक्ताहार बन गये ।।१०।। कृषक नित्य प्रति मुझ पर हल जोतने लगे, वायु पंखा रूप हो गए, सूर्य की किरणें मुझे तपाने और वर्षा के जल मुझे सींचने लगे ।।११।। हे मानव ! हे राम ! मैंने जिस प्रकार कहा है उस प्रकार मैं स्वयं ही भूपीठ बन गया और भूधर्मी हुई अपनी देह को देखता हुआ नद, नदी, समुद्र आदि आकार विशेषों के जानने की इच्छा से मैंने अनुभव किया ।।१२।। कहीं भूपीठ हुए मुझ में किसी बांधव के मरण से विलाप करती हुई नारियों की करुणा वेदना सुनाई दे रही थी, और कहीं महोत्सव के आनन्द में ताण्डव नृत्य करती हुई स्त्रियां महासुख मना रही हैं ।।१३।। कहीं दुर्वार दुर्भिक्ष का क्रन्दन सुनाई देता था, दुष्टों की कुचेष्टाएं चल रही थीं और कहीं वर्षा होने से उत्पन्न अनाजों के धन से ऐश्वर्य बिखर रहा था ।।१४।।

क्वचिदग्निमहादाहदग्धदेहोग्रवेदनम् ।
क्वचिज्जलप्लवालूनपुरपत्तनखण्डकम् ।।१५

निमीलितेक्षणानन्दतनूनामसमाक्रमम् ।
क्वचित्सूक्ष्मतरोल्लेखमंकुरोल्लासनं नवम् ॥१६

मक्षिकायोकमशकनिवाससदृशं क्वचित् ।
कुड्यलेशकुभृङ्गारिहलहेलानिकर्षणम् ॥१७

शीतं शीतविशीर्णाङ्गजर्जरत्वग्विकीर्णवत् ।
पाषाणीभूतसलिलं क्वचित् परुषमारुतम् ॥१८

उद्दालीभूतमृद्वंगमज्जदन्तःक्रमिव्रजम् ।
क्वचिदुद्भवदंगादिमूलं जलनिमज्जनम् ॥१९

शनैरन्तर्निलीनाम्बुकृताह्लादं वहिश्वर ।
सोन्नामांकुररोमौघं क्वचिद् वर्षविजृम्भितम् ॥२०

तनुतरपवनविकम्पितकोमलनलिनीदलास्तरणैः ।
विहरणमिव मे विहितं सरोभिरंगेषु निर्वाणम् ॥२१

कहीं अग्नि के महादाह की वेदना थी तो कहीं जल की बाढ़ से पुरों और ग्रामों के कुछ भाग नष्ट हो रहे थे ॥१५॥ कहीं नेत्र मूंदे हुए समाधिस्थ संत आनन्द में मग्न हैं, उनके उस आनन्दोल्लास से प्रतीत होता था कि वह सूक्ष्मतर तत्व का अनुभव प्राप्त कर रहे हैं ॥१६॥ कहीं मक्खी, जूंए और मच्छरों के निवास वाला भूखंड था तो कहीं भित्तिखंडों और प्रमादवश कमलकोश में सुप्त भौंरों को मर्दित करने वाले उनके शत्रु गणों की क्रीड़ा से हल के समान कर्षण हो रहा था ॥१७॥ शीत ठंड से विशीर्ण अंग वाले जीवों की त्वचा को व्याप्त किये हुए था तो कहीं जल को ही पत्थर के समान जमाये हुए था और कहीं कठोर वायु का प्रकोप होरहा था ॥१८॥ कहीं कोमल अंगों में कीड़े प्रविष्ट थे, कहीं अंग आदि उद्भव को प्राप्त होरहे थे और कहीं जल में निमज्जन होरहा था ॥१९॥ मैंने अपने भूपीठ रूपी उस देह में कहीं पर बीजों में अतिवृष्टि का अनुभव किया, जिससे शनैः शनैः उनमें प्रविष्ट जलकणों से प्रथम तो आह्लाद हुआ और फिर अंकुर रूपी रोम बढ़ने लगे ॥२०॥

हे राम ! मेरे उस पृथिवी रूपी देह अंगों में कहीं सरोवरों ने मन्द समीर के झोकों से हिलाये गये कमलनियों के आस्तरण द्वारा आनन्द रूपी क्रीडा का, मानों मेरे लिए ही समुद्भव किया हो ।।२१।।

---

## ६४— सम्पूर्ण जगत् मनोमात्र है

पार्थिवीं धारणां बद्धा जगन्ति समवेक्षितुम् ।
संपन्नस्त्वमसौ भूमिलोकः किमुत मानसः ।।१
इदं च मानसं चाऽहं संपन्नः पृथुभूतलम् ।
नेदं न मानसं नैव संपन्नो वस्तुतस्त्वहम् ।।२
अमानसं महीपीठं न संभवति किंचन ।
यदसद्वाऽस्ति यत्सद्वा मनोमात्रकमेव तत् ।।३
चिदाकाशमहं शुद्धं तस्य मे तत्पदात्मनः ।
यच्चिन्मात्रात्मकचनं तत्संकल्पाभिधं स्मृतम् ।।४
तन्मनस्तन्महीपृष्ठं तज्जगत्स पितामहः ।
संकल्पपुरवद्व्योम्नि कचत्येतन्मनोनभः ।।५
एवं संकल्पमात्रं मे मनोमात्रं तदाततम् ।
धारणाभ्यासंपुष्टं भूमण्डलमिति स्थितम् ।।६
नेदं भूमंडलं तद्वै तदन्यद्धि मनोमयम् ।
आकाशमात्रकचनमचेत्यं कचनं चितेः ।।७

श्रीराम बोले—हे ब्रह्मन् ! अपने आत्मा में सब जगतों को देखने में प्रवृत्त आप पार्थिवी धारणा बाँध कर, जैसे हम इस भूमिलोक को देख रहे हैं, उसी के समान होगए अथवा कल्पनारूप पृथिवी का ही अनुभव करते रहे ? ।।१।। वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! काल्पनिक दृष्टि से तो आपका यह जो भूमण्डल है, वह मन का विकार होने से मानस ही तो है। इसलिए मैं मानस और यह प्रसिद्ध और यह प्रसिद्ध दोनों ही से युक्त मैं

होगया। परन्तु वस्तुतः तो मैं न मानस पृथिवी रूप हुआ और न प्रसिद्ध पृथिवी रूप ही हुआ ॥२॥ सत् मानों चाहे असत् यह भूपीठ अमानस तो किसी प्रकार भी नहीं है। मन के अस्ति-नास्ति की कल्पना निहित होने से यह सब मन की कल्पना ही है ॥३॥ मैं विशुद्ध चिदाकाश हूं, ऐसे मुझ में चिदात्मा का स्फुरण हो तो संकल्प कहा जाता है ॥४॥ वह मन, वह भूपीठ, वह जगत् और वह ब्रह्मा यह सभी आकाश में संकल्पनगर के समान, चिदाकाश में मन रूपी आकाश ही स्फुरित होता है, इसलिए यह सब कुछ मनोरथ ही है ॥५॥ इस प्रकार वह जो कुछ भी मैं होगया, वह सब मेरा संकल्प ही होने से मनोमात्र ही तो हुआ। केवल धारणा के अभ्यास से संपुष्टि को प्राप्त होकर ही भूमण्डल रूप से अवस्थित होगया ॥६॥ वह मानस भूमण्डल, यह भूमण्डल नहीं है, वह तो उससे विलक्षण और मनोमय है। चिदाकाश का ओर चिति का चेत्य से भिन्न स्फुरण है ॥७॥

इदं स्थिरं सुकठिनं विततं भूमिमंडलं।
अस्तीति जायते बुद्धिर्व्योम्नीव चिरवेदनात् ॥८
यथा स्वप्ने पुरत्वेन चिदेव व्योम्नि भासते।
तथा चिदेव सर्गादाविदं जगदिति स्थितम् ॥९
विद्धि चिद्रूपवालस्य मनोराज्यं जगत्त्रयम्।
महीतलादिकं दृश्यमिदं सर्वं च सर्वदा ॥१०
यतो न किंचित्कुरुते न च रूपं समुज्झति।
तस्मान्न मानसं नेदं किंचिदस्ति महीतलम् ॥११
महीतलमिवाऽऽभाति चिद्व्योमैव निरन्तरम्।
आत्मन्येवाऽन्तलं व्योम यथाऽमलतलं स्थितम् ॥१२
स्वभावमात्रकचनं तत्तदेव यथास्थितम्।
भूमंडलमिवाऽऽत्यच्छ खमेव विशदान्तरम् ॥१३

यह भूमण्डल स्थिर, अति कठिन और विस्तीर्ण है, ऐसी बुद्धि आकाश में नीलत्व के समान, चिरकाल तक अभ्यास करने से प्राप्त हो सकती है॥८॥जिस

प्रकार स्वप्ननगर के रूप में चिदाकाश ही भासित है, वैसे ही इस जगत्-रूप में सर्ग के आदि काल में चिदाकाश ही चिदाकाश में स्थिर रहता है ॥९॥ यह त्रिजगत् और यह पृथिवी आदि सम्पूर्ण दृश्य चितिरूपी बालक का मनोराज्य ही समझो ॥१०॥ चेतन स्वरूप आत्मा न कुछ करता है और न अपने रूप का ही परित्याग करता है, इसलिए न तो मिट्टी और पाषाण वाला यह महीतल कुछ है और न मानस महीतल ही कुछ है ॥११॥ महीतल के समान चिदाकाश ही प्रतीत होता है और अतल चिदाकाश ही अपने स्वरूप में अमल तल होकर स्थित रहता है ॥१२॥ यह यथास्थित जगत् और धारणा से कल्पित जगत् दोनों ही केवल आत्मा का प्राकृतिक स्फुरण है। अति स्वच्छ चिदाकाश ही भेद में प्रविष्ट स्वभाव से भूमण्डल के समान स्थित है ॥१३॥

इदं भूमंडलं तच्च द्वयमेतन्महाचितेः ।
स्वरूपमेव कचति तत्र स्वप्नपुरं यथा ॥१४
इदमाकाशमात्रात्म तदप्याकाशमात्रकम् ।
अज्ञानात्म परिज्ञानाज्ज्ञानान्नेदं न तत्क्वचित् ॥१५
त्रैलोक्यभूतजालानां कालत्रितयभाविनाम् ।
सभ्रमः स्वप्नसकल्पो मनोराज्यदशास्थितौ ॥१६
भूतान्यथो भविष्यन्ति वर्तमानानि यानि च ।
भूमडलानि तान्यग सत्ता सामान्यतां गता ॥१७
अहमेव समग्राणि तेषामन्तर्गतान्यपि ।
तेन तान्यनुभूतानि तथा दृष्टानि चाऽखिलम् ॥१८
चिमात्रमेतदजर परमात्मतत्वं
शुद्धात्मतामजहदगगतं विभर्ति ।
सर्वं यथास्थितमिदं जगदात्तभेदं
वुद्धं सदंगनविभर्त्तितु किंचनाऽपि ॥१९

यह दोनों ही भूमण्डल महाचिति के स्वरूप भूत हुए आपके स्वप्ननगर के समान ही स्फुरित होते हैं ॥१४॥ यह दोनों ही चिदाकाशमात्ररूप

हैं। परन्तु अज्ञान से उत्पन्न आत्मज्ञान के कारण ही वह भासित है। आत्मज्ञान होते ही इन दोनों भूमंडलों की कहीं भी स्थिति नहीं रहती ॥१५॥ भूत, भविष्यत्, वर्तमान,—इन तीनों काल में स्थित त्रिलोकी का सब भूतजाल भ्रान्तिरूप ही है। वह सभी स्वप्न संकल्प और मनोराज्य के समान ही है ॥१६॥ तीनों काल के सभी भूमण्डल सर्वाधिष्ठान होने से सामान्यता को प्राप्त आत्मसत्ता के ही स्वरूप भूत हैं ॥१७॥ सामान्य होने के कारण वे और उनमें विद्यमान जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब मैं ही हूं। इस प्रकार की धारणा करके मन से मैंने उनका अनुभव किया और साक्षी रूप से देखा ॥१८॥ चिन्मात्र और अजर परमात्मतत्व ही अज्ञानावस्था में भी अशुद्धता को प्राप्त न करता हुआ यथास्थित इस जगत् को धारण करता है। परन्तु ज्ञात होने पर वह कुछ भी धारण नहीं करता ॥१९॥

---

## ९५—कुन्ददन्तोपाख्यान

इमं मे संशयं छिन्धि भगवन्भास्करं तमः।
भुवनस्येव भावानां सम्यग्रूपानुभूतये ॥१
कदाचिदहमेकाग्रो विद्यागेहे विपश्चिताम्।
सप्तदि स्थितवान्यावत्तापसः कश्चिदागतः ॥२
विद्वान् द्विजवरः श्रीमान्विदेहजनमंडलात्।
महातपाः कान्तियुतो दुर्वासा इव दुःसहः ॥३
स प्रविश्याऽभिवाद्याऽऽशु सभामाभास्वरद्युतिम्।
उपविश्याऽऽसने तिष्ठन्नस्माभिरभिवादितः ॥४
वेदान्तसांख्यसिद्धान्तवादान् संहृत्य सत्तमम्।
सुखोपविष्टं विश्रान्त तमहं पृष्टवानिदम् ॥५
दिर्घाध्वना परिश्रान्तः सयत्न इव लक्ष्यसे।
वदाऽद्य वदतां श्रेष्ठ कुत आगमनं कृतम् ॥६

एवमेतन्महाभाग सुमहायत्नवानहम् ।
यदर्थमागतोऽस्मीह तस्याऽऽकर्णय निर्णयम् ॥७

श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! जैसे भगवान् भास्कर सांसारिक वस्तुओं की सम्यग् अनुभूति के लिए अन्धेरे को नष्ट करता है, वैसे ही आप मेरे संशय को नष्ट करिये ॥१॥ किसी एक समय की बात है कि मैं एक विद्यागृह स्थित विद्वत्सभा में बैठा था, तभी कोई एक श्रेष्ठ, विद्वान्, तपस्वी, तेजस्वी एवं दुर्वासा ऋषि के समान दुःसह श्रेष्ठ द्विज वहाँ विदेह जनपद से आगया ॥२-३॥ उसने उस सभा में प्रविष्ट होते ही सब को प्रणाम कर आसन ग्रहण किया। उस समय मैंने भी उठकर उसका अभिवादन किया ॥४॥ प्रकरणवश उपस्थित वेदान्त, सांख्य आदि सिद्धान्तों के वाद की समाप्ति पर सुख से बैठे हुए उस श्रेष्ठ ब्राह्मण से मैंने प्रश्न किया ॥५॥ हे विद्वद्वर ! बहुत दूर से चले आने के कारण परिश्रान्त हुए आप किसी अर्थ की प्राप्ति में प्रयत्नवान प्रतीत होते हैं। यह बताइये कि आप कहाँ से आये हैं ॥६॥ ब्राह्मण बोला—हे महाभाग ! आपका अनुमान सत्य है। जिस कार्य के लिए मेरा यहाँ आगमन हुआ है, उस निर्णय को श्रवण कीजिए ॥७॥

वैदेहो नाम देशोऽस्ति सर्वसौभाग्यसंयुतः ।
स्वर्गस्याऽम्बरसंस्थस्य प्रतिबिम्बमिवाऽवनौ ॥८

तत्राऽहं ब्राह्मणो जातः प्राप्तविद्यश्च संस्थितः ।
कुन्दावदातदन्तत्वात्कुन्ददन्त इति श्रुतः ॥९

अथाऽहं जातवैराग्यः प्रविहर्तुं प्रवृत्तवान् ।
देवद्विजमुनीन्द्राणां संभ्रमाच्छ्रमशान्तये ॥१०

श्रीपर्वतमखंडेहं कदाचित्प्राप्तवानहम् ।
तत्राऽवसं चिरं कालं मृदु दीर्घं तपश्चरन् ॥११

तत्राऽस्त्यरण्यं विदितं मुक्तं तृणावनादिभिः ।
त्यक्ततेजस्तमोभ्रादि भूमाविव नभस्तलम् ॥१२

तत्राऽस्ति मध्ये विटपी लघुः पेलवपल्लवः ।
स्थित एषोऽम्बरे शून्ये मन्दरश्मिरिवांऽशुमान् ।।१३
लम्बते तस्य शाखायां पुरुषः पावनाकृतिः ।
भानुर्भानाविव रश्मिगृहीतो ग्रथिताकृतिः ।।१४

जिस प्रकार आकाश में स्वर्ग का प्रतिविम्व स्थित है उसी प्रकार इस पृथिवी पर वैदेह नामक एक अत्यन्त ऐश्वर्यशाली है ।।८।। उसी देश में, मैं ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुआ हूं । विद्याध्ययन आदि से परिपूर्ण होकर मैं वहाँ स्थित रहा । मेरे दाँत कुन्द के पुष्प जैसे उज्वल हैं, इसलिए मेरा नाम ही कुन्ददन्त पड़ गया ।।९।। फिर मेरे हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया और मैं भ्रान्तिजात जगत् के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए देव, द्विज और मुनीश्वरों की ओर जाने में प्रवृत्त हुआ ।।१०।। चलता हुआ मैं एक वार श्रीपर्वत पर जा पहुँचा और वहाँ मैंने चिरकाल तक घोर तपस्या की ।।११।। वहाँ तृण—वन आदि से रहित एक ऐसा अरण्य है, जो पृथिवी में होता हुआ भी आकाश के समान तेज, तम, घन आदि से शून्य ही है ।।१२।। उस अरण्य के मध्य एक मृदु पल्लवों से समन्वित लघु वृक्ष, आकाश में मन्द रश्मियों वाले सूर्य के समान, स्थित है ।।१३।। उस वृक्ष की शाखा में एक पुण्याकार पुरुष रस्सी से बाँधा हुआ ऐसे लटका हुआ था, जैसे कि सूर्य अपनी रश्मियों को बाँध कर लटक रहा हो ।।१४।।

मौञ्जदामनि बद्धोर्ध्वपादो नित्यमवाक्शिराः ।
अष्ठीलत्वं दधदिव महाष्ठीलस्य शाल्मलेः ।।१५
दृष्टः प्राप्तेन तं देशं स कदाचिन्मया पुमान् ।
विचारितो निकटतो वक्ष.स्थाञ्जलिसंपुटः ।।१६
यावज्जीवत्यसौ विप्रो निःश्वसित्यहताकृतिः ।
शीतवाततपस्पर्शान्सर्वान्वेत्ति च कालजान् ।।१७
अनन्तरमसावेको नोपचर्य मया बहून् ।
दिवसातपखेदेन विश्रम्भे पातितः शनैः ।।१८

पृष्टश्च कोऽसि भगवन्किमर्थं दारुणं तपः ।
करोषीदं विशालाक्ष लक्ष्यालक्ष्यात्मजीवितः ॥१९
अथ तेनोक्तमर्थस्ते क इवाऽनेन तापस ।
अर्थे नाऽतिविचित्रा हि भवन्त्वाच्छाः शरीरिणाम् ॥२०
इत्युक्तवान्प्रयत्नेन सोऽनुबन्धेन वै मया ।
यदा पृष्टस्तदा तेन ममोक्तमिदमुत्तरम् ॥२१

उसके पैर मूँज की रस्सी से ऊपर की ओर बंधे थे और सिर नीचे की ओर लटक रहा था। वह बड़ी-बड़ी गाँठों वाले शाल्मलि वृक्ष के गाँठ गँठीले पन को धारण किये लगता था ॥१५॥ घूमता हुआ उस प्रदेश मे पहुँचा हुआ मैं वक्षःस्थल में अंजलि बाँधकर प्रणाम करता हुआ उसे देखने लगा और फिर उसके पास जाकर सोचने लगा ॥१६॥ यह ब्राह्मण निरन्तर अहताकृति होकर श्वास लेता और शीत, वात, धूप आदि के स्पर्श का अनुभव करता हुआ जीवित है ॥१७॥ तब मैं अनेक दिवसों तक धूप आदि सहकर उसकी उपचर्या करने लगा, जिससे वह मेरे प्रति विश्वस्त हो गया ॥१८॥ फिर मैंने पूछा—हे भगवन् ! हे विशालाक्ष ! आप कौन हैं ? चिरकाल के दीर्घोच्छ्वासों से लक्ष्य-अलक्ष्य होते हुए जीवन में इस प्रकार की घोर तपस्या क्यों कर रहे हैं ? ॥१९॥ उसने उत्तर दिया—हे तपस्वी ! मेरे कुल, देश और तपस्या के तात्पर्य को जानने से आपका क्या प्रयोजन है ? क्योंकि देह धारियों को सभी इच्छाएँ किसी न किसी कारण से ही होती हैं ॥२०॥ उसके यह कहने पर मैंने प्रयत्न और विनय युक्त आग्रह किया, तब उसने मुझे इस प्रकार उत्तर दिया ॥२१॥

मथुरायामहं जातो वृद्धिं यातः पितुर्गृहे ।
बाल्ययौवनयोर्मध्ये स्थितः पदपदार्थवित् ॥२२
समग्रसुखसंभारकोशो भवति भूमिपः ।
इत्यहं श्रुतवांस्तत्र भोगार्थी नवयौवनः ॥२३

अथसप्तमहाद्वीपविस्तीर्णाया भुवः पतिः ।
स्यामित्यहमुदारात्मा परिविम्बितवांश्चिरम् ॥२४
इत्यर्थेन समागत्य देशमित्थमहं स्थितः ।
अत्र द्वादश वर्षाणि समतीतानि मानद ॥२५
तदकारणमित्र त्वं गच्छेष्टं देशमाशुगः ।
अहं चाऽभिमतप्राप्तेरित्थमेव।दृढस्थितिः ॥२६
इति तेनाऽहमुक्तः संस्तमित्थं प्रोक्तवाञ्छृणु ।
आश्चर्यश्रवणे चेतः खेदमेति न धीमतः ॥२७
साधो यावत्त्वया प्राप्तो न नामाऽभिमतो वरः ।
त्वद्रक्षापरिचर्यार्थमिह तावदहं स्थितः ॥२८

वह बोला—मैं मथुरा में उत्पन्न हुआ और अपने पितृगृह में ही प्रवृद्ध हुआ तथा मुझे अपने बाल्यकाल और यौवनावस्था के मध्य ही पद-पदार्थ का ज्ञान हो गया ॥२२॥ मैंने सुना है कि सम्पूर्ण भोगपदार्थों का आश्रय राजा होता है तथा भोग की इच्छा वाला नवयौवन होता है ॥२३॥ यह सुनने के कारण ही मुझमें यह इच्छा चिरकाल तक बलवती रही कि मैं सप्तमहाद्वीपों के विस्तार वाली इस पृथिवी का स्वामी हो जाऊँ ॥२४॥ इस देश में मैं इसी प्रयोजन से आकर रहा हूँ और हे मानद ! इस प्रकार मेरे यहाँ पर बारह वर्ष व्यतीत हो चुके हैं ॥२५॥ हे अकारण मित्र ! तुमने जो पूछा वह मैंने बता दिया अब तुम जिस देश में जाना चाहो, वहाँ चले जाओ, मैं भी अपनी काम्य तपस्या में लगता हूँ ॥२६॥ उसके ऐसा कहने पर मैंने उससे जो कहा, अब उसे सुनिये । क्योंकि विस्मयपूर्वक वृत्तान्त को सुनकर किस समझदार को खेद नहीं होगा ? ॥२७॥ मैंने उससे कहा—हे साधो ! जब तक तुम्हें इच्छित वर की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक मैं तुम्हारी रक्षा और परिचर्या करता हुआ यहीं स्थित रहूँगा ॥२८॥

मयेत्युक्ते स पाषाणमौनवानभवच्छमी ।
निमीलितेक्षणः क्षीणरूपस्त्वकलनो बहिः ॥२९

तथाऽहं पुरतस्तस्य काष्ठमौनवतोऽवसम् ।
षण्मासान्विगतोद्वेगं वेगान्कालकृतान्सहन् ॥३०
अर्कबिम्बाद्विनिष्क्रम्य तत्प्रदेशांतरे स्थितम् ।
एकदा दृष्टवानस्मि पुरुषं भानुभास्वरम् ॥३१
स तेन पूज्यते यावन्मनसा कर्मणा मया ।
उवाच तावद्वचनममृतस्यन्दसुन्दरम् ॥३२
शाखाप्रलम्बनपर हे ब्रह्मन्दीर्घतापस ।
तपः संहर संहारि गृहाणाऽभिमतं वरम् ॥३३
सप्ताब्धिद्वीपवलयां पालयिष्यसि मेदिनीम् ।
सप्तवर्षसहस्राणि देहेनाऽनेन धर्मतः ॥३४
एवं समीहितं दत्त्वा स द्वितीयो दिवाकरः ।
गन्तुमस्तमथाऽर्काब्धिमविशत्प्रोदितो यतः ॥३५

मेरे इस प्रकार कहने पर वह पाषाण के समान मौन हो गया, उसके नेत्र बन्द हो गए और वह बाहर से हिलने-डुलने से निवृत्त होकर मृतक जैसा हो गया ॥२६॥ तब उस काष्ठ के समान मौनावलम्बी के समक्ष मैं भी समयानुसार प्राप्त शीत-उष्ण आदि वेगों को सहता हुआ छः महीने तक वहाँ अवस्थित रहा ॥३०॥ इसी मध्य एक दिन सूर्यबिम्ब से प्रकट होकर उस प्रदेश में स्थित सूर्य के समान प्रकाशमान एक पुरुष मुझे दिखाई दिया ॥३१॥ तब उस तपस्वी ने उसका मानसिक पूजन किया और मैंने भी अर्घादि के दान द्वारा उसकी अभ्यर्चना की। फिर वह पुरुष अमृतद्रव के समान रसमय वाणी में कहने लगा ॥३२॥ हे ब्रह्मन्! आप वृक्ष की शाखा में दीर्घकाल से लटके हुए तपस्या कर रहे हैं, अब आप इस तपश्चर्या को समाप्त करते हुए अपना इच्छित वर प्राप्त करलो ॥३३॥ तुम अपने इसी शरीर से सात समुद्रों से वेष्टित पृथिवी का सात सहस्र वर्ष तक धर्म पूर्वक पालन करने वाले होओगे ॥३४॥ इस प्रकार इच्छित वर प्रदान कर वह द्वितीय सूर्य के समान पुरुष, जहाँ से प्रकट हुआ था, वहीं सूर्यमंडल में समा गया ॥३५॥

तस्मिन् याते मया प्रोक्तं तस्य शाखातपस्विनः ।
श्रुतदृष्टानुभूताग्रयवरदस्य विवेकिनः ॥३६
संप्राप्ताभिमतं ब्रह्मंस्तरुशाखावलम्बनम् ।
तपस्त्यक्त्वा यथाप्राप्तं व्यवहारं समाचर ॥३७
एवमङ्गीकृतवतः पादौ तस्य मया ततः ।
मुक्तौ विटपिनस्तस्मादालानात्कालभाविव ॥३८
स्नातः पवित्रहस्तोऽसौ चक्रे जप्त्वाऽघमर्षणम् ।
फलेन पुण्यलब्धेन विटपाद् व्रतपारणम् ॥३६
तत्पुण्यवशतः प्राप्तैः स्वादुभिस्तैस्तरोः फलैः ।
समाश्वस्तावसंक्षुब्धावावां तत्र दिनत्रयम् ॥४०
सप्तद्वीपसमुद्रमुद्रितदिशं भोक्तुं समग्रां महीं
विप्रः पादपलम्बितेन वपुषा तप्त्वोर्ध्वपादस्तपः ।
संप्राप्याऽभिमतं वरं दिनकृतो विश्वस्य चाऽह्नां त्रयं
सार्धं मत्सुहृदा स्वमेव सदनं गन्तुं प्रवृत्तोऽभवत् ॥४१

उसके अदृश्य होते ही जैसा मैंने सुना था, उसी रूप में उस सूर्य पुरुष को देखने और वरदान प्राप्त करने वाले उस विवेकी तापस से मैंने कहा ॥३६॥ हे ब्रह्मन् ! वृक्ष की शाखा का अवलम्बन करके आपने जो तप किया, उसका फल आपको मिल चुका है, अब आप तपस्या को त्याग कर घर जाने आदि के यथोचित कार्य में लगिये ॥३७॥ उसने यह स्वीकार कर लिया तो मैंने उसे वृक्ष से इस प्रकार खोल दिया, जिस प्रकार कि गजशावक के पाँवों को बंधन स्तम्भ से खोल देते हैं ॥३८॥ तब उसने स्नान किया और हाथों को स्वच्छ कर तप की सिद्धि से उसी वृक्ष के फलों द्वारा उसने मेरे साथ अपने व्रत का पारण किया ॥३६॥ उसी के पुण्य-फल स्वरूप उस तरु के सुस्वादु फलों से तृप्त हुए हम दोनों वहाँ तीन दिन तक सुखपूर्वक रहे ॥४०॥ सप्तद्वीप और समुद्रों से व्याप्त दिशाओं से समन्वित सम्पूर्ण मही की उपभोगकामना वाला वह तपस्वी वृक्ष में पैर लटका कर घोर तप करके सूर्य पुरुष से इच्छित वर को प्राप्त हो गया

और तीन दिन तक उसी वृक्ष के नीचे विश्राम कर थकान से निवृत्त होता हुआ मुझ सुहृद को साथ लेकर अपने गृह मथुरा के लिए चल पड़ा ।।४१।।

---

## ८६—कुन्ददन्तोपाख्यान (२)

आवासमन्तरे गन्तुं प्रवृत्तो मुदिताकृती ।
मथुरानगरीं चन्द्रसूर्याविन्द्रपुरीमिव ।।१
प्राप्य रोधाभिधं ग्रामं विश्रम्याऽऽम्रवणाचले ।
उषितौ द्वे दिने तस्मिन्सालीसे नगरे सुखम् ।।२
प्राप्तावावां तृतीयेऽह्नि अब्जपण्डकमण्डितम् ।
जङ्गलं जनविच्छेदविभक्तं खमिवाऽऽकृतम् ।।३
तत्र स प्रकृतं मार्गं परित्यज्य वनान्तरम् ।
प्रविशन्स मुवाचेदमकार्यंकरणं वचः ।।४
गच्छावोऽत्राऽऽश्रमे गौर्या मुनिमंडलमण्डिते ।
भ्रातरो मे स्थिताः सप्त वनेष्वेवमिवार्ऽथिनः ।।५
भ्रातरोऽष्टौ वयमिमे जातानेकतया तया ।
एक संविन्मया जाता एकसंकल्पनिश्चयाः ।।६
तेन तेऽप्यत्र तपसे स्वनिश्चयसमाश्रयाः ।
स्थिता आगत्य विविधैस्तपोभिः क्षपितैनसः ।।७

कुन्ददन्त बोला—हे भगवन् ! जिस प्रकार चन्द्रमा और सूर्य इन्द्रपुरी में जाने के लिए सायंकाल में विश्राम करते हैं, वैसे ही हम भी मुदितमुख से मथुरा नगरी को जाते हुए मध्य मार्ग में विश्राम करने लगे ।।१।। रोध नामक ग्राम में पहुँचकर वहाँ आम्र-वन वाले पर्वत पर विश्राम किया और फिर सालास नामक नगर में दो दिन सुखपूर्वक व्यतीत किये ।।२।। फिर तीसरे दिन कमलों और लता कुंजों से समन्वित अरण्य में, जिसे लकड़-हारों ने काट-काट कर विभाजित कर दिया था, इसलिए मेघ-खंडों के

समान प्रतीत होता था उसमें हम जा पहुंचे ॥३॥ तब हम प्रकृत मार्ग से हट कर अन्य वन में प्रविष्ट होने लगे, उस समय उस तापस ने समय के विलम्ब से उपस्थित घर जाने में बाधक अकार्यकारण रूपी वचन कहा ॥४॥ वह बोला—हम यहाँ गौरी के आश्रम में चलते हैं, जो कि मुनि-मण्डली से युक्त है। मेरे समान भूपति बनने के इच्छुक मेरे सात भाई यहाँ स्थित हैं ॥५॥ इस प्रकार हम आठ भाई हैं, सात द्वीपों के भोगों से जनित मनोरथों वाले होकर हम सब एक ही निश्चय पर पहुंचे ॥६॥ इसलिए मेरे वे सातों भाई अपने निश्चयानुसार गौरीवन में तप करते हुए सब पापों से मुक्त हो चुके हैं ॥७॥

तेनेत्युक्ते च तावावां प्राप्तौ मुन्याश्रमं च तम् ।
यावत्तत्र महारण्ये पश्यावश्चाऽन्यरूपिणम् ॥८

न वृक्षं नोटजं किंचिन्न गुल्मं न च मानवम् ।
न मुनिं नाऽर्भकं नाऽन्यन्न वेदिं न च वा द्विजम् ॥९

केवलं शून्यमेवाऽस्ति तदरण्यमनन्तकम् ।
तापोपतप्तमभितो भूमौ स्थितमिवाऽम्बरम् ॥१०
हा कष्टं किमिदं जातमिति तस्मिन्वदत्यथ ।
आवाभ्यां सुचिरं भ्रान्त्वा दृष्ट एकत्र वृक्षकः ॥११
स्निग्धच्छविर्घनच्छायः शीतलोऽम्बुधरोपमः ।
तले तस्य समाधाने संस्थितो वृद्धतापसः ॥१२
आवामग्रे मुनेस्तस्य च्छायायां शाद्वलस्थले ।
उपविष्टौ चिरं यावन्नाऽसौ ध्यानान्निवर्तते ॥१३

ततश्चिरेण कालेन मयोद्वेगेन चापलात् ।
उक्तं मुने प्रबुध्यस्व ध्यानादित्युच्चकैर्वचः ॥१४

उसके इस प्रकार कहने पर हम दोनों ही मुनियों के उस आश्रम में गये, परन्तु उस महारण्य में वह आश्रम हमें अन्त हुआ दिखाई दिया ॥८॥ उस समय वहाँ कोई वृक्ष, गुल्म, कुटी, मनुष्य, मुनि, बालक वेदी या

अन्य कुछ भी हमें दिखाई न दिया ॥९॥ वह अनन्त बन नितान्त शून्य था और सब ओर सूर्य-ताप से सन्तप्त होकर पृथिवी में ही आकाश के समान प्रतीत हो रहा था ॥१०॥ यह देखकर उस तपस्वी के मुख से निकल पड़ा—'हाय यह कैसा कष्ट उत्पन्न हो गया ?' इसके पश्चात् बहुत समय तक भटकने के पश्चात् हमें एक स्थान पर एक वृक्ष दिखाई दिया ॥११॥ वह शीतल वृक्ष घनी छाया से युक्त, मेघ जैसा श्याम एवं आकर्षक था, उसके नीचे एक वृद्ध तपस्वी समाधि में स्थित था ॥१२॥ उस मुनि के आगे हरी घास वाली पृथिवी पर छाया में बैठकर हम उसकी ध्यान-निवृति की प्रतिक्षा करते रहे। चिरकाल तक प्रतीक्षा करने से मुझमें उद्वेग उत्पन्न हुआ और मैंने चपल भाव से उच्च स्वर में कहा—हे मुने ! चेत कीजिए ॥१३-१४॥

शब्देनोच्चैर्नदीयेन संप्रवुद्धोऽभवन्मुनिः ।
सिंहोऽम्बुदरवेणेव जृम्भां कृत्वाऽभ्युवाच च ॥१५
कौ भवन्ताविमौ साधू क्वाऽसौ गौर्याश्रमो गतः ।
केन वाऽहमिहाऽऽनीतः कालोऽयं कश्च वर्तते ॥१६
तेनेत्युक्ते मयाऽप्युक्तं भगवन्विद्धि चेदृशम् ।
न किंचिदावां बुद्धोऽपि कस्माज्जानासि न स्वयम् ॥१७
इति श्रुत्वा स भगवान्पुनर्ध्यानमयोऽभवत् ।
ददर्शोदन्तमखिलमस्माकं स्वात्मनस्तथा ॥१८
मुहूर्तमात्रेणोवाच प्रवुध्य ध्यानतो मुनिः ।
श्रूयतामिदमाश्चर्यमार्यौ हि कार्यवेदिनौ ॥१९
यमिमं पश्यथः साधू कदम्वतरुपत्रकम् ।
मदास्पदमरण्यान्या धम्मिल्लमिव पुष्पितम् ॥२०
केनाऽपि कारणेनाऽस्मिन्सती वागीश्वरी सती ।
अवसद्द्वर्षाणि समस्ततुं निषेविता ॥२१

मेरे उस उच्च स्वर से मुनि का ध्यान भंग हो गया और तब वे सिंह एवं मेघ के समान गम्भीर ध्वनि सहित, जँभाई लेते हुए बोले—हे साधो !

आप कौन हैं ? वह गौरी आश्रम कहाँ चला गया ? मुझे इस निर्जन वन में कौन लाया ? अब कौन-सा युग वर्तमान है ? ॥१५-१६॥ उसके ऐसा कहने पर मैं बोला—हे भगवन् ! हमें यह क्या मालुम ? आप सर्वज्ञ हैं, इस लिए अपने योगबल से सब कुछ आप स्वयं ही क्यों नहीं जान लेते ? ॥१७॥ यह सुनकर वह सिद्ध तपस्वी ध्यान-मग्न हुए और तब उन्होंने हमारा और अपना सम्पूर्ण वृत्त जान लिया ॥१८॥ मुहूर्त्तभर में ही ध्यान छोड़कर वे बोले—हे कार्यज्ञाता आर्यो ! अब आप इस आश्चर्यमय वृत्तान्त को सुनिये ॥१९॥ हे साधुओ ! मेरे रहने का स्थान यह जो वनदेवी की चोटी के समान दिखाई देता हुआ कदम्ब-पुत्र है, यहाँ किसी कारणवश भगवती सती ही सरस्वती के रूप में सब ऋतुओं से सेवित हुई दस वर्ष तक निवास करती रहीं ॥२०-२१॥

तदा तेनेह विस्तीर्णमभवद्वनकाननम् ।
गौरीवनमिति ख्यातं भूषितं कुसुमर्तुभिः ॥२२
तस्मिन्नेव कदम्बेऽस्मिन्वर्षाणि स्वेच्छया दश ।
स्थित्वा गौरी जगामाऽथ हरवामार्धमन्दिरम् ॥२३
तत्स्पर्शामृतसिक्तोऽयं कदम्बतरुपञ्जकः ।
उत्सङ्गः इव चासीनो न यात्येव पुराणताम् ॥२४
ततो गौर्यां प्रयातायां तद्वनं तादृशं महत् ।
सामान्यवनतां यातं जनवृन्दोपजीवितम् ॥२५
मालवो नाम देशोऽस्ति तत्राऽहं पृथिवीपतिः ।
कदाचित्त्यक्तराज्यश्रीर्मुनीनामाश्रमान्भ्रमन् ॥२६
इमं देशमनुप्राप्त इह चाश्रमवासिभिः ।
पूजितोऽस्य कदम्बस्य ध्याननिष्ठस्तले स्थित ॥२७
केनचित्त्वथ कालेन भ्रातृभिः सप्तभिः सह ।
भवानभ्यागतः पूर्वं तपोर्थमिममाश्रमम् ॥२८

उनके यहाँ निवास करने के कारण ही यहाँ विस्तृत अरण्य ह गया और पुष्पित ऋतुओं से सुशोभित वह वन गौरीवन के नाम से प्रसिद्ध हुआ

आठों में से तुम श्रीपर्वत पर चले गये, तुम्हारा दूसरा भाई स्वामी कार्तिकेय के समीपस्थ क्रौंच पर्वत पर, तीसरा भाई काशी में और चौथा भाई हिमाचल पर्वत पर गया। शेष चारों धीर भाई यहीं रह कर तप करने लगे ॥३०-३१॥ उनमें से सभी की एक यही इच्छा थी कि मैं समस्त द्वीपों से युक्त पृथिवी का महीपति हो जाऊँ ॥३२॥ इसके अनन्तर उनके इष्टदेव उनकी तपस्या से सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने श्रेष्ठ वर-प्रदान द्वारा उनका इच्छित पूर्ण किया ॥३३॥ तब आपके अतिरिक्त अन्य सब भाई उसी प्रकार अपने गृह को चले गये, जिस प्रकार की पृथिवी पर सत्युग का उपभोग करने के पश्चात् ब्रह्माजी अपने लोक को चले जाते हैं ॥३४॥ श्रेष्ठ वरदान के समय तुम्हारे उन भ्राताओं ने वर देने के लिए प्रस्तुत अपने इष्टदेवताओं से इस प्रकार प्रार्थना की ॥३५॥

देव्यस्माकमिमे सर्वे सप्तद्वीपेश्वरस्थितो।
सत्याः प्रकृतयः सन्तु सर्वं आश्रमवासिनः ।।३६
तमिष्टदेवतासार्थमुररीकृत्य सादरम्।
तेषामस्त्वेवमित्युक्त्वा जगामाऽतर्द्धिमीश्वरी ॥३७
ते ततः सदनं यातास्तेषामाश्रमवासिनः।
सर्वं एव गताः पश्चादेक एवाऽस्मि नो गतः ॥३८
अहं केवलमेकान्ते ध्यानैकगतमानसः।
वागीश्वरीकदम्बस्य तले तिष्ठामि शैलवत् ॥३९
अथ काले वहत्यस्मिन्नृतुसंवत्सरात्मनि।
इदं सर्वं वनं छिन्नं जनैः पर्यन्तवासिभिः ॥४०
इदं कदम्बमम्लानं जनताः पूजयन्त्यलम्।
वागीश्वरीगृहमिति मां चैवैकसमाधिगम् ॥४१
अथैनं देशमायातौ भवन्तौ दीर्घतापसौ।
एतत्तत्कथितं सर्वं ध्यानदृष्टं मयाऽखिलम् ॥४२

वे बोले—हमारी सप्तद्वीपेश्वरत्व में स्थिति के समय समस्त प्रजा सत्य और स्वाभाविक व्यवहार में रत रहे, यह सब आश्रमवासी भी इसी प्रकार

तस्मादुत्थाय हे साधू गच्छतं गृहमागतौ ।
तत्र ते भ्रातरः सर्वे संगता दारबन्धुभिः ॥४३
अष्टानां भवतां भव्यं सदने स्वे भविष्यति ।
महात्मनां ब्रह्मलोके वसतामिव संगमः ॥४४
इत्युक्ते तेन स मया पृष्टः परमतापसः ।
संदेहादिदमाश्चर्यमार्यास्तद्वर्णयाम्यहम ॥४५
ऐकैव सप्तद्वीपाऽस्ति भगवन्भूरियं किल ।
तुल्यकालं भवन्त्यष्टौ सप्तद्वीपेश्वराः कथम ॥४६
असमञ्जसमेतावदेव नो यावदुच्यते ।
इदमन्यदसंबद्धतरं संश्रूयतां मम ॥४७
एतेऽष्टौ भ्रातरस्तत्र तापसा देहसक्षये ।
सप्तद्वीपेश्वराः सर्वे भविष्यन्ति गृहोदरे ॥४८
अस्त्येतेषां किलाऽष्टानां भार्याष्टकमनिन्दितम् ।
दिगन्तराणां नियतं ताराष्टकमिवोज्ज्वलम् ॥४९

इसलिए हे साधुओ ! अब तुम उठकर अपने घर चले जाओ । वहाँ तुम्हारे सभी भाई अपनी स्त्रियों और बांधवों से मिल चुके हैं । ब्रह्मलोक

में हुए अष्टवसुओं के भव्य समागम के समान ही यह तुम आठों का भव्य समागम होगा ॥४३-४४॥ उसके इस प्रकार कहने पर उस परमतापस से मैंने संदेहवश जो आश्चर्य वृत्तान्त पूछा, वह कहता हूँ ॥४५॥ हे भगवन् ! यह सप्तद्वीप वाली पृथिवी तो एक ही सुनी जाती है, तब यह आठों एक-सी ही सप्तद्वीपा पृथिवी के राजा कैसे हो सकेंगे ? ॥४६॥ इस पर उन कदम्बतपस्वी ने उत्तर दिया—इनके विषय में यही एक असम्बद्ध वृत्तान्त नहीं है, अपितु जो दूसरा इससे भी अधिक असम्बद्ध है, उसे सुनिये ॥४७॥ यह आठों तपस्वीभ्राता शरीर नष्ट हो जाने पर घर के भीतर रहते हुए ही सप्तद्वीपेश्वर हो जायँगे ॥४८॥ इन आठों की पूर्वादि दिशाओं की नियत आठ तारिकाओं के समान आठ भार्याएँ प्रसिद्ध हैं ॥४९॥

तद्भार्याष्टकमेतेषु यातेषु तपसे चिरम् ।
बभूव दुःखितं स्त्रीणां यद्वियोगो हि दुःसहः ॥५०
दुःखिताः प्रत्यये तेषां चक्रुस्ता दारुणं तपः ।
शतचान्द्रायणं तासां तुष्टाऽभूत्तेन पार्वती ॥५१
अदृश्योवाच सा तासां वचोऽन्तःपुरमन्दिरे ।
देवी सपर्यावसरे प्रत्येकं पृथगीश्वरी ॥५२
भर्त्रर्थमथ चाऽऽत्मार्थं गृह्यतां बालिके वरः ।
चिरं विलष्टाऽसि तपसा निदाघेनेव मञ्जरी ॥५३
इत्याकर्ण्य वचो देव्या दत्तपुष्पा चिरंटिका ।
स्ववासनानुसारेण कुर्वाणेवेश्वरीस्तवम् ॥५४
आनन्दमन्थरोवाच वचनं मृदुभाषिणी ।
आकाशसंस्थितां देवीं मयूरीवाऽभ्रमालिकाम् ॥५५
देवि देवाधिदेवेन यथा ते प्रेम शम्भुना ।
भर्त्रा मम तथा प्रेम स भर्ताऽस्तु ममाऽमरः ॥५६

इनके तपस्या हेतु चले जाने पर वे आठों चिरकाल तक अत्यन्त सन्तप्त रहीं थीं, क्योंकि स्त्रियों के लिए वियोगदुःख असहनीय होता है

॥५०॥ उन दुःखिताओं ने बार-बार अपने पतियों का स्मरण करते हुए शतचान्द्रायण व्रतादि के रूप में घोर तपस्या की, जिससे पार्वतीजी अत्यन्त प्रसन्न हो गईं ॥५१॥ अन्तःपुर मंदिर में पूजन के समय अदृश्य-रूप से स्थित हुईं वह ईश्वरी उनमें से प्रत्येक से पृथक्-पृथक् कहने लगीं ॥५२॥ देवी बोलीं—हे बालिके ! उष्णता से मंजरी के चिरकाल पर्यन्त क्लेश पाने के समान ही तुमने कठिन तप करके अत्यन्त दुःख पाया है, अतः अपने पति के लिए और अपने लिए भी वर माँग लो ॥५३॥ यह सुनकर उस मृदुभाषिणी ने देवी को पुष्पांजलि समर्पित की और आनन्द विभोर होकर अपनी इच्छानुसार मेघमालिका से मोरनी के बोलने के समान आकाश में स्थित भगवती से निवेदन किया ॥५४-५५॥ वह बोली—हे देवि ! देवाधिदेव भगवान शंभु के साथ जैसा आपका प्रेम है, वैसा ही प्रेम मेरा भी अपने भर्त्ता के साथ रहे और मेरे स्वामी अमरत्व को भी प्राप्त हों ॥५६॥

आसृष्टं नियतेर्दार्ढ्यादमरत्वं न लभ्यते ।
तपोदानैरतोऽन्य त्वं वरं वरय सुव्रते ॥५७
अलभ्यमेतन्मे देवि तन्मद्भर्तुर्गृहान्तरात् ।
मृतस्य मा विनिर्यातु जीवो बाह्यमपि क्षणात् ॥५८
देहपातश्च मे भर्तुर्यदा स्यादात्ममन्दिरे ।
तदेतदस्त्विति वरो दीयतामम्बिके मम ॥५९
एवमस्तु सुते त्वं च पत्युर्लोकान्तरास्थिते ।
भविष्यसि प्रिया भार्या देहान्ते नाऽत्र संशयः ॥६०
इत्युक्त्वा विररामाऽसौ गौरी गीर्गगनोदरे ।
मेघमालाध्वनिरिव निरवद्यसमुद्यता ॥६१
देव्यां गतायां भर्तारस्तासां कालेन केनचित् ।
ते ककुब्भ्यः समाजग्मुः सर्वे प्राप्तमहावराः ॥६२
अद्याऽन्यमपि संयातु भार्याया निकटं पतिः ।
भ्रातॄणां बान्धवानां च भवत्वन्योन्यसंगमः ॥६३

देवी ने कहा—हे सुव्रते ! आदि सृष्टि के आरंभ से नियति पर्यन्त दान आदि के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति संभव नहीं है, अतः तुम किसी अन्य वर की याचना करो ॥५७॥ वह बोली—हे देवि ! यदि यह मेरे लिए अलभ्य है तो मुझे यह वर दीजिए कि अपने गृह में देहपात होते हुए मेरे पति का प्राण घर से क्षण भर के लिए भी बाहर न जाय ॥५८-५९॥ देवी ने कहा—हे सुते ! ऐसा ही हो, जब तुम्हारा पति मर कर सप्तद्वीप के अधिपतित्व में स्थित हो जायगा तब तुम उसकी प्रिय पत्नी रहोगी, इसमें संशय नहीं है ॥६०॥ जिस प्रकार निर्दोष रूप से उद्यत मेघमाला की ध्वनि मौन धारण कर लेती है, वैसे ही कल्याणोद्यत देवी पार्वती भी मौन हो गई ॥६१॥ भगवती के चले जाने पर उन ब्राह्मणियों के सब पति महान् वर को प्राप्त करके दिशाओं से घर लौट आये ॥६२॥ अब यह पति भी अपनी पत्नी के निकट पहुँचे और सब भ्राताओं एवं बांधवों का परस्पर मिलन हो ॥६३॥

इदमन्यदथैतेषामसमञ्जसमाकुलम् ।
शृणु किंवृत्तमाश्चर्यमार्यकार्योपरोधकम् ॥६४
तप्यतां तप एतेषां पितरौ तौ वधूयुतौ ।
तीर्थमुन्याश्रमश्रेणीं द्रष्टुं दुःखान्वितौ गतौ ॥६५
शरीरनैरपेक्ष्येण पुत्राणां हितकाम्यया ।
गन्तुं कलापग्रामं तं यत्नवन्तौ बभूवतुः ॥६६
तौ प्रयातौ मुनिग्राममार्गे ददृशतुः स्थितम् ।
पुरुषं कपिलं ह्रस्वं भस्माङ्गं चोर्ध्वमूर्धजम् ॥६७
धूलीलवमनादृत्य तं जरत्पान्यशङ्कया ।
यदा तौ जग्मतुस्तेन स उवाचाऽन्वितः क्रुधा ॥६८
सत्रधूक महामूर्ख तीर्थार्थी दारसंयुतः ।
मां दुर्वासमुल्लङ्घ्य गच्छस्यविहितानतिः ॥६९
वधूनां ते सुतानां च गच्छतस्तपसाऽर्जिताः ।
विपरीता भविष्यन्ति लब्ध्वा अपि महावराः ॥७०

अब तुम इनके सत्कर्म के फलों की प्राप्ति में बाधा रूपी अन्य असमंजस और आश्चर्ययुक्त घटना का श्रवण करो ॥६४॥ जब यह आठों भाई तपस्या कर रहे थे, तब वियोग-दुःख से आकुल इनके माता-पिता इनकी पत्नियों को साथ लेकर तीर्थों और मुनियों के आश्रमों में गये॥६५॥ वे अपने देह-सुख से निरपेक्ष रहते हुए अपने पुत्रों की हितकामना से कलापग्राम नामक तीर्थ को जाने लगे ॥६६॥ मार्ग में एक मुनियों के आश्रम में पहुँचते-पहुँचते उन्होंने एक उज्वल पुरुष को देखा। वह कपिल वर्ण का, लघुकाय, शरीर में भस्म रमाये हुए और उर्ध्व मूर्धा वाला था ॥६७॥ उन्होंने उसे कोई वृद्ध पथिक समझ कर उसकी उपेक्षा की और उस पर अपने पांवों की धूल उड़ाते हुए बढ़ चले। इससे कुपित होकर उस वृद्ध ने कहा ॥६८॥ अरे सवधूक ! हे महामूर्ख ! तू पत्नी-सहित तीर्थाटन की इच्छा वाला होकर भी मुझ दुर्वासा की उपेक्षा करके चला जा रहा है ॥६९॥ इस प्रकार चले जाते हुए तुम्हारे बहुओं और पुत्रों के तप से अर्जित महान् वर भी विपरीत हो जाँयगे ॥७०॥

इत्युक्तवन्तं तं यावत्सदारोऽथ वधूयुतः ।
सन्मानं कुरुते तावन्मुनिरन्तर्धिमाययौ ॥७१

अथ तौ पितरौ तेषां सवधूकौ सुदुःखितौ ।
कृशीभूतौ दीनमुखौ निराशौ गृहमागतौ ॥७२

अतो वदाम्यहं तेषां नैकं नामाऽसमञ्जसम् ।
असमञ्जसलक्षाणि गण्डे स्फोटाः स्फुटा इव ॥७३

चिद्व्योमसंकलमहापुरेऽस्मिन्
नित्यं विचित्राण्यसमञ्जसानि ।
निःशून्यरूपेऽपि हि संभवन्ति
दृश्ये यथा व्योमनि दृश्यजृम्भाः ॥७४

तब तो वह अपनी पत्नी और बहुओं के सहित मुनि का सन्मान करने के लिए प्रवृत्त हुआ, परन्तु उसके ऐसा करने से पूर्व ही दुर्वासा मुनि अन्त-

र्धान हो गए ॥७१॥ यह देखकर बहुओं और पत्नी सहित वह अत्यन्त दुःखित होता हुआ सूख कर दुबला हो गया। म्लान मुख लिये हुए वह निराश होकर घर को लौट गया ॥७२॥ इसीलिए मैं कहता हूँ कि इनका वृत्त एक ही असमंजस नहीं, अपितु गले पर हुए बड़े फोड़े पर अनेक फोड़े होकर फूटते हों, वैसे लाखों ही असमंजस हैं ॥७३॥ जिस प्रकार कि उपद्रववश आकाश में गन्धर्वपुर, उल्का आदि विचित्र दृश्य विकसित होते हैं, उसी प्रकार चिद्व्योम के संकल्पभूत नितान्त शून्य दृश्यरूप इस महान् पुर में लाखों ही असमंजस भरे पड़े हैं ॥७४॥



## ७—सप्तद्वीपेश्वरता की प्राप्ति

ततः पृष्टो मया तत्र स गौर्याश्रमतापसः ।
तापशुसंष्कदर्भाग्रजराजर्जरमूर्धजः ॥१

एकैव सप्तद्वीपाऽस्ति वसुधा यत्र तत्र ते ।
सप्तद्वीपेश्वरा अष्टौ भवन्ति कथमुत्तमाः ॥२

यस्य जीवस्य सदनान्नास्ति निर्गमनं बहिः ।
स करोति कथं सप्तद्वीपेशत्वेन दिग्जयम् ॥३

यैर्वरा वरदैर्दत्ताः शापैस्ते तद्विरुद्धताम् ।
कथं गच्छन्ति गच्छन्ति कथं छाया हि तापताम् ॥४

संपश्यसि किमेतेषां भो साधो शृण्वनन्तरम् ।
अष्टमेऽस्मिन्सुसंप्राप्ते तं प्रदेशं सबान्धवम् ॥५

इतो भवन्तौ तं देशमासाद्य सुखसंस्थितौ ।
स्वबन्धुसुखसंस्थानौ कंचित्कालं भविष्यतः ॥६

ततस्तेऽष्टौ मरिष्यन्ति भ्रातरः क्रमशो गृहे ।
बन्धवोऽथ करिष्यन्ति तेषां देहांस्तदग्निसात् ॥७

तदनन्तर पृथक्-पृथक् अवस्थित हुए वे जीव मुहूर्तमात्र के लिए सुषुप्ति में जड़ के समान रहेंगे ।।८।। इसी अवसर में उनके वे वरदान या शापरूपी कर्मफल आकाश में एक स्थान पर एकत्र हो जायगे ।।९।। वे कर्म अपने-अपने फल देने वाले देवता के रूप में होकर अपनी अनुकूलता से पृथक्-पृथक् संपुट रूप होकर वर और शाप रूपी शरीरों का पृथक्-पृथक् ही निर्माण करेंगे।।१०।। यहाँ वे वरदान सुभग, पद्मपाणि, ब्रह्मदण्डायुध-विभूषित, चन्द्रमा के समान उज्वल और चार भुजाओं से सम्पन्न होंगे ।।११।। वहां वे शाप त्रिनेत्र, शूलपाणि, भीषणाकार, मेघ जैसे काले, दो भुजाओं से युक्त तथा मुख पर भृकुटी चढ़ाये हुए होंगे ।।१२।। वे वर कहेंगे कि हे शापो ! तुम दूर चले जाओ। ऋतुओं के समान हमारा समय आगया है, इसके उल्लंघन में कौन समर्थ है ? ।।१३।। इस पर शाप कहेंगे—हे वरो ! तुम दूर भागो । ऋतुओं के समान हमारा समय उपस्थित है, इसके उल्लंघन में कौन समर्थ है? ।।१४।।

कृता भवन्तो मुनिना वयं दिनकृता कृताः ।
मुनीनां चाऽधिको देवो भगवन्तं पुरा यतः ।।१५
प्रवदत्सु वरेष्वेवं शापाः क्रुद्धधियो वरान् ।
विवस्वता कृता यूयं वयं रुद्रांशतः कृताः ।।१६
देवानामधिको रुद्रो रुद्रांशप्रभवो मुनिः ।
इत्युक्त्वा प्रोद्यता तेषां चक्रुः शृङ्गाण्यगा इव ।।१७
शापेषूद्यतशृङ्गेषु वरा इदमरातिषु ।
विहसन्तः प्रवक्ष्यन्ति प्रमेयीकृतनिश्चयम् ।।१८
हे शापाः पापतां त्यक्त्वा कार्यस्याज्ञो विचार्यताम् ।
यत्कार्यं कलहस्याऽन्ते तदेवाऽऽदौ विचार्यताम् ।।१९
पितामहपुरीं गत्वा कलहान्ते विनिर्णयः ।
कर्तव्योऽस्माभिरेतत्किमादौ नेह विधीयते ।।२०
शापैर्वरोक्तमाकर्ण्य बाढमित्युररीकृतम् ।
को न गृह्णाति मूढोऽपि वाक्यं युक्ति समन्वितम् ।।२१

शापों की बात सुनकर वर कहेंगे—तुम्हें दुर्वासा मुनि ने बनाया है और हमें सूर्य ने। भगवान् सूर्य मुनि से पहिले उत्पन्न होने के कारण अधिक श्रेष्ठ हैं ॥१५॥ यह सुनकर शाप क्रोधित हो उठे और बोले—तुम सूर्य से उत्पन्न हुए हो और हम रुद्रांश से हुए हैं। देवताओं में श्रेष्ठ रुद्र के अंश से ही दुर्वासा की उत्पत्ति है। यह कह कर वे वरों की ओर अपने त्रिशूलों की नोंक उस प्रकार उद्यत करेंगे जिस प्रकार पर्वत शिखरों को उद्यत करते हैं॥१६-१७॥शाप रूपी शत्रुओं को त्रिशूल साधते हुए देख कर वर उनका उपहास करते हुए अपने कर्त्तव्य का निश्चय करते हुए कहेंगे ॥१८॥ हे शापो ! दुष्टता को छोड़ कर अपने कार्य के परिणाम का विचार करो। कलह के अन्त में जो करना है, उसे पहिले ही करने का विचार कर लो ॥१९॥ कलह के अन्त में हमें ब्रह्मपुरी में जाकर ही निर्णय लेना पड़ेगा, इसलिए पहिले ही हम वैसा क्यों नहीं कर लेते ? ॥२०॥ शापों ने उनकी बात मानते हुए कहा—'अच्छी बात है' ऐसा कौन मूर्ख भी होगा जो युक्तिमय वाक्य को न मानेगा ? ॥२१॥

ततः शापा वरैः सार्धं यास्यन्ति ब्रह्मणः पुरम् ।
महानुभावा हि गतिः सदा सदेहनाशने ॥२२
प्रमाणपूर्वं तत्सर्वं यथावृत्तं परस्परम् ।
ब्रह्मणे कथयिष्यन्ति श्रुत्वा तेषां स वक्ष्यति ।.२३

वरशापाधिपा भो भो यतः सारा जयन्ति ते ।
केऽन्तःसारा इति मिथो नूनमन्विष्यतां स्वयम् ।।२४
इति श्रुत्वा प्रविष्टास्ते सारतां समवेक्षितुम् ।
वराणां हृदयं शापाः शापानां हृदयं वराः ।।२५

ते परस्परमन्विष्य स्वयं हृदयसारताम् ।
ज्ञात्वा च समवायेन प्रवक्ष्यन्ति पितामहम् ।।२६
जिताः प्रजानाथ वयं नाऽन्तःसारा वयं यत
अन्तःसारा वरा एव वज्रस्तम्भा इवाऽचलाः ।।२७

वयं किलेमे भगवन् वराः शापाश्च सर्वदा ।
ननु संविन्मया एव देहोऽन्योऽस्माकमस्ति नो ॥२८

इसके पश्चात् वरों के साथ शाप ब्रह्मलोक को ऐसे ही जायेंगे, जैसे संदेह-निवृत्ति के लिए सज्जन ज्ञानी की शरण लेते हैं ॥२२॥ वहाँ जाकर ब्रह्माजी को प्रणाम करके वे अपने विवाद को प्रस्तुत करेंगे, जिसे सुनकर ब्रह्माजी कहेंगे ॥२३॥ हे वराधिपो ! हे शापाधिपो ! जिनके पक्ष में सार होगा, उन्हीं की विजय होगी । इसलिए तुम में कौन पक्ष सार युक्त है, इसका स्वयं ही अन्वेषण करो ॥२४॥ यह सुनकर सारता देखने के उद्देश्य से वरों के हृदयों में शापों ने और शापों के हृदयों में वरों ने प्रवेश किया ॥२५॥ वे परस्पर हृदयों में सारता का अन्वेषणकरके ब्रह्मा जी से समवाय रूप से कहेंगे ॥२६॥शाप कहेंगे—हे प्रजानाथ ! हम अन्तः सार से रहित हैं,इसलिए हम हार गये वज्रस्तम्भों के सदृश अचल वर ही अन्तःसार से सम्पन्न हैं ॥२७॥ हे भगवन् ! वर और शाप स्वरूप हम संविद्मय हैं, इसके अतिरिक्त हम कुछ भी नही हैं ॥२८॥

वरदस्य हि या संविद्वरो दत्त इति स्थिता ।
सैवाऽर्थिनि मया लब्धो वरोऽयमिति तिष्ठति ॥३०

विज्ञप्तिमात्रकचनं देहं सैव फलं ततः ।
पश्यत्यनुभवत्यत्ति देशकालशतभ्रमैः ॥३०

वरदात्मगृहीतत्वाच्चित्कालान्तरसंभृताः ।
यदा तदाऽन्तसाराऽसौ दुर्जया न तु शापजा ॥३१
समेनोभयकोटिस्थं मिश्रं वस्तु भवेत्समम् ।
वरशापविलासेन क्षीरमिश्रं यथा पयः ॥३२

शिक्षितं त्वत्त एवेति यदादेव तव प्रभो ।
पुनः प्रतीपं पठितं शीघ्रं यामो नमोऽस्तु ते ॥३३

इत्युक्त्वा स स्वयंशापः क्वाऽपि शापगणो ययौ ।
प्रशान्ते तिमिरे दृष्टे व्योम्नि केशोण्ड्रकं यथा ॥३४

अथाऽन्यो वरपूगोऽत्र गृहनिर्गमरोधकः ।
स्थानिस्थानमिवाऽऽदेशः समानार्थोऽम्तपूरयत् ।।३५

वर देने वाला 'मैंने वर प्रदान किया' इस प्रकार की संवित् ही वर पाने वाले मे 'मैंने यह वर प्राप्त किया' इस प्रकार अवस्थित होती है ।।२६।। उस वर का फल सुख-भोग का घर जो शरीर है, उसका विज्ञप्तिमात्र स्फुरण ही है, इसलिए विज्ञप्ति ही शरीराकार होकर देश-काल रूपी सैकड़ों भ्रमों से भोगों को देखती, अनुभव करती और भोजनादि करती है ।।३०।। वरदाता से प्राप्त होने के कारण वर रूपी चित् जब फल की अवस्था में पूर्ण परिपुष्टि को प्राप्त होती है तब वही अन्तःसारता को पाकर दुर्जय हो जाती है, परन्तु शाप से उत्पन्न चित् अन्तःसार वाली नहीं होती ।।३१।। जिस प्रकार दूध मिला हुआ जल होता है उसी के समान बलवान वर और शाप के विलास से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की जो समान रूप से मिश्रित वस्तु है, वह देह ही है ।।३२।। हे प्रभो ! हमने आप से ही जो शिक्षा प्राप्त की थी उसका पुनः परायण हमारी धृष्टता ही है, अतः हमारे अपराध को क्षमा कीजिए । हम आपको नमस्कार करके अब अपने स्थान को जारहे हैं ।।३३।। जिस प्रकार नेत्र से तिमिर रोग के दूर हो जाने पर आकाश से केशोण्डुक कहीं चला जाता है, वैसे ही ब्रह्माजी से उस प्रकार कहकर स्वयं शाप रूप वह शापगण कहीं चले गये ।।३४।। उनके चले जाने पर उन ब्राह्मणियों को भगवती गौरी द्वारा प्राप्त वरगण ने वैसे ही शापों के स्थान की पूर्ति की, जैसे वैयाकरण-प्रक्रिया में आदेश स्थानी के स्थान को पूर्ण करता है ।।३५।।

सप्तद्वीपेशजीवानां निर्याणं शवसद्मनः ।
देवेश विद्मो न वयमन्धकूपादिवाऽम्भसाम् ।।३६
सप्तद्वीपेश्वरातृतानिमे द्वीपेषु सद्मसु ।
कारयन्ति वरा वर्या वीरा दिग्विजयं रणे ।।३७
तदेवमनिवार्येऽस्मिन्विरोधे विबुधेश्वर ।
यदनुष्ठेयमस्माभिस्तदादिश शिवाय नः ।।३८

सप्तद्वीपेश्वरवरा गृहरोधवराश्च हे ।
कामः संपन्न एवेह भवतां भवतामपि ।।३९

व्रजतैतदपेक्षत्वं यावन्नेष्टावपि क्षणात् ।
चिरं चिराय सदने सप्तद्वीपेश्वराः स्थिताः ।।४०

कुतो भूमण्डलान्यष्टौ सप्तद्वीपानि भूतयः ।
एकमेवेह भूपीठं श्रुतं दृष्टं च नेतरत् ।।४१

कथं चैतानि तिष्ठन्ति कस्मिंश्चिद् गृहकोशके ।
पद्माक्षकोशके सूक्ष्मे कथं मान्ति मतंगजाः ।।४२

तब शापों का स्थान ग्रहण किये हुए वर ब्रह्माजी से कहेंगे—हे देवेश ! जैसे अन्धे कूपों से जल बाहर निकले, वैसे उन सप्तद्वीपेश्वर जीवों को शवसदन से बाहर निकालना हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि बहिर्गमन हमने रोका हुआ है ।।३६।। वर श्रेष्ठ वीर है, यही हम इन सप्तद्वीपाधिपतियों को घर रूपी द्वीपों में युद्ध में दिग्जिजय प्राप्त कराते हैं ।।३७।। अतः यह जो अनिवार्य विरोध उपस्थित होगया है, उसमें हमारा क्या कर्त्तव्य है, यह हमारे कल्याणार्थ आप बताने की कृपा करें ।।३८।। ब्रह्मा जी बोलेंगे—हे सप्तद्वीपाधिपतियों के निर्माता वरो ! हे गृहरोध करने वालो ! तुम्हारी इच्छा तो पूर्णरूप से सम्पन्न हो चुकी है ।।३९।। अब तुम निरपेक्ष होजाओ, क्योंकि तुम्हारी इच्छा के विना भी वह आठों अपनी मृत्यु के अन्तिम क्षण में दीर्घकाल से ही सप्तद्वीपेश्वर बनकर अपन घर में स्थित हैं ।। ४० ।। इस पर वर कहेंगे—हे प्रभो ! सप्तद्वीपमय आठ भूमण्डल और उनके ऐश्वर्य कहाँ हैं ? यहाँ तो एक ही भूपीठ के अतिरिक्त अन्य कोई सुनने या देखने में नहीं आया है ।।४१।। किसी एक ही गृह में सात द्वीप वाले वे भूमण्डल किस प्रकार रह सकते है ? कहीं छोटे से कमलगट्टे में हाथियों का रहना संभव है ? ।।४२।।

युक्तं युष्माभिरस्माभिः सर्वं व्योमात्मकं जगत् ।
स्थितं चित्परमाणवन्तरन्तःस्वप्नोऽनुभूयते ।।४३

भाति यत्परमस्याऽणोरन्तस्थस्वगृहोदरे ।
स्फुरितं तत्किमाश्चर्यं कः स्मयः प्रकृतेः क्रमे ॥४४
मृतेरनन्तरं भाति यथास्थितमिदं जगत् ।
शून्यात्मैव घनाकारं तस्मिन्नेव क्षणे चितः ॥४५
अणावपि जगन्माति यत्र तत्र गृहोदरे ।
सप्तद्वीपा वसुमयी कचन्तीति किमद्भुतम् ॥४६
यद्भातीदं च चित्तत्त्वं जगत्त्वं न जगत्क्वचित् ।
चिन्मात्रमेव तद्भाति शून्यत्वेन यथाऽम्बरम् ॥४७
इति ते ब्रह्मणा प्रोक्ता वरदेन वरास्ततः ।
तानाधिभौतिकभ्रांतिमयान् सत्यज्य देहकान् ॥४८
प्रणम्याऽब्जं समं जग्मुरातिवाहिकदेहिनः ।
सप्तद्वीपे च देवानां गृहकोशान्कचज्जनान् ॥४९

इस पर ब्रह्माजी कहेंगे—हे वरगण ! हम और तुम मच्चित् परमाणु में स्थित व्योमात्मक सम्पूर्ण जगत् का स्वप्न से ही अनुभव करते हैं, इसलिए परमाणु में विद्यमान अपने गृह में जो स्फुरित होकर समाया हुआ है, उसमें आश्चर्य ही क्या है ? प्रकृति-क्रम में विस्मय ही कैसा ? ॥४३-४४॥ मरने के पश्चात् तत्क्षण शून्यरूप होता हुआ यह घनाकार जगत् यथावत् स्फुरित होता है । जहां सत्-चित् परमाणु में भी जगत् समा सकता है तो उस घर में सप्तद्वीप वाली पृथिवी का स्फुरण कौन-सी विचित्रता हुई ? ॥४५-४६॥ यह जो जगत्-रूप है, वह सब चित्तत्व ही है । शून्यरूप आकाश के स्फुरित होने के समान ही जगत्-रूप से चिन्मात्र ही स्फुरित है ॥४७॥ ब्रह्माजी के इस प्रकार कहने पर अपने आधिभौतिक भ्रान्तिमय देहों को छोड़कर आतिवाहिक देह होकर ब्रह्माजी को प्रणाम करते हुए विरोध-रहित होकर सब साथ-साथ विविध जन युक्त उन-उन देवताओं के घरों को चले गए ॥४८-४९॥

यावत्ते तत्र संपन्नाः सप्तद्वीपाधिनायकाः ।
अष्टावपीष्टापुष्टानां दिनाष्टकमहीभुजाम् ॥५०

ते परस्परज्ञाता अज्ञाश्चाऽन्योन्यबन्धवः
अन्योन्यभूमण्डलगा अन्योन्याऽभिमते हिताः ॥५१
तेषां कश्चिद् गृहस्यान्तरेव तारुण्यसुन्दरः ।
उज्जयियां महापुर्यां राजधांयां सुखे स्थितः ॥५२
शाकद्वीपास्पदः कश्चिन्नागलोकजिगीषया ।
विचरत्यब्धिजठरे सर्वदिग्विजयोद्यतः ॥५३
कुशद्वीपराजधान्यां निराधिः सकलप्रजाः ।
कृतदिग्विजयः कश्चित्सुप्तः कान्तावलम्बितः ॥५४
शालमलिद्वीपशैलेन्द्रशिरःपुर्याः सरोवरे ।
जललीलारतः कश्चित्सह विद्याधरीगणैः ॥५५

तदनन्तर उस गृह में सम्पन्न रूप से अवस्थित आठ जगतों के विभाग से ब्रह्माजी के आठ दिनों पर्यन्त सप्तद्वीप वाली पृथिवी के अधिपति बन गये ॥५०॥ उनमें से प्रत्येक ही भाई के सहित होने की कल्पना वाला होने से अन्योन्य बन्धु, प्रत्येक के पृथक्-पृथक् राज्य कल्पित होने से एक दूसरे को अधिपति न समझने वाले होने के कारण अन्योन्य के अभिमत में हितैषी रूप से स्थित हुए ॥५१॥ उनमें से एक तरुण सुन्दर भ्राता घर में ही उज्जयिनी महानगरी रूपी राजधानी में सुखपूर्वक रहता है। दूसरा भाई शाकद्वीप में रहकर सब दिशाओं को जीतने में प्रयत्नशील होकर नाग-लोक-विजय के लिये समुद्र के गर्भ में भ्रमण करता है। तीसरा भाई, अपनी सब प्रजा को सुखी रखता हुआ सब दिशाओं को जीत कर कुशद्वीप की राजधानी में अपनी पत्नी के साथ सोरहा है। चौथा भाई शालमलि द्वीप के शैल–शिखर पर स्थित पुरी के सरोवर में विद्याधारियों के साथ जलविहार कर रहा है ॥५२-५५॥

क्रौञ्चद्वीपे हेमपुरे सप्तद्वीपविवर्धिते ।
प्रवृत्तो वाजिमेधेन कश्चिद्यष्टुं दिनाष्टकम् ॥५६
उद्यतः शालमलिद्वीपे कश्चिद् द्वीपान्तचारिणा ।
योद्धुं मुद्धतदिग्दन्तिदन्ताकृष्टकुलाचलः ॥५७

गोमेदद्वीपकः कश्चित्पुष्करद्वीपराट्सुताम् ।
समानेतुं वशाद्याति कपत्सेनोऽष्टमोऽभवत् ॥५८
पुष्करद्वीपकः कश्चिल्लोकालोकाऽद्रिभूभुजः ।
दूतेन सह निर्यातो धनसूमिदिदृक्षया ॥५९
प्रत्येकमित्थमेतेषां द्वीपद्वीपाधिनाथताम् ।
कुर्वतां स्वगृहाकाशे दृष्ट्वा स्वप्रतिभोचिताम् ॥६०
त्यक्ताभिमानिकाकारा द्विविधास्ते वरास्ततः ।
तत्संविद्भिर्गृहेस्वन्तरेकतां खानि खैरिव ॥६१
यास्यन्ति ते भविष्यन्ति संप्राप्ताभिमताश्चिरम् ।
सप्तद्वीपेश्वरास्तुष्टा नन्वष्टावपि तुष्टिमत् ॥६२
इत्येते प्रविकसितोदिताक्रियार्थाः
प्राप्स्यंति प्रविततवुद्धयस्तपोभिः ।
अन्तर्यत्स्फुरति विदस्तदेव वाह्ये
नाऽऽप्तं कैस्तदुचितकर्मभिः किलेति ॥६३

पाँचवाँ भाई क्रौञ्चद्वीप में सप्तद्वीप से प्राप्त महान् ऐश्वर्य से सम्पन्न हेमपुर में ब्रह्माजी के आठ दिन पर्यन्त अश्वमेध यज्ञ में प्रवृत्त है। छटवाँ भाई शाल्मलिद्वीप में उत्पाटितदिग्गजों के दाँतों से कुलाचलों को खींचता हुआ अन्य द्वीपाधिपति से रण करने के लिये तत्पर है। आठवां भाई गोमेद द्वीप में रहता है, वह काम के वशीभूत होकर द्वीप के भूपति की कन्या को जीतने के विचार से शत्रु-देशों का मर्दन करने वाली सेना से सम्पन्न होगया है ॥५६-५८॥ पुष्कर द्वीप का निवासी जो सातवाँ भाई है, वह लोकालोक पर्वत के राजदूत के साथ धनमयी भूमियों को देखने के विचार से अपने गृह से चला गया है ॥५९॥ इस प्रकार अपने घर रूपी आकाश में पृथक्-पृथक् स्थित इनमें से प्रत्येक की अपने प्रति द्वीप-द्वीपेश्वरता को देखकर दोनों प्रकार के वे वर आतिवाहिक शरीर रूप में भी आभिमानिक आकार को छोड़कर उन आठों के साथ वैसे ही एकाकार हो जायेंगे जैसे कि आकाश आकाशों के साथ एकाकार होजाते हैं। चिरकाल

में इच्छित सप्तद्वीपाधिपतिता वाले वे आठों ही मनः तुष्टि वाले राज्य में स्थित होकर संतुष्ट होजायेंगे ॥६०=६२॥ वररूपी विकसित क्रियार्थ वाले, वितत बुद्धि वे आठों भाई सप्तद्वीपेश्वरता को तपों से प्राप्त होंगे। जिसका स्फुरण प्रत्येक चैतन्य में होता है, वह वाह्यरूप से अनुकूल कर्मों द्वारा कौन प्राप्त नहीं कर सका है ? ॥६३॥

---

## ९८—चिन्मात्र ही जगद्रूप से भासित है

इत्युक्त वानसौ पृष्टः कदम्बतलतापसः।
सप्तद्वीपा भुवोऽष्टौ ताः कथं भाता गृहेष्विति ॥१
चिद्धातुरीदृगेवाऽयं यदेष व्योमरूप्यपि।
सर्वगो यत्र यत्राऽऽस्ते तत्र तत्राऽऽत्मनि स्वयम् ॥२
आत्मानमित्थं त्रैलोक्यरूपेणाऽन्यैन वा निजम्।
परिपश्यति रूपं स्वमत्यजन्नेव खात्मकम् ॥३
एकस्मिन्विमले शान्ते शिवे परमकारणे।
कथं स्वभावसंसिद्धा नानाता वास्तवी स्थिता ॥४
सर्वं शान्तं चिदाकाशं नानाऽस्तीह न किंचन।
दृश्यमानमपि स्फारमावर्तात्मा यथाऽम्भसि ॥५
असत्स्वेषु पदार्थेषु पदार्था इति भान्ति यत्।
चित्खं स्वप्नसुषुप्तात्म तत्तास्याऽच्छं निजं वपुः ॥६
सस्पन्दोऽपि हि निःस्पन्दः पर्वतोऽपि न पर्वतः।
यथा स्वप्नेषु चिद्भावः स्वभावोऽर्थगतस्तथा ॥७

कुन्ददन्त ने कहा—जब मैंने उस कदम्ब के नीचे वाले तपस्वी से यह पूछा कि घरों के स्वल्प अवकाश में उन सप्तद्वीप वाले आठ लोकों का भान कैसे हुआ ? तब उसने उत्तर दिया ॥१॥ वह बोला—यह चिदाकाश सर्वव्याप्त एवं प्रपंचरहित होकर भी जहाँ स्थित है, वहाँ निज स्वरूप को

त्रैलोक्य रूप से अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूप को छोड़े बिना ही देखता है ॥२-३॥ कुन्ददन्त बोला—एक, विमल, शान्त, शिव, परम कारण में स्वभाव से सिद्ध वास्तविक नानात्व किस प्रकार स्थित है ॥४॥ तपस्वी ने कहा—जल में दिखाई देता हुआ आवर्त जैसे जल से भिन्न नहीं है, वैसे ही यहाँ सर्वशान्त चिदाकाश ही है, विस्तृत रूप से दिखाई देता हुआ भी अनेक नहीं है ॥५॥ इन सब पदार्थों की असत्ता में पदार्थ रूप से भासमान, स्वप्न-सुषुप्ति के समान अपने रूप को भूला हुआ है ॥६॥ स्पन्दयुक्त होकर भी वह स्पन्दहीन है, पर्वत रूप होने पर भी पर्वत नहीं है। स्वप्न में चिद्भाव के परार्थगत होने के समान ही स्वभावार्थगत है ॥७॥

न स्वभावा न चैवाऽर्थाः सन्ति सर्वात्मकोचिते ।
सर्गादौ कचितं रूपं यद्यथा तत्तथा स्थितम् ॥८

यावत्संकल्पितं तावद्यथा संकल्पितं तथा ।
यथा संकल्पनगरं कचतीदं जगत्तथा ॥९

संकल्पनगरे यावत्संकल्पं सकला स्थितिः ।
भवत्येवाऽप्यसद्रूपा सतोवाऽनुभवे स्थिता ॥१०

प्रवहत्येव नियतिर्नियतार्थप्रदायिनी ।
स्थावरं जङ्गमं चैव तिष्ठत्येव यथाक्रमम् ॥११

जायते जंगमं जीवात्स्थावरं स्थावरादपि ।
नियत्याऽधो वहत्यम्बु गच्छत्यूर्ध्वमथाऽनलः ॥१२

वहन्ति देहयन्त्राणि ज्योतींषि प्रतपन्ति च ।
वायवो नित्यगतयः स्थिताः शैलादयः स्थिराः ॥१३

ज्योतिर्मयं निवृत्तं तु धारासाराम्बरीकृतं ।
युगसंवत्सराद्यात्म कालचक्रं प्रवर्तते ॥१४

सर्गादि स्वभाव या सर्गस्वभाव से किये गये पदार्थ सर्वात्मा के अनुरूप नहीं हैं। सर्ग के आदि में स्फुरित रूप अब भी इसी प्रकार स्थित है ॥८॥ जिस प्रकार संकल्प के अनुसार ही संकल्पनगर का स्फुरण है, वैसे ही यह

जगत् भी जब जिस प्रकार का संकल्प किया जाय, तब उसी प्रकार से स्फुरित होता है ॥९॥ असद्रूप होने पर भी सत्-रूप में संकल्पनगर की स्थिति तब तक रहती है, जब तक संकल्प रहते हैं ॥१०॥ नियत अर्थ के देने वाला ब्रह्माजी की संकल्परूपा नियति अब भी प्रवाहित है और भविष्य में भी प्रवाहित रहेगी, उसी से स्थावर-जंगम आदि जीवों की क्रमपूर्वक स्थिति है ॥११॥ स्फुट जीव वाली उस नियति द्वारा ही जगम से जंगम और स्थावर से स्थावर की उत्पत्ति है। उसी से जल का प्रवाह नीचे की ओर और अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर की ओर जाती हैं ॥१२॥ उसी के कारण सूर्य, चन्द्रमा रूपी ज्योतियाँ साकार होकर तपतीं, पवन स्पन्दन-शाल और पर्वतादि स्थिर रहते हैं ॥१३॥ उसी से ज्योतिर्मय युग, संवत्सर आदि वाला कालचक्र वर्षाऋतु में आकाश को वर्षा से व्याप्त करता हुआ वर्तता है ॥१४॥

प्राग्दृष्टं स्मृतिमायाति तत्स्वसंकल्पनान्यतः ।
भाति प्रथमसर्गं तु कस्य प्राग्दृष्टभासनम् ॥१५

अपूर्वं दृश्यते सर्वं स्वप्ने स्वमरणं यथा ।
प्राग्दृष्टं दृष्टमित्येव तत्रैवाऽभ्यासतः स्मृतिः ॥१६

चित्त्वाच्चिद्व्योम्नि कचति जगत्संकल्पपत्तनम् ।
न सन्नाऽसदिदं तस्माद् भाताभातं यतः स्वतः ॥१७
चित्प्रसादेन संकल्पस्वप्नाद्याद्यनुभूयते ।
शुद्धं चिद्व्योम संकल्पपुरं मा स्मर्यतां कथम् ॥१८

हर्षामर्षविनिर्मुक्तैर्दुःखेन च सुखेन च ।
प्रकृतेनैव मार्गेण ज्ञैश्चक्रैरिव गम्यते ॥१९

निद्राव्यपगमे स्वप्ननगरे यादृशं स्मृतौ ।
चिद्व्योमात्म परं विद्धि तादृशं त्रिजगद्भ्रमम् ॥२०

कुन्ददन्त बोला—जो वस्तु देखी जाती है, वह स्मृति में स्थित होती है, उसके अनुसार ही संकल्प होते हे और उन्हीं संकल्पों से सृष्टि का आभास

होता है। यह सभी कल्पों में सर्ग में संभव है॥१५॥तपस्वी ने कहा-स्वप्न में अपनी मृत्यु के समान ही सब कुछ दिखाई देता है, उसमें प्रथम देखा हुआ है,इस प्रकार अभ्यास से स्मृति में आता है॥१६॥चित् होने से चिदाकाश में जगत्-रूपी संकल्पनगर का स्फुरण होता है। कभी भासित होने और कभी न होने के कारण वह सत् या असत् नहीं है ॥१७॥ चित् के प्रमाद से अब भी संकल्प और स्वप्नादि का अनुभव होता है। शुद्ध चिदाकाश रूपी संकल्प पुर का स्मरण कैसे नहीं होगा ॥१८॥ हर्ष और अमर्ष से रहित ज्ञानी पुरुष दुःख मिले या सुख चक्र के समान प्रकृत मार्ग से ही गमन करते हैं ॥१९॥ जैसे निद्रा से जागने पर स्वप्ननगर का अधिष्ठान ही स्मृति में शेष रहता है, वैसे ही त्रिजगत् का भ्रम भी परम चिद्व्योमात्मक ही है ॥२०॥

संविदाभासमात्रं यज्जगदित्यभिशब्दितम् ।
तत्संविद्व्योम सशान्तं केवलं विद्धि नेतरत् ॥२१

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम् ॥२२

यथेयं संसृतिर्ब्राह्मी भवती यद् भविष्यति ।
यथा भानं च दृश्यस्य तदेतत्कथितं मया ॥२३

उत्तिष्ठत व्रजतमास्पदमह्नि पश्चं
भृङ्गाविवाऽभिमतमाशु विधीयतां स्वम् ।
तिष्ठामि दुःखमलमस्तसमाधिर्सस्थं
भूयः समाधिमहमङ्ग चिरं विशामि ॥२४

संवित् का जो आभास है, वही 'जगत्' शब्द से प्रसिद्ध है, परन्तु उसे भी तुम शान्त चिदाकाश के अतिरिक्त और कुछ भी न समझो ॥२१॥ जिसमें सब कुछ है,जिससे सब कुछ है,जो सब कुछ है और जो सब ओर से है, वही सब कुछ, सब प्रकार, सदैव एवं सर्वत्र स्थित ब्रह्म है ॥२२॥ जिस प्रकार से यह ब्राह्मी सृष्टि वर्तमान है और भविष्य में जो होगी तथा जैसे

इस दृश्यमान जगत् का भान होता है, वह सब मैंने कह दिया है ॥२३॥ हे ब्राह्मणो ! उठो, जैसे प्रातःकाल होने पर भौंरे कमल के समीप जाते हैं, वैसे ही अपने इच्छित शुभ कर्मों का शीघ्र विधान करो। मैं भी समाधि-भंग होने के कारण अधिक दुःखी हो रहा हूँ, अतः पुनः चिर समाधि में प्रविष्ट होता हूँ ॥२४॥

---

## ९९—कुन्ददन्त का मोह-नाश

जरन्मुनिरपीत्युक्त्वा ध्यानमीलितलोचनः।
आसीदस्पन्दितप्राणमनाश्चित्र इवार्पितः ॥१
आवाभ्यां प्रणयोदारैः प्रार्थितोऽपि पुनः पुनः।
वाक्यैः संसारमविदन्न वचो दत्तवान्पुनः ॥२
आवां प्रदेशतस्तस्माच्चलित्वा मन्दमुत्सुकौ।
दिनैः कतिपयैः प्राप्तौ गृहं मुदितबान्धवम् ॥३
अथ तत्रोत्सवं कृत्वा कथाः प्रोच्य चिरंतनीः।
स्थितास्तावद्वयं यावत्सप्तापि भ्रातरोऽथ ते ॥४
क्रमेण विलयं प्राप्ताः प्रलयेष्वर्णवा इव।
मुक्तोऽसौ मे सखैवैक एकार्णव इवाऽष्टकः ॥५
ततः कालेन सोऽप्यस्तं दिनान्तेऽर्क इवाऽऽगतः।
अहं दुःखपरीतात्मा परं वैधुर्यमागतः ॥६
ततोऽहं दुःखितो भूयः कदम्बतरुतापसम्।
गत्वा दुःखोपघाताय तज्ज्ञानं प्रष्टुमादृतः ॥७

कुन्ददन्त बोला—उन वृद्ध मुनि ने यह कहकर ध्यान से नेत्र बंद किये और प्राण तथा मन के स्पन्द-शून्य होने पर वे चित्रलिखित के समान हो गये ॥१॥ हम दोनों ने विनीत वचनों से बारंबार प्रार्थना की, किन्तु बाह्यवृत्ति-रहित होने से संसार का ज्ञान छोड़े हुए उन्होंने फिर कोई उत्तर

नहीं दिया ॥२॥ मुनि के मौन होने से हम उदास हो गये और उस प्रदेश से चल पड़े तथा कुछ दिनों में ही मुदित बांधवों से सम्पन्न घर में जा पहुँचे ॥३॥ फिर कुल देवता के आराधन आदि उत्सव करके विभिन्न प्राचीन कथाओं के कहते हुए हम उस घर में तब तक रहे, जब तक सातों भाई क्रम से सात समुद्रों के समान, प्रलय में विलीन हो गए। तब एक मात्र मेरा वह सखा ही आठवें समुद्र के समान विलीन होने से शेष रहा आया ॥४-५॥ फिर कुछ काल के पश्चात् मेरा वह सखा भी, जैसे दिन की समाप्ति पर सूर्य अस्त हो जाता है, वैसे ही मरण को प्राप्त हो गया, तब मैं उसके वियोग-दुःख से बहुत दुःखी हुआ ॥६॥ तब मैं अपने उस दुःख की शान्ति का उपाय रूप ज्ञान को सादर पूछने के निश्चय से उसी कदम्ब के नीचे वाले तपस्वी के पास पहुँचा ॥७॥

तत्र मासत्रयेणाऽसौ समाधिविरतोऽभवत् ।
प्रणतेन मया पृष्टः सन्निदं प्रोक्तवानथ ॥८
अहं समाधिविरतः स्थातुं शक्नोमि न क्षणम् ।
समाधिमेव प्रविशाम्यहमाशु कृतत्वरः ॥९
परमार्थोपदेशस्ते नाऽभ्यासेन विनाऽनघ ।
लगत्यत्र परां युक्तिमिमां शृणु ततः कुरु ॥१०
अयोध्या नाम पूरस्ति तत्राऽस्ति वसुधाधिपः ।
नाम्ना दशरथस्तस्य पुत्रो राम इति श्रुतः ॥११
सकाशं तत्र गच्छ त्वं तस्मै कुलगुरुः किल ।
वसिष्ठाख्यो मुनिश्रेष्ठः कथयिष्यति संसदि ॥१२
मोक्षोपायकथां दिव्यां तां श्रुत्वा सुचिरं द्विज ।
विश्रान्तिमेष्यसि परे पदेऽहमिव पावने ॥१३
इत्युक्त्वा स समाधानरसायनमहार्णवम् ।
विवेशाऽहमिमं देशं त्वत्सकाशमुपागतः ॥१४

तीन मास तक प्रतीक्षा करने पर उसकी समाधि भंग हुई, तब मैंने उससे विनय पूर्वक जो पूछा उसके उत्तर में उसने कहा ॥८॥ मैं समावि-

रहित अवस्था में एक क्षण भी रहने में समर्थ नहीं हूँ, इसलिए शीघ्रता पूर्वक मुझे उसमें प्रवेश करना है ।।९।। हे अनघ ! अभ्यास के बिना मेरा परमार्थिक उपदेश भी तुम्हारे लिए व्यर्थ ही होगा, इसलिए मैं तुम्हें अन्य युक्ति बताता हूँ, उसे श्रवण करो ।।१०।। अयोध्या नाम की जो पुरी है, उसके पृथिवीपति राजा दशरथ हैं, उनके पुत्र का नाम 'राम' प्रसिद्ध है ।।११।। तुम उन्हीं के समीप जाओ। हे द्विज ! उनके कुलगुरु मुनिवर वसिष्ठजी वहाँ की सभा में जो दिव्यकथा कहेंगे, उसे बहुत समय तक सुन कर तुम मेरे ही समान उस परम पावन पद में विश्रान्ति पाओगे ।।१२-१३।। यह कह कर वह तपस्वी समाधरन रूपी रसायन के महासागर में निमग्न हो गया और मैं इस देश में आपके समक्ष उपस्थित हो गया हूँ ।।१४।।

एषोऽहमेतद् वृत्तं मे सर्वं कथितवानहम् ।
यथावृत्तं यथादृष्टं यथाश्रुतमखण्डितम् ।।१५
स कुन्ददन्त इत्यादिकथाकथनकोविदः ।
स्थितस्ततःप्रभृत्येव मत्समीपगतः सदा ।।१६
स एष कुन्ददन्ताख्यो द्विजः पार्श्वे समास्थितः ।
श्रुतवान्संहितामेतां मोक्षोपायाभिधामिह ।।१७
स एष कुन्ददन्ताख्यो मम पार्श्वगतो द्विजः ।
अद्य निःसंशयो जातो न वेति परिपृच्छ्यताम् ।।१८
इत्युक्ते राघवेणाऽथ प्रोवाच वदतांवरः ।
स वसिष्ठो मुनिश्रेष्ठः कुन्ददन्तं विलोकयन् ।।१९
कुन्ददन्त द्विजवर कथ्यतां किं त्वयाऽनघ ।
बुद्धं श्रुतवता ज्ञेयं मदुक्तं मोक्षदं परम् ।।२०
सर्वसंशयविच्छेदि चेत एव जयाय मे ।
सर्वसंशयविच्छेदो ज्ञातं ज्ञेयमखण्डितम् ।।२१

यही मैं कुन्ददन्त हूँ, मैंने अपना सम्पूर्ण घटित एवं देखा-सुना वृत्त पूर्णरूपेण आपको सुना दिया है ।।१५।। श्रीराम बोले—हे ब्रह्मन् !

कथाओं के कहने में कुशल वह कुन्ददन्त उस दिन से मेरे पास ही रह रहा है ॥१६॥ मेरे पार्श्व में जो यह द्विज बैठा है, वह कुन्ददन्त ही है। इस सभा में इसने मोक्षोपाय नामक इस सम्पूर्ण संहिता को भले प्रकार सुना है ॥१७॥ वह यह कुन्ददन्त नामक द्विज मेरे पास बैठा है, यह संशय-शून्य हुआ अथवा नहीं, यह इससे पूछिये ॥१८॥ वाल्मीकिजी बोले—श्रीराम के इस प्रकार कहने पर वक्ताश्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठजी ने कुन्ददन्त की ओर देखते हुए कहा ॥१९॥ हे निष्पाप ! हे द्विजवर कुन्ददन्त ! मेरे इस मोक्षदायक शास्त्र को सुनकर तुम किस ज्ञातव्य विषय को जान पाये, यह बताओ ॥२०॥ कुन्ददन्त बोला—सब संशयों का नाशक मेरा जो चित्त है, वही मेरी जीत के निमित्त है। मेरे सब संशय मिट चुके हैं और ज्ञेय तत्व को मैंने जान लिया है ॥२१॥

ज्ञातं ज्ञातव्यममलं दृष्टं द्रष्टव्यमक्षतम् ।
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं विश्रान्तोऽस्मि परे पदे ॥२२
बुद्धेयं त्वदिदं सर्वं परमार्थघनं घनम् ।
अनन्येनाऽऽत्मनो व्योम्नि जगद्रूपेण जृम्भितम् ॥२३
सर्वात्मकतया सर्वरूपिणः सर्वगात्मनः ।
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदा संभवत्यलम् ॥२४
संभवन्ति जगन्त्यन्तः सिद्धार्थकणकोटरे ।
न संभवन्ति च यथा ज्ञातमेत दशेषतः ॥२५
गृहेऽन्तः संभवत्येव सप्तद्वीपा वसुंधरा ।
गेहं च शून्यमेवाऽऽस्ते सतामेतदसंशयम् ॥२६
यद्यद्यदा वस्तु यथोदितात्म
भातीह भूतैरनुभूयते च ।
तत्तत्तदा सर्वघनस्तथाऽऽस्ते
ब्रह्मेत्थमाद्यन्तविमुक्तमस्ति ॥२७

जानने योग्य, निर्मल ब्रह्म को मैंने जान लिया, क्षय न होने वाले द्रष्टव्य को देख लिया और सब प्राप्तव्य को पाकर मैं इस परमपद में विश्रान्ति पाये हुए हूं ॥२२॥ इस आत्मचित का ज्ञान मुझे आपसे मिला

गया है। यह सर्व परमार्थ घन आकाश में, आत्मा से अनन्य, जगद्रूप होकर स्थित है ॥२३॥ सर्वात्मक होने से सर्वरूप, सर्वव्याप्त आत्मा का सब कुछ, सब भाँति, सब स्थान पर, सदैव पूर्णरूपेण संभव है ॥२४॥ कण में भी सर्वकल्पना वाली अधिष्ठानभूत चित् की सत्ता होने से ,उसमें भी अनन्त जगत् हैं और चित् का पूर्णज्ञान होने पर कहीं कोई जगत् नहीं रहता ॥२५॥ घर के भीतर इस सप्तद्वीप वाली पृथिवी का उत्पन्न होना संभव है और यह असंशय एवं सत्य है कि घर शून्य ही है ॥२६॥ जिस जिस वस्तु का जैसा भान होता और प्राणियों द्वारा अनुभव किया जाता है, वह सब उस-उस रूप से सर्वघन आत्मा ही है। इस प्रकार आदि और अन्त से रहित ब्रह्म ही सब कुछ है ॥२७॥

---

## १००— ब्रह्म ही सब कुछ है

कुन्ददन्ते वदत्येवं वसिष्ठो भगवान्मुनिः।
उवाचेदमनिन्द्यात्मा परमार्थोचितं वचः ॥१
बत विज्ञानविश्रान्तिरस्य जाता महात्मनः।
करामलकवद्विश्वं ब्रह्मेति परिपश्यति ॥२
किलेदं भ्रान्तिमात्रात्म विश्वं ब्रह्मेति भारयजर्म।
भ्रान्तिर्ब्रह्मैव च ब्रह्म शान्तमेकमनामयम् ॥३
यद्यथा येन यत्राऽस्ति यादृग्यावद्यदा यतः।
तत्तथा तेन तत्राऽस्ति तादृक्तावत्तदा ततः ॥४
शिवं शान्तमजं मौनममौनमजरं ततम्।
सुशून्याशून्यमभवमनादिनिधनं ध्रुवम् ॥५
यस्या यस्यास्त्ववस्थायाः क्रियते संविदा भरः।
सा सा सहस्रशाखत्वमेति सेकैर्यथा लता ॥६
परो ब्रह्माण्डमेवाऽणुश्चिद्व्योम्नोऽन्तःस्थितो यतः।
परमाणुरेव ब्रह्माण्डमन्तःस्थितजगद्यतः ॥७

वाल्मीकिजी ने कहा—कुन्ददन्त के इस प्रकार कहने पर अनिन्द्यात्मा भगवान् वसिष्ठ मुनि ने इस प्रकार परम अर्थ वाले उचित वचन कहे ॥१॥ वे बोले—अब यह महात्मा शास्त्र-ज्ञान से विश्रान्ति को प्राप्त हो गया और सम्पूर्ण विश्व को, करामलक के समान, ब्रह्म ही देखता है ॥२॥ भ्रान्तिमात्रात्मक यह संसार इसे जन्मादि-रहित ब्रह्म ही प्रतीत होता है और भ्रान्ति भी शान्त, एक और अनामय ब्रह्म ही ज्ञात होती है ॥३॥ जो, जिस प्रकार जिसके द्वारा, जब तक, जिस काल में होता है, वह उस प्रकार, उसके द्वारा, तब तक, उस काल में शिव, शान्त, अजन्मा, मौन, अमौन, अजर, शून्य, अशून्य, आदि-अन्त-रहित सत्य ब्रह्म ही है ॥४-५॥ मायाशबल चित् जिस-जिस अवस्था का संकल्प करती है, उस-उस अवस्था में जल से सींची हुई लता के समान हजारों शाखाओं को प्राप्त हो जाती है ॥६॥ चिदाकाश के मध्य में स्थित होने से ब्रह्माण्ड ही परमाणु है और परमाणु में सम्पूर्ण जगत् के विद्यमान रहने से, वही ब्रह्माण्ड है ॥७॥

स्वयं दृश्यं स्वयं द्रष्टृ स्वयं चित्त्वं स्वयं जडम् ।
स्वयं किंचिन्न किंचिच्च ब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ॥८
यथा तत्र जगत्येतत्स्वयं ब्रह्म खमात्मनि ।
स्वरूपमजहच्छान्तं यत्र संपद्यते तथा ॥९
दृश्यलेव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव दृश्यता ।
एतन्न शान्तं नाऽशान्तं नाऽनाकारं न चाऽऽकृतिः ॥१०
यादृक् प्रबोधे स्वप्नादिस्तादृग्देहो निराकृतिः ।
सविन्मात्रात्मा प्रतिघः स्वानुभूतोऽप्यसन्मयः ॥११
संविन्मयो यथा जन्तुर्निद्रात्माऽऽस्ते जडोऽभवन् ।
जडीभूता तथैवाऽऽस्ते संवित्स्थावरनामिका ॥१२
स्थावरत्वाज्जडाच्चित्त्वं जङ्गमात्म प्रयाति चित् ।
जीवः सुषुप्तात्मा स्वप्नं जाग्रच्चैव जगच्छतैः ॥१३
आमोक्षमेषा जीवस्य भुव्यम्भस्यनिलेऽनले ।
खे खात्मभिर्जगल्लक्षैः स्वप्नाभैर्भासते स्थितिः ॥१४

वह स्वयं ही दृश्य है, स्वयं ही द्रष्टा है, स्वयं ही चेतन और जड़ है, स्वयं सब कुछ है और कुछ भी नहीं है। यथार्थ में तो वह ब्रह्मात्म में ही स्थित है ॥८॥ यह ब्रह्म जगद्रूप आत्म-चिदाकाश में जहाँ जिस रूप को ग्रहण करता है, वहाँ अपने रूप का परित्याग न करता हुआ ही उस रूप में रहता है॥९॥ यह दृश्यमान जगत् ही परब्रह्म है और परब्रह्म ही दृश्यता है, यह शान्त, अशान्त, निराकार या साकार कुछ भी नहीं ॥१०॥ जैसे जागने पर स्वप्नादि निराकार लगते हैं, वैसे ही ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर यह शरीर भी निराकार ही लगता है। क्योंकि संवित् रूप साकार और अनुभव में आने पर भी स्वप्नादि के असत् होने के समान ही शरीर भी असत् ही है ॥११॥ जैसे चेतन स्वरूप जीव निद्रा में जड़ हो जाता है, वैसे ही स्थावर नाम वाली यह संवित् भी जड़ीभूत होजाती है ॥१२॥ जैसे सुपुप्तात्मा स्वप्न और जाग्रतों की कल्पना वाला होता है, वैसे ही चित् स्थावर रूपी जड़त्व से जंगम रूपी चित्त्व वाली होती है ॥१३॥ जीव की यह स्थिति, जब तक मोक्ष नहीं होजाती पृथिवी, जल, पवन, अग्नि और आकाश में स्वप्न के समान आकाश रूपी लाखों संसारों के सहित भासित होती है ॥१४॥

चिच्चिनोति तथा जाड्यं नरो निद्रास्थितिर्यथा।
चिनोति जडतां चित्त्वं न नाम जडतावशात् ॥१५
चिता वेदनवेत्तारं स्थावरं क्रियते वपुः।
चिता वेदनवेत्तारं जङ्गमं क्रियते वपुः ॥१६
यथा पुंसो नखाः पादावेकमेव शरीरकम्।
तथैकमेवाऽप्रतिघं चितः स्थावरजंगकम् ॥१७
प्रलयस्थितिसर्गादि दृश्यमानं विद्यते।
एतन्न चाऽऽत्मनश्चाऽन्यच्चित्रे चित्रवधूर्यथा ॥१८
प्रलयोऽयमियं सृष्टिरयं स्वप्नो घनस्त्वयम्।
भासोऽप्रतिघरूपस्य चित्सहस्ररुचेरिति ॥१९

चित्तं देवासुराद्यात्म चिन्निद्रा स्वात्मदर्शनम् ।
कियत्प्रमाणं भगवन्कक्ष्यस्योदरे जगत् ॥२०

मनुष्य के निद्रा में स्थित होने के समान, चित् भी जड़त्व में स्थित होती है, फिर भी वह अव्याहत चित्व वाली ही रहती है। वह अध्यस्त जड़त्व से स्वयं में जड़त्व का आरोप नहीं करती इसलिए जड़त्व को प्राप्त नहीं होती ॥१५॥ जाड्यवेदनवेत्तार जीव के प्रति चित् जिस प्रकार स्थावर देहों का निर्माण करती है, वैसे ही उसके प्रति जंगम देहों को भी बनाती है ॥१६॥ जैसे पुरुष के नख, पाँव आदि अवयव उसका एक ही देह है, वैसे ही चित् का स्थावर और जंगम रूप से एक ही देह है ॥१७॥ इस दृश्यमान सर्ग, स्थिति और प्रलय की विद्यता नहीं है। जैसे चित्र में चित्रित वधू चित्र से पृथक् नहीं है, वैसे ही दिखाई देता हुआ यह जगत् आत्मा से भिन्न नहीं है॥१८॥ यह प्रलय है, यह सर्ग है, यह स्वप्न है इस प्रकार के सब प्रज्ञानघनत्व स्वरूप आत्मा रूपी सूर्य के विभिन्न प्रकाश एवं स्फुरण हैं ॥१९॥ श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! देव, असुर आदि भेद वाला चित्त कितना बड़ा है ? उसके उदर में कितना बड़ा और कितने काल तक रहने वाला जगत् है और अपने आत्मा का दर्शन किस प्रकार होता है ? ॥२०॥

विद्धि चित्तं नरं देवमसुरं स्थावरं स्त्रियम् ।
नागं नगं पिशाचादि खगकीटादि राक्षसम् ॥२१
प्रमाणं तस्य चाऽनन्तं विद्धि तद्यत्र रेणुताम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगद्याति सहस्रशः ॥२२
यदेतदादित्यपथादूर्ध्वं संयाति वेदनम् ।
एतच्चित्त भतमेतदपर्यन्तामलाकृति ॥२३
एतदुग्रं चितो रूपमस्याऽन्तर्भुवनर्द्धयः ।
यदाऽऽयान्ति तदा सर्गश्चित्तादागत उच्यते ॥२४
चित्तमेव विदुर्जीवं तदाद्यन्तविवर्जितम् ।
खं घटेष्विव देहेषु चाऽऽस्ते नास्ति तदिच्छया ॥२५

निम्नोन्नतान्भुवो भागान् गृह्णाति च जहाति च ।
सरित्प्रवाहोऽङ्ग यथा शरीराणि तथा मनः ॥२६
अस्य स्वात्मपरिज्ञानादेव देहादिसभ्रमः ।
शाम्यत्याश्ववबोधेन मरुवाःप्रत्ययो यथा ॥२७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! तुम चित्त को ही मनुष्य, सुर, असुर, स्थावर, स्त्री, नाग, पर्वत, पिशाच, विहग, कीट और राक्षस आदि सब कुछ समझो । उसका अनन्त प्रमाण है, जिसमें परमाणु से ब्रह्मा पर्यन्त हजारों संसार समाये हुए हैं ॥२१-२२॥ ऊपर की ओर देखने पर जो यह आदित्य मार्ग से भी ऊर्ध्व प्रदेश में दृष्टि जाती है, इतने प्रमाण वाला चित्त है, इस प्रकार उसका असीम और निर्मल आकृति वाला होना सिद्ध होता है ॥२३॥ यह चित का उग्र रूप है, इसी चिद्रूप के भीतर जब भुवन की ऋद्धियाँ ब्रह्माण्ड कल्पना से उदित होती हैं,तब उत्पत्ति होती है, वह चित्त से आगत कही जाती है। ४॥ज्ञानीजन चित्त को ही जीव मानते हैं । वह आदि-अन्त से रहित होने के कारण धट में आकाश के समान सभी शरीरों में रहता है और व्यष्टि रूप से शरीर से उत्क्रमित होने के कारण विधाता की इच्छा से शरीरों में स्थित नहीं भी रहता ॥२५॥ जैसे सरिता का प्रवाह नीचे-ऊँचे स्थलों में जाता और उन्हें छोड़ भी देता है, वैसे ही मन शरीरों में जाता और उनका परित्याग भी कर देता है ॥२६॥ जैसे मरुभूमि में जल का अभाव विषयक ज्ञान होने से वहाँ जल होने का भ्रम नहीं रहता, वैसे ही आत्म विषयक ज्ञान से देहादि रूपी सम्भ्रम नष्ट हो जाता है ॥२७॥

जगत्यन्तन्तरणुर्यच्च तत्प्रमाणं हि चेतसः ।
तदेव च पुमांस्तस्मात्पुंसामन्तःस्थितं जगत् ॥२८
यावत्किंचिदिदं दृश्यं तच्चित्तं स्वप्नभूष्विव ।
तदेव च पुमांस्तस्मात्को भेदो जगदात्मनोः ॥२६
चिदेवाऽयं पदार्थौघो नाऽस्त्यन्यस्मिन्पदार्थता ।
व्यतिरिक्ता स्वप्न इव हेम्नीव कटकादिता ॥३

चित्तं देवासुराद्यात्म चिन्निद्रा स्वात्मदर्शनम् ।
कियत्प्रमाणं भगवन्कथ्यस्योदरे जगत् ॥२०

मनुष्य के निद्रा में स्थित होने के समान, चित् भी जड़त्व में स्थित होती है, फिर भी वह अव्याहत चित्त्व वाली ही रहती है। वह अध्यस्त जड़त्व से स्वयं में जड़त्व का आरोप नहीं करती इसलिए जड़त्व को प्राप्त नहीं होती ॥१५॥ जाड्यवेदनवेत्तार जीव के प्रति चित् जिस प्रकार स्थावर देहों का निर्माण करती है, वैसे ही उसके प्रति जंगम देहों को भी बनाती है ॥१६॥ जैसे पुरुष के नख, पाँव आदि अवयव उसका एक ही देह है, वैसे ही चित् का स्थावर और जंगम रूप से एक ही देह है ॥१७॥इस दृश्यमान सर्ग, स्थिति और प्रलय की विद्यता नहीं है। जैसे चित्र में चित्रित वधू चित्र से पृथक् नहीं है,वैसे ही दिखाई देता हुआ यह जगत् आत्मा से भिन्न नहीं है।।१८।।यह प्रलय है,यह सर्ग है,यह स्वप्न है इस प्रकार के सब प्रज्ञानघनत्व स्वरूप आत्मा रूपी सूर्य के विभिन्न प्रकाश एवं स्फुरण हैं ॥१९॥ श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! देव, असुर आदि भेद वाला चित्त कितना बड़ा है ? उसके उदर में कितना बड़ा और कितने काल तक रहने वाला जगत् है और अपने आत्मा का दर्शन किस प्रकार होता है ? ॥२०॥

विद्धि चित्तं नरं देवमसुरं स्थावरं स्त्रियम् ।
नागं नगं पिशाचादि खगकीटादि राक्षसम् ॥२१
प्रमाणं तस्य चाऽनन्तं विद्धि तद्यत्र रेणुताम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगद्याति सहस्रशः ॥२२
यदेतदादित्यपथादूर्ध्वं संयाति वेदनम् ।
एतच्चित्त मतमेतदपर्यन्तामलाकृति ॥२३
एतद्रूपं चितो रूपमस्याऽन्तर्भुवनर्द्धयः ।
यदाऽयान्ति तदा सर्गश्चित्तादागत उच्यते ॥२४
चित्तमेव विदुर्जीवं तदाद्यन्तविवर्जितम् ।
खं घटेष्विव देहेषु चाऽऽस्ते नास्ति तदिच्छया ॥२५

यथास्थित जगद्रूप साकारता की अत्यन्त शून्यता को ग्रहण करने वाला यह आदि-अन्त-रहित चिद्रूप स्तम्भ निश्चल हुआ स्थित है ॥३३॥ स्वप्नभूमि के समान संविदाकाश में यथा-स्थित यह सम्पूर्ण जगत् अपनी शान्त एवं स्वच्छ आकृति को छोड़े बिना ही अवस्थित है ॥३४॥ इस संसार और संवित् की परस्पर समानता, सत्यता, सत्ता, एकता और विकार-रहितता के भेद से रहित होने से शान्त है और आधाराधेयता से किंचित भेदाभास होने पर भी, वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता ॥३५॥ स्वप्न-संसार या मनोरथमय सृष्टि के समान वर या अभिशाप से विभिन्न दृष्टियों द्वारा सर, सागर और सरिता के समान जो व्यवहार है, वही भेद है, यथार्थ में तो कोई भी भेद नहीं है ॥३६॥ श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! वरदान और अभिशाप रूपी अर्थसंविद् में कार्यकारणता किस प्रकार होगी ? क्योंकि उपादान के विना कार्य का होना संभव ही नहीं है। अतः इस विषय में कहिए ॥३७॥

स्ववदातचिदाकाशकचनं जगदुच्यते ।
स्फुरणे पयसामब्धावावर्तचलनं यथा ॥३८
ध्वनन्तोऽब्धिजलानीव भान्ति भावाश्चिदात्मकाः ।
संकल्पादीनि नामानि तेषामाहुर्मनीषिणः ॥३९
कालेनाऽभ्यासयोगेन विचारेण समेन च ।
जातेर्वा सात्त्विकत्वेन सात्त्विकेनाऽमलात्मना ॥४०
सम्यग्ज्ञानवतो ज्ञस्य यथाभूतार्थदर्शिनः ।
बुद्धिर्भवति चिन्मात्ररूपा द्वैतैक्यवर्जिता ॥४१
निरावरणविज्ञानमयी चिद् ब्रह्मरूपिणी ।
संवित्प्रकाशमात्रैकदेहा देहाविवर्जिता ॥४२
सोऽयं पश्यत्यशेषेण यावत्संकल्पमात्रकम् ।
स्वमात्मकचनं शान्तमनन्यत्परमार्थतः ॥४३

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! समुद्र में जलराशि के स्फुरण से उत्पन्न आवर्त के समान ही चिदाकाश के अत्यन्त अवदात एवं स्वच्छ सत्य

संकल्प के अनुसार जो स्फुरण है, वही जगत् कहा गया है ॥३८॥ समुद्र में जलराशि के समान चिदात्मरूपी जगद्रूप का जो भान होता है, ज्ञानी महर्षिगण संकल्प आदि नामों से पुकारते हैं ॥३९॥ दीर्घकाल तक अभ्यास करने से, विचार से, सब के समान देखने से, सात्विकता से तथा सात्विक स्वच्छ स्वरूप से ज्ञानी पुरुष की बुद्धि द्वैत-अद्वैत रहित चिन्मात्र ही होती है ॥४०-४१॥ आवरण-विहीन ब्रह्मस्वरूपा चित् का केवल संवित् प्रकाश ही देह है, उसके अतिरिक्त उसका अन्य कोई देह नहीं है ॥४२॥ आवरण-विहीन ज्ञान से सम्पन्न शान्त पुरुष अपने आत्म रूपी संकल्पमात्र को शाकल्य से देखता हुआ परमार्थ से सभी को अभिन्न पाता है, यह उत्पत्ति उसके संकल्प की सत्यता से ही होती ॥४३॥

अस्या इदं हि संकल्पमात्रमेवाऽखिलं जगत् ।
यथा संकल्पनगरं यथा स्वप्नमहापुरम् ॥४४

आत्मास्वसंकल्पवरः स्ववदातो यथा यथा ।
यद्यथा संकल्पयति तथा भवति तस्य तत् ॥४५

संकल्पनगरे बालः शिलाप्रोड्डयनं यथा ।
सत्य वेत्त्यनुभूयाऽऽशु स्वविधेयनियन्त्रणम् । ४६
स्वसंकल्पात्मभूतेऽस्मिन्परमात्मा जगद्त्रये ।
वरशापादिकं सत्य वेत्त्यनन्यत्तथाऽऽत्मनः ॥४७
स्वसंकल्पपुरे तैलं यथा सिद्ध्यति सैकतात् ।
कल्पनात्सर्गसंकल्पैर्वरादीह तथाऽऽत्मनः ॥४८

अनिरावणज्ञप्तेर्यतः शान्ता न भेदधीः ।
ततः संकल्पनाद् द्वैताद्वराद्यस्य न सिद्ध्यति ॥४९

ब्रह्मण्यवयवोन्मुक्ते द्वितैकत्वे तथा स्थिरे ।
यथा सावयवे तत्त्वे विचित्रावयवक्रमः ॥५०

हमारे संकल्पमात्र से संकल्पनगर अथवा स्वप्ननगर की सृष्टि होने के न ही आवरणहीन ज्ञानी का सर्वत्र दिखाई देता हुआ यह विश्व भी

संकल्पमात्र ही है ॥४४॥ इसी प्रकार अपने संकल्प में आवरणहीन अन्य आत्मा भी जिसका जिस प्रकार संकल्प करता है, उसके लिये उसी प्रकार की उपलब्धि होती है ॥४५॥ जिस प्रकार स्वाधीननियंत्र युक्त संकल्प-नगर में बालक शिलाओं को उड़ाने का अनुभव करता हुआ उसे सत्य मान लेता है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भादि आवरण-रहित आत्मा भी अपने संकल्परूपी त्रैलोक्य में वरदान और अभिशाप आदि को अपने से अपृथक् एवं सत्य मान लेता है ॥४६-४७॥ जिस प्रकार स्वसंकल्प से मनोरथनगर में बालू से तेल निकलने का अनुभव होता है, उसी प्रकार ब्रह्मा के मनोरथ रूपी संसार में वर, शाप आदि अर्थ की सिद्धि, उपादान कारण के बिना ही हो जाती है ॥४८॥ ज्ञानावरण के न खुलने पर भेदबुद्धि का शमन नहीं होता, इसलिए द्वैत-भावना से अज्ञानी पुरुष के वर एवं शाप आदि की अर्थसिद्धि नहीं हो पाती ॥४९॥ अवयव- रहित ब्रह्म में द्वित्व और एकत्व की स्थिति उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि अवयवयुक्त वस्तुओं में अद्भुत अवयवों के क्रम की स्थिति रहती है ॥५०॥

अनिरावरणज्ञानाः केवलं धर्मचारिणः ।
शापादीन्संप्रयच्छन्ति यथा ब्रह्मंस्तथा वद ॥५१
संकल्पयति यन्नाम सर्गादौ ब्रह्म ब्रह्मणि ।
तत्तदेवाऽनुभवति यस्मात्तत्ताऽस्ति नेतरत् ॥५२
ब्रह्म वेत्ति यदात्मानं स ब्रह्माऽयं प्रजापतिः ।
स च नो ब्रह्मणो भिन्नं द्रवत्वमिव वारिणः ॥५३
संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः ।
तत्तदेवाऽऽशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत् ॥५४
निराधारं निरालम्बं व्योमात्म व्योम्नि भासते ।
दुर्दृष्टेरिव केशोण्ड्रं दृष्टमुक्तावलीव च ॥५५
संकल्पिताः प्रजास्तेन धर्मो दानं तपो गुणाः ।
वेदाः शास्त्राणि भूतानि पञ्च ज्ञानोपदेशनाः ॥५६

श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आवरण-रहित ज्ञान से हीन एवं तपस्यादि धर्माचार में रत रहने वाले पुरुष क्रोध से शाप देते और कृपा से वरदान आदि प्रदान करते हैं, उस विषय में मुझे बताइये ।।५१।। वसिष्ठ जी बोले—प्रारम्भिक सर्ग में ब्रह्म जो संकल्प ब्रह्म में करता है, उसका ही अनुभव करता है, इसीलिए सबका ब्रह्मत्व है, इसके अतिरिक्त नहीं है ।।५२।। प्रजापति ब्रह्मा के स्वयं को ब्रह्म जानने के कारण यह ब्रह्म ही है। जैसे द्रवता जल से अलग नहीं है, वैसे ही ब्रह्मता ब्रह्म से पृथक् नहीं है ।।५३।। प्रजापति ब्रह्मा प्रारम्भ में जो संकल्प करता है, उसी के अनुसार होता है, इस प्रकार यह संसार उसी का मनोरथ मात्र है ।।५४।। निराधार, निराश्रय चिदाकाश ही निज स्वरूप में वैसे ही जगद्रूप भासित होता है, जैसे कि दृष्टि दोष से आकाश में केशोण्ड्रक दिखाई देता है ।।५५।। उस प्रजापति ने ही प्रजा, धर्म, दान, तप, गुण और ज्ञानोपदेशक वेद-शास्त्र आदि तथा पंचभूतों का संकल्प किया ।।५६।।

तपस्विनोऽथ वादैश्च यद् ब्रूयुरविलम्बितम् ।
यद्यद्वेदविदस्तत्स्यादिति तेनाऽथ कल्पितम् ।।५७

इदं चिद् ब्रह्म च्छिद्रं खं वायुश्चेष्टाऽग्निरुष्णता ।
द्रवोऽम्भः काठिनं भूमिरिति तेनाऽथ कल्पिताः ।।५८

यद्यथा वेत्ति चिद्व्योम तत्तथा तद्भवत्यलम् ।
स्वप्ने त्वमहमादीव सदात्माऽप्यसदात्मकम् ।।५९

शिलानृत्तं यथा सत्यं संकल्पनगरे तथा ।
जगत्संकल्पनगरं सत्यं ब्रह्मण ईप्सितम् ।।६०

चित्स्वभावेन शुद्धेन यद् बुद्धं यच्च यादृशम् ।
तदशुद्धोऽन्यथा कर्तुं न शक्तः कीटको यथा ।।६१

उसी प्रजापति की यह भी कल्पना थी कि तपस्वीगण वाद द्वारा या स्वाभाविक रूप से कुछ भी मुख से वचन निकालें वह शीघ्र ही वैसा हो जाय ।।५७।। ब्रह्म की चेतनता, आकाश की छिद्रता, वायु

की चेष्टता, तेज की उष्णता, जल की द्रवता और पृथिवी की कठिनता यह सब उस प्रजापति की ही रचना है ॥५८॥ चिदाकाश जिस पदार्थ को जैसा जानता है, वह पदार्थ वैसा ही होजाता है। जैसे स्वप्न में मैं, तुम आदि साकार होजाते हैं, वैसे ही सदात्मा भी असद्रूप होजाता है ॥५९॥ जिस प्रकार संकल्प जन्य नगर में शिला का नाचना सत्य हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मा के प्रारब्ध भोग दिलाने वाले अधिकार के कारण इच्छित संकल्पपुर स्वरूप यह संसार भी सत्य होजाता है ॥६०॥ चित्स्वभाव के कारण प्रजापति आदि का जाना हुआ यथावत हैं, उसे कीट के समान अशुद्ध कोई भी पुरुष मिथ्या नहीं कर सकता ॥६१॥

सदा चिद्व्योम चिद्व्योम्नि कचदेकमिदं निजम् ।
द्रष्टृदृश्यात्मकं रूपं पश्यदाभाति नेतरत् ॥६२
एकं द्रष्टा च दृश्यं च चिन्नभः सर्वगं यतः ।
तस्माद्यथेष्टं यद्यत्र दृष्टं तत्तत्र सत्सदा ॥६३
वाय्वङ्गस्पन्दनवज्जलाङ्गद्रवभाववत् ।
यथा ब्रह्मणि ब्रह्मत्वं तथाऽजस्याऽङ्गजं जगत् ।
ब्रह्मं वाऽहं विराडात्मा विराडात्मवपुर्जगत् ।
भेदो न ब्रह्मजगतोः शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥६५
यथा प्रपाते पयसो विचित्राः कणपङ्क्तयः ।
विचित्रदेशकालान्ता निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥६६
निपत्यैवैकया कल्पं मनोबुद्ध्यादिवर्जिताः ।
आत्मन्येवाऽऽत्मनो भान्ति तथा या ब्रह्मसंविदः ॥६७

चिदाकाश मे स्फुरित हुए इस अपने दिखाई पडते स्वरूप को देखता हुआ चिदाकाश सदा प्रकाशित रहता है, क्योंकि यह उससे भिन्न नहीं है ॥६२॥ चित्तत्त्व के एक ही उपजीवी होने से द्रष्टा और दृश्य में कोई भेद नहीं है। चिदाकाश के सर्वव्यापी होने से जहाँ, जो इच्छित वस्तु दिखाई दे, वहाँ वह सत्य ही है ॥६३॥ देह में वायु के स्पन्दन के समान

श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आवरण-रहित ज्ञान से हीन एवं तपस्यादि धर्माचार में रत रहने वाले पुरुष क्रोध से शाप देते और कृपा से वरदान आदि प्रदान करते हैं, उस विषय में मुझे बताइये ॥५१॥ वसिष्ठ जी बोले—प्रारम्भिक सर्ग में ब्रह्म जो संकल्प ब्रह्म में करता है, उसका ही अनुभव करता है, इसीलिए सबका ब्रह्मत्व है, इसके अतिरिक्त नहीं है ॥५२॥ प्रजापति ब्रह्मा के स्वयं को ब्रह्म जानने के कारण यह ब्रह्म ही है। जैसे द्रवता जल से अलग नहीं है, वैसे ही ब्रह्मता ब्रह्म से पृथक् नहीं है ॥५३॥ प्रजापति ब्रह्मा प्रारम्भ में जो संकल्प करता है, उसी के अनुसार होता है, इस प्रकार यह संसार उसी का मनोरथ मात्र है ॥५४॥ निराधार, निराश्रय चिदाकाश ही निज स्वरूप में वैसे ही जगद्रूप भासित होता है, जैसे कि दृष्टि दोष से आकाश में केशोण्ड्रक दिखाई देता है ॥५५॥ उस प्रजापति ने ही प्रजा, धर्म, दान, तप, गुण और ज्ञानोपदेशक वेद-शास्त्र आदि तथा पंचभूतों का संकल्प किया ॥५६॥

तपस्विनोऽथ वादैश्च यद् ब्रूयुरविलम्बितम् ।
यद्यद्वेदविदस्तत्स्यादिति तेनाऽथ कल्पितम् ॥५७

इदं चिद् ब्रह्म च्छिद्रं खं वायुश्चेष्टाऽग्निरुष्णता ।
द्रवोऽम्भः कठिनं भूमिरिति तेनाऽथ कल्पिताः ॥५८

यद्यथा वेत्ति चिद्व्योम तत्तथा तद्भवत्यलम् ।
स्वप्ने त्वमहमादीव सदात्माऽप्यसदात्मकम् ॥५९
शिलानृत्तं यथा सत्यं संकल्पनगरे तथा ।
जगत्संकल्पनगरं सत्यं ब्रह्मण ईप्सितम् ॥६०
चित्स्वभावेन शुद्धेन यद् बुद्धं यच्च यादृशम् ।
तदशुद्धोऽन्यथा कर्तुं न शक्तः कीटको यथा ॥६१

उसी प्रजापति की यह भी कल्पना थी कि तपस्वीगण वाद द्वारा अथवा स्वाभाविक रूप से कुछ भी मुख से वचन निकालें वह शीघ्र ही फलवान हो जाय ॥५७॥ ब्रह्म की चेतनता, आकाश की छिद्रता, वायु

की चेष्टता, तेज की उष्णता, जल की द्रवता और पृथिवी की कठिनता यह सब उस प्रजापति की ही रचना है ॥५८॥ चिदाकाश जिस पदार्थ को जैसा जानता है, वह पदार्थ वैसा ही होजाता है। जैसे स्वप्न में मैं, तुम आदि साकार होजाते हैं, वैसे ही सदात्मा भी असद्रूप होजाता है ॥५९॥ जिस प्रकार संकल्प जन्य नगर में शिला का नाचना सत्य हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मा के प्रारब्ध भोग दिलाने वाले अधिकार के कारण इच्छित संकल्पपुर स्वरूप यह संसार भी सत्य होजाता है ॥६०॥ चित्स्वभाव के कारण प्रजापति आदि का जाना हुआ यथावत हैं, उसे कीट के समान अशुद्ध कोई भी पुरुष मिथ्या नहीं कर सकता ॥६१॥

सदा चिद्व्योम चिद्व्योम्नि कचदेकमिदं निजम् ।
द्रष्टृदृश्यात्मकं रूपं पश्यदाभाति नेतरत् ॥६२

एकं द्रष्टा च दृश्यं च चिन्नभः सर्वगं यतः ।
तस्माद्यथेष्टं यद्यत्र दृष्टं तत्तत्र सत्सदा ॥६३

वाय्वङ्गस्पन्दनवज्जलाङ्गद्रवभाववत् ।
यथा ब्रह्मणि ब्रह्मत्वं तथाऽजस्याऽङ्गजं जगत् ।
ब्रह्मैवाऽहं विराडात्मा विराडात्मवपुर्जगत् ।
भेदो न ब्रह्मजगतोः शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥६५

यथा प्रपाते पयसो विचित्राः कणपङ्क्तयः ।
विचित्रदेशकालान्ता निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥६६

निपत्यैवैकया कल्पं मनोबुद्ध्यादिवर्जिताः ।
आत्मन्येवाऽऽत्मनो भान्ति तथा या ब्रह्मसंविदः ॥६७

चिदाकाश मे स्फुरित हुए इस अपने दिखाई पडते स्वरूप को देखता हुआ चिदाकाश सदा प्रकाशित रहता है, क्योंकि यह उससे भिन्न नहीं है ॥६२॥ चित्सत्ता के एक ही उपजीवी होने से द्रष्टा और दृश्य में कोई भेद नहीं है। चिदाकाश के सर्वव्यापी होने से जहाँ, जो इच्छित वस्तु दिखाई दे, वहाँ वह सत्य ही है ॥६३॥ देह में वायु के स्पन्दन के समान

एवं जल में द्रवता के समान जैसे ब्रह्म में ब्रह्मता है, वैसे ही अजन्मा विराट् के अंग से यह विश्व उत्पन्न हुआ है ॥६४॥ विराट्रूप ब्रह्म हैं, विराटात्मा का शरीर ही यह जगत् है। इस प्रकार ब्रह्म और जगत् में शून्यता एवं आकाश के समान अभेद है ॥६५॥ जिस प्रकार गिरि से पतित होने वाले झरने के द्वारा जो जल के अद्भुत कण गिरते हुए उछलते हैं, वैसे ही यह विचित्र देश और काल इस ब्रह्म में ही प्रकट होते हुए तथा लीन होते हुए देखे जाते हैं ॥६६॥ जैसे एक धार से कल्प पर्यन्त पतित होने वाले, मन-बुद्धि-विहीन जलकण करोड़ों भेदों में बँट कर भी अपने ही एक प्रवाह रूप से जान पड़ते हैं, वैसे ही अद्भुत ब्रह्मसंविद भी आत्मा से निर्गत होकर कोटिशः भेदों में बँट कर भी अपने ही आत्मा में भासित होती हैं ॥६७॥

ताभिः स्वयं स्वदेहेषु बुध्यादिपरिकल्पनाः ।
कृत्वोररीकृता सर्गश्रीरद्भिर्द्रवता यथा ॥६८

तदेवं जगदित्यस्ति दुर्बोधेन मम त्विदम् ।
अकारणकमद्वैतमजातं कर्म केवलम् ॥६

अस्तास्थितिः शरीरेऽस्मिन्याद‍ृग्रूपाऽनुभूयते
उपलादौ जडा सत्ता ताद‍ृशी परमात्मनः ॥७०

यथैकस्यां सुनिद्रायां सुषुप्तस्वप्नकौ स्थितौ ।
तथैते सर्गसंहरभासौ ब्रह्मणि सस्थिते ॥७१

सुषुप्तस्वप्नयोर्भातिः प्रकाशतमसी यथा ।
एकस्यामेव निद्रायां सर्गासर्गौ तथा परे ॥७२

वे जलकण मन-बुद्धि आदि से विहीन हैं, किन्तु ब्रह्मसंविद स्वयं ही अपने-अपने देह में मन-बुद्धि आदि की कल्पना करती हुई जलों में जैसे द्रवत्व होता है, वैसे ही सृष्टि रूपी श्री को भोग्य रूप से स्वीकार करती है ॥६८॥ इस प्रकार मन-बुद्धि आदि के दुर्बोध से यह संसार स्थित है। मेरी ज्ञान-विहीन दृष्टि तो इस समस्त जगद्रूप कर्म को कारण-रहित,

अद्वैत और उत्पत्ति से रहित केवल ब्रह्म ही स्वीकार करती है ॥६९॥ जैसे इस देह में मरणावस्था मन और बुद्धि आदि से रहित भासित होती है। जैसी जड़सत्ता उपलादि में है, वैसी ही परमात्मा की मन-बुद्धि आदि से हीन तथा विक्षेप-रहित सत्ता होती है ॥७०॥ जिस प्रकार प्रगाढ़ निद्रा में सुषुप्ति और स्वप्न दोनों की ही स्थिति है, उसी प्रकार ब्रह्म में सर्ग और प्रलय दोनों ही अवस्थित हैं ॥७१॥ जैसे एक ही निद्रावस्था में स्वप्न और सुषुप्ति में प्रकाश और अँधेरा दोनों का भास होता है, वैसे ही ब्रह्म में सर्ग और असर्ग दोनों की प्रतीति होती है ॥७२॥

यथ नरोऽनुभवति निद्रायां दृषदः स्थितिम् ।
परमात्माऽनुभवति तथै तज्जडसंस्थितिम् ॥७३

अङ्गुष्ठस्याऽथवाऽङ्गुल्या वाताद्यस्पर्शने सति ।
योऽन्यचित्तस्याऽनुभवो दृषदादौ स आत्मनः ॥

व्योमोपलजलादीनां यथा देहानुभूतयः ।
तथाऽस्माकमचित्तानामद्य नानाऽनुभूतयः ॥७५

काले कल्पेषु भान्त्येता यथाऽहोरात्रसंविदः ।
तथाऽसंख्याः परे भान्ति सर्गसंहारसंविदः ॥७६

आलोकरूपमननानुभवैषणेच्छा-
मुक्तात्मनि स्फुरति वारिघने स्वभावात् ।
आवर्तवीचिवलयादि यथा तथाऽस्य
शान्ते परे स्फुरति संहृतिसर्गपूगः ॥७७

जैसे सोते हुए मनुष्य को पाषाण की स्थिति का अनुभव होता है, वैसे ही ब्रह्म भी जड़ वस्तुओं की संस्थिति का अनुभव करता है ॥७३॥ जैसे मनुष्य को अँगूठा या अँगुली से वायु, गर्मी, धूल का स्पर्श भी अन्य विषयों में मन होने के कारण अस्पर्श जैसा लगता है अर्थात् अन्य विषय में चित्त लगा हो तो किसी स्पर्श का अनुभव नहीं होता, वैसे ही पाषाणादि के रूप में विद्यमान होना भी अविद्यमान जैसा ही होता है

॥७४॥ नभ, उपल, जल आदि को जिस प्रकार विराट् के शरीर भाव का या उन-उन अधिष्ठात देवताओं के शरीर-भाव का अनुभव होता है, उसीप्रकार प्रलयकाल में चित्तादि से रहित हुए हमको आज अर्थात् सर्ग-काल में विभिन्न भांति का अनुभव होता है ॥७५॥ ब्रह्मा के दिन-भेद आदि में जो कल्प हैं, उनमें हमारे जैसे असंख्य दिन-रात्रि के भान के समान परब्रह्म में भी असंख्य सर्ग और प्रलय की प्रतीति होती है ॥७६॥ जैसे केवल जल स्वभाव से सम्पन्न सागर में स्वभाववश ही आवर्त्त एवं तरंगादि का स्फुरण होता है, वैसे ही विषय-दर्शन, मनन और भोगयुक्त अनुभव तथा उनकी इच्छा एवं प्राप्ति की कामना आदि विक्षेपों से विमुक्त रूप शान्त परमपद में यह संहार और सर्ग का पुञ्ज भी स्वभाववश ही भासित होता है, किन्तु तत्व का दर्शन होने पर उसका स्फुरण नहीं होता ॥७७॥



## १०१—जीवत्व प्राप्ति के हेतु और ब्रह्मशुद्धता

विचित्राणामसंख्यानां भावानां नियतिः कुतः ।
कथं स्वभावो भावानामेकरूपः स्थितोऽचलः ॥१

सत्स्वसंख्येषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम् ।
दीर्घत्वमथ ह्रस्वत्वं दिवसानां तु किंकृतम् ॥२

काकतालीयवद्भानं यत् परे नियतं स्वतः ।
यथास्थितं यथारूपं स्थितं तज्जगदुच्यते ॥३

सर्वशक्तेर्यथा यद्यद्भाति तत्तत्तथैव सत् ।
सवित्सारतया यायात्कथं भातमभातताम् ॥४

यथा स्थितं यथा भाति चित्त्वाद् ब्रह्म चिराय यत् ।
तस्य भानमभानाभ नियत्यभिधमेव तत् ॥५

श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! असंख्य अद्भुत पदार्थों का कार्य-कारण भाव, नियति और स्वभावादि की किस हेतु से अचल एवं एक रूप से इस जगत में स्थिति है ? क्योंकि इसकी स्थिरता स्वप्न और संकल्प आदि मिथ्या वस्तुओं में प्रतीत नहीं होती ।।१।। देवगण असंख्य हैं, किन्तु उनमें सूर्य की प्रभा ही इतनी उग्र कैसे होगई और दिनों का बड़ा या छोटा होना भी किसने संभव किया ? ।।२।। वसिष्ठजी बोले—हे राम ! उस निश्चल परब्रह्म में स्वभाव से ही जो काकतालीय योगवत् आदि सृष्टि में नियत का भान हुआ, वह जिस प्रकार का था तथा जिस प्रकार के भाव में स्थित था, वैसा ही आज भी अवस्थित यह सर्ग जगत् कहा जाता है ।।३।। सर्वशक्तिमान् ब्रह्म जिसका जैसा भान करता है, उसका वैसा ही होना सत् है । सत्य संकल्प संवित्-सार है, उसी जिसका भान होता है, वह भान-रहित किस प्रकार हो सकता है ? ।।४।। स्व-स्वरूप में यथास्थित ब्रह्म का चित् होने से चिरकाल तक जिस प्रकार का स्फुरण होता है, उसी का सर्गकाल में भान होता है और अन्तकाल में, सूक्ष्म होने से वही अभान के समान हो जाता है । वही नियति है और वही आदि-रहित सब पदार्थों की अर्थ क्रिया शक्ति भी है ।।५।।

इदमित्थमिदं चेत्थं स्वयं ब्रह्मेति भाति यत् ।
तन्नियत्यभिधं प्रोक्तं सर्गसंहाररूपधृक् ।।६
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं यत्स्वतः कचनं चिति ।
तत्ततोऽनन्यदेकाच्छं द्रवत्वमिव वारिणि ।।७
यथा शून्यत्वमाकाशे कर्पूरे सौरभं यथा ।
यथौष्ण्यमातपे नान्यज्जाग्रदादि तथा चिति ।।८
सर्गप्रलयनाम्न्येकप्रवाहानन्यसत्तया ।
चिन्मात्रगगनात्मैकब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ।।९
सर्गोऽयमिति तद् बुद्धं क्षणं यत्कचनं चितः ।
कल्पोऽयमिति तद्बुद्धं क्षणं तत्कचनं चितः ।।१०

यह ऐसा है, यह वैसा है इस प्रकार से स्वयं ब्रह्म का स्फुरण सर्ग और प्रलय का रूप धारण करता है तथा वही नियति संज्ञक है ।।६।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का चित् में स्वतः स्फुरण होना अत्यन्त स्वच्छ और उससे उसी प्रकार अभिन्न है, जिस प्रकार कि जल से द्रवता भिन्न नहीं होती ॥७॥ आकाश में शून्यता, कपूर में सुगन्ध और धूप में उष्णता जैसे उन-उन से अभिन्न हैं, वैसे ही चित् में जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएँ भी अभिन्न हैं ॥८॥ बीज और अंकुर के समान सर्ग और प्रलय के आदि-रहित होने के कारण चिन्मात्र गगन रूपी सर्ग और प्रलय संज्ञक यह एक प्रवाह की अभिन्न सत्ता से ब्रह्मस्वरूप में स्थित है ॥९॥ चित् का क्षणिक स्फुरण ही, इस सर्ग को जाना गया तथा उसी को कल्प भी जाना गया है ॥१०॥

तत्कालस्तत्क्रिया तत्खं देशद्रव्योदयादि तत् ।
यत्स्वप्न इव चिन्मात्रकचनं स्वस्वभावतः ॥११
रूपालोकमनस्कारदेशकालक्रियादि तत् ।
चित्त्वं कचति चिद्व्योम्नि यन्नामाऽनाकृति स्वतः ॥१२
यद्यथा कचितं कालं यत्किंचित्कल्पितं तथा ।
तेनैवेयं हि नियतिरित्यप्याकाशरूपकम् ॥१३
आकल्पाख्यं निमेषं यत्कचनं चैकरूपकम् ।
स्वाभाविकाः स्वभावं तं प्राहुः प्रसृतबुद्धयः ॥१४
एकस्य संविन्मात्रस्य पदार्थंशतता तथा ।
यथेदं संविदंशस्य रूपं स्वं स्वमनुज्झतः ॥१५

स्वप्नवत् निज स्वभाव से चित् का जो स्फुरण है, वही काल, क्रिया, आकाश, देश तथा द्रव्य आदि आविर्भूत होना है ॥११॥ चिदाकाश में निराकार चित् का स्वाभाविक स्फुरण ही बाह्यदर्शन, आन्तरिक मनन तथा देश, काल, क्रिया आदि है ॥१२॥ जिस समय जो स्व कल्पित पदार्थ, जिस प्रकार चित् से स्फुरण को प्राप्त होता है, वह नियति आकाशरूप से भिन्न कदापि नहीं है ॥१३॥ ब्रह्म के कल्प संज्ञक निमेष पर्यन्त पदार्थों का जो एक जैसा स्फुरण है, वही बुद्धिमानों द्वारा स्वभाव कहा गया है ॥१४॥ जैसे कि संवित् के अंशभूत जीव का स्व-

भाव चित्स्वरूप ही है, वैसे ही एक ही संवित् से अपने स्वरूप का त्याग न करने वाले पदार्थों के सैकड़ों भेद होजाते हैं ।।१५।।

संविन्मये संविदो याः कचन्तीव परे तथा ।
ताभिस्तेषां स्वदेहानां यासां सा कलना कृता ।।१६

चिदुर्वी सलिलं तेजः स्पन्दः शून्यत्वमेव च ।
प्रत्येकमाकरस्त्वेषां तानि स्वप्न इवाऽम्बरम् ।।१७
तत्र सप्रतिघस्याऽस्य कठिनस्याऽऽकरो महान् ।
भूपीठं जनताधारो राजन्राजेव राजते ।।१८

अपामब्धिः प्रधानानां तेजसामेव भास्करः ।
स्पन्दस्य पवनो व्योम शून्यताया जगद्गतम् ।।१९
पञ्चानामिति भूतानामाकरत्वेन संविदः ।
पञ्च तात्युदिता ब्राह्म्यः प्रश्नः किं भास्करं प्रति ।।२०

चिदाभास संविदों का संविन्मय वृत्तियों में जो स्फुरण होता है, वह उनका स्वभाव ही है । वृत्ति विषयों के भेद से वृत्याभास संविदों द्वारा स्वदेह के जिन विभिन्न आकारों की कल्पना की जाती है, वह आकार उनके स्वभाव से ही होते हैं ।।१६।। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश के जो-जो अनुगत स्वभाव हैं, उन-उन सभी का स्वप्न के समान ब्रह्म ही खान स्वरूप है ।।१७।। हे राजन् ! मूर्त हुए इस कठिन भाग की खान यह पृथिवी है, यही जनता के लिए आश्रय तथा राजा के समान पालन करने वाली है ।।१८।। जलों की खान समुद्र है, तेजों की खान सूर्य, स्पन्द की खान वायु और शून्यता की खान व्योम है ।।१९।। इस प्रकार संवित् के खान रूप से वे पंच-महाभूत ब्राह्मी संवित् से ही आविर्भाव को प्राप्त हुए हैं, इससे ब्रह्म ही अनुगत होकर उनका स्वभाव सिद्ध होता है । जब स्वाभाविक रूप से ही समाधान हो गया तो सूर्य-विषय प्रश्न भी पृथक् रूप से नहीं उठता ।।२०।।

बुधा संविच्चिदित्युक्ता सर्वगा सर्वरूपिणी ।
सर्वत्र स्वमहिम्नैषा सर्वेणैवाऽनुभूयते ।।२१

ब्रह्मात्मा ब्रह्मबालोऽयं स्वसंवित्स्फुरणामिमाम् ।
व्योमात्मक्षौमभूनाम्नीं स्फारयत्यम्बराकृतिः ॥२२
सा यदैतत्तथैतञ्च चिरमत्त्यजसंविदा ।
तदा तदङ्गस्याऽर्कादिर्नाऽतो नोत्पादि चञ्चलम् ॥२३
संकल्पपूर्वमशकजालवद्धिष्ण्यचक्रकम् ।
आवर्तवर्तिना भाति चिद्व्योमेदं च दृश्यवत् ॥२४
तत्र प्रभास्वराः केचित् केचिदप्यल्पभास्वराः ।
केचिच्चाऽभास्वरा भाताः पदार्थाश्चित्ररूपिणः ॥२५

चित् को ही संवित् कहते हैं। सर्व प्रकाशिका होने से सर्वज्ञ, सर्वरूपा, सर्वत्र गमन करने वाली, अपने ही प्रकाश से ज्योतिमयी, अपनी ही महिमा से परमाकार तथा नियति रूप से सभी के द्वारा अनुभव की जाती है ॥२१॥ ब्रह्मात्मा यह बालक ब्रह्म अपनी ही संवित् के स्फुरण रूप आकाशावरण युक्त भूमि का स्वयं ही अम्बराकृति होकर स्वयं में विस्तार करता है ॥२२॥ जब वह सर्वज्ञ संवित् ब्रह्म संवित् के साथ स्थूल और सूक्ष्म प्रपंच का स्वयं में लय करती है, तब ब्रह्म-संवित् के अंगभूत भास्करादि के चंचल रूप की उत्पत्ति वह नहीं करती ॥२३॥ मकड़ी के जाले के समान ब्रह्मा के संकल्पों से बने हुए ग्रह, नक्षत्र आदि का भवनभूत ज्योतिष चक्र सर्वज्ञात है। उसी के दक्षिणायण और उत्तरायण मार्गों पर सूर्य के गमन करने से दिनों का छोटा-बड़ा होना निश्चित है और वह चिदाकाश दृश्य के समान ही भासित होता है ॥२४॥ उनमें कोई अत्यन्त भास्वर, कोई अल्प भास्वर और कोई अभास्वर भी हैं। इस प्रकार विभिन्न रूप से पदार्थों का भास होता है ॥२५॥

पदार्थजातं त्वेतावन्न जातं न च दृश्यते ।
ज्ञस्याऽजातमिदं भाति खमात्मा स्वप्नदृश्यवत् ॥२६
चिन्मात्रमात्मा सर्वज्ञः सर्व एवाऽतिदृश्यवत् ।
नश्यतीव विदेहे स्वे न च भाति न नश्यति ॥२७

स्वप्नदर्शनवद्भाति यच्चिद्व्योम चिदम्बरे।
चिद्व्योमत्वादृते रूपं तदस्य जगतः कुतः ॥२८
यद्यथा स्फुरितं तस्य यावत्सत्तं स्फुरद्वपुः।
तत्स्वभावनियत्याख्यैः शब्दैरिह निगद्यते ॥२९

गगनाङ्गस्य सत्ताऽन्तः शब्दतन्मात्रकल्पया।
कुशुलबीजाङ्कुरवत्तिष्ठत्याशान्तरूपिणी ॥३०

यथार्थ में तो यह सभी पदार्थ न तो उत्पन्न हुए और न दिखाई ही देने वाले हैं। यह सभी, ज्ञानीजन के लिए तो स्वप्न में देखे हुए के समान चिदाकाश की ही प्रतीति होती है ॥२६॥ जो चिन्मात्र सर्वेश्वर है, वह आपके, मेरे तथा अन्य सब रूपों से अति दृश्यों के समान स्फुरण को प्राप्त होता है। किन्तु यथार्थ में न उसका स्फुरण होता है और न नाश ही होता है ॥२७॥ चिदाकाश का स्फुरण स्वप्न में देखे हुए दृश्य के समान ही चिदाकाश में होता है तो फिर इस संसार का परमार्थिक रूप चिदाकाशता के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? ॥२८॥ अध्यस्त में जब तक घटादि की विद्यमानता है तब तक वह पारमार्थिक सद्रूप ही उस रूप में स्फुरित होता है और विविध शब्दों में जो कहा जाता है, वह सब उसका स्वभाव और नियत आदि ही है ॥२९॥ वह ब्रह्मसत्ता अपने आकाशरूपी देह के अंग में शब्दतन्मात्र होकर स्थित कुठीला में रखे बीजों में अंकुरों के उत्पन्न न होने के समान पवनादि विश्व की बीजभूत सामर्थ्य रूप से अनुत्पन्न हुई रहती है ॥३०॥

सपद्यते तत इदमित्तीयं रचनेह या।
कृता सा मुग्धबोधाय मूर्खैर्विरचिता मुधा ॥३१
नाऽस्तमेतीह नोदेति तत्कदाचन किंचन।
शिलाजठरवच्छान्तमिदं नित्यं सदप्यसत् ॥३२
यथाऽवयविनो नाऽन्तः सदैवाऽऽवयवाणवः।
नाऽस्तं यान्ति न चोद्यन्ति जगन्त्यात्मपदे तथा ॥३३

ब्रह्मव्योम्नि जगद्व्योम व्योम व्योम्नीव विद्यते ।
तत्कथं किल संशुद्धमस्तमायात्युदेति वा ।।३४

तस्याऽनन्तप्रकाशात्मरूपस्याऽऽनतचिन्मणेः ।
सत्तामात्रात्मकचनं यदजस्रं स्वभावतः ।।३५

तदात्मना स्वयं किंचिच्चेत्यतामिव गच्छति ।
अगृहीतात्मक संविदूहामर्शनसूचकम् ।।३६

उससे इस पंचभौतिक संसार के क्रम से उत्पन्न होने की कल्पना, अज्ञानियों के प्रबोधार्थ सर्ग-प्रतिपादन के लिए मनीषियों ने की है। उसका प्रतिपादन सृष्टि को वास्तविक बताने के लिए नहीं किया गया है। क्यों कि सृष्टि की तात्विकता का प्रतिपादन मूर्खों द्वारा रचित कथा के समान ही मिथ्या है, जो कि न तो शास्त्रों में सुना जाता है और न लोक में ही देखा जाता है ।।३१।। यह यहाँ उदय या अस्त नहीं होता। शिलागर्भ जैसा यह नित्य शान्त तथा सत्-असत् दोनों प्रकार का है। क्यों कि जो वास्तविक ब्रह्म है, उसका उदय-अस्त कभी है ही नहीं ।।३२।। जिस प्रकार अवयवी में अवयव उदय-अस्त को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार आत्मपद में अनन्त विश्व भी उदय वाला नहीं होता ।।३३।। आकाश के आकाश में रहने के समान ही ब्रह्माकाश में जगदाकाश की स्थिति है। इस प्रकार संशुद्ध विश्व का विनाश या उदय कैसे हो सकता है? ।।३४।। उस अनन्त प्रकाशात्मक चिन्तामणि का जो स्वाभाविक सत्तामात्र आत्मस्फुरण है वह अज्ञात होने से अन्यथा भाव के कारण ऊहाविमर्श सूचक रूप से स्वयं ही कुछ चेत्य-भाव को पा लेता है ।।३५-३६।

भाविनामार्थकलनैः किंचिदूहितरूपकम् ।
आकाशादणु शुद्धं च सर्वस्मिन्भाविबोधनम् ।।३७

ततः सा परमा सत्ता सती तच्चेतनोन्मुखी ।
चित्नामयोग्या भवति किंचिल्लभ्यतया तया ।।३८

घनसंवेदनात्पश्चाद्भाविजीवादिनामिका ।
सा भवत्यात्मकलना यद्भवन्ती परं पदम् ।।३९

गर्भीकृत्य स्थिताऽनाख्या चिदाकाशापिधानताम् ।
संप्रति त्वतिशुद्धस्य पदस्याऽनन्यरूपिणी ॥४०
स्वतैकभावनामात्रसारसंसरणोन्मुखी ।
तदा विनाभावकृता अनुतिष्ठन्ति तामियाः ॥४१

भावी नाम और अर्थ की कल्पनाओं से कुछ ऊहित (तर्क युक्त) रूप वाला, आकाश से भी सूक्ष्म एवं शुद्ध वह सभी में भावी प्रपंच को बोध करने वाला होता है ॥३७॥ फिर उस कुछ चेत्यता से वह परमसत्ता रूपी पदार्थ को चेतनोन्मुखी (चेतन बनाती हुई) 'चित्' संज्ञा के योग्य हो जाती है ॥३८॥ घनसंवेदन के पश्चात् जीवादि संज्ञिका वह आत्म-कल्पना जीवादि रूपों में परिवर्तित होती हुई देह प्राप्त करने के पश्चात् परमपद में अवस्थित होजाती है ॥३९॥ क्यों कि जीवरूप होने की अवस्था में वह परमसत्ता चिदाकाश को ढँकने वाली अविद्या को धारण कर लेती है इसलिए उस समय उसका जो परमपद वाला स्वभाव है

शून्यरूपा वह स्वसत्ता विकल्पयुक्त चिद्भावना की भ्रान्ति शब्दादि गुणों से युक्त गर्भिणी होकर भावी पंचभूतों की भूतादि होती है ॥४२॥ तब लिंगशरीर में विद्यमान प्राणक्रिया से होने वाली कालसत्ता के सहित अहन्ता उदित होती है और भावी व्यवहार के उद्देश्यभूत वे दोनों विश्व की स्थिति में मुख्य बीजभूत होते हैं ॥४३॥ परम चितिशक्ति का यह स्वसंवेदन मात्र असद्रूप जगज्जाल उसके चेतन होने से ही सत् के सदृश स्थित है। ४४॥ इस प्रकार की संकल्पवृक्ष की बीजभूता वह चित् स्वयं में अहन्ता की भावना करती हुई क्षणभर में ही अहन्तारूप हो जाती है ॥४५॥ वही अब जीवाभिधान रूप से उत्पत्ति और नाशरूपी भ्रान्तियों से प्रेरित हुई, जल में लहरों के समान ब्रह्म में भ्रमण करती है ॥४६॥

चिदेवंभावनवती व्योम तन्मात्रभावनाम् ।
स्वतो घनीभूय शनैः खतन्मात्रं प्रचेतति ॥४७
भाविनामार्थरूपं तद्बीजं शब्दौघशाखिनः ।
पदवाक्यप्रमाणाढ्यवेदार्थादिविकारि च ॥४८
तस्मादुदेष्यत्यखिला जगच्छ्रीः शब्दतत्त्वतः ।
शब्दौघनिर्मितार्थौघपरिणामविसारिणी ॥४९
चिदेवंव्यवसाया सा जीवशब्देन कथ्यते ।
भाविशब्दार्थजालेन बीजं भूतौघशाखिनः ॥५०
चतुर्दशविधं भूतजातमावलिताम्बरम् ।
जगज्जठरकर्णौघ तस्मात्संप्रसरिष्यति ॥५१

इस प्रकार की भावना वाली चित् आकाशतन्मात्र वाली भावना को शनैःशनैः घनी बनाती हुई स्थूल आकाश की भावना करने लगती है ॥४७॥ तब स्थूल आकाशरूपा हुई वह चित् भावी नाम-अर्थ रूपी शब्दमहातरु की बीजभूता और पद, वाक्य तथा प्रमाणों से वेदार्थ की आश्रयभूता होती है ॥४८॥ और तब उसी शब्द-सार से निर्मित और विस्तृत हुई इस अखिल विश्व की शोभा का प्राकट्य होता है ॥४९॥ इस प्रकार के व्यवहार वाली वह चित् ही 'जीव' शब्द से कहलाती

है, वही भावी शब्दों और उनके अर्थों से भूतसमुदायरूप महावृक्ष की बीजभूता होती है ॥५०॥ चौदहों प्रकार का भूत-समुदाय और आकाश को व्याप्त करने वाले जगद्रूप जीर्णपत्रों की राशि हिरण्यगर्भरूपी चित् से ही उत्पन्न होती है ॥५१॥

असंप्राप्ताभिधाचारा जीवत्वाच्चेतनेन चित् ।
काकतालीयवत्स्पन्दचिन्मात्रं चेतति स्वयम् ॥५२
पवनस्कन्धरूपस्य बीजं त्वक्स्पर्शशाखिनः ।
सर्वभूतक्रियस्पन्दस्तस्मात्संप्रसरिष्यति ॥५३
तत्र यच्चिद्विलासस्य प्रकाशानुभवो भवेत् ।
रूपतन्मात्रकं तद्भविष्यदभिधार्थदम् ॥५४
प्रकाशचेतनं तेजो न तेजोऽन्यकृतं भवेत् ।
स्पर्शसंवेदनं स्पर्शो नेतरस्पर्शसंभवः ॥५५
शब्दसंवेदनं शब्दः स्वत एवाऽनुभूयते ।
खं खेनेव स्वयं कोशे नाऽन्यच्छब्दकृदस्ति हि ॥५६

उपरोक्त चित् जीव होने के कारण, शब्दों के तथा देहादि के व्यवहारों को प्राप्त न होकर, काकतालीय न्याय से, चेतन से स्वयं स्पन्द-चिन्मात्र की कल्पना करने लगती है ॥५२॥ वही चित् पवन रूपी वृक्ष की बीजभूता भी है, क्योंकि उसमें सब जीवों की क्रिया का संचालन करने वाला पवन उत्पन्न होता है ॥५३॥ वैसे ही उसमें चिद्विलास के प्रकाश से जो अनुभव होता है, वह रूपतन्मात्र एवं भावी तेजादि भूतों को स्वरूप का देने वाला है ॥५४॥ प्रकाशरूप चेतन ही तेज है, क्योंकि तेज किसी अन्य द्वारा बनाया हुआ नहीं है। स्पर्श संवेदन ही स्पर्श है, क्योंकि स्पर्श किसी अन्य के द्वारा उत्पन्न नहीं है ॥५५॥ शब्द की कल्पनारूप शब्द का आविर्भाव स्वयं ही होता है। जैसे आकाश अपने कोश में अवकाश पाकर आकाश से ही स्थित होता है, किसी अन्य से नहीं होता, वैसे ही शब्दसंवेदन शब्द से ही शब्द का करता है, अन्य से नहीं करता ॥५६॥

किल तस्यामवस्थायां कोऽपरः शब्दकृद्भवेत् ।
यथा तथा तदाऽद्याऽपि द्वैतैक्यस्थात्यसंभवात् ।।५७
एवं हि रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमेव च ।
असत्यमेव सदिव स्वप्नाभमिव चेत्यते ।।५८
तेजः सूर्यादिजृम्भाभिर्बीजमालोकशाखिनः ।
तस्माद्रूपविभेदेन ससारः प्रसरिष्यति ।।५९
भविष्यदभिधस्याऽथ खता स्वत इवाऽसतः ।
स्वदनं तस्य संघस्य रसतन्मात्रमुच्यते ।।६०
भविष्यद्रूपसकल्पनामाऽसौ सकलो गणः ।
संकल्पात्माऽथ तन्मात्रं गन्धाद्यमनुचेतति ।।६१
भाविभूगोलकत्वेन बीजमाकृतिशाखिनः ।
सर्वाधारात्मनस्तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ।।६२

उस अवस्था में अन्य शब्द करने वाला कौन होगा ? जैसे उस समय द्वैत-अद्वैत की आन्यिकता संभव नहीं थी, वैसे ही अब भी वह असंभव ही है ।।५७।। इस प्रकार सत् के समान् असद्रूप रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र भी स्वप्न के समान ही कल्पित हैं ।।५८।। सूर्य आदि के जृम्मण से प्रकाश-महावृक्ष का बीजभूत तेज है, उसी में रूपभेद के द्वारा संसार का आविर्भाव होता है ।।५९।। निर्विकार आकाश से जो भविष्य में होगा उस अन्नपानादि का स्वयं ही माधुर्य स्रवित होता है वही रसतन्मात्र कहा गया है ।।६०।। फिर भविष्य में जिसका रूप और संकल्प नाम होने को है, ऐसा यह कार्यकारण-राशि स्वरूप जीव संकल्पात्मक गन्ध आदि तन्मात्र की कल्पना करने लगता है ।।६१।। भावी भूगोलात्मक आश्रय रूप महातरु का बीजभूत सभी के आश्रयभूत उस गन्धतन्मात्र से विश्व विस्तार को प्राप्त होगा ।।६२।।

अजात एव संजातस्तन्मात्राणां गणस्त्विति ।
अनाकारोऽपि साकारः संपन्नः कल्पनावशात् ।।६३
एष तन्मात्रकगणः काकतालीयवत्स्वयम् ।
रूपं येन प्रदेशेन वेत्त्यक्षीति तदुच्यते ।।६४

शब्दं येन प्रदेशेन वेत्ति श्रोत्रं तदुच्यते ।
स्पर्शं येन प्रदेशेन वेत्ति तत्तु त्वगिन्द्रियम् ॥६५
रसं येन प्रदेशेन वेत्ति तद्रसनेन्द्रियम् ।
गन्धं येन प्रदेशेन वेत्ति घ्राणेन्द्रियं तु तत् ॥६६
दिक्कालभेदाञ्जीवोऽयं नियतामाकृतिं गतः ।
सर्वेणाऽङ्गेन नो सर्वं वेत्त्यसर्वात्मतावशात् ॥६७
इति कलनमनन्तमात्मनोऽन्तर्गतमनुमेयमनन्यदात्मभूतम् ।
न तदुदयमुपैति नाऽस्तमेति स्थितमुपलोदरवद्धनं सुमौनम् ॥६८

यथार्थ में तो उत्पन्न न हुए शब्द स्पर्श आदि स्वरूप जो तन्मात्र-समूह है, वह निराकार होता हुआ भी कल्पनावश साकार रूप से उत्पन्न हो गया है ॥६३॥ यह तन्मात्रगण काकतालीय योग के समान जहां रूप को जानता है, वह अवयव नेत्र है, जिससे सुनता है वह कान है, जिससे स्पर्शानुभव करता है वह त्वचा है, जिससे स्वाद लेता है, वह जिह्वा है और जिससे गन्ध सूंघता है, वह घ्राण या नासिका है ॥६४-६६॥ नियत आकृति में अवस्थित हुआ यह जीव दिशा और काल के भेद कल्पित करता है और असर्वात्मदोष के वशीभूत होकर सभी अंगों से सब कुछ नहीं जान सकता (अर्थात् आंख से सुन नहीं सकता या कान से देख नहीं सकता आदि) ॥६७॥ इस प्रकार प्रत्येक जीव में न कहा गया भी अनन्त लौकिक कल्पना आत्मान्तर्गत ही अनुमेय है। अनन्त होने से पृथक्-पृथक् प्रत्येक के विषय में नहीं कहा जा सकता और वे अनन्त कल्पनाएं आत्मभूत ही है, इसलिए यथार्थ में तो वे न उदय को प्राप्त होती हैं, न अस्त को। किन्तु शिलागर्भ के समान मौन रूप से ही अवस्थित हैं ॥६८॥

---

## १०२–देहभ्रान्ति से उत्पत्ति की प्रतीति

आदिमत्त्वमिदं प्रोक्तमेतस्य कलनस्य यत् ।
परस्मादद्वितीयं तत्त्वद्बोधाय न वास्तवम् ॥१

एवंविधं तत्कलनमात्मनोऽङ्गमकृत्रिमम् ।
चेत्योन्मुखचिदाभासं जीवशब्देन कथ्यते ॥२
कलनस्याऽस्य नामानि बहूनि रघुनन्दन ।
शृणु तानि विचित्राणि चेत्योन्मुखचिदात्मनः ॥३
जीवनाच्चेतनाज्जीवो जीव इत्येव कथ्यते ।
चेत्योन्मुखतया चित्तं चिदित्येव निगद्यते ॥४
इदमित्थमिति स्पष्टबोधाद्बुद्धिरिहोच्यते ।
कल्पनान्मननज्ञत्वान्मन इत्यभिधीयते ॥५

वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! इस चिदाभासात्मक जीव की जो उत्पत्ति कही है, उसका तात्पर्य जीव के ब्रह्म से अभिन्नत्व का बोध कराना ही है। उसका आशय यह नहीं है कि जीव की उत्पत्ति यथार्थ रूप से होती ही है ॥१॥ वह चिदाभास ब्रह्म का औपाधिक अंग होने से कृत्रिम नहीं है। चेत्य की ओर उन्मुख चिदाभास ही जीव शब्द से कहा जाता है ॥२॥ हे रघुनन्दन ! इस जीव के अनेक नाम हैं। आप अब चेत्योन्मुख चिदात्मा के उन विचित्र नामों को सुनिये ॥३॥ जीवन से और चेतन से ही वह जीव कहा जाता है अर्थात् प्राणेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के धारण करने पर जीव संज्ञक होता है। अतीत और भावी चेत्यों की ओर उन्मुख होने से चित्त और समीपवर्ती चेत्यों की ओर उन्मुख होने से चित् कहा जाता है ॥४॥ 'यह ऐसा है' इस प्रकार का स्पष्ट ज्ञान होने से बुद्धि और कल्पना तथा मनन का ज्ञान होने से मन कहाता है ॥५॥

अस्मीति प्रत्ययादन्तरहङ्कारश्च कथ्यते ।
चेतनाढ्यमृत चित्तमिति शास्त्रविचारिभिः ॥६
प्रोपसंकल्पजालात्स पुर्यष्टकमिति स्मृतम् ।
संसृतेः प्रकृतत्वेन प्राथम्यात्प्रकृतिः स्मृता ॥७
बोधादविद्यमानत्वादविद्येत्युच्यते बुधैः ।
इत्यादिकालनस्याऽस्य नामानि कथितानि ते ॥८

एतत्कलनमाद्यन्तमनाकारमनामयम् ।
आतिवाहिकदेहोक्त्या समुदाह्रियते बुधैः ॥९
इत्येवं स्वप्नसंकल्पपुरवत्त्रिजगद्भ्रमः ।
भात्यर्थप्यवपुः शून्यमप्रतिघात्मकम् ॥१०

'मैं हूं' ऐसा अहंकार करने से ही उसे अहकार कहते हैं। शास्त्र-विचारकों ने चेतना से पूर्ण परमार्थ वस्तु जो आत्मा है, उसे चित्त कहा है ॥६॥ प्रौढ़ संकल्पों के जाल से वह पुर्यष्टक कहा है। सर्गारम्भ में प्रथम होने से वह प्रकृति और उपाधि रूप से अविद्यमान होने से अविद्या कहलाता है। इस प्रकार मैंने उस चिदाभास रूपी जीव के बहुत से नाम कह दिये हैं ॥७-८॥ यह चिदाभासरूप जीव निराकार और निर्विकार होते हुए भी आतिवाहिक शरीर के कारण ज्ञानियों द्वारा आदि और अंत वाला कहा गया है ॥९॥ इस प्रकार स्वप्नपुर और संकल्पपुर के समान त्र्यलोक्य रूपी भ्रम तथा भुक्ति मुक्ति रूपी अर्थ का करने वाला होकर भी स्वरूप-रहित, अप्रकट तथा शून्य रूप ही जान पड़ता है ॥१०॥

इत्यातिवाहिकः प्रोक्तो देहो देहभृतां वर ।
चिन्नभश्चित्तदेहोऽसौ शून्य आकाशतोऽपि च ॥११
नाऽस्तमेति न चोदेति जगत्यामोक्षसंविदः ।
चतुर्दशविधस्यैका भूतसर्गस्य चित्तभूः ॥१२
अत्र ससारलक्षाणि भविष्यन्ति भवन्ति च ।
भूतानि च फलानीव यथा कालव्यवस्थया ॥१३
एप चित्तमयो देहो जगन्त्यन्तर्वहिस्त्वपि ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽदश शून्य एव नभो यथा ॥१४
महाकल्पस्य पर्यन्ते सर्वनाशे स्थिरे स्थिरे ।
महाशून्यपदे प्रौढे ब्रह्मात्मनि निरामये ॥१५

हे शरीरधारियों में श्रेष्ठ ! इस प्रकार यह आतिवाहिक देह चिदाकाशभूत चित्तदेह युक्त तथा आकाश से शून्य कहा जाता है ॥११॥ यह आतिवाहिक देह मोक्षसंवित् तक अस्त या उदय को प्राप्त नहीं होता। यह चौदह प्रकार के जीवों का प्ररोहस्थल कहा है ॥१२॥ इस चित्त-

रूपी स्थल में काल (ऋतु) की व्यवस्था से जैसे वृक्षों में फल लगते हैं वैसे ही लाखों जगत् होचुके, होरहे हैं और भविष्य में भी होंगे ॥१३॥ उन जगतों को यह चितमय देह भीतर और बाहर उसी तरह धारण करता है, जिस तरह कि दर्पण प्रतिबिम्बों को ॥१४॥ महाकल्प पर्यन्त जब संहार स्थिर होजाता है, तब महाशून्यपद प्रौढ़ एवं निरामय ब्रह्मात्मा ही स्थित रहता है ॥१५॥

स्वतश्चितीघनोऽचित्त्वाच्चिद्भानमिदमात्मनः ।
आतिवाहिकदेहाभ क्रमेणाऽनेन चेतति ॥१६
स आतिवाहिको देहस्तदालोकप्रवर्तितः ।
कश्चिद् ब्रह्मे ति कथितः स्मृतः कश्चिद्विराडिति ॥१७
कश्चित्सनातनाभिख्यः कश्चिन्नारायणाभिधः ।
कश्चिदीश इति ख्यातः कश्चिदुक्तः प्रजापतिः ॥१८
काकतालीयवद्भाताः पञ्च स्वेन्द्रियसंविदः ।
यत्र तत्र तथा तेषां स्थितास्तत्र तथा स्थिताः ॥१९
एवमत्यन्तवितते संपन्ने दृश्यविभ्रमे ।
न किंचिदपि सपन्नं सर्वशून्यं ततं यतः ॥२०

उस समय चैतन्यघन ब्रह्म, चैतन्य को ढँक लेने वाले अज्ञान के निमित्त से, उपरोक्त क्रम से आत्मा के आतिवाहिक शरीर के समान चिद्भान की स्वय कल्पना करता है ॥१६॥ उस आतिवाहिक शरीर वाले जीव के आलोक से प्रवर्तित कोई अंश 'मैं ब्रह्मा हूँ' और कोई अंश 'मैं विराट् हूँ' ऐसा कहा है ॥१७॥ कोई अंश सनातन है, कोई नारायण है, कोई ईश है तो कोई प्रजापति कहा गया है ॥१८॥ जिस-जिस अंश में अपनी पंचेन्द्रिय-संवितों का काकतालीय योग के समान भान होने पर, उस-उस अंश में उन-उन इन्द्रियों के विषय व्यवस्थित होजाते हैं ॥१९॥ अत्यन्त विस्तृत यह दृश्य भ्रम सम्पन्न होने पर भी किंचित् स्पन्न नहीं होता, क्योंकि उस रूप में सभी दृश्यों से रहित आत्मा ही विस्तार को प्राप्त होती है ॥२०॥

अनादिमत्परं ब्रह्म न सद्यन्नाऽसदुच्यते ।
तदेवेदमनाद्यन्तं तथा स्थितमवेदनम् ॥२१
आतिवाहिकदेहस्य तस्थाऽनुभवतः स्वयम् ।
याति व्यसनिनः स्वप्नः कान्तेन पारिपुष्टताम् ॥२२
शून्योऽप्यनाकृतिरपि घटाकारोऽनुभूयते ।
स्वप्नसंकल्पयोः स्वस्य देहस्य जगतो यथा ॥२३
भवत्यर्थकरोऽत्युच्चैस्तच्चित्खस्वप्नवस्तुवत् ।
आकाशात्मक एवोग्रः पदार्थ इव भासते ॥२४
आतिवाहिकदेहोऽसौ स्वतोऽनुभवति क्रमात् ।
अनाकारोऽपि शून्योऽपि स्वप्नाभोऽसन्नपि स्थितः ॥२५

अनादि-अनन्त परब्रह्म न कभी आविर्भाव को प्राप्त है, न तिरोभाव को। स्वरूप के साक्षात्कार से रहित होने पर वह सत् और आकार-युक्त होने पर असत् होता है ॥२१॥ आतिवाहिक शरीर के धारण करने वाले ब्रह्म के निजी अनुभव से यह जगत प्रपंच उसी प्रकार परि-पुष्ट होता है, जिस प्रकार कि संकल्प स्वप्न में साकार होजाता है ॥२२॥ स्वप्न और संकल्प में शून्य और निराकार होने पर भी घट का आकार प्रत्यक्ष होता है, इसी के समान अपने शरीर और जगत् के विषय में समझो ॥२३॥ यह जगत्-प्रपंच चिदाकाशरूप एवं स्वप्न की वस्तु के समान अर्थ और क्रिया से युक्त होता है। आकाशात्मक होकर भी यह ठोस पदार्थ जैसा लगता है ॥२४॥ यह आतिवाहिक देह वाला जीव आकार रहित, शून्य और स्वप्न के समान असत् होता हुआ भी क्रम पूर्वक स्वदेहादि रूप आकार का अनुभव करता है ॥२५॥

चेतत्यस्थिगणैः स्थूलं कराद्यवयवावलिम् ।
त्रिकलोमशिरास्नायुसंनिवेशतया स्थितम् ॥२६
जन्मकर्महितस्थानं परिणामवयःस्थितम् ।
देशकालक्रमाभोगभावार्थायोद्भवभ्रमम् ॥२७
जरामरणमाधानदशदिङ्मण्डलक्रमम् ।
ज्ञानज्ञेयज्ञातृभावमादिमध्यान्तवेदनम् ॥२८

यथा स्वप्नस्य पुष्टत्वं चिरानुभवनोचितम् ।
अतिसत्यमिवाऽऽभाति स्वातिवाहिकता तथा ॥६

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! उस आद्य प्रजापति का वह आतिवाहिक देह, चित् होने के कारण जैसी-जैसी कल्पना करता है, वह काकतालीय के समान चिरकाल तक उसी-उसी में स्थित होता है। सत्य संकल्प वाली संवित् इस जगत के भान में कारण है तो जगत के असत्य होने में विस्मय ही क्या है ? ॥१-२॥ इसलिए द्रष्टा, दृश्य और दर्शन यह तीनों ही सत्य नहीं हैं अथवा जो कुछ भी है वह सब ब्रह्मात्मता के कारण ब्रह्म और सत्य ही है ॥३॥ श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार आद्य प्रजापति का आतिवाहिक देह यदि भ्रान्ति ही है तो वह कठिनत्व को कैसे प्राप्त हो गया ? पारलौकिक फल आदि की क्रिया का स्वप्न में होना किस प्रकार संभव है ? ॥४॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! आतिवाहिक देह के भ्रमात्मक होने की अनुभूति स्वयं ही होजाती है। अनवरत भान और चिराभ्यास से वह घनीभूत जैसा प्रतीत होता है ॥५॥ जैसे देखे हुए स्वप्न की चिरानुभूति पुष्ट होती है, वैसे ही अपनी आतिवाहिकता प्रजापति को भी सत्य जैसी लगती है ॥६॥

आतिवाहिकदेहस्य चिरस्वानुभवोदये ।
आधिभौतिकताबुद्धिरुदेति मृगवारिवत् ॥७
जगत्स्वप्नभ्रमाभासं मृगतृष्णम्बुवत्स्थितम् ।
असदेवेदमाभाति सत्यप्रत्ययकार्यपि ॥८
आतिवाहिकरूपाणामाधिभौतिकता स्वयम् ।
असती सत्यवद्दूरमर्वाग्दर्शिभिरर्थिता ॥६
अयं सोऽहमिदं तन्म इमा गिरिनभोदिशः ।
इति मिथ्याभ्रमो भाति भास्वरस्वप्नशैलवत् ॥१०
आतिवाहिकदेहोऽसौ स्रष्टुराद्यस्य भावितः ।
आधिभौतिकतां चैतत्पिण्डाकारं प्रपश्यति ॥११

आतिवाहिक देह जब अपने अनुभव में आरूढ़ होता है तब मरुभूमि में मृगतृष्णा के समान ही उसमें आधिभौतिकता वाली बुद्धि उत्पन्न हो

जाती है ॥७॥ स्वप्न और भ्रम के समान आभासित तथा मृगतृष्णाम्बु के समान स्थित यह जगत सत्य-सा लगने पर भी असत् रूप से ही स्फुरित है ॥८॥ आतिवाहिक रूप वाले पदार्थों की आधिभौतिकता सत्य न होते हुए भी अज्ञानीजनों ने सत्य के समान ही मान ली है ॥९॥ यह मैं हूं, यह मेरा है और मुझसे भिन्न यह गिरि, नभ, दिशाएँ आदि हैं, इस का चमकता हुआ मिथ्या भ्रम स्वप्नशैल के समान ही प्रतीत होता है ॥१०॥ ब्रह्मा का यह आतिवाहिक देह आधिभौतिकता के भाव को प्राप्त होकर पिंडाकार रूप देखता है ॥११॥

चिन्नभश्चेतनं त्यक्त्वा ब्रह्माऽहमिति पश्यति ।
अयं देहोऽयमाधार इति बध्नाति भावनाम् ॥१२
असत्ये सत्यबुद्ध्यैव बद्धो भवति भावनात् ।
बहुशो भावयत्यन्तर्नानात्वमनुधावति ॥१३
शब्दान्करोति संकेतं संज्ञाश्च स्पन्दनानि च ।
ओमित्युक्तो ततो वेदाञ्छब्दराशीन्प्रगायति ॥१४
तैरेव कल्पयत्याशु व्यवहारमितस्ततः ।
मनो ह्यसौ कल्पयति यच्चेतति तदेव हि ॥१५
यो हि यन्मय एवाऽसौ स न पश्यति तत्कथम् ।
असत्यैव जगद्भ्रान्तिरेवं प्रौढिमुपागता ॥१६

वह चिदाकाश 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार के वास्तविक चेतना का त्याग कर यह देह मैं हूं, यह मेरा आधार है, इस प्रकार देखता हुआ तदनुसार ही धारणा बना लेता है ॥१२॥ असत्य में सत्य की भावना वाली बुद्धि से ही जीव बंधन को प्राप्त होता है तथा अपने भीतर जो भावना बारम्बार करता है, उसी से वह अनेकत्व का अनुगमन करता है ॥१३॥ वह शब्द रूपी संकेत करता है, उस संकेत से ही नाम और स्पन्दन करता है, फिर ओ३म् का उच्चारण करता हुआ शब्दरूप वेद गान में तन्मय होता है ॥१४॥ उन वेदों से ही समस्त व्यवहारों की कल्पना करता है क्योंकि मन रूप प्रजापति की कल्पना के अनुसार ही सब कुछ होजाता है ॥१५॥ क्योंकि जिसकी जिसमें अत्यन्त आसक्ति

होगी वह उसे क्यों न देख पायेगा ? इस प्रकार यह असद्रूप जगद्-भ्रान्ति प्रौढ़ होगई है ॥१६॥

आब्रह्मणो मुधा भाति चिरस्वप्नेन्द्रजालवत् ।
इत्यातिवाहिकस्येयमाधिभौतिकतोचिता ॥१७
आधिभौतिकता नास्ति काचित्किंचिदपि क्वचित् ।
आतिवाहिकतैवेनामभ्यासाद्याति भावनाम् ॥१८
मूलादेवैवमायातो मिथ्यानुभवनात्मकः ।
मोहो ब्रह्मण एवाऽयमित्यस्त्येष महात्मनाम् ॥१६
एवमित्थं दशा राम पिण्डबन्धः क्व विद्यते ।
भ्रान्तिरेवेदमखिलं ब्रह्म वाऽऽभातमेव वा ॥२०
न शाश्वतादन्यदिहाऽस्ति कारणान्
न कारणं तत्खलु कार्यतां विना ।
न कार्यताकारणतादिसंभवो-
ऽस्यनामये तत्किमपीदमाततम् ॥२१

ब्रह्म से कीटाणु पर्यन्त यह जगत चिरस्वप्न और इन्द्रजाल के समान असत्य स्फुरण को हीं प्राप्त होता है। अतः आतिवाहिक का आधिभौतिक होना उचित ही है ॥१७॥ आधिभौतिकता किंचित् भी कहीं नहीं है, अभ्यास से आतिवाहिकता ही इस भाव को प्राप्त होगई है ॥१८॥ मूल-भूत प्रजापति ब्रह्मा से ही मिथ्या अनुभव रूप यह मोह चल रहा है, इसलिए प्रारब्ध के क्षय न होने तक इस भ्रम की विद्यमानता महात्माओं में भी रहती है ॥१९॥ हे राम ! इस प्रकार की दशा ब्रह्म में विद्यमान कहाँ रह सकती है ? यह सम्पूर्ण भ्रान्ति ही है अथवा जगदादि से यह सच ब्रह्म ही साकार होगया है ॥२०॥ इस जगत के समस्त कारण का कारण ब्रह्म के अतिरिक्त कोई नहीं हैं, क्योंकि कार्यता नहीं तो कारण भी नहीं रहता। जो अविकारी और अद्वितीय ब्रह्म है उसमें कार्यता और कारणतादि असंभव है, अतः यह जगद्रूप में जो है, वह नितान्त भ्रान्ति ही विस्तार को प्राप्त हो गई है, यह यथार्थ नहीं है ॥२१॥

एवं चेत्तत्कथमयं ज्ञानज्ञेयादिविभ्रमः ।
सिद्धः शशबिषाणाभो भविष्यद्भूतभव्यशः ॥८
बाह्यार्थभ्रान्तितो ज्ञेया भ्रमबुद्धिरिहोदिता ।
बाह्यश्चाऽऽभ्यन्तरश्चाऽर्थो न संभवति कश्चन ॥९
योऽयं प्रत्यक्षदृश्योऽर्थो मुने त्वमहमादिकः ।
भूतादिरनुभूतात्मा स कथं नाऽस्ति मे वद ॥१०

श्रीराम ने कहा—हे मुने ! आत्मा में उससे भिन्न ज्ञेयता क्या है, यह बतलाइये । ज्ञान शब्द की उत्पत्ति भाव में करनी चाहिए या करण में ? ॥६॥ वसिष्ठजी बोले—जैसे पवन और स्पन्द में भेद नहीं है, उस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में भेद नहीं है । भाव का साधन मात्र ज्ञान केवल बोधमात्र ही है ॥७॥ राम ने शंका की—हे भगवन् ! यदि ऐसा है तो ज्ञान और ज्ञेय आदि के रूप में विभ्रम कैसे उत्पन्न हो गया । क्योंकि वह तो शश के सींगों के समान मिथ्या है । फिर वह भविष्यत्, भूत और वर्तमान के विभागों से व्यवहार-योग्य कैसे हुआ ? ॥८॥ वसिष्ठजी बोले—बाह्य पदार्थों की भ्रान्ति से ही भ्रम-बुद्धि उत्पन्न हुई समझो । यथार्थ में तो बाह्य अथवा आन्तरिक कोई भी पदार्थ नहीं है ॥९॥ राम ने कहा—हे मुने ! तुम और मैं आदि के रूप में यह भूतादिक जो प्रत्यक्ष अनुभव में आरहा है वह कैसे नहीं है ? यह बतलाइये ॥१०॥

आदिसर्गविधावेव विराडात्मादिकोऽनघ ।
जातो न कश्चिदेवाऽर्थो ज्ञेयस्याऽतो न संभवः ॥११
महाप्रलयसंपत्तौ शिष्टं यदजमव्ययम् ।
तत्कथं नाम सर्गस्य न भवेत्कारणं मुने ॥१२
यदस्ति कारणे कार्यं तत्तस्मात्संप्रवर्तते ।
न त्वसज्जायते राम न घटाज्जायते पटः ॥१३
कार्यकारणताभावाद् भावाभावौ स्त एव नो ।
इदं च चेत्यते यद्यत्स्वात्मा चेतति चेतितम् ॥१४

द्रष्टा न याति दृश्यत्वं दृश्यस्याऽसंभवादतः ।
द्रष्टैव केवलो भाति सर्वात्मैकघनाकृतिः ॥१५

वसिष्ठजी ने कहा—हे अनघ ! सर्ग के आदि में विराटात्मक आदि कोई पदार्थ ही उत्पन्न नहीं हुआ, तो ज्ञेय का भी संभव नहीं है ॥११॥ राम बोले—हे मुनिवर ! महाप्रलय होने पर जो अजन्मा एवं अव्यय ब्रह्म रहता है, वह सर्ग का कारण क्यों नहीं हो सकता ? ॥१२॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! कारण में जिस कार्य की विद्यमानता है, उसकी उत्पत्ति उसी से होगी । कारण से विपरीत कार्य नहीं हो सकता जैसे कि घट से पट कभी उत्पन्न नहीं होता ॥१३॥ ब्रह्म में कार्य-कारता का अभाव होने से भाव या अभाव नहीं है । यह भासमान जगत् जिसे, जिसरूप में भासता है, वह केवल अपना आत्मा ही है ॥१४॥ दृश्य का सर्वथा अभाव होने से द्रष्टा दृश्यत्व को प्राप्त नहीं होता । अतः सर्वात्म एक घनाकृति के रूप से केवल द्रष्टा ही भासमान होता है ॥१५॥

कारणाभावतो राम नास्त्येव खलु विभ्रमः ।
सर्वं त्वमहमित्यादि शान्तमेकमनामयम् ॥१६
अकारणत्वात्सर्वत्र शान्तत्वाद् भ्रान्तिरस्ति नो ।
अनभ्यासवशादेव न विश्राम्यति केवलम् ॥१७
अनन्तत्वादनन्तस्य भ्रान्तिर्नाऽस्ति च सम्प्रति ।
अभ्यासभ्रान्तिरखिलं महाचिद्घनमक्षतम् ॥१८
स्वप्नादौ कल्पनादौ च यद्दृश्यमनुभूयते ।
तज्जाग्रद्रूपसंस्कारादनुष्ठानानुभूतितः ॥१९
किं जाग्रद्रूपमाहोस्विदन्यत्स्वप्नेऽनुभूयते ।
संकल्पे च मनोराज्ये इति मे वद राघव ॥२०

हे राम ! कारण का अभाव है, इसलिए सर्ग-रूपी विशिष्ट विभ्रम कुछ है ही नहीं । तुम या मैं आदि यह जो कुछ है वह सब एक अनामय ब्रह्म ही है ॥१६॥ कारण के न होने और सर्वत्र शान्त ब्रह्म की ही सत्ता होने से दृश्यादि की भ्रान्ति भी कुछ नहीं है । अनभ्यास के कारण ही आप परमपद में विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हो रहे हैं ॥१७॥ वास्तव

में तो भ्रान्ति का अस्तित्व ही नहीं है। यद्यपि अनन्त अपनी माया से ही अनन्त प्रतीत होता है, उसी में क्षय को प्राप्त न होने वाली सम्पूर्ण महाचिद्घन अभ्यास भ्रान्ति स्थित है ॥१८॥ राम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! स्वप्न आदि में जो कल्पनादि रूप दृश्य का अनुभव होता है, उसकी उत्पत्ति जाग्रत् रूप संस्कार से है तो वह जाग्रत् रूपी संस्कार किसके अनुभव में आता है ? ॥१९॥ वसिष्ठजी बोले—हे राघव ! स्वप्न हो या जाग्रति संस्कार से अर्थ का अनुभव होता है या नहीं ? वैसे ही स्वप्न हो या मनोराज्य, उसमें जाग्रत् अर्थ का अनुभव होता है अथवा नहीं ? यह मुझे बताओ ॥२०॥

स्वप्नेषु कल्पनाद्येषु जाग्रदेवाऽवभासते ।
संस्कारात्मतया नित्यं मनोराज्यभ्रमेषु च ॥२१
तदेव जाग्रत्संस्कारात्स्वप्नश्चेदवभासते ।
तत्स्वप्ने लुठितं गेहं कथं प्रातरवाप्यते ॥२२
योऽयं संसरणस्वप्नः स किंकारणको भवेत् ।
कार्यान्न कारणं भिन्नमिति दृष्टं विचारय ॥२३
चित्तं स्वप्नोपलम्भानां हेतुस्तस्मात्तदेव ते ।
विश्वं चाऽऽद्यन्तरहितमनासारमनासारमनामयम् ॥२४
एवं चित्तं महाबुद्धे महाचिद्घनमेव तत् ।
तथा स्थितं न स्वप्नादि किंचनाऽस्तीतरात्मकम् ॥२५

श्रीराम ने कहा—हे मुने ! स्वप्नादि कल्पनाओं में जो संस्कार रूप से जाग्रत् में नित्य अनुभव होता है, वही मनोराज्य और भ्रम में होता है ॥२१॥ वसिष्ठजी ने कहा—यदि जाग्रत् के संस्कार से स्वप्न में जाग्रत् के अर्थ का अनुभव होता है तो जो घर स्वप्न में गिरा हुआ दिखाई देता है वह प्रातः जागने पर ठीक अवस्था में कैसे मिल जाता है ? ॥२२॥ जो यह जगद्रूपी स्वप्न है, इसका कारण कौन-सा है ? कार्य और कारण में भिन्नता नही होती, इसी देखी हुई बात पर आप विचार करिये ॥२३॥ राम ने कहा—जैसे चित्त के कारण होने से स्वप्न का अनुभव भी चित्तरूप है, वैसे ही आदि-अन्त-रहित असार,

अनामय संसार भी चित्त ही होना चाहिए ॥२४॥ वसिष्ठजी ने कहा—हे महामते ! यह चित्त ही महाचिद्घन है और यही इस सर्गरूप में स्थित है। ऐसा होने पर स्वप्नादि कुछ भी तो ब्रह्म से भिन्न नहीं है ॥२५॥

एकैव चित् त्वयं भूत्वा सर्गादौ भाति सर्गवत् ।
एष एव स्वभावोऽस्या यदेवं भाति भासुरा ॥२६
एतत्तु स्वप्नसंकल्पननगरेष्वनुभूयते ।
इत्थं नाम तपत्येषा चिद्दीप्तिः प्रथमोदिता । २७
नभस्येव नभोरूपा यदिदं भासते जगत् ।
अनाद्यन्तमिद तस्याः सर्गाः सर्गात्मभासनम् ॥२८
यत्स्वमेव वपुर्वेत्ति जगदित्यजगन्मयम् ।
चिन्मात्रव्योम सर्गादावित्थं भाति विकासनम् ॥२९
यदिदं जगदित्येव शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥३०
बुद्ध्वा च यावत्स्वनुभूतियुक्तं
स्थातव्यमेतेन विकल्पमुक्तम् ।
पाषाणमौनं कुजनेन तूक्तं
न ग्राह्यमज्ञेन हि भुक्तमुक्तम् ॥३१

मौन रहिए। अज्ञानी और दुर्जन पुरुषों के द्वारा इसके भोग का उपदेश करने पर भी ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥३१॥

---

## १०५—दारुवैवधिकोपाख्यान

एवमेतन्महाबाहो न शास्त्रं ज्ञानकारणम् ।
नानाशब्दमयं शास्त्रमनाम च परं पदम् ॥१
तथापि राघवश्रेष्ठ यथैतद्धेतुतां गतम् ।
शास्त्राद्युत्तमबोधस्य तत्समासेन मे शृणु ॥२
सन्ति क्वचिद्वैवधिकाः कीरकाश्चिरदुर्भगाः ।
दुःखेनाऽभ्यागताः शोषं ग्रीष्मेणेव जरद्द्रुमाः ॥३
दारिद्र्येण दुरन्तेन कन्थासंस्थानकारिणा ।
दीनाननाशयाः पद्मा निर्गतेनेव वारिणा ॥४
दौर्गत्यपरितप्तास्ते जीवितार्थमचिन्तयन् ।
जठरस्य कया युक्त्या वयं कुर्मः प्रपूरणम् ॥५
इति संचिन्त्य विधिना दिनान्तेन दिनंप्रति ।
दारुभारेण जीवामो विक्रीतेनेति संस्थिताः ॥६
इति संचिन्त्य ते जग्मुर्दार्वर्थं विपिनान्तरम् ।
ययैवाऽऽजीव्यते युक्त्या सैवाऽऽपदि विराजते ॥७
इति ते प्रत्यहं गत्वा काननं भवचारिणः ।
दारूण्यानीय विक्रीय चक्रुर्देहस्य धारणम् ॥८

वसिष्ठजी बोले—हे महाबाहो! यद्यपि ज्ञान का कारण शास्त्र नहीं है क्योंकि शास्त्र विभिन्न शब्दमय और परमपद अनाम है ॥१॥ हे राघव श्रेष्ठ! फिर भी यह शास्त्र आदि श्रेष्ठ ज्ञान और फल मोक्ष के लिए कारणरूप होगया है, उसे संक्षेप में सुनो ॥२॥ कहीं चिरकाल से दुर्भाग्य से व्याप्त बँहगी ढोने वाले कीरक थे, वे ग्रीष्म में सूखे हुए पुराने वृक्षों के समान दुःखों से सूख गये थे ॥३॥ फटे वस्त्रों की कन्था से परिधान बनवाने वाले दुरन्त दारिद्र्य के कारण ऐसे दीन-हीन मुख

वाले हो गये थे, जैसे बाँध तोड़ कर निकल जाने वाले जल के अभाव में कमल मुर्झा जाते हैं ॥४॥ दरिद्रता से अत्यन्त सन्ताप को प्राप्त हुए वे लोग अपनी उदर-पूर्ति के लिए आजीविका के प्रयत्न पर विचार करने लगे ॥५॥ अन्त में वे इस निर्णय पर पहुँचे कि हम दिन भर के परिश्रम पूर्वक प्राप्त लकड़ी को बेच कर अपनी जीविका कमायेंगे ॥६॥ ऐसा निश्चय करके वे वन में लकड़ियाँ काटने के लिए गये, क्योंकि जिस वृत्ति से आजीविका चलती है, आपत्ति काल में वही वृत्ति अच्छी लगती है ॥७॥ नित्यप्रति की आजीविका से नित्य उदर पूर्ति करने वाले वे लोग, वन में जाकर लकड़ियाँ लाते और उन्हें बेच कर अपना निर्वाह कर पाते ॥८॥

यत्प्रयान्ति वनान्तं ते तस्मिन्सन्त्यखिलानि हि ।
गुप्तागुप्तानि रत्नानि दारूणि कनकानि च ॥६
तेषां भारभृतां मध्यात्केचित्कतिपयैर्वनात् ।
जातरूपाणि रत्नानि तानि संप्राप्नुवन्ति हि ॥१०
केचिच्चन्दनदारूणि केचित्पुष्पाणि मानद ।
केचित्फलानि विक्रीय जीवन्ति चिरकीरकाः ॥११
केचित्सर्वमनासाद्य दुर्दारूण्येव दुर्धियः ।
नीत्वा विक्रीय जीवन्ति वनवीथ्युपजीविनः ॥१२
दार्वर्थमुद्यताः सर्वे ते संप्राप्य महावनम् ।
केचित्प्राप्य स्थिताः सर्वं झटित्येवं गतज्वरम् ॥१३
इति यावदजस्रं ते सेवन्ते तन्महावनम् ।
प्रदेशात्तावदेकस्मात्प्राप्तश्चिन्तामणिर्मणिः ॥१४
तस्माच्चिन्तामणेः प्राप्ताः समग्रा विभवश्रियः ।
परमं सुखमायातास्तत्र ते संस्थिताः सुखम् ॥ १५

वे जिस वनखण्ड में जाते थे, उनमें प्रकट और अप्रकट रत्न, स्वर्ण आदि तथा लकड़ियाँ मिलती थीं ॥६॥ उनमें से कुछ लोग ऐसे भाग्य-वान् निकले जिन्होंने कुछ दिनों में ही वन में स्थित रत्नों और स्वर्ण को प्राप्त कर लिया और उनमें से कुछ कीरक लोग चन्दन, केवड़ा,

चम्पा पुष्प और कुछ फलों के विक्रय द्वारा चिरकाल तक अपना जीवन निर्वाह करते रहे ॥१०-११॥ उनमें कुछ अल्पबुद्धि वाले ऐसे भी थे, जो श्रेष्ठ वस्तुओं को खोजने में असफल रहे। वे बेचारे जलाने की लकड़ियाँ बेच कर ही आजीविका चला पाते ॥१२॥ वे सभी उद्योगी व्यक्ति लकड़ियां लाने के लिए वन में गये थे, परन्तु उनमें से कुछ को रत्नादि-की प्राप्ति से दरिद्रता रूपी ज्वर से शीघ्र ही मुक्ति मिल गई ॥१३॥ इस प्रकार वे लोग नित्यप्रति वन में जाते-आते रहे, इसी अवसर में उन्हें एक स्थान पर मणियों में श्रेष्ठ एक चिन्तामणि प्राप्त होगई ॥१४॥ उस चिन्तामणि के द्वारा वे सम्पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त होकर परम सुख पूर्वक रहने लगे ॥१५॥

ये ते वैवधिका राम ते एते मानवा भुवि ।
तेषां दारिद्र्यदुःखं यत्तदज्ञानं महातपः ॥१६
यत्तन्महावनं प्रोक्तं गुरुशास्त्रक्रमादि तत् ।
यदुद्यतास्ते ग्रासार्थं जना भोगार्थिनो हि ते ॥१७
भोगौघाः सिद्धिमायान्तु मम निष्कृपणो जनाः ।
अनपेक्षितकार्यार्थैः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ॥१८
दार्वर्थमुद्यतो भावी यथा संप्राप्तवान्मणिम् ।
भोगार्थमात्तशास्त्रोऽयं तथाऽऽप्नोति जनः पदम् ॥१९
किं स्याच्छास्त्रविचाराभ्यामिति संदेहलीलया ।
कश्चित्प्रवर्तते पश्चादाप्नोति पदमुत्तमम् ॥२०
अदृष्टोत्तमतत्त्वार्थः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ।
संदेहेनाऽर्थभोगार्थं जनः प्राप्नोति तत्पदम् ॥२१

हे राम ! हे महातप ! आपसे जिन वैवधिकों का वर्णन मैंने किया है उन सबको आप पृथिवी में स्थित मनुष्य समझिये और उनके दरिद्रता रूपी दुःख को अज्ञान जानिये ॥१६॥ जिस महावन के विषय में मैंने कहा है, उसे आप गुरु और शास्त्र आदि तथा भोजन के लिए उद्यत कहा है, उसे भोगार्थी जीव समझिये ॥१७॥ कृपण मनुष्य अपने भोगों की पूर्ति के लिए शास्त्रों में बुद्धि वाला होता है ॥१८॥ जिस प्रकार

बँहगी ढोने वाला वन में गया और सार-असार की अन्वेषणात्मिका बुद्धि से मणि पा गया, वैसे ही भोग के निमित्त शास्त्र को ग्रहण करता-करता पुरुष विवेक से परमपद को पा लेता है ॥१९॥ प्रथम वह संदेह में रहता है कि शास्त्र-विचार से क्या लाभ होगा ? फिर कौतूहलवश शास्त्रावलोकन में प्रवृत्त होकर श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर लेता है ॥२०॥ जिसे श्रेष्ठ तत्वार्थ का बोध नहीं हुआ, वह संदेह पूर्वक भोगों की प्राप्ति के उद्देश्य से शास्त्रों में प्रवृत्त होता है, परन्तु ज्ञान पाकर (भोगों की अपेक्षा) परमपद को पा लेता है ॥२१॥

साध्वाचारवशाल्लोको भोगसंप्राप्तिशङ्कया ।
संदेहश्चाऽप्यतत्त्वज्ञः शास्त्रादौ सम्प्रवर्तते ॥२२
त्रिवर्गमात्रसंसिद्ध्यै यन्न मोक्षाय च तच्छ्रुतम् ।
विपुलश्रुतचर्चासु तुच्छमश्रुतमेव तत् ॥२३
यच्छ्रुतं यत्किल ज्ञप्त्यै सा ज्ञप्तिः समता यया ।
तत्साम्यं यत्र सौपुप्ती स्थितिर्जाग्रति जायते ॥२४
एवं हि सर्वमेतत्तच्छास्त्रादेः समवाप्यते ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शास्त्राद्यभ्यासमाहरेत् ॥२५
शास्त्रार्थभावनवशेन गिरा गुरूणां
सत्सङ्गमेन नियमेन शमेन राम ।
तत्प्राप्यते सकलविश्वपदादतीतं
सर्वेश्वरं परममाद्यमनादिशर्म ॥२६

साधुजनों के आचरण के कारण ही अज्ञानीजन शास्त्र से मिलने वाले लाभ को संदेह से देखते हुए भी, भोगों के पाने की आशा से शास्त्र आदि में प्रवृत्त होते हैं ॥२२॥ जिस शास्त्र के सुनने का फल त्रिवर्ग-सिद्धि ही है अर्थात् धर्म,अर्थ और काम की प्राप्ति ही हो सकती है, मोक्ष नहीं मिल सकती, वह शास्त्र-श्रवण मूर्खता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, क्योंकि मिथ्या विषयों की सिद्धि देने वाला होने के कारण वह तुच्छ ही है ॥२३॥ ज्ञान-प्राप्ति के लिए शास्त्र का सुनना ही यथार्थ श्रवण है, वही समता वाला ज्ञान है और वही समता है, जिसमें जागृति

में भी सुषुप्ति जैसी अवस्था रहती है ॥२४॥ यह सम्पूर्ण ज्ञान समता और निर्विकल्प रूप से अवस्थित शास्त्रादि के द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए प्रयत्न पूर्वक शास्त्रादि का अभ्यास करना चाहिए ॥२५॥ ब्रह्मलोक के ऐश्वर्यों से भी उत्कृष्ट परम पावन मोक्ष संज्ञक सुख की प्राप्ति गुरुओं के उपदेश-वचनों से प्राप्त शास्त्रज्ञान से ही संभव है और शास्त्र-ज्ञान की स्थिरता सत्संग, नियम और शम से ही रह सकती है ॥२६॥

---

## १०६—समदर्शन से सर्वप्राप्ति

भूयो निपुणबोधाय शृणु किंचिद्रघूद्वह ।
पुनः पुनर्यत्कथितं तदज्ञेऽप्यवतिष्ठते ॥१
राघव प्रथमं प्रोक्तं स्थितिप्रकरणं मया ।
येनेदमित्थमुत्पन्नमिति विज्ञायते जगत् ॥२
प्राप्तप्राप्येन तज्ज्ञेन यथा संसारदृष्टिषु ।
विहर्तव्यं हि नः किंचित्स्वल्पं श्रोतव्यमस्ति ते ॥३
समतासुभगेहानां कुर्वतां प्रकृतं क्रमम् ।
सर्वैवेयं जगल्लक्ष्मीर्भृत्यतामेति राघव ॥४
यत्करोति यदश्नाति यदाक्रामति निन्दति ।
समदृष्टिस्तदस्येयं स्तौति नित्यं जनावलिः ॥५
यच्छुभं वाऽशुभं यच्च यच्चिरेण यदद्य वा ।
समदृष्टिकृतं सम्यगभिनन्दति तज्जनः ॥६
सुखदुःखेषु भीमेषु संततेषु महत्स्वपि ।
मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! अब आप ज्ञान को दृढ़ करने वाली निरपेक्षता की सिद्धि वाले रहस्य का पुनः श्रवण करिये ॥१॥ प्रथम जो स्थिति प्रकरण मैंने आपसे कहा, उससे उत्पन्न इस संसार के भ्रान्ति मात्र होने का ही ज्ञान होता है ॥२॥ ज्ञेय ब्रह्म को प्राप्त किये हुए

तत्वज्ञानी को सांसारिक दृष्टि से जो व्यवहार करना चाहिए, वह कुछ रहस्य कहना शेष है (उसे आप सुनिये) ॥३॥ हे राघव ! सब जीवों की हितकारिणी समता से आचरण करते हुए महापुरुषों की यह सम्पूर्ण जगत्-लक्ष्मी भृत्यता को प्राप्त हो जाती है ॥४॥ समदृष्टि वाला पुरुष जो कार्य करता है, जो भोजन करता, जिस पर आक्रमण करता या जिसकी निन्दा करता है, उस-उस पर भी जन मंडली उसकी स्तुति ही करती है ॥५॥ समदृष्टि से किया हुआ कार्य शुभ, अशुभ कैसा भी हो देर में किया हुआ हो या आज किया गया हो, उस सबकी प्रशंसा ही की जाती है ॥६॥ निरन्तर घोर दुखों और श्रेष्ठ सुखों की प्राप्ति होने पर भी समदृष्टि पुरुष उद्वेगित नहीं होता (अर्थात् दुःख से दुःखी या सुख से सुखी नहीं होता) ॥७॥

शिविभूप: कपोताय मांसमङ्गविकर्तनम् ।
ददौ मुदितया बुद्धया समदृष्टितयाऽनया ॥८
प्राणेभ्योऽपि प्रियतमां कान्तामग्रे विकालिताम् ।
दृष्ट्वाऽत्यङ्ग महीपालो न मुमोह समाशयः ॥९
मनोरथशतप्राप्तं तनयं समया धिया ।
राक्षसाय त्रिगर्तेशो ददौ स्वपणहारितम् ॥१०
नगर्यां दह्यमानायां भूषितायां तथोत्सवे ।
सम एव महीपालो जनको भूभृतां वरः ॥११
श्यायत: परिविक्रीतं साल्वराट् समदर्शनः ।
स्वमेव विचकर्ताऽऽशु शिरः पद्मदलं यथा ॥१२
कुन्दप्रकरनिर्भासं यज्ञे पाण्डुमिवाऽचलम् ।
जहौ जरत्तृणमिव सौवीरः समया धिया ॥१३
समयैव धिया नित्यं निजमभ्याहरत्क्रमम् ।
मातङ्ग कुण्डरो नाम प्राप वैमानिकस्थितिम् ॥१४

इसी समदृष्टि से युक्त राजा शिवि ने अपनी शरण में आये हुए कपोत की रक्षा के निमित्त उसके बदले में अपना मांस काट-काट कर प्रसन्नता से देदिया था ॥८॥ समान आशय वाले युधिष्ठिर ने अपने

सामने ही शत्रुओं द्वारा अपनी प्रियतमा द्रौपदी के केशपाश और वस्त्रों के खींचे जाने पर भी मोह नहीं किया ॥९॥ समान बुद्धि वाले त्रिगर्त-देशाधिपति ने सैकड़ों मनोरथों से प्राप्त हुए अपने एकमात्र पुत्र को राक्षस को देदिया। क्योंकि वह राक्षस द्वारा वाग्द्यूत में हराया जा चुका था ॥१०॥ उत्सव के लिए अत्यन्त सजाई हुई अपनी नगरी के जल जाने पर भी राजाओं में श्रेष्ठ महाराज जनक समचित्त वाले ही रहे ॥११॥ समदर्शी साल्वराट् ब्राह्मण को मुँह माँगी दक्षिणा देने के वचन द्वारा क्रीत हुआ और उसने कमल-पत्र के समान ही अपना सिर धड़ से पृथक् कर डाला ॥१२॥ समबुद्धि के कारण ही राजा सौवीर ने कुन्दपुष्पों के समान श्वेत और कैलास के समान वृहत् ऐरावत हाथी इन्द्र से जीत कर भी यज्ञ में ऋत्विजों के कहने से इन्द्र को ही देदिया ॥१३॥ समबुद्धि से अपने सभी देह-यात्रा-व्यवहारों को करते हुए कुण्डप नामक शूद्र ने ब्राह्मण की कीचड़ में फँसी पाँच गौएं निकाल कर अपने श्रम की निष्क्रयभूत एक गौ को पुष्कर तीर्थ में ब्राह्मण को प्रदान कर दिया। इसके फलस्वरूप वह तुरन्त विमान द्वारा देवत्व को प्राप्त हो गया ॥१४॥

सर्वभूतक्षयकरीं साम्याभ्यासेन भूरिणा।
तत्याज राक्षसीं वृत्तिं कदम्बवनराक्षसः ॥१५
वालचन्द्राभिजातोऽपि समबुद्धितया जडः।
गुणमोदकवन्न्यायप्राप्तमग्निमभक्षयत् ॥१६
समबुद्धितया क्रूरव्यवहारपरोऽपि सन्।
धर्मव्याधस्तनुं त्यक्त्वा जगाम परमं पदम् ॥१७
नन्दनोद्यानसस्थोऽपि पुरुषोऽपि कपर्दनः।
लुलुभे न सुरस्त्रीषु नूनं प्रणयिनीष्वपि ॥१८
समचित्ततयाऽस्पन्दः करञ्जगहनेष्वपि।
विन्ध्यकान्तारकच्छेषु राज्यं त्यक्त्वाऽवसच्चिरम् ॥१९
राजानः प्राकृताश्चैव धर्मव्याधादयोऽपरे।

अभिवाञ्छेन्न मरणमभिवाञ्छेन्न जीवितम् ।
यथाप्राप्तसमाचारो विचरेदविहिंसकः ॥२१
समकलितगुणागुणैकभावः ।
समसुखदुःखपरावरो विलासी ।
प्रविचरति समावमानः
प्रकृतवरव्यवहारपूतमूर्तिः ॥२२

कदम्बवन के निवासी राक्षस ने समानता के अभ्यास द्वारा ही सब भूतों को नष्ट करने वाली अपनी राक्षसीवृत्ति को छोड़ दिया ॥१५॥ बालचन्द्र के समान सौन्दर्य वाले भरत ने अपनी समानमति के कारण ही भिक्षा से प्राप्त अग्नि को गुड़ के लड्डू के समान ही भक्षण कर लिया ॥१६॥ क्रूर व्यवहार में परायण धर्म व्याध भी अपनी समदृष्टि के कारण शरीर त्यागने पर परमपद को प्राप्त होगया ॥१७॥ अप्सराओं का प्रेम-पात्र राजर्षि कपर्दन नन्दनकानन जैसे परम उद्दीपक स्थान में रहता हुआ, एवं पुरुष होने के कारण रमण-सामर्थ्य से युक्त था, फिर भी समदृष्टि के कारण ही देवनारियों के प्रणय-जाल में नहीं पड़ा ॥१८॥ वह राजर्षि कपर्दन समचित्तता के कारण ही अपने विशाल राज्य का परित्याग कर विंध्य पर्वत के दुर्गम प्रदेशों और करंजवनों में चिरकाल तक तपस्या करता रहा ॥१९॥ बड़े-बड़े राजा-महाराजा तथा अन्यान्य धर्मव्याध आदि भी समदृष्टि में अभ्यस्त होकर महापुरुषों के लिए भी पूजनीय होगये ॥२०॥ किसी को, किसी भी प्रकार से पीड़ित न करने वाला पुरुष मरने या जीने की इच्छा का त्याग करता हुआ यथाप्राप्त स्थिति के अनुसार ही सम आचार वाला होकर विचरण करे ॥२१॥ गुणों, अवगुणों, सुखों, दुखों और ऊँच-नीच योनियों को समान समझने वाला तथा मान-अपमान में सम-भाव रखने वाला जीवन्मुक्त प्राकृत व्यवहारों में भी अनासक्त होने से तेज-सम्पन्न एवं पावन मूर्त्ति होकर लोक कल्याण के लिए सर्वत्र भ्रमण करता है ॥२२॥

---

## १०७–अनासक्ति से तत्वज्ञान की प्राप्ति

नित्यं ज्ञानैकनिष्ठत्वादात्मारामतया तथा ।
मुक्तैः कर्मपरित्यागः कस्मान्नः क्रियते मुने ॥१

हेयोपादेयदृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वे ।
क्रियात्यागेन कोऽर्थः स्यात्क्रियासंश्रयणेन वा ॥२

न तदस्तीह यत्त्याज्यं ज्ञस्योद्वेगकरं भवेत् ।
न वाऽस्ति यदुपादेयं तज्ज्ञसंश्रयतां गतम् ॥३

ज्ञस्य नाऽर्थः कर्मत्यागैर्नाऽर्थः कर्मसमाश्रयैः ।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥४

यावदायुरियं राम निश्चितं स्पन्दते तनुः ।
तद्यथाप्राप्तमव्यग्रं स्पन्दतामपरेण किम् ॥५

श्रीराम बोले—हे मुने ! जीवन्मुक्त पुरुष आत्मक्रीडा और ज्ञान में ही तल्लीन रहते हैं, इसलिए वे कर्मों का त्याग क्यों नहीं करते ? ॥१॥ वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! जिस महापुरुष की हेय और उपादेय रूपी दोनों दृष्टियाँ क्षीणता को प्राप्त हो चुकी हैं, उसके द्वारा नित्य नैमित्तिक क्रिया का त्याग करने का क्या अर्थ है ? अर्थात् उसके लिए तो कर्म का त्याग और कर्म का संश्रयण दोनों ही एक जैसे हैं ॥२॥ ज्ञानी के लिए कष्ट देने वाली हेय वस्तु अथवा अनुष्टातव्य उपादेय वस्तु यह दोनों ही नहीं हैं । परब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु उसे तो दिखाई नहीं देती ॥३॥ उसका कर्म के त्याग अथवा आश्रयण से भी कोई प्रयोजन नहीं है । वह तो अपने आश्रम के अनुरूप ही जो उचित प्रतीत होता है, उसे करता है ॥४॥ हे राम ! यह देह जब तक आयु है तब तक चेष्टा-शील रहता है, अतः उसे यथाप्राप्त चेष्टा करनी चाहिए, चेष्टा का त्याग करके किसी अन्य चेष्टा के प्रयास से उसे क्या लाभ होना है ? ॥५॥

अन्यथाऽन्यत्र चेत्कार्या क्रिया त्यक्त्वा निज क्रमम् ।
समाने हि क्रियास्पन्दे को दोषः सत्क्रमे किल ॥६

समया स्वच्छया बुद्धया सततं निर्विकारया ।
यथा यत्क्रियते राम तददोषाय सर्वदा ॥७
इह मह्यां महाबाहो बहवो बहुदृष्टयः ।
बहुधा बहुदोषेषु विहरन्ति विचक्षणाः ॥८
गतसङ्गतया बुद्धया विहरन्ति यथा स्थितः ।
गृहस्थारम्भिणः केचिज्जीवन्मुक्ताः स्थिता भुवि ॥९
तज्ज्ञा राजर्षयश्चाऽन्ये वीतरागा भवादृशाः ।
असंसक्तधियो राज्यं कुर्वन्ति विगतज्वराः ॥१०

अपना घर दोष-रहित हो तो पराये घर नहीं बैठा जाता, वैसे ही जब अन्यत्र भी किसी कर्म को करना ही है तो शास्त्रीय-अशास्त्रीय कर्मों के क्रम की समानता होने पर भी सत्कर्म करने में ही क्या दोष है, जिसके कारण अपने क्रम को छोड़ कर विपरीत कर्म किया जाय ? ॥६॥ हे राम ! विषमता के दोष से सर्वथा विमुक्त एवं विकार-रहित स्वच्छ बुद्धि के द्वारा जो निरन्तर कार्य किया जाता है वह सदा दोष-रहित होता है ॥७॥ हे महाबाहो ! इस भूतल में सभी शास्त्रों और लोक-रहस्य के ज्ञाता अनेक विचरण पुरुष प्रचुर दोषों में भी अपनी समदर्शितावश विहार करते रहते हैं ॥८॥ पृथिवी में स्थित कुछ गृहस्थ, जीवन्मुक्त विगतसंग होने से बुद्धि द्वारा जैसा प्राप्त हो, वैसा ही वर्णाश्रम के अनुकूल व्यवहार करते हैं ॥९॥ अनेक तत्वज्ञ राजर्षि तथा आपके समान वीतराग पुरुष आसक्ति-रहित बुद्धि वाले हैं, इसलिए सभी सन्तापों से निर्मुक्त रहते हुए पृथ्वी पर राज्य करते हैं ॥१०॥

केचित्प्रकृतवेदार्थव्यवहारानुसारिणः ।
यज्ञशिष्टाशिनो नित्यमग्निहोत्रे व्यवस्थिताः ॥११
केचिच्चतुर्षु वर्णेषु ध्यानदेवार्चनादिकाम् ।
स्वक्रियामनुतिष्ठन्तः स्थिता विविधचेष्टया ॥१२
केचित्सर्वपरित्यागमन्तः कृत्वा महाशयाः ।
सर्वकर्मपरा नित्यं तज्ज्ञा एवाऽज्ञवत्स्थिताः ॥१३

स्वप्नेऽप्यदृष्टलोकासु मुग्धमुग्धमृगासु च।
वनावनीषु शून्यासु केचिद्ध्यानपरायणाः ॥१४

पुण्यवद्भिः सदा जुष्टे पुण्योपचयकारिणि।
शमशालिसमाचारे केचिदायतने स्थिताः ॥१५

उनमें से कोई अपने वर्णाश्रम के अनुरूप उपलब्ध वेदार्थ का अनुसरण करने वाले एवं देवताओं और पितरों के अवशिष्ट अन्न का भक्षण करने वाले अग्निहोत्रादि कर्म में लगे रहते हैं चारों वर्णों में कोई नित्य ध्यान, देवताओं के पूजन आदि अपने अनुरूप कर्म को करते हुए विविध चेष्टा में अवस्थित रहते हैं ॥११-१२॥ कोई महाशय अपने मन में फल की इच्छा-रहित होते हुए नित्य-नैमित्तिक कर्मों में लगे रह कर, तत्वज्ञानी होकर भी अज्ञानी के समान ही रहते हैं ॥१३॥ कुछ लोग ऐसे निर्जन वनों में, जहाँ स्वप्न में भी कोई मनुष्य दिखाई नहीं देता, केवल रमणीय मृगशावक ही रहते हैं, वहाँ ध्यान में तत्पर रहते हैं ॥१४॥ कोई पुरुष पुण्यात्माओं से परिपूर्ण, पुण्य बढ़ाने वाले शम युक्त सदाचारी पुरुषों से परिवेष्टित पुण्य तीर्थों और मुनियों के आश्रम आदि में निवास करते हैं ॥१५॥

रागद्वेषप्रहाणार्थं त्यक्त्वा देशं समाशयाः।
केचिदन्यत्र देशे च पदमालम्ब्य संस्थिताः ॥१६

वनाद्वनं पुराद्ग्रामं स्थानात्स्थानं गिरेर्गिरिम्।
भ्रमन्तः संस्थिताः केचित्संसारोच्छित्तये बुधाः ॥१७

वाराणस्यां महापुर्यां प्रयागे चैव पावने।
श्रीपर्वते सिद्धपुरे वदर्याश्रमके तथा ॥१८

शालग्रामे महापुण्ये कलापग्रामकोटरे।
मथुरायां च पुण्यायां तथा कालञ्जरे गिरौ ॥१९

महेन्द्रवनगुल्मेषु गन्धमादनसानुषु।
दर्दुराचलकूटेषु सह्यकाचलभूमिषु ॥२०

कोई समान हृदय वाले पुरुष राग-द्वेष से बचने के लिए बांधवों से युक्त अपने देश को छोड़ कर अन्य देश में जाकर निवास करते हैं ॥१६॥ कोई ज्ञानवान् संसार से मुक्त होने के उद्देश्य से एक वन से दूसरे वन, एक नगर से अन्य नगर, एक स्थान से दूसरे स्थान और एक पर्वत से दूसरे पर्वत में विचरण करते रहते हैं ॥१७॥ कोई महापुरी वाराणसी में कोई पवित्रतम प्रयाग में, कोई सिद्ध पुरुषों के स्थल श्री-पर्वत में और बदरिकाश्रम में रहते हैं ॥१८॥ किसी का निवास शाल-ग्राम में, किसी का परम पावन कलापग्राम के कोटर में, किसी का पुण्यनगरी मथुरा में तो किसी का कालञ्जर पर्वत में है ॥१९॥ कोई महेन्द्रवन के गुल्मों में, कोई गन्धमादन के शिखरों में, कोई दर्दुराचल की चोटियों में तो कोई सह्य पर्वत के वनखण्डों में तपस्या करते हैं ॥२०॥

विन्ध्यशैलस्य कच्छेषु मलयस्योदरेषु च ।
कैलासवनजालेषु ऋक्षवत्कुहरेषु च ॥२१
एतेष्वन्येषु चाऽन्येषु वनेष्वायतनेषु च ।
तपस्विनस्तथा राम बहवो बहुदृष्टयः ॥२२

केचित्त्यक्तनिजाचाराः केचिच्च क्रमसंस्थिताः ।
केचित्प्रबुद्धमतयो नित्यमुन्मत्तचेष्टिताः ॥२३
केचित्स्वदेशरहिताः केचित्त्यक्तनिजास्पदाः ।
एकस्थानरताः केचिद् भ्रमन्तः केचिदास्थिताः ॥२४

एतेषां महतां मध्ये नभस्तलनिवासिनाम् ।
पातालनिरतानां च दैत्यादीनां महामते ॥२५
विज्ञातलोकपर्यायाः सम्यग्दर्शननिर्मलाः ।
केचित्प्रबुद्धमतयो दृष्टदृश्यपरावराः ॥२६

कोई विन्ध्यगिरि के जलयुक्त प्रदेश में, कोई मलयाचल के बीच में, कोई कैलास पर्वत के बीहड़ वन-भाग में और कोई ऋक्षवान् पर्वत की गुहाओं में रहते हैं ॥२१॥ इनके अतिरिक्त बहुत-से मोक्षकामी

बहुद्रष्टा पुरुष अन्यान्य तपोवनों में तथा तपस्वियों के आश्रमों में रहते हैं ॥२२॥ उनमें से कुछ ने अपने पूर्व आश्रम का परित्याग करके विधिवत् सन्यास ले लिया है, कुछ अभी भी ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का पालन करते हैं, कुछ की बुद्धि जागृत होगई है और कुछ उन्मत्त जैसी चेष्टा करते रहते हैं ॥२३॥ किसी ने अपना देश छोड़ दिया, किसी ने अपने घर आदि का परित्याग कर दिया, किसी ने एक ही स्थान में रहना ठीक समझा है। और किसी ने इधर-उधर भ्रमण करना ही अपना क्रम बना लिया है ॥२४॥ हे महामते ! इन महान् पुरुषों में आकाश में रहने वाले देवगण और पाताल में निवास करने वाले दैत्य आदि भी हैं, जो ससार के रहस्य को जानने वाले तथा निर्मल बुद्धि से समदर्शन युक्त प्रबुद्ध मति से सम्पन्न और परतत्व का साक्षात्कार किये हुए हैं ॥२५-२६॥

अप्रबुद्धधियः केचिद्दोलान्दोलितचेतसः ।
निवृत्ताः पापकाचारात्सुजनानुगताः स्थिताः ॥२७

अर्धप्रबुद्धमतयः केचिज्ज्ञानावलेपतः ।
परित्यक्तक्रियाचारा उभयभ्रष्टतां गताः ॥२८

इत्थमस्मिञ्जनानीके जन्मसंतरणार्थिनः ।
बहव. संस्थिता राम बहुधा बहुदृष्टयः ॥२९

संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्वनवासिता ।
नापि स्वदेशवासित्वं न च कष्टतपःक्रियाः ॥३०

इनमें जो अप्रबुद्ध मति वाले हैं वे सन्देह के वशीभूत होकर झूले के समान कभी इस पक्ष का और कभी उस पक्ष का समर्थन करते हुए, पापाचरण का परित्याग कर सज्जन पुरुषों के अनुगत हो गए हैं ॥२७॥ जिस किसी की आधी बुद्धि जाग्रत हुई है, वे अपने तत्वज्ञानी होने के मिथ्याभिमान में सदाचरण का परित्याग कर दोनों (लोकों) से ही भ्रष्ट हो जाते हैं ॥२८॥ हे राम ! इस प्रकार इस असंख्य जन-समुद्र में

में जन्म-मरण रूप भवसागर से तरने की इच्छा वाले और प्रारब्ध भोग के अनुकूल अनेक की दृष्टि वाले बहुत-से पुरुष अनेक प्रकार के आचरणों में अवस्थित हैं ॥२९॥ परन्तु, संसार से पार होने में न तो वनवास सहायक है, न अपने देश में रहना ही उसका हेतु है और न कष्ट-साध्य विचित्र तपक्रियाएँ ही इसमें कारण रूप हैं ॥३०॥

न क्रियायाः परित्यागो न क्रियायाः समाश्रयः ।
नाऽऽचारेषु समारम्भविचित्रफलपालयः ॥३१

स्वभावः कारणं नाम संसारोत्तरणं प्रति ।
असंसक्तं मनो यस्य स तीर्णो भवसागरात् ॥३२

शुभाशुभाः क्रिया नित्यं कुर्वन्परिहरन्नपि ।
पुनरेति न संसारमसंसक्तमना मुनिः ॥३३

शुभाशुभा क्रिया नित्यमकुर्वन्नपि दुर्मतिः ।
निमज्जत्येव संसारे परित्यक्तमनाः शठः ॥३४

मक्षिकेवाऽन्तःसारज्ञा दुःखादुःखप्रदायिनी ।
न निवारयितुं शक्या न च मारयितुं मतिः ॥३५

कर्म का परित्याग भी संसार से मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकता तथा सत्कर्मों से उपलब्ध यश की प्राप्ति, ऐश्वर्य तथा वरदान-अभिशाप के सामर्थ्य-रूप फल से भी मुक्ति संभव नहीं है ॥३१॥ संसार से पार होने का एक मात्र कारण तत्वज्ञानरूप जो स्वभाव है, वह ही यथार्थ है। उस स्वभाव की प्राप्ति मन की आत्यन्तिक अनासक्ति से ही हो सकती है जिसके मन में आसक्ति नहीं है, उसके विषय में समझलो कि वह संसार-सागर से पार हो चुका है ॥३२॥ जिस मुनि का मन अनासक्त है वह यदि नित्य शुभ अथवा अशुभ कर्म भी करे तो उनका परिहार करता हुआ पुनः संसार को प्राप्त नहीं होता ॥३३॥ जिसका मन विषयों में लगा है, वह कुमति वाला शठ पुरुष यदि शुभ या अशुभ कर्मों को न भी करे, तो भी भवसागर में अवश्य गिरता है ॥३४॥

विषयों के स्वाद में अभिभूत बुद्धि अत्यन्त दुःखदायिनी हो जाती है वह मधु-घट पर चिपकी हुई मक्खी के समान न तो हट पाती है और न भारी ही जाती है ॥३५॥

काकतालीययोगेन कदाचित्स्वस्य चेतसः ।
प्रवृत्तिर्जायते सिद्धयै स्वयमात्मावलोकने ॥३६
अवलोकनतो लब्ध्वा तत्त्वं नैर्मल्यमागतम् ।
चेतो भवति निर्द्वन्द्वमसंसक्तमनामयम् ॥३७
अचित्तत्वं प्रयातेन सत्त्वरूपेण चेतसा ।
समो भूत्वा सुखं तिष्ठ पराकाशांशरूपभृत् ॥३८
अधिगतपरमार्थस्त्यक्तरागादिदोष
सममतिरुदितात्मा त्वं महात्मा महात्मन् ।
रघुतनय विशोकस्तिष्ठ निःशङ्कमेको
जननमरणमुक्तं पावनं तत्पदं त्वम् ॥३९

वह बुद्धि कभी भाग्य के उदय होने पर ही साधन-चतुष्टय के योग से, काकतालीस योग द्वारा श्रवणादि उपायों को करती हुई स्वयं ही आत्मावलोकन में लग जाती है ॥३६॥ आत्मावलोकन से चित्त स्वच्छ हो जाता है, उसे द्वन्द्व-रहितता की प्राप्ति हो जाती है, इसलिए वह आसक्ति और मलों से रहित ब्रह्मरूप ही हो जाता है ॥३७॥ हे राम ! अचित्तत्व को प्राप्त हुए सत्त्वरूप चित्त के द्वारा सम होकर आप भी, जो पराकाश स्वरूप चित्त आदि सब प्रपञ्च-प्रविष्ठांनांश हैं, उसके समान बनकर सुख से स्थित हो जाइये ॥३८॥ हे राघव ! हे महात्मन् ! जिसने परमार्थतत्व का ज्ञान पालिया है, जो रोगादि दोपों को छोड़ चुका है और जिसमें आत्मज्ञान का उदय हो चुका है, ऐसे आप समान बुद्धि वाले, शोक-शून्य एवं महान् आत्मा होकर निःशंक अवस्थित होइये । क्योंकि जन्म-मरण से मुक्त परम पावन वह ब्रह्मपद आप ही हैं ॥३९॥

———

देवदुन्दुभिभिः सार्धं तुषारासारसुन्दरी ।
दिग्भ्यः स्थगितदिक्चक्रा पुष्पवृष्टिः पपात ह ॥८
तस्मिन्विबुधसंरम्भे क्षणेन समये गते ।
वाक्यानीमानि सिद्धानामभिव्यक्तिमुपाययुः ॥९
आकल्पं सिद्धसङ्घेषु मोक्षोपायाः सहस्रशः ।
व्याख्याताश्च श्रुताश्चाऽलमीदृशास्तु न केचन ॥१०
तिर्यञ्चो वनिता बाला व्यालाश्चाऽनेन निर्वृतिम् ।
मुनेर्वाक्यविलासेन यान्ति नास्त्यत्र संशयः ॥११
अनेन मोक्षोपायेन तिर्यञ्चोऽपि गतामयाः ।
स्थिता मुक्ता भविष्यन्ति के नाम भुवि नो नराः ॥१२
श्रवणाञ्जलिभिः पीत्वा ज्ञानामृतमिदं वयम् ।
परां पूर्णनवीभूतसिद्धयः श्रियमागताः ॥१३
इति श्रृण्वन्सभां लोको विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
कुसुमासारसंपूर्णां राजीवानां ददर्श ताम् ॥१४

उस देव-दुन्दुभियों के साथ ही तुषार-वर्षा के समान सुन्दर पुष्प-वर्षा दसों दिशाओं से होने लगी, उससे सम्पूर्ण दिङ्मण्डल ही आच्छादित होगया ॥८॥ फिर उस दुन्दुभि-वादन और पुष्पवृष्टि आदि के क्षण-भर में शान्त होजाने पर सिद्ध पुरुषों की वाणी अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई ॥९॥ सिद्धगण बोले—हमने सिद्धों के समाज में सहस्रों बार कल्प-पर्यन्त मोक्षोपायों को कहा और अन्यों के द्वारा सुना, परन्तु उनमें से ऐसा ( प्रभावशाली ) कोई भी नहीं था ॥१०॥ तिर्यग् योनि वाले जीव, स्त्रियाँ, बाला और सर्प आदि सभी मुनिवर वसिष्ठ के इस वाक्य-विलास से निःसन्देह परम शान्ति को प्राप्त होते हैं ॥११॥ इस मोक्षो-पाय से जब तिर्यग् योनि वाले जीव ही त्रिविध तापों से रहित होगये है, तब पृथिवी में सुनने वाले कौन-से मनुष्य ऐसे होंगे, जो मुक्त न हो जायेंगे ॥१२॥ इस ज्ञानामृत को कानों रूपी अंजलि के द्वारा पीकर हम सब परिपूर्ण एवं नवीन सिद्धियों से सम्पन्न और ऐश्वर्यशाली होगए हैं

॥१३॥ इस प्रकार सिद्धों के उस साधुवाद को सुनते हुए अयोध्यावासियों ने उस सभा को कमल पुष्पों की वर्षा से परिपूर्ण हुई अपने विस्मित नेत्रों से देखा ॥१४॥

इति पश्यन्सभां लोकः साधुवादेन भूरिणा ।
तत्कालोचितवाक्येन तेन तेन तथोद्यतः ॥१५
वसिष्ठं पूजयामास सर्वेन्द्रियगणानतः ।
कुसुमाञ्जलिमिश्रेण प्रणामसहितेन च ॥१६
नृपप्रणाममालासु किंचिच्छान्तासु तास्वथ ।
मुनिमापूजयन्नाह सार्घ्यपात्रकरो नृपः ॥१७
क्षयातिशयमुक्तेन परमेणाऽऽत्मवस्तुना ।
पराऽन्तः पूर्णतोत्पन्ना बोधेनाऽरुन्धतीपते ॥१८
आत्मना सकलत्रेण लोकद्वयशुभेन च ।
राज्येनाऽखिलभृत्येन भवन्तं पूजयाम्यहम् ॥१९
एतत्सर्वं तव विभो स्वायत्तं स्व इवाऽऽश्रमः ।
नियोजय यथाऽऽदेशं यथाभिमतयेच्छया ॥२०
प्रणाममात्रसंतुष्टा ब्राह्मणा भूपते वयम् ।
प्रणामेनैव तुष्यामः स एव भवता कृतः ॥२१
पातुं त्वमेव जानासि राज्यं भाति तवैव च ।
भवत्वेतत्तवैवेह ब्राह्मणाः क्व महीभृतः ॥२२

इस प्रकार की अद्भुत शोभा को देखते हुए लोगों ने अत्यन्त विनीत साधुवादों से उद्योगित होकर पुष्पांजलियों से वसिष्ठजी का पूजन किया ॥१५-१६॥ फिर जब राजाओं के प्रणाम आदि व्यवहार शान्त हुए तब हाथ में पूजन सामग्री लिए हुए राजा दशरथ ने वसिष्ठजी का पूजन करते हुए निवेदन किया ॥१७॥ राजा दशरथ बोले—हे ब्रह्मन् ! आपके सदुपदेश से जो क्षय वृद्धि से रहित निरतिशय आनन्द रूपी आत्मवस्तु प्राप्त हुई है, उससे मुझमें पूर्ण उत्कृष्टता की उत्पत्ति होगई है ॥१८॥ दोनों लोकों के भोग के लिए संचित् मेरे सुकृत से, पुत्रकलत्र युक्त अपने

अपने देह से तथा भृत्य-सामन्तादि सहित सम्पूर्ण राज्य से ( आपको इनका समर्पण करता हुआ ) आपका पूजन करता हूं ॥१६॥ हे विभो ! यह जो सब कुछ मैंने समर्पित किया है, उस सबके आप अपने आश्रम के समान ही स्वामी हैं । अब आप इसके अधिपति रूप से मुझे आदेश दीजिये ॥२०॥ वसिष्ठजी बोले--हे राजन् ! हम तो प्रणाम मात्र से सन्तुष्ट होजाने वाले ब्राह्मण हैं और प्रणाम आपने किया ही है ॥२१॥ राज्य की रक्षा करने का ज्ञान आपको है और राज्य की शोभा भी आप से ही है, हम तपस्वी ब्राह्मण कहीं राजा हो सकते हैं ? इसलिए आपका राज्य आपके पास ही रहे ॥२२॥

कियन्मात्रं तु राज्यं स्यादिति लज्जामहे मुने ।
प्रकर्षेणाऽत्र तेनेश यथा जानासि तत्कुरु ॥२३
इत्युक्तवति भूपाले रामः पुष्पाञ्जलिं ददत् ।
उवाच प्रणतो वाक्यं पुरस्तस्य महागुरोः ॥२४
निरुत्तरीकृतमहाराज ब्रह्मन्प्रणौमि ते ।
प्रणाममात्रसारोऽहं रामः पादाविमौ प्रभो ॥२५
इत्युक्त्वा पादयोस्तस्य शिरोवन्दपूर्वकम् ।
तत्याजाऽञ्जलिपुष्पाणि हिमानीव वनं गिरेः ॥२६
शत्रुघ्नो लक्ष्मणश्चैव तथाऽन्ये तत्समाश्च ये ।
निकटस्थास्तथैवाऽऽशु ते प्रणेमुर्मुनीश्वरम् ॥२७
प्रणामानन्तरं तस्मिन्रामाद्यैः स्वसभाजने ।
शान्तवात इवाऽम्भोदे जने सौम्यत्वमागते ॥२८
आकर्णयन्साधुवादं विश्वामित्रं मृदुस्वनम् ।
उवाचेदमनिन्द्यात्मा वसिष्ठो मुनिनायकः ॥२६

दशरथजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! जिस मोक्ष रूपी आनन्द सागर में यह राज्य जल के एक कण के समान है, इसलिए इसे देता हुआ मैं अत्यन्त लज्जित होरहा हूं, अतः इस विषय में आप जैसा समझें, वैसा ही करें ॥२३॥ वाल्मीकिजी बोले—राजा दशरथ के ऐसा कह कर

मौन होजाने के पश्चात् उन महागुरु वसिष्ठजी के चरणों में कुसुमांजलि समर्पित करते हुए श्रीराम ने नतमस्तक होकर निवेदन किया ॥२४॥ हे ब्रह्मन ! आपके वचन से महाराज निरुत्तर होगए हैं। मेरे पास प्रणाम मात्र ही है, उसके सहित मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूं ॥२५॥ यह कह कर राम ने नत मस्तक होकर मुनि की वन्दना की और उनके चरणों पर वैसे ही पुष्पांजलि समर्पित की जैसे वन पर्वत-पादों पर पत्तों में लगी ओस की बूंदें अर्पित करता है ॥२६॥ शत्रुघ्न, लक्ष्मण और श्रीराम के अन्यान्य सहचर जो समीप में स्थित थे, उन सबने भी उसी प्रकार मुनि को प्रणाम किया ॥२७॥ प्रणाम के अनन्तर प्रणाम के अनन्तर उनका पूजन करने वाले सभी सभाजन आदि शान्त वायुयुक्त मेघ के समान सौम्यता में आगए तब उस साधुवाद को सुनते हुए मुनिवर वसिष्ठ ने विश्वामित्र से मृदुवाणी में कहा ॥२८-२९॥

मुने गाधिकुलाम्भोज वामदेव निमे क्रतो ।
भरद्वाज पुलस्त्याऽत्रे घृष्टे नारद शाण्डिले ॥३०

हे भासभृगुभारण्डवत्सवात्स्यायनादयः ।
मुनयस्तुच्छनेतत्तु भवद्भिर्मद्वचा श्रुतम् ॥३१
यदत्राऽनुदितं किंचित्तदनुग्रहतोऽधुना ।
दुरर्थं विगतार्थं वा भवन्तः कथयन्तु मे ॥३२

वसिष्ठवचने ब्रह्मन्परमार्थैकशालिनि ।
दुरर्थो भवतीत्यद्य नवैव खलु गीः श्रुता ॥३३
यत्संभृतमनन्तेन जन्मदोषेण नो मलम् ।
तत्प्रमृष्टं त्वयेहाऽद्य हेमन्तामिव हविर्भुजा ॥३४
सर्वसत्त्वमहाबोधदायिनं मुनिनायकम् ।
भवन्तमेकान्तगुरुं प्रणमाम इमे वयम् ॥३५

हे गाधिकुल कमलरूपी मुनिश्रेष्ठ ! हे वामदेव ! हे निमि ! हे क्रतो ! हे भरद्वाज ! हे पुलस्त्य ! हे अत्रे ! हे धृष्टे ! हे नारद ! हे शाण्डिलि ! हे भास ! हे भृगु ! हे भारण्ड ! हे वत्स ! हे वात्स्यायन आदि ऋषिगण !

मेरे जिस तुच्छ वचन को आपने सुना, उसमें जो न्यूनता, त्रुटि, निरर्थकता, दुरर्थता या विगतार्थता हो, वह सब कृपाकर मुझे बतादें ॥३०-३२॥ तब वे सभ्यजन बोले—हे ब्रह्मन् ! एकमात्र परमार्थशाली मुनिवर वसिष्ठ के वचनों में भी कोई दुरर्थ हो सकता है, यह तो नई बात ही सुनी है ॥३३॥ हमारा जो अनन्त जन्म दोषों से युक्त पाप था, वह आपके द्वारा अग्नि से स्वर्ण के मल का परिमार्जन होने के समान ही परिमार्जित हो चुका है ॥३४॥ हे सर्वसत्व का महान् बोध देने वाले मुनिनायक ! हम केवल आप गुरु को ही प्रणाम करते हैं ॥३५॥

इत्युक्त्वा मुनिनाथाय नम त इति ते पुनः ।
वदन्त एकशब्देन तारेणाऽब्दरवौजसा ॥३६
अवर्षपुष्पाञ्जलिव्रातैः खात्सिद्धैः समुज्झितैः ।
वसिष्ठं पूरयामासुर्हिमैरब्दा इवाऽचलम् ॥३७
इत्थं दशरथं भूपं शशंसुश्चाऽय राघवम् ।
माधवं चतुरात्मानं राघवोदन्तकोविदाः ॥३८
नमाम चतुरात्मानं नारायणमिवाऽपरम् ।
रामं सभ्रातरं जीवन्मुक्तं राजकुमारकम् ॥३९
चतुरब्धिनिखातान्तधरावलयपालकम् ।
त्रिकालस्थमहीपालचिह्नं दशरथं नृपम् ॥४०

वाल्मीकिजी ने कहा—हे मुने ! मुनिनाथ वसिष्ठजी से यह कह कर और उन्हें बारम्बार नमस्ते करके उन मुनियों ने आकाश से सिद्धगण के सहित पुष्पवृष्टि की, जिससे हिमवृष्टि से हिमालय के आच्छादित होने के समान वे मुनिवर पुष्पों से ढक गये ॥३६-३७॥ फिर उन मुनियों ने महाराज दशरथ की प्रशंसा करके चार रूप वाले भगवान् राम को विष्णु रूप से जानने वाले उन विद्वानों ने उनकी भी प्रशंसा की ॥३८॥ सिद्धों ने कहा—चार रूप वाले नारायण के समान भाइयों सहित स्थित जीवन्मुक्त राजकुमार राम को हम नमस्कार करते हैं ॥३९॥ इसके पश्चात् उन्होंने महाराज दशरथ की प्रशंसा करते हुए

कहा—चार समुद्र पर्यन्त भूमण्डल का पालन करने वाले और तीनों काल में कभी भी लोप न होने वाले राजचिह्नों से विभूषित महाराज दशरथ सौभाग्यशाली हैं ॥४०॥

मुनिसेनाधिपं भूपं भास्वरं भूरितेजसम् ।
वसिष्ठं सुप्रवादाढ्यं विश्वामित्रं तपोनिधिम् ॥४१
एषामेव प्रभावेण ज्ञानयुक्तिं परामिमाम् ।
श्रुतवन्तो वयं सर्वे भ्रान्तिसंरम्भनाशिनीम् ॥४२
इत्युक्त्वा गगनात्सिद्धा भूयः पुष्पाणि चिक्षिपुः ।
सभायामथ तूष्णीं च तस्थुर्मुदितचेतसः ॥४३
तथैव व्योमगाः सिद्धाः शशंसुस्तं जनं पुनः ।
तथैव सभ्यास्तांस्त्र समानर्चुर्घनस्तवम् ॥४४
नभश्चरा धरणिचरा मुनीश्वरा
महर्षयो विबुधगणा द्विजा नृपाः ।
अपूजयन्निति जनमोजसैव ते
गिरोच्चया सह कुसुमार्घ्यदानया ॥४५

इसके पश्चात् उन्होंने मुनि रूपी सेनाओं के अधिपति और सूर्य के समान तेजस्वी वसिष्ठजी की। फिर महायश वाले तपोनिधि विश्वामित्रजी की प्रशंसा में उन्होंने कहा कि इनके प्रभाव से ही हम भ्रान्ति को नष्ट करने वाली ज्ञानदायिनी वसिष्ठ-वाणी को सुन सके हैं ॥४१-४२॥ वाल्मीकिजी बोले—यह कह कर सिद्धों ने पुनः आकाश से पुष्प-वृष्टि की और फिर सभास्थल में मुदित चित्त से स्थित हो गए ॥४३॥ आकाश में स्थित सिद्धों ने जैसे वसिष्ठजी का पूजन किया, वैसे ही सभा में स्थित लोगों ने उन सिद्धों की स्तुति और पूजा की ॥४४॥ आकाश में स्थित सिद्ध-देवादि तथा भूमि में अवस्थित मुनीश्वरों, महर्षियों, ब्राह्मणों और राजाओं ने अपने सामर्थ्यानुसार पुष्प और अर्घ्य-दान आदि सहित जयघोष करते हुए प्रत्येक पुरुष का पूजन किया ॥४५॥

———

## १०६—पूर्णानन्द में विश्रान्ति

ग्रहीतुमर्चां भक्तानां मानितार्थजनो मुनिः ।
तूष्णीं क्षणमिव स्थित्वा प्रोवाचाऽनाकुलाक्षरम् ॥१
स्वकुलाकाशशीतांशो राम राजीवलोचन ।
किमन्यदिच्छसि श्रोतुं कथयाऽभिमतेच्छया ॥२
त्वत्प्रसादेन यातोऽस्मि परां निर्मलतां प्रभो ।
शान्ताशेषकलङ्काङ्कं शरदीव नभस्तलम् ॥३
सर्वा एवोपशान्ता मे भ्रान्तयो भवभङ्गदाः ।
स्वरूपेणाऽवदातेन तिष्ठाम्यच्छिमिवाऽम्बरम् ॥४
अन्यच्छ्रोतुमथाऽहर्तुं शान्तं नेच्छति मे मनः ।
परां तृप्तिमुपायातं सुषुप्तमिव संस्थितम् ॥५
शान्ताशेषपरामर्शं विगताशेषकौतुकम् ।
संत्यक्ताशेषसंकल्पं शान्तं मम मुने मनः ॥६
नोपदेशेन नाऽर्थेन न शास्त्रैर्न च बन्धुभिः ।
त्यागेक च न चैतेषामधुना मम कारणम् ॥७

वाल्मीकिजी ने कहा—हे मुने ! इस प्रकार अपने भक्तों की पूजा ग्रहण करते हुए मुनिवर वसिष्ठजी क्षणभर मौन रह कर धीरे-धीरे कहने लगे ॥१॥ हे अपने कुल रूपी आकाश के चन्द्र ! हे राजीव-लोचन ! आप और क्या सुनना चाहते हैं, वह मुझसे कहिये ॥२॥ श्री राम बोले—हे प्रभो ! आपके प्रसाद से मैं कलंक-रहित चन्द्रमा और शरद्कालीन आकाश के समान निर्मल हो चुका हूं ॥३॥ संसार-दुःख वाली मेरी सभी भ्रान्तियों का शमन होचुका है और अब मैं आकाश के समान स्वच्छ अपने स्वरूप में अवस्थित हूं ॥४॥ मेरा शान्त मन अब कोई अन्य उपदेश सुनना या किसी कर्म का सम्पादन करना नहीं चाहता । अब वह परम तृप्त रूप से सुषुप्त के समान हो चुका है ॥५॥ परम शान्ति में लीन मेरे मन के सभी राग आदि और उनका कौतुक नष्ट होगया है और वह सब विषय संकल्पों का त्याग कर चुका है

॥६॥ उपदेश से या उपदेश से प्रयुक्त किसी अन्य प्रयोजन से, शास्त्रों से, बान्धवों से अथवा उनके त्याग से भी मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है ॥७॥

सर्वस्योपर्यपि सुखी सुखं नेहामि मे भो ।
जनसाम्येन तिष्ठामि यथेच्छं मां नियोजय ॥८
बालो लीलामिव त्यक्तशङ्कं संसारसंस्थितिम् ।
यावद्देहमिमां साधो पालयाम्यमलैकदृक् ॥९

अहो ब्रत महापुण्यं पदमासादितं त्वया ।
अनादिमध्यपर्यन्तमिदं यत्र न शोच्यते ॥१०
सम्यक्समसमाभोगे शीतले स्वात्मनि स्वयम् ।
नभसीव नभः शान्ते विश्रान्तिमसि लब्धवान् ॥११

दिष्ट्या रघूणां तनय संज्ञः पावितवानसि ।
भूतभव्यभविष्यस्थां बोधेन कुलसंततिम् ॥१२
अधुना मुनिनाथस्य विश्वामित्रस्य राघव ।
पूरयित्वाऽर्थितां भुक्त्वा पित्रा सह महीमिमाम् ॥१३
त्वयाऽन्विताः सतनयभृत्यबान्धवाः
पदातयः सरथगजाश्वमण्डलाः ।
निरामया विगतभयाः स्थिरश्रियः
सदोदयाः सुभग भवन्तु राघवाः । १४

हे प्रभो ! सर्वानन्द से भी उच्च जो ब्रह्मानन्द है, उसमें सुखी रहता हुआ मैं विषय सुख की इच्छा से रहित हूं । बाह्य रूप से सामान्यजन के समान ही हूं, आप अपनी इच्छा के अनुरूप मुझे कोई भी कार्य सौंप दीजिए ॥८॥ हे साधो ! मैं एक मात्र निर्मलब्रह्म को देखने वाला हूं । जब तक इस देह में स्थित हूं तब तक संसार-स्थिति का शंका-रहित रूप से उसी प्रकार पालन करूंगा, जिस प्रकार बालक क्रीडा किया करता है ॥९॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! अहा ! आप उस महापावन पद में आसीन होगये हो, जिस आदि, मध्य और अन्त-

रहित पद में शोक नहीं रहता ॥१०॥ अहा! आप भले प्रकार सम शीतल अपने आत्मा में वैसे ही पूर्ण विश्रान्ति को प्राप्त हो गए हैं, जैसे आकाश, शान्त आकाश में विश्रान्ति को प्राप्त हो जाता है ॥११॥ हे सुत! आपने तत्वज्ञानी होकर अपने ज्ञान से रघुकुल की त्रिकाल में उत्पन्न सन्तति को पावन कर दिया है ॥१२॥ हे राघव! अब आप मुनिनाथ विश्वामित्रजी के यज्ञ में जो विघ्न उपस्थित हो गया है उसे दूर करने वाली इच्छा को पूरी कर अपने पिताजी के सहित इस पृथिवी का उपभोग कीजिए ॥१३॥ हे सुमग! हे राघव! आप जैसे सुपुत्र से युक्त, भृत्य, बांधव, पदाति, रथ, हाथी और घोड़ों से सम्पन्न हुए सब रघुवंशी निरोग, निर्भय, स्थिर ऐश्वर्य युक्त और श्रेष्ठ अभ्युदय वाले हों ॥१४॥

---

## ११०—स्वात्म का नमन

एतच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य वचः संसदि पार्थिवाः ।
सिक्ता इवाऽमृतापूरैरन्तःशीतलतां ययुः ॥१
रामः कमलपत्राक्षो रराज वदनेन्दुना ।
क्षीरोद इव संपूर्णः सुधापूरेण चारुणा ॥२
वामदेवादयः सर्वे तत्त्वज्ञानविशारदाः ।
अहो भगवता ज्ञानमुक्तमित्यूचुरादरात् ॥३
शान्तान्तःकरणो राजा मुदा दशरथो बभौ ।
तुष्ट्यैव संप्रहृष्टाङ्गो नवां द्युतिमुपागतः ॥४
ज्ञातज्ञेयेषु बहुषु साधुवादकथास्वथ ।
उवाच गलिताज्ञानो रामो वाक्यमिदं पुनः ॥५
भगवन्भूतभव्येश त्वयाऽस्माकमलं मलम् ।
संप्रमृष्टमिदं हेम्नः श्यामत्वमिव वह्निना ॥६

वाल्मीकिजी बोले—हे मुने! सभा स्थान में मुनिवर वसिष्ठजी का यह वचन सुन कर सब राजागण और अन्यान्य व्यक्ति उन वचन रूपी

अमृत-प्रवाह से सींचे हुए के समान अत्यन्त आन्तरिक शीतलता को प्राप्त हुए ॥१॥ उस समय कमलपत्र जैसे नेत्र वाले श्रीराम अपने सुन्दर चन्द्रानन से वैसे ही सुशोभित हुए जैसे कि सुधा से परिपूर्ण चन्द्रमा से क्षीरसागर सुशोभित होता है ॥२॥ वामदेव आदि सभी तत्वज्ञान-विशारदों ने सादर कहा—अहो ! भगवान् वसिष्ठजी ने कैसा श्रेष्ठ ज्ञान कहा है ॥३॥ शान्त अन्तःकरण वाले महाराज दशरथ अत्यन्त सन्तुष्ट और रोमांचित देह सहित अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रहे थे ॥४॥ फिर साधुवाद कथाओं के प्रवृत्त होने पर अज्ञान से विरत हुए श्रीराम ने पुनः इस प्रकार कहा ॥५॥ हे भगवन् ! हे भूत भव्येश ! जैसे अग्नि स्वर्ण के मैल को दूर कर देता है, वैसे ही आपने हमारा अज्ञान दूर कर दिया है ॥६॥

अभूम वयमात्मीयकायमात्रदृशः पुरा ।
प्रभो संप्रति संपन्ना विश्वग्विश्वावलोकिनः ॥७
स्थितोऽस्मि सर्वसंपूर्णः संपन्नोऽस्मि निरामयः ।
जातोऽस्मि विगताशङ्को बुधो जागर्मि संप्रति ॥८
आनन्दितोऽस्म्यखेदाय सुखितोऽस्मि चिराय च ।
स्थितोऽनस्तमयायैव शाश्वतार्योदयो मम ॥९
अहो बत पवित्रेण शीतेन ज्ञानवारिणा ।
त्वा सिक्तोऽस्मि हृष्यापि पद्मवद्धृदये स्वयम् ॥१०
इयमद्य मया लब्धा पदवी त्वत्प्रसादतः ।
यस्यां स्थितस्य मे सर्वममृतत्वं गतं जगत् ॥११
अन्तः प्रसन्नमतिरस्तसमस्तशोकः
शोभां गतोऽहममलाशय एव शान्त्या ।
आनन्दमात्मनि गतः स्वयमात्मनैव
नैर्मल्यमभ्युपगतोऽस्मि नमोऽस्तु मह्यम् ॥१२

हे प्रभो ! पहले हम अपने देह में ही आत्म दृष्टि रखते थे परन्तु अब आपकी कृपा से सर्वत्र सर्वात्म-दृष्टि वाले होगये हैं ॥७॥ अब मैं

सर्वात्म रूप से सम्पूर्णतः स्थित होता हुआ निरामय और आशंका-रहित होगया हूँ और प्रबुद्ध तथा जागा हुआ हूँ ॥८॥ खेद-रहित होने से आनन्दमय एवं चिरकाल के लिए सुखी हूँ। अस्त-रहित रूप से स्थित एवं परम पुरुषार्थ के आविर्भाव से सम्पन्न हूँ ॥९॥ अहो! आपने पवित्र, शीतल ज्ञान रूपी जल से मेरा सिंचन किया है, इसलिए मैं अपने हृदय में कमल के समान ही विकसित हूँ ॥१०॥ आपकी कृपा से मुझे दिव्य पदवी प्राप्त हुई है, उसमें अवस्थित हुए मुझको यह सब संसार अमृत ही होगया है ॥११॥ मुझ पूर्ण प्रसन्न मति वाले के सब शोक मिट चुके हैं और मैं अलौकिक शान्ति से निर्मल आशय रूप अपनी आत्मा में अत्यन्त आनन्दित हूँ। भले प्रकार देखे गये आत्मा से ही स्वयं सिद्ध समता को प्राप्त होने के कारण मेरे लिए ही नमस्कार है ॥१२॥

---

## १११—ऐक्य की उपलब्धि

इत्थं विचारपरयोर्मुनिराघवयोस्तयोः ।
भास्करः श्रवणायेव व्योममध्यमुपाययौ ॥१

तीक्ष्णतामाजगामाऽऽशु सर्वदिक्कमथाऽऽतपः
पदार्थौघविकासार्थं रामस्येव महामतिः ॥२

उत्फुल्लहृदयाम्भोजस्फाराकारतया तदा ।
लीलापद्मकरा रेजुस्तत्रस्थाः पार्थिवा इव ॥३

जालं मुक्ताकलापानन्तरमाक्रान्तभास्करम् ।
ननर्तेव तरद्व्योम विज्ञानश्रवणादिव ॥४

पुस्फुरुः पद्मरागेषु लग्नार्कांशु त्विषः ।
भासो व्योमतलोड्डीना धियो ज्ञानकला इव ॥५

वाल्मीकिजी बोले—इस प्रकार श्रीवसिष्ठजी और श्रीराम में परस्पर विचार-विमर्श चल रहा था, तब मानों भाषण सुनने को भास्कर उनकी

बातें सुनने के लिए आकाश के मध्य पहुँच गए॥१॥ फिर श्रीराम की महान् मति के समान पदार्थ-राशि के विकासार्थ धूप भी शीघ्र ही तीक्ष्ण होगई ॥२॥ उस समय, जैसे विकसित कमलों के कारण उद्यान के जलाशय विशालकाय प्रतीत होते है वैसे ही हृदय-कमल के प्रफुल्लित होने से विकसित आकार वाले हुए वहाँ बैठे हुए राजाओं के समान अत्यन्त शोभायमान हुए ॥३॥ मुक्ता-झालरों से युक्त स्फटिकमणि-निर्मित जिस झरोखे में भगवान् भास्कर का प्रतिविम्व आक्रान्त था, ऐसा लगता था, मानों आकाश में तैर रहा हो ॥४॥ संक्रान्त सूर्य की तीक्ष्ण दीप्ति वाली आकाश में विस्तृत हुई किरणें पद्मराग मणियों में इस प्रकार से स्फुरित होरही हैं, जिस प्रकार कि स्वच्छ उपदेश वाली ज्ञान-कला स्फुरण को प्राप्त होती है ॥५॥

एवं निर्वृतिमायाते रामे स्वकुलकैरवे ।
मुनीन्द्रवनालोकात्सविकासमिव स्थिते ॥६
रवावौर्वोपमे व्योम महाब्धेर्नाभितां गते ।
तेजःपुञ्जलसज्ज्वाले समग्ररसपायिनि ॥७
नभोनीलोत्पले नीले गलद्रजसि राजति ।
घर्मांशुकर्णिकाकान्ते स्फुरत्किरणकेसरे ॥८
अवतंसे जगल्लक्ष्म्यास्त्रिलोकीकणकुण्डले ।
अन्तर्लीनस्फुरत्तारारत्नराजिविराजिते ॥९
दिग्वधूभिर्वृहच्छृङ्गपाणिभिर्मुकुरेष्विव ।
धृतेषु तापभिन्नेषु महाभ्रेषु निरम्वुषु ॥१०
सूर्यकान्तवरोत्थेन वह्निनेव समेधिते ।
द्विगुणं प्रज्वलत्यर्कशून्ये गगनधामनि ॥११
विनेदुर्मेदुरोद्दाममुखमारुतपूरिताः ।
मध्याह्नशङ्खाः कल्पान्तवातपूर्णा इवाऽर्णवाः ॥१२

मुनीन्द्रों की मुखकान्ति रूपी चन्द्रमा से विकसित, अपने कुल के कैरव भूत श्रीराम जब इस प्रकार परमानन्द में मग्न होगए और जब

बड़वाग्नि के समान तेजपुंज स्वरूप, देदीप्यमान ज्वालाओं से सम्पन्न तथा सब रसों का पान करने वाले भास्कर आकाश रूपी महोदधि को नाभि के समान हो गए तथा नभ रूपी नील-कमल, जो भास्कर रूपी कर्णिका से सुशोभित और रश्मि-रूपी केसरों से शोभायमान था जिसमें से रज रूपी पराग झड़ रहा था, वह इतना सुन्दर लग रहा था मानो जगत्लक्ष्मी का शिरोभूषण और त्रैलोक्य रूपी नायिका के कानों का कुण्डल था। वह शिरोभूषण और कर्णकुण्डल देदीप्यमान सितारों स्वरूप विविध रत्नों से शोभायमान था। जब दिशा-स्वरूपा नायिकाओं ने विशाल पर्वत की चोटी रूपी अपने हाथों से धूप-युक्त एवं जल रहित महामेघों को दर्पणों के समान पकड़ रखा था। जब सूर्य के बिना भी अत्यन्त श्रेष्ठ सूर्यकान्त मणियों से निर्गत अग्नि से देदीप्यमान होने के कारण वह आकाश सूर्य की उष्णता से भी द्विगुण प्रज्वलित हो रहा था। उस मध्याह्न काल में समय-सूचक शंख फाल-वायु से परिपूर्ण वारिदों के समान मुख की प्रचुर वायु से भर कर बजने लगे ॥६-१२॥

प्रालेयश्रीरिवाऽब्जेषु घर्मश्रीर्वदनेष्विव।
चकार पदमाकीर्णशुद्धमुक्ताफलोपमा ॥१३

गृहभित्तिपरावृत्ता सत्वसंरम्भमांसला।
शब्दश्रीः पूरयामास कर्णमर्ण इवाऽर्णवम् ॥१४

पुरन्ध्रीभिर्निदाघौघशान्तये समुदीरिता।
उल्ललास नवा पाण्डुकर्पूरजलधारलि। ॥१५

स राजा सपसामन्तः सभूपः सपरिच्छदः।
सवसिष्ठः समुत्तस्थौ सहरामः ससंसदः ॥१६

राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो मुनयस्तथा।
अन्योन्यं पूजिता जग्मुर्मुदिताः स्वं निवेशनम् ॥१७

अन्तःपुरगृहाग्रेषु तालवृन्तानिलाहृतैः।
कर्पूरधूलिभिरभून्नवेवाऽम्बुदमालिका ॥१८

जैसे अरविन्दों पर ओस की बूंदें लगती हैं वैसे ही मुख-मण्डलों पर, बिखरे हुए मोतियों के समान स्वेद-बिन्दु झलकने लगे ···

वर्षा और सरिता का जल जैसे समुद्र को परिपूर्ण करता है, वैसे ही गृह-भित्तियों से टकरा कर प्रतिध्वनित हुआ शब्द जीवों के शब्द संभ्रम से पोषित होकर कानों को भरने लगा ॥१४॥ मध्याह्न के समय सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा उष्णता की प्रखरता का शमन करने के लिए उड़ाई जाती श्वेत कर्पूरयुक्त जल की फुवार रूपी नवीन मेघमाला उल्लसित होने लगी ॥१५॥ तभी सब सामन्तों, राजाओं, अंग-रक्षकों, भृत्यों, महामुनि वसिष्ठ और श्रीराम के सहित महाराज दशरथ उस सभा से उठ पड़े ॥१६॥ तब सभी भूपाल, राजपुत्र, मन्त्रिगण, मुनिगण एवं अन्यान्य सभी लोग पूजा-सत्कार को प्राप्त करके हर्षित हुए अपने-अपने निवास स्थान को गये ॥१७॥ अन्तःपुर के प्रमुख घरों में पंखों द्वारा उड़ाई जाती कर्पूर-रज से अद्भुत मेघमाला प्रादुर्भूत हुई ॥१८॥

अथ मध्याह्नतूर्याणां रवे स्फूर्जति भित्तिषु ।
उवाच वचनं वाक्यकोविदो मुनिनायकः ॥१९

सर्वमेव श्रुतं श्राव्यं ज्ञेयं ज्ञातमशेषतः ।
त्वया राघव भो नास्ति ज्ञातव्यमपरं वरम् ॥२०
यथा मयोपदिष्टोऽसि यथा पश्यसि शास्त्रतः ।
यथाऽनुभवसि श्रेष्ठमेकवाक्यं तथा कुरु ॥२१

उत्तिष्ठ तावत्कार्याथ वयं स्नातुं महामते ।
मध्याह्नसमयोऽस्माकमयमङ्गाऽतिवर्तते ॥२२
अपरं यत्त्वया भद्र स्वाकाङ्क्षाविनिवृत्तये ।
प्रष्टव्यं तच्छुभं प्रातः प्रष्टव्यं भवता पुनः ॥२३

फिर मध्याह्न समय की तुरियों की ध्वनि भित्तियों से टकराकर प्रतिध्वनि होने लगी, ऐसे ही समय में वाक्यकोविद मुनिवर वसिष्ठ कहने लगे ॥१९॥ हे राघव ! जो कुछ सुनने योग्य और जानने योग्य था, वह सब आपने सुन और जान लिया है, इसके अतिरिक्त अब इससे जानने योग्य कुछ भी नहीं है ॥२०॥ हे राम ! जैसा मैंने आपको उपदेश

दिया है और जैसा आपने शास्त्रों में देखा है और जैसा आपने अनुभव किया है, उस सब के अनुसार एक वाक्यता कीजिए अर्थात् सबको सम्मिलित करके विचार कीजिए ॥२१॥ हे महामते ! यथाप्राप्त कर्त्तव्य के पालनार्थ आप उठ पड़िये । अब हम मध्याह्न स्नान के लिए जारहे हैं, क्योंकि उसका समय व्यतीत होने वाला है ॥२२॥ हे भद्र ! अपनी आकांक्षा को निवृत्ति करने के उद्देश्य से आप जो कुछ श्रेष्ठ प्रश्न करना चाहते हों, उसे प्रातःकाल पूछ लेना ॥२३॥

इत्युक्ते मुनि नाथेन राजा दशरथः स्वयम् ।
पूजयामास तान्सभ्यान्सर्वान्साधून्सपर्यया ॥२४
सह रामेण धर्मात्मा मुनिविप्रान्नृपांश्च सः ।
वसिष्ठाद्युपदिष्टेन क्रमेण व्योमगांस्तथा ॥२५
मणिमुक्तागणार्थेन दिव्येन कुसुमेन च ।
मणिरत्नप्रदानेन मुक्ताहारार्पणेन च ॥२६
प्रणयेन प्रणामेन प्रदानेनाऽर्थशालिना ।
वस्त्रासनान्नपानेन कनकेन तथा भुवा ॥२७
धूपेन गन्धमाल्याभ्यां यथोदितमनिन्दितः ।
पूर्वान्संपूजयामास सर्वानेव महीपतिः ॥२८
अथोत्तस्थौ सभामध्यात्सभया सह मानदः ।
सवसिष्ठादिदेवर्षिः सायमिन्दुरिवाऽम्बरात् ॥२९

वाल्मीकिजी बोले—मुनिनाथ वसिष्ठजी के ऐसा कहने पर महाराज दशरथ ने श्रीराम सहित सभा में सभी उपस्थित साधुजनों, मुनियों, विप्रों, भूपालों, गगनचारी सिद्धों, और देवताओं की वसिष्ठजी तथा विश्वामित्रजी आदि मुनियों के द्वारा बताई गई विधि से मणि-मुक्तादि धन से उनके प्रदान द्वारा, दिव्य पुष्पों से उनकी भेंट द्वारा, मुक्तामाल्य के समर्पण द्वारा तथा विनय, प्रणाम, ऐश्वर्य-प्रदान, कन्या-प्रदान, वस्त्र, आसन, पान, कनक, भूमि, धूप, गन्ध, माल्य आदि समर्पित करते हुए यथायोग्य पूजन किया ॥२४-२८॥ इसके पश्चात् वसिष्ठ आदि देवर्षियों और सम्पूर्ण सभा के सहित, दूसरों को मान देने वाले महाराज दशरथ

उसी प्रकार उठ पड़े, जिस प्रकार कि सायंकालीन चन्द्रमा गगन में उठता है ॥२९॥

स सभोत्थानसदयः ससंरम्भो व्यराजत ।
जानुदघ्नसुरोन्मुक्तपुष्पसंजातकर्दमः ॥३०
संघट्टाघट्टकेयूररत्नचूर्णारुणावनिः ।
छिन्नहारस्फुरन्मुक्ताताराजितनिशाम्बरः ॥३१
देवर्षिमुनिविप्रेन्द्रपार्थिवस्पन्दसंकुलः ।
व्यग्रभृत्याङ्गनाहस्तकेशचञ्चलचामरः ॥३२
ज्ञानप्रमेयीकरणस्पन्दमानो न दारुणः ।
शिरःकरत्रिनयनजिह्वेवेव विराजितः ॥३३
परस्परमणाऽऽपृच्छ्य पूजिताः पेशलोक्तयः ।
राजानो मुनयश्चैव सर्वे दशरथादयः ॥३४
स्वाश्रमान्साधवो जग्मुस्तुष्टस्निग्धाशया मिथः ।
लोकसप्तकवास्तव्या देवाः शक्रपुरादिव ॥३५

शीघ्रता पूर्वक सभा से उठने का वह समय अत्यन्त शोभामय था, जिसमें देवताओं द्वारा वर्षित पुष्पों से सब ओर घुटनों पर्यन्त कीचड़ जैसा होगया था। परस्पर घर्षण और टकराव से केयूरों में जटित रत्नों के चूर्ण से भूमि लाल हो उठी थी, टूटे हुए हारों से स्फुरण को प्राप्त मुक्तारूपी तारावलि ने रात्रि के समय मानों नक्षत्रों से सम्पन्न आकाश पर विजय प्राप्त करली थी। देवर्षि, मुनिगण, विप्रजन और भूपालों के इधर-उधर चलने से जो अत्यन्त भीड़-युक्त होरहा था, उसमें व्यग्र हुई भृत्यांगनाओं के हाथों में बालों से हिलते हुए चँवर थे। वसिष्ठ द्वारा उपदेशित ज्ञान के मनन द्वारा प्रमेयीकरण के लिए स्पन्दित दारुणता से शून्य, विनययुक्त वाणी वाले एवं शिर तक जोड़े हुए हाथ उठाये और अपने सामने और दोनों पार्श्वभागों में सतर्कता से देखते हुए तथा अपनी किसी भी भूल पर क्षमा माँगने में तत्पर नेत्र और जिह्वा वाले सभी जनों से सुशोभित था। वह स्थान उन्मत्त और निष्ठुर

व्यक्तियों से रहित होने के कारण विषम नहीं था, इसीलिए वहाँ कष्ट आदि का भी नाम नहीं था। उस स्थान से सभी के द्वारा संचारित कोमल वचन वाले महाराज दशरथ आदि सातों लोकों के निवासी सज्जन पुरुष परस्पर पूछ कर, देवगण के इन्द्रनगरी से जाने के समान, परस्पर प्रेम पूर्ण हृदय सहित अपने-अपने आश्रम को चले गए थे ॥३०-३५॥

अन्योन्यं प्रणयात्सर्वे पूजयित्वा यथाक्रमम् ।
तद्विसृष्टा स्वमागत्य गृहं चक्रुर्दिनक्रियाम् ॥३६
अथ सर्वे वसिष्ठाद्यास्तथा दशरथादयः ।
चक्रुर्दिवसकार्याणि राजानो मुनयस्तथा ॥३७
यथाप्राप्तं क्रियां तेषु कृतवत्स्वथ दैवसीम् ।
क्रमेणाऽऽकाशपथिको भास्करोऽस्तमुपाययौ ॥३८
तथैव कथया तेषां रामस्य च महामतेः ।
प्रबोधवशतः शीघ्रं सा व्यतीयाय शर्वरी ॥३९
उत्सारिततमःपांसुताराकुसुमनिर्भरम् ।
भुवनं भवनीकुर्वन्नाजगाम दिवाकरः ॥४०
करवीरकुसुम्भाभैः करैररुणयन् दिशः ।
विवेश गगनाम्भोधिमथ बालदिवाकरः ॥४१

उन्होंने यथाक्रम प्रेमपूर्वक एक-दूसरे का सत्कार किया ... लेकर अपने घर पहुंचे, जहाँ दिन का कृत्य सम्पन्न किया ॥३६॥ इसके पश्चात् वसिष्ठजी आदि मुनिजनों एवं महाराज दशरथ आदि सब राजाओं ने दिन के कृत्य सम्पन्न किये ॥३७॥ इस प्रकार उनके उस दिन से सम्बन्धित कर्म करने के पश्चात् गगन-पथिक भास्कर अस्त हो-गए ॥३८॥ महामति श्रीराम की ओर उन सब पुरुषों की कथा-वार्ता से जागते रहने के कारण वह रात्रि शीघ्र ही व्यतीत होगई ॥३९॥ उसके पश्चात् प्रातः काल हुआ, घर को बुहारी से स्वच्छ करने के समान अन्धकार रूपी पांसु तारागणरूपी पुष्प-राशियों से रहित संसार-

आत्मैव व्योमरूपोऽस्य निराकारो निराकृतिः ।
विनाऽऽकृतेर्वा व्योम्नोऽस्य किमाधारेण कारणम् ॥१३

न किंचिदेतत्संपन्नं सद्यथैतन्न संविदः ।
एतच्चित्किंचन नाम मन एव तथा स्थितम् ॥१४

दिक्कालाद्यचलं चिद्भानं चिद्भानमचलादिकम् ।
चिज्जलादि तथा बोधाच्चित्खं वाय्वादि तद्विदः ॥१५

संविदेव किल व्योम तिष्ठति व्योमतामिता ।
दृषत्तयाऽऽस्ते काठिन्याद् द्रवाज्जलमिव स्थिता ॥१६

वस्तुतस्तु न भूम्यादि किंचित्तन्न च दृश्यता ।
चिदाकाशमनन्तं तत्सर्वमेकं तदात्मकम् ॥१७

श्रीराम बोले—यह स्वप्नरूप जगत् निराकार और निराधार आकाश स्वरूप ही है। यह पृथिवी और पर्वत आदि कुछ भी सत्य नहीं है ॥१२॥ इसका स्वरूप निराकार और आकृतिहीन आकाशरूप आत्मा ही है। आकृति न होने के कारण इसका आधार भी क्या हो सकता है ॥१३॥ यह कुछ भी सम्पन्न नहीं हुए अतः संवित् के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। जगत् के आकार में चित् का स्फुरण स्वप्नवत् मन ही इस प्रकार से अवस्थित है ॥१४॥ दिशा, काल, पर्वत आदि सभी चिद्भान है, जल आदि चित् है तथा वायु आदि चिद्व्योम है ॥१५॥ संवित् ही आकाशत्व को पाकर आकाशरूप से अवस्थित है, काठिन्य रूप से पत्थर और द्रवत्व से जल के समान है ॥१६॥ यथार्थ में भूमि आदि कुछ भी नहीं है, इन सब रूपों में अनन्त चिदाकाश ही स्थित है ॥१७॥

द्रवत्वादम्बुवद्व्याब्धेर्नानावृत्तितया यथा ।
अनानैव भवेन्नाना चिद्व्योमाऽऽत्मनि वै तथा ॥१८

काठिन्यवेदनादुर्वी गिरितापागतेव चित् ।
शून्यतावेदनाच्छून्यं वेत्ति व्योमेव चिद्वपुः ॥१९

द्रवत्ववेदनाद्वेत्ति वारि स्पन्दतयाऽनिलम् ।
औष्ण्यसंवित्त्वतो वह्निमत्यजन्ती निजं वपुः ॥२०
एवंस्वभाव एवाऽयं चिद्धातुर्गगनात्मकः ।
यदेवं नाम कचति निष्कारणगुणक्रमम् ॥२१
न चैतद्व्यतिरेकेण किंचिन्नाऽपीह विद्यते ।
अन्यच्छून्यत्ववारिभ्यामृते खार्णवयोरिव ॥२२
ननु चिद्गगनादन्यन्न संभवति किंचन ।
इदं त्वमहमित्यादि तस्मादाशान्तमास्यताम् ॥२३

हृद्य वारिधि का जल एक होते हुए भी द्रव होने के कारण तरंग, फेन आवर्त आदि के आकार से अनेक प्रकार का होजाता है, उसी प्रकार चिदाकाश भी एक होकर अनेकत्व वाला होजाता है ॥१८॥ काठिन्यता के संकल्प से चित् ही पर्वतत्व को प्राप्त होती है। वह स्वयं में शून्यता के वेदन से अपने को आकाश के समान शून्य, द्रवत्व के वेदन से जल, स्पन्दन के वेदन से पवन और उष्णता के वेदन से तेज को जानती है ॥१९-२०॥ ऐसे स्वभाव वाला यह आकाशरूप चिद्धातु बिना कारक के, बिना गुण और क्रम के इस प्रकार स्फुरण को प्राप्त होता है। जगत् का तत्व उसके अतिरिक्त उसी प्रकार कुछ नहीं है, जिस प्रकार कि आकाश में शून्यता और समुद्र में जल के अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥२१॥ यह तुम और मैं इत्यादि वाला जगत् चिदाकाश से भिन्न नहीं है, क्योंकि उसके बिना तो कुछ संभव है ही नहीं। अतः आप पूर्ण शान्ति को प्राप्त हो जाइये ॥२२-२३॥

त्वं यथाऽस्मिन् गृहे कुर्वन्नाग्निशैलादिकां विदम् ।
तदेव पश्यस्यवपुरेवं चिद्गगनं तथा ॥२४
चिद्व्योम भाति देहाभं सर्गादौ न तु देहकः ।
अकारणत्वादसतश्चिदुदेतीति चिन्त्यताम् ॥२५
मनोबुद्धिरहंकारो भूतानि गिरयो दिशः ।
शिलाजठरवन्मौनमयं सर्वं यथास्थितम् ॥२६

में भेद करने वाले द्वैत का अस्त होगया। अब मेरा दृश्य-भेद का ज्ञान नष्ट होगया है, क्योंकि मैंने पूर्ण रूप से विचार-विमर्श करके सम्पूर्ण सांसारिक-आस्था का परित्याग कर दिया है ॥५२॥

---

## ११२—चित् में दृश्य का परिमार्जन

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
आदर्शो राजतेऽत्यर्थं पौनःपुन्येन मार्जितः ॥१
अर्थो वेदनसंकेतः शब्दो जलरवोपमः।
दृश्यमेतच्चिदाभानं स्वप्नवत्क्वाऽभवज्जगत् ॥२
जाग्रद्वै स्वप्नसंदृष्टा स्मरयात्म स्थित पुरः।
संविद्वेदनमात्रं सत्तदन्याकारवत्ततम् ॥३
यथाऽच्छं संविदाकाशे मयि स्वप्नपुरात्मकम्।
सरूपमपि नीरूपं तथेदं भुवनत्रयम् ॥४

वसिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो! मेरे इन परम वचनों को आप पुनः श्रवण कीजिए, क्योंकि बारम्बार मार्जन करने से दर्पण की शोभा बढ़ जाती है ॥१॥ यह अर्थ भ्रान्ति वेदन संकेतरूप होने के कारण जल के समान (निरर्थक ही) है क्योंकि अर्थ के परिमार्जन से ही शब्द का परिमार्जन होजाता है, इस प्रकार शब्द रूप दो अर्थ वाला दृश्य स्वप्न के समान ही चिदाभान है तो जगत् की यथार्थ में उत्पत्ति हुई ही कहाँ? ॥२॥ मिथ्या होने से जाग्रत ही स्वप्न में देखी हुई वस्तु बन जाती है और स्मरण के समान ही सम्मुख होती है, इसलिए संविद् ही वेदनमात्र होती हुई अन्य आकार के समान विस्तृत है, संविद् से पृथक् उसमें कुछ भी नहीं है ॥३॥ जिस प्रकार मुझ प्रत्येक चैतन्य रूप में स्वप्ननगरमय स्वच्छ संविदाकाश साकार होता हुआ भी आकार-रहित है, उसी प्रकार यह त्रिलोकी भी साकार होते हुए भी आकार-हीन ही है ॥४॥

संपन्नेयं कथं भूमिः संपन्ना गिरयः कथम् ।
कथं संपन्नमम्भश्च संपन्ना उपलाः कथम् ॥५
कथं च तेजः संपन्नं संपन्ना च कथं क्रिया ।
कथं च कालः संपन्नः संपन्नः पवनः कथम् ॥६
कथं च शून्यं संपन्नं संपन्नं चिन्नभः कथम् ।
इति ज्ञातं मया भूयो बोधाय वद मे प्रभो ॥७
ब्रूहि राघव तत्त्वेन स्वप्नदृष्टमहापुरे ।
संपन्ना भूः कथमिव संपन्नं कथमम्बरम् ॥८
कथं वारि च संपन्नं संपन्ना उपलाः कथम् ।
कथं च तेजः संपन्नं संपन्नाश्च कथं दिशः ॥९
संपन्नश्च कथं कालः संपन्नाश्च कथं क्रिया ।
कथमेतन्निमित्तादि सर्वं संपन्नमुच्यताम् ॥१०
केनेदं निर्मितं दग्धमानीतं रचितं चितम् ।
उत्पादितं प्रकटितं किमाचारं किमात्मकम् ॥११

श्रीराम ने कहा—हे मुने ! इस भूमि की सम्पन्नता चित् में किस प्रकार हुई ? पर्वत कैसे सम्पन्न हुए ? जल, पाषाण, तेज, क्रिया, काल और पवन यह सब कैसे सम्पन्न हुए ॥५-६॥ शून्य कैसे सम्पन्न हुआ ? चिदाकाश किस प्रकार सम्पन्न हुआ ? यह सब मैंने जान लिया है, फिर भी आप मेरे बोध की वृद्धि के लिए इस सब को पुनः कहने की कृपा करें ॥७॥ वसिष्ठजी बोले—हे राघव ! यह तो बताओ कि स्वप्न में दिखाई दिये हुए विशाल नगर में भूमि की सम्पन्नता कैसे होगई ? आकाश, जल, पाषाण, तेज, दिशाएँ, काल, क्रिया आदि सब के सम्पन्न होने का क्या कारण है ? यह मुझसे कहो । किसने इसे बनाया, किसने दग्ध किया, किसने उत्पादन किया, किसने प्रकट किया ? इसका आचार और स्वरूप क्या है ? ॥८-११॥

आत्माऽस्य केवलं व्योम न सद् भूम्यचलादिकम् ।
जगतः स्वप्नरूपस्य निराकारो निरास्पदः ॥१२

जो कुछ भी सुनने और जानने के योग्य शेष रह गया हो वह सब मुझे बताइये ।।४६-४७।।

राम संप्राप्त बुद्धिस्त्वं श्रोतव्यं ते न विद्यते ।
कृतकृत्या तवैषा धीः प्राप्तप्राप्या स्थिताऽऽत्मनि ।।४८

त्वमेव तावत्कथय प्रविचार्य धियाऽऽत्मना ।
कीदृशोऽद्य भवानन्तः किं शेषं श्राव्यमस्ति ते ।।४९
ब्रह्मन्नेवमहं मन्ये यथाऽहं कृतकृत्यधीः ।
निर्वाणोऽस्मि प्रशान्तोऽस्मि नाऽऽकाङ्क्षा मम विद्यते ।।५०

वक्तव्यमुक्तं भवता ज्ञातं ज्ञेयं मयाऽखिलम् ।
तव विश्रान्तिमायातु कृतकृत्या सरस्वती ।।५१
अधिगतमधिगम्यं ज्ञेयमाप्तं मयेदं
विगतमखिलमैक्यं द्वैतमस्तं प्रयातम् ।
परिगलितमशेषं दृश्यभेदावभानं
ननु निपुणमपास्ताऽशेषसंसारितास्था ।।५२

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! आपको बोध की प्राप्ति हो चुकी है, इसलिए अब आपके लिए सुनने के योग्य कुछ भी शेष नहीं रह गया है। आपकी बुद्धि पूर्णरूपेण कृतकृत्य हो चुकी है और प्राप्त करने योग्य वस्तु को पाकर आत्मा में अवस्थित होगई है ।।४८।। अब आप स्वयं ही विचार कर यह बताइये कि अपने अनुभव से आप अपने लिए कैसा मान रहे हैं और आपके लिए सुनने योग्य क्या शेष रह गया है ।।४९।। श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपकी मान्यता के अनुसार मैं भी अपने को कृतकृत्य ही समझ रहा हूं। मैं पूर्ण शान्त, आकांक्षा से रहित होकर निर्वाण को प्राप्त हो चुका हूं ।।५०।। जो कुछ कहने योग्य था, वह आपके द्वारा कहा जा चुका और मैं सभी जानने योग्य को जान चुका। अब आपकी कृतकृत्य हुई वाणी विश्राम प्राप्त करे ।।५१।। जानने योग्य तत्त्व को जान लेने से मुझे ज्ञातव्य वस्तु की प्राप्ति हो चुकी है। अखिल विश्व ऐक्य को प्राप्त हो चुका और जीव तथा ब्रह्म

एवं न किंचिदुत्पन्नं नष्टं न च न किंचन ।
यथास्थितं जगद्रूपं चिद्ब्रह्मात्मनि तिष्ठति ॥२७
चितौ यत्कचनं नाम स्वरूपप्रविजृम्भणम् ।
तदेतज्जगदित्युक्तं द्रव एव यथा यथा जलम् ॥२८
इदं जगद्भानमभानमेव
चिद्व्योम शून्यं परमार्थं एव ।
यथार्थसंदर्शनवुद्धवुद्धे-
रवुद्धवुद्धेस्तु यथा तथाऽस्तु ॥२९

जिस प्रकार आप इस गृह में स्वप्न एवं मनोरथ आदि से अग्नि और पर्वत आदि की बुद्धि के कारण अग्नि या पर्वत न होते हुए भी उन-उन पदार्थों को उस रूप में देखने लगते हो, उसी प्रकार निराकार चिदाकाश को जगत् के रूप में देखते हो ॥२४॥ सर्गारम्भ के समय चिदाकाश ही शरीर के समान ज्ञात होता है, यथार्थ में तो वैसा कुछ है ही नहीं। देह के न होने पर भी अकारण ही असत् से देह के आकार में चित् का उदय होता है, देह का नहीं होता, इस प्रकार विचार करना चाहिए ॥२५॥ मन, बुद्धि, अहंकार, पंचभूत, पर्वत, और दिशाएँ यह सभी शिलागर्भ के समान मौन एवं यथा-स्थित हैं ॥२६॥ इस प्रकार न तो कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ नष्ट ही हुआ है, यथा-स्थित यह जगदाकार चित् ब्रह्मात्मा में अवस्थित है ॥२७॥ जिस प्रकार जो द्रव है वही जल है, इन दोनों में भिन्नता नहीं है, उसी प्रकार चित् में स्फुरण नामक स्वरूप का जो विजृम्भण है, उसी को संसार कहते हैं ॥२८॥ जगत् का यह भान होना यथार्थ दृष्टि से अभान अर्थात् शून्य चिदाकाश ही है। यहाँ प्रबुद्ध बुद्धि वाले की दृष्टि ही यथार्थ है, अबुद्धि वाले मूर्ख के विचार से क्या लेना है ? ॥२९॥

---

## ११३—जगत् की स्थिति स्वप्न के समान

एवं यथैतज्जगवत्स्वप्ने दृश्यं परं नभः ।
तथैव जाग्रतोऽप्यत्र न चेत्संदेहजालिकाः ॥१

इदं मे भगवन्ब्रूहि महाप्रश्नमनुत्तमम् ।
कथं भवत्यदेहा चिज्जाग्रत्स्वप्ने सदेहवत् ॥२

दृश्यं जाग्रत्यथ स्वप्ने खाधारं खात्मकं खजम् ।
खं च नाऽन्यत्परं जातु संदेहोऽस्त्युपपत्तितः ॥३

समस्तकारणाकारप्रत्यस्तमयरूपिणि ।
सर्गादावेव भूतानि संभवन्ति न कानिचित् ॥४

पृथ्व्यादिनियतस्तेन देहोऽयं नास्ति किंचन ।
भूतान्येव किलैतानि देहस्तानि न सन्त्यलम् ॥५

श्रीराम बोले—हे ब्रह्मन् ! परमाकाश के स्वप्न में दिखाई देने के समान ही जाग्रतावस्था में भी यह साकार होता है यदि इस विषय में कोई शंका नहीं है तो मेरे इस उत्तम प्रश्न को बताने का कष्ट करिये। अशरीर चित् जागरणात्मक स्वप्न में सशरीर के समान कैसे होती है ॥१-२॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! यह दृश्य जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में हेतु-रहित आकाश से उत्पन्न होता है, इसलिए शून्याधार का शून्यत्व ही सिद्ध करना होगा और शून्य परमब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अतः ब्रह्म के अद्वैतत्व में किसी संदेह की उत्पत्ति नहीं होती ॥३॥ सभी कारणों के आकार के अस्तात्मक सर्गादि में किसी भूत की उत्पत्ति नहीं होती ॥४॥ इसलिए पृथिवी आदि की सत्ता से उत्पन्न यह देह कुछ भी नहीं है। जो देह हैं, वे सब भूत ही हैं और उन भूतों का अस्तित्व है ही नहीं ॥५॥

तेन स्वप्नवदाभासमिदं पश्यति चिन्नभः ।
स्वरूपमात्रकचनमाकारवदिवाऽऽकुलम् ॥६

भानमाभानमात्रत्वमिदं यत्तच्चिदात्मना ।
नभसा स्वप्नशब्देन कथ्यते जगदाकृतिः ॥७

यदेतद्वेदनं नाम चिद्व्योम्नो व्योमनिर्मलम् ।
एतदन्तश्चितो रूपं स्वप्नो जगदिति स्थितम् ॥८

काश्चिद्वातात्मभूतौघाः काश्चिन्नित्यं तमोघराः ।
व्योमसंस्थानकाः काश्चित्काश्चित्क्रमिकुलाकुलाः ॥१५

काश्चिदाकाशकोशस्थाः काश्चिच्चोपलकोशगाः ।
काश्चित्सकुण्डकोशस्थाः काश्चित्खे खगवत्स्थिताः ॥१६

तासां मध्ये यथा हीदं ब्रह्माण्डं यादृशं स्थितम् ।
अस्माकं भगवंस्तन्मे ब्रूहि तत्वविदां वर ॥१७

श्रीराम बोले—हे भगवन् ! आपने पहिले करोड़ों प्रकार की जिन सृष्टियों का वर्णन किया है, उनमें से कुछ ब्रह्माण्डकोश में और कुछ उससे पृथक् अर्थात् मन आदि में अवस्थित हैं। कुछ महीकोश में, कुछ आकाश कोश में कुछ तेजकोश में और कुछ पवनकोश में स्थित हैं ॥१२-१३॥ आकाश में स्थित भूपीठों में निवास करने वाले कुछ ऊर्ध्व और अधोभाग में स्थित भूलोक से चींटियों के समान लगे हुए देवता, असुर आदि 'हम ही ऊँचे हैं' इस प्रकार मानते हैं। क्योंकि उन्हें पृथिवी के निचले भाग के लोग भूमि के मूलाकाश से ऊपर की ओर पांव और नीचे की ओर सिर वाले दिखाई देते हैं। इस प्रकार उन लोकों में मूल ऊपर और शाखा-शिखर नीचे होने के कारण वन और गिरि लटकते हुए-से प्रतीत होते हैं ॥१४॥ कुछ पवनात्मक जीवों से सम्पन्न हैं, कुछ निरन्तर अंधकार से युक्त रहने वाले हैं, कुछ आकाशात्मक शरीरधारियों से और कुछ गूलर में व्याप्त करोड़ों कीटों से परिपूर्ण हैं ॥१५॥ कुछ आकाशकोश मे, कुछ शिलागर्भ में, कुछ सकुण्डकोश में, कुछ मण्डप कोश में और कुछ आकाश में विहगों के समान रहते हैं ॥१६॥ हे भगवन् ! आप तत्वज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं, आप मुझे यह बताइये कि हमको आश्रय देने वाला यह ब्रह्माण्ड कैसा और किस प्रकार स्थित है ॥१७॥

यदपूर्वमदृष्टं वा नाऽनुभूतं न वा श्रुतम् ।
तद्वर्ण्यते सुदृष्टान्तैर्गृह्यते च तदूह्यते ॥१८

इदं तु राम ब्रह्माण्डमागमैर्मुनिभिः सुरैः ।
शतशो वर्णितं तच्च ज्ञातमेतत्त्वयाऽखिलम् ॥१९

यथेदं भवता ज्ञातमागमैर्वर्णितं यथा ।
स्थितं तदेतदखिलं किमन्यदिह वर्ण्यते ॥२०

कथमेतद्‌इदं ब्रह्मन्संपन्नं चिन्महानभः ।
कियत्प्रमाणमेतद्वा कितत्कालं च वा स्थितम् ॥२१

अनादिनिधनं ब्रह्म नित्यमस्त्येतदव्ययम् ।
आदिमध्यान्तता नास्ति नाऽकाराः परमाम्बरे ॥२२

ब्रह्माकाशमनाद्यन्तमेतदव्ययमाततम् ।
एतन्मयमिदं विश्वं विष्वगाद्यन्तवर्जितम् ॥२३

परमस्याऽस्य चिद्व्योम्नः स्वयं यद्भानमात्मनि ।
तदेतद्विश्वमित्युक्तं स्वयं तेनैव तन्मृषा ॥२४

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! जो वस्तु अपूर्व, अदृष्ट, अननुभूत, अश्रुत तथा अनुमान और शब्द से परे हो, उसका प्रतिपादन ही गुरु द्वारा सुन्दर दृष्टान्तादि से किया जाता है और शिष्य द्वारा भी उसी का मनन और ग्रहण किया जाता है ॥१८॥ हे राम ! इस ब्रह्माण्ड का आगमों ने, मुनियों ने और देवताओं ने सैकड़ों प्रकार से वर्णन किया है । यह ऐसा नहीं है कि पहिले न कहा गया हो और आप तो इस विषय में जानते ही हैं ॥१९॥ जिस प्रकार का आपको ज्ञात है तथा जैसा कि आगमों ने बताया है, यह अब भी वैसे का वैसा ही अवस्थित है तो फिर क्या वर्णन किया जाय ? ॥२०॥ श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! चिन्महाव्योम ऐसा कैसे बन गया ? इसका परिमाण कितना है ? और यह कितने समय तक स्थित रहेगा, यह मेरे प्रति कहिये ॥२१॥ वसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! यह ब्रह्म आदि-अन्त से रहित, नित्य और अविनाशी है, क्योंकि परमाकाश में आदिता, मध्यता, अन्तता अथवा आकारता का नितान्त अभाव है ॥२२॥ यह ब्रह्माकाश अनादि, अनन्त, अव्यय, और सर्वव्यापी है, इसलिए ब्रह्माकाशमय आदि-अन्त से शून्य

यह संसार सब ओर विस्तृत है ।।२३।। इस परम चिद्व्योम का अपने आत्मा में जो स्वयं भान होता है, उसे उसने ही स्वयं विश्व कहा है, जोकि मिथ्या है ।।२४।।

पुरुषस्य यथा स्वप्नपुरसंदर्शनं तथा ।
तत्तस्य भानं पुरवत्तदिदं विश्वमुच्यते ।।२५
कठिना नेह गिरयो न द्रवाणि जलानि च ।
न शून्यमेतदाकाशं कालो न कलनात्मकः ।।२६
यद्यथा चाऽग्रयं यत्र स्वतः सचेतितं चिता ।
तत्तथा तत्र चित्तत्त्वे अलं शैलादिवत्स्थितम् ।।२७
अशिलेव शिला स्वप्ने नभ एवाऽनभो यथा ।
भवेत्तथेह सर्गादिस्वप्ने दृश्यस्थितिश्चितौ ।।२८
अनाकारैव चिच्छान्ता स्वप्नवद्यत्स्वचेतनम् ।
वेत्ति तज्जगदित्युक्तं तच्चाऽनाकारमेव सत् ।।२९
वायोः स्पन्दो यथाऽन्तस्थो वात एव निरन्तरः ।
तथेदं ब्रह्मणि ब्रह्म न चोदेति न शाम्यति ।।३०

जैसे पुरुष स्वप्न में नगर देखता है, उसी के समान जो उसका भान है, वही विश्व कहा गया है ।।२५।। यहाँ न तो काठिन्ययुक्त गिरि हैं, न द्रवत्वमय जल है, न शून्यात्मक आकाश है और न सभी का कलेवा कर लेने वाला काल ही है ।।२६।। चित् द्वारा जहाँ, जिस प्रकार चिन्तन किया गया, वहाँ, उस प्रकार का ही पर्वत, नदी आदि रूप में वह चित्तत्व में स्थित होगया ।।२७।। जैसे शिला न होते हुए भी स्वप्न में शिला होजाती है, आकाश न होते हुए भी आकाश बन जाता है, वैसे ही यहाँ के सर्गादि आकार स्वप्न में, चेतन में आकार की स्थिति हुई समझो ।।२८।। आकार-रहित शान्त चित् अपने जिस स्फुरण को स्वप्नवत् जानती है, उसी को जगत् कहते हैं, इसलिए चिद्रूप जगत् आकारहीन ही है, यह मैंने सैकड़ों बार कहा है ।।२९।। जैसे पवन में स्थित स्पन्द भी पवन मात्र ही है, वैसे ही ब्रह्म में स्थित यह ब्रह्म ही है, जिसका न कभी उदय होता है, और न अस्त ही होता है ।।३०।।

द्रवत्वमम्भासि यथा शून्यत्वं नभसो यथा ।
यथा वस्तुनि वस्तुत्वं ब्रह्मणीदं जगत्तथा ॥३१
न प्रयात न वा यातमकारणमकारणात् ।
न च नास्ति न वाऽस्तीदं भिन्नं ब्रह्मपदे जगत् ॥३२
न चाऽनादि निराभासं निराकारं चिदम्बरम् ।
दृशः कारणमन्यस्याः क्वचिद्भवितुमर्हति ॥३३
तस्यमाद्ययाऽवयविनोऽवयवाः स्वात्ममात्रकाः ।
तथाऽनवयवे ब्रह्मव्योम्नि व्योम जगत्स्थितम् ॥३४
सर्वं शान्तं निरालम्बं ज्ञप्तिमात्रमनामयम् ।
नेह सत्ता न वाऽसत्ता न च नानाऽस्ति किञ्चन ॥३५
संकल्पस्वप्ननगरवृत्तवत्सर्वमाततम् ।
स्थितमेव समं शान्तमाकाशमजमव्ययम् ॥३६
परमचिदम्बरहृदयं
चित्त्वाद्यत्कचति कान्तममलमलम् ।
तदिदं जगदिति कलितं
तेनैव तदात्मरूपमाकल्पम् ॥३७

जिस प्रकार जल में द्रवत्व है, आकाश में शून्यत्व है और पदार्थ में पदार्थत्व है, उसी प्रकार ब्रह्म में इस विश्व की स्थिति है ॥३१॥ न यह प्रलय-काल में विलीन होता है और न सर्ग-काल में संसार के कारण-रहित ब्रह्म से अकारण उत्पन्न ही हुआ है। ब्रह्मपद में यह संसार न तो अभिन्न है और न भिन्न ही है ॥३२॥ आदि-रहित, आभास-हीन और आकार-शून्य चिदाकाश अपने से भिन्न सर्ग दृष्टि का कारण कभी नहीं बन सकता ॥३३॥ जिस प्रकार अवयवी के अवयव स्वात्म-मात्र होने के कारण उससे भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार अवयव-हीन ब्रह्माकाश में जगदाकाश स्थित है, वह उससे पृथक् नहीं हो सकता ॥३४॥ यह जो कुछ दिखाई देता है, वह सब शान्त, निरालम्ब, अनामय ज्ञानमात्र ही है। उसमें जगत् की सत्ता या असत्ता अथवा कुछ भी

भेद नहीं है। 'नेहनानास्तिकिंचन' अर्थात् नानात्व किंचित् भी नहीं; यह श्रुति इसका अनुमोदन करती है ॥३५॥ यह सभी कुछ संकल्प से उत्पन्न स्वप्ननगर के समान है, यथार्थ में तो यह सम, शान्त, अज एवं अव्यय आकाश ही स्थित है ॥३६॥ परम चिदाकाश का निर्मल, उज्वल, सारभूत रूप ही चित्स्वभाव होने से भ्रम के कारण जिस-जिस आकार में विकास को प्राप्त होता, अपने द्वारा कल्पित उसी आत्मस्वरूप को वह चिदाकाश ही जगद्रूप से जानता है, किसी अन्य को नहीं जानता ॥३७॥

---

## ११४—कुशद्वीपेश्वर का समाधान

यदकारणकं भाति भानं तन्नैव किंचन ।
तत्तथा परमार्थेन परमार्थः स्थितोऽनघ ॥१
अत्रेमं केनचित्पृष्ठोऽयमहं तं महामते ।
सम्यग्बोधस्य पुष्ट्यर्थं महाप्रश्नं परं शृणु ॥२
अस्त्यब्धिभ्यामुभयतो व्याप्तं ख्यातं जगत्त्रये ।
कुशद्वीपमिति द्वीपं भूमौ वलयवत्स्थितम् ॥३
तत्राऽस्तीलावती नाम हैमी पूर्वोत्तरे पुरी ।
दीप्तिज्वालामयस्तम्भप्रोतावनिनभस्तला ॥४
पूर्वं तस्यामभूद्राजा प्रज्ञप्तिरिति विश्रुतः ।
अनुरक्तजगद्भूतः शक्रः स्वर्ग इवाऽपरः ॥५
केनचित्कारणेनाऽहं कदाचित्तस्य भूपतेः ।
प्राप्तः समीपं नभसः प्रलयार्क इव च्युतः ॥६
पुष्पार्घ्याचमनीयैर्मां पूजयित्वोपविश्य सः ।
मध्ये कथायां कस्यांचिदपृच्छत्प्रणयादिदम् ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! हे अनघ अकारण जिस जगत् का भान होता है, वह कुछ भी नहीं है, परमार्थतः तो परमार्थभूत ब्रह्म ही इस

रूप में स्थित है ॥१॥ हे महामते ! किसी समय किसी ने मुझसे जो पूछा, उस विषय में सम्यग् बोध की पुष्टि के लिए पूछे गये उस प्रश्न को सुनिये ॥२॥ सुरोदक और घृतोदक नामक महासमुद्रों से दोनों ओर से वलय के समान, पृथिवी पर स्थित कुशद्वीप नामक द्वीप तीनों लोकों में विख्यात है ॥३॥ उसके पूर्व और उत्तर के मध्य में इलावती नाम की एक स्वर्णिम नगरी है, जिसमें प्रकाश-युक्त ज्वालावली के स्तम्भों से पृथिवी-आकाश गुंथे हैं ॥४॥ उस नगरी के पूर्व भाग में प्रज्ञप्ति नामक एक भूपाल हुआ। संसार के सब जीव उसमें अनुराग रखते थे, वह स्वर्ग में इन्द्र के समान ही दूसरा इन्द्र था ॥५॥ किसी एक समय मैं प्रलयकाल में आकाश से गिरते हुए सूर्य के समान उस राजा के पास जा पहुँचा ॥६॥ उसने उठ कर पुष्प, अर्घ्य और आचमनादि द्वारा मेरा पूजन किया और किसी कथा के प्रसंग में उसने मुझसे विनय पूर्वक प्रश्न किया ॥७॥

भगवन्सर्वसंहारे जाते शून्यतते स्थिते ।
अवाच्ये परमे व्योम्नि सर्वकारणसंक्षये ॥८
सर्गारम्भस्य भूयः स्याद्वद किं मूलकारणम् ।
कानि वा सहकारीणि कारणानि कुतः कथम् ॥९
किं जगत्किं च सर्गादि काश्चिन्नित्यं तमोधराः ।
व्योमसंस्थार्णवाः काश्चित्काश्चित्कृमिकुलाकुलाः ॥१०
काश्चिदाकाशकोशस्थाः काश्चिच्चोपलकोशगाः ।
किंच वा भूतभूतादि कुतो बुद्ध्यादयः कथम् ॥११
कः कर्ता कोऽथवा द्रष्टा काऽऽधाराधेयता कथम् ।
न कदाचिन्महानाशो जगतामिति निश्चयः ॥१२
समस्तवेदशास्त्रार्थाविरोधाय समर्थितः ।
यथा सवेदनं नाम तथा नामाऽनुभूतयः ॥१३
यतस्ततो वेदनं स्यात्किमनाशमसन्मयम् ।
अन्यच्च जम्बूद्वीपादौ देशेऽद्य मुनिनायकः ॥१४

मृतानामग्निदग्धानामिह वा देहनाशिनाम् ।
नरकस्वर्गभोगाय विदेहे देहकारणम् ॥१५

हे भगवन् ! सम्पूर्ण जगत् का संहार होने और शून्य रूप में स्थित होजाने पर अवाच्य परमाकाश में सर्गारम्भ का मूल कारण कौन हुआ ? वे कारण कहाँ से, किस प्रकार हुए ॥८-९॥ जगत् क्या है ? सर्ग से प्रलय पर्यन्त के विकार क्या हैं ? उसमें अंधकार से आच्छादित भूमियाँ, आकाश में स्थित ब्रह्मलोक आदि, कृमि आदि से भरी नरक भूमियाँ, आकाशकोश में स्थित लोक, उपलकोश में स्थित पृथिवियाँ, पंचभूत और उनमें स्थित जीव और उनके बुद्धि आदि पदार्थ क्या एवं कैसे हैं ? ॥१०-११॥ इनका कर्त्ता और द्रष्टा कौन है ? इनकी आधार-आधेयता क्या है ? इस जगत् का कभी महा प्रलय नहीं होता यदि ऐसा निश्चय करें तो संवेदन के अनुसार ही अनुभूतियाँ होंगी, इसे देहादि का कारण कहें या कुछ अन्य ? ॥१२-१३॥ वह संवेदन स्थायी है या नाशवान ? यदि नाशवान् है तो उसका कारण क्या है ? हे मुनि-नायक ! आज जम्बूद्वीप आदि देश में मरण को प्राप्त हुए और अग्नि में दग्ध किये गये देहनाश वाले प्राणियों के नरक-स्वर्ग रूपी भोग के लिए देह के कारण कौन होंगे ? ॥१४-१५॥

किं तस्यास्सहकारीणि कारणान्यथ कानि वा ।
धर्माधर्मावमूर्तौ द्वौ तस्याऽमूर्तस्य मूर्तता ॥१६

निर्द्रव्यं कुरुते द्रव्यैर्युक्तिरित्यसमञ्जसा ।
मातापित्राद्यभावो हि वीजं किं तत्र कारणम् ॥१७
अन्ये वा हेतवः के स्युः कथं द्रव्यादिसंभवः ।
परलोकोऽस्य नास्तीति यथासंवेदनं स्थितेः ॥१८

समस्तलोकवेदादिविरोधाच्चाऽसमञ्जसम् ।
अनिच्छितेहितेर्दूरदेशान्तरगतैः फलम् ॥१९

प्रजा प्राप्नोत्यसंबन्धैरमूर्तैरत्र कः क्रमः ।
स्तम्भो वरेण सौवर्णो विना हेमगमागमैः ॥२०

क्षणात्संपद्यते तत्र संपत्तिः कथमुच्यताम् ।
विधीनां प्रतिषेधानां निर्निमित्तं विवल्गताम् ।
रूढानामप्यरूढानां किं प्रयोजनमुच्यताम् ॥२१
असदासीज्जगत्पूर्वं सत्संपन्नमनन्तरम् ।
इति श्रुतेः कथं ब्रह्मन्कथ्यतां संगतार्थता ॥२२

हे मुने ! तब क्या धर्म-अधर्म ही देह रूप से मूर्त्त हो जायेंगे ? उन दोनों के अमूर्त्त होने से मूर्त्तता संभव नहीं है ? ॥१६॥ अद्रव्य ही धर्म-अधर्म के द्वारा शरीर आदि को बनाते हैं, यह मुक्ति सामञ्जस-युक्त नहीं है । माता-पिता का अभाव होने पर उपादान कारण और निमित्त कारण क्या होंगे ? द्रव्य आदि की उत्पत्ति का क्या कारण है ? धर्म अधर्म करने वाले के लिए परलोक न होने की बात कहना भी उचित नहीं है, बल्कि जन्म संवेदन के अनुमार ही स्थित है ॥१७-१८॥ समस्त लोक और वेदादि के विरोध से भी न होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि राजाज्ञा आदि से प्रजाजन जो स्वेच्छा चेष्टा आदि से अगोचर हैं, वे दंड रूप में मृत्यु या बंधन प्राप्त करते हैं, इसमें क्या क्रम है ? जहाँ कोई लोहे आदि का स्तम्भ, बिना कहीं जाये-आये केवल वरदान से क्षणभर में स्वर्ण का होजाता है, उसका कारण बताइये ? विधि प्रतिषेधरूपी शास्त्रों का, किसी के द्वारा अनुष्ठान न होने से अप्रसिद्ध का क्या प्रयोजन हो सकता है, यह भी कहिये ॥१६-२१॥ पहिले जो असद् था, वह जगत् पीछे सत् हुआ अथवा पहिले यह सत् ही था, या यह कभी न असत् था, न सत् था ऐसा जो परस्पर अन्तर है, वह एक वाक्यार्थक कैसे मान लिया गया यह बताने की कृपा करिये ॥२२॥

अयं भवेत्कथं ब्रह्मा भवेच्चेत्तन्महामुने ।
एवंप्रभावान्नभसः किं सर्वस्मान्न जायते ॥२३
ओषधीनामथार्थानां सर्वेषां वा स्थितिं गताः ।
कथं स्वभावाः कथय यथाबोधं मुनीश्वर ॥२४
एकस्य जीवितं पुंसः सुहृदा मरणं द्विषा ।
मृत्वार्थितं प्रयागादौ क्षेत्रे तत्कथमुच्यताम् ॥२५

खे स्यामक्षयपूर्णेन्दुरिति ध्यायिचितैः फलैः ।
तुल्यकालमनुप्राप्तैः सहस्रेन्दु न किं नभः ॥२६

अन्यच्च ध्यायिनां लक्षैर्ध्यातैका स्त्री यथाक्रमम् ।
जायात्वेन समं कालं लब्धं ध्यानफलं च तैः ॥२७

साध्व्यसाध्वी गृहे भर्तुः संस्थिता तपसा परा ।
तेषां च जाया संपन्ना कथमेतन्महामुने ॥२८

गृहानिर्गच्छमाकल्पं नृपः स द्वीपसप्तके ।
वरत्वं वरशापाभ्यामिति अन्तः क्व तिष्ठति ॥२९

हे महामुने ! सर्गारम्भ में शून्य आकाश से यह ब्रह्मा किस प्रकार होगा ? यदि इसे आकाश का प्रभाव मानें तो सब प्रदेशों में ही आकाश से ब्रह्मा क्यों नहीं उत्पन्न हो जाते ? ॥२३॥ हे मुनीश्वर ! औषधियों के अपने बीज आदि से उत्पन्न होने के स्वभाव के अनुसार सब वस्तुओं की उत्पत्ति के स्वभाव कैसे स्थित हैं ? यह मुझे बताइये ॥२४॥ हे मुने ! जब एक ही पुरुष के मित्र ने प्रयागादि काम्यप्रद क्षेत्र में उसके जीवन की कामना कर मृत्यु का वरण किया और उसी के शत्रु ने उसी क्षेत्र में मरते हुए, उसकी मरण-कामना की तो दोनों के परस्पर विरोधी फल एक ही पुरुष के लिए कैसे फलित होंगे, यह बताइये ॥२५॥ एक समय में ही 'मैं आकाश में पूर्ण चन्द्र होजाऊं' इस चन्द्रत्व के प्राप्त कराने वाली इच्छायुक्त ध्यान वाले अनेक उपासकों के द्वारा प्राप्तिरूपी फलों के कारण आकाश एक साथ ही बहुत-से चन्द्रमाओं से सम्पन्न क्यों नहीं होजाता ? ॥२६॥ अथवा एक स्त्री को ही अपनी पत्नी के रूप में प्राप्त करने की इच्छा से जब लाखों पुरुषों ने उसका ध्यान किया, तब उसके फलस्वरूप उन सभी पुरुषों को एक ही स्त्री विभिन्न स्थानों में एक समय ही कैसे प्राप्त होगई ? ॥२७॥ हे महामुने ! वह एक ही नारी अपने तप से ब्रह्मचारिणी और प्रत्येक पति के घर में रहती हुई उस पति के प्रति साध्वी होती हुई भी, बहुत पुरुषों की भोग्य होने से असाध्वी किस प्रकार हुई तथा वह एक ही उन सबकी पत्नी कैसे —

सकी, यह मुझे बताइये ॥२८॥ हे ब्रह्मन् ! मैं कल्पपर्यन्त सात द्वीपों का अधीश्वर होकर भी घर से बाहर कभी न निकलूं और घर में ही रहा आऊं यह संभव नहीं है। किसी के वरदान और अभिशाप आदि के फल द्वारा विभिन्न स्थानों पर जाना भी होगा, तो वरदान या अभिशाप के भोग की प्राप्ति किस प्रकार होगी ? ॥२६॥

दानधर्मादितपसा यौर्ध्वदेहिककर्मणाम् ।
इहस्थानाममूर्तानां मूर्तं प्रीत्याऽस्ति सत्फलम् ॥३०
व्यवहर्ता न मूर्तोऽत्र विद्यते लोकयोर्द्वयोः ।
देशान्तरे भृशं जीवो भृशं कालान्तरेऽपि वा ॥३१
फलं संभवतीयत्तद्विनाऽनुभवनं मुने ।
असमञ्जसमेवाऽति कथं स्यात्सुसमञ्जसम् ॥३२
इत्यादिसंशयगणं गिरा शीतावदातया ।
छिन्धिमेऽभ्युदितं भासा सान्ध्यमान्ध्यमिवोडुपः ॥३३
शृणु राजन्यथा स्पष्टमेतत्ते कथयाम्यहम् ।
येन ते सर्वसंदेहा यास्यन्त्यलममूलताम् ॥३४
सर्वे तावज्जगद्भावा असद्रूपाः सदैव हि ।
सद्रूपाश्च सदैवेमे यथासंवेदनं स्थिताः ॥३५
इदमित्थमिति प्रोता यत्र संवित्तदेव तत् ।
भवत्यवश्यं तत्त्वज्ञ सदेवाऽस्त्वसदेव वा ॥३६
ईदृक्स्वभावा संवित्तिस्तया देहो विभाव्यते ।
एक एव स्वरूपेण तस्यास्तेन च तद्विदा ॥३७

दान, धर्म, ऊर्ध्वदैहिक कर्म आदि की जहाँ अदृष्ट क्रिया होती है, वहीं उसकी उत्पन्नता है तो यहाँ की जाने वाली क्रिया का फल उस परलोक में, जहाँ उक्त क्रिया की उत्पत्ति ही नहीं है, किस प्रकार होना संभव है ? और यह कहें कि अदृष्ट मूर्त्त शरीरादि में प्राप्ति की उत्पत्ति से सफलता है तो परलोक स्थित शरीर में अदृष्ट का अस्तित्व ही कहाँ है ? ॥३०॥ यदि कहें कि उसमें और व्यवहार करने वाले प्राणी में

समवाय सम्बन्ध से उसका अदृष्ट अपने भोग स्थान पर है तो यह कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि इहलोक के मूर्त्त पदार्थ परलोक या भिन्न काल में रह ही नहीं सकते ॥३१-३२॥ इत्यादि संशयों का समाधान किस प्रकार होगा ? इस सबको अपनी स्वच्छ वाणी से उसी प्रकार काट दीजिए, जिस प्रकार कि सायंकालीन अंधकार को चन्द्रमा अपनी शीतल और स्वच्छ कान्ति से छिन्न कर देता है ॥३३॥ वसिष्ठजी बोले—हे राजन् ! मैं तुम्हारे प्रति आत्मतत्व को स्पष्ट रूप से कहता हूँ उसे सुनो, इसके द्वारा तुम्हारे सब संशय नष्ट होजायंगे ॥३४॥ जगत् के सब पदार्थ सदैव असद्रूप हैं और सद्रूप भी हैं, क्योंकि यह संवेदन के अनुसार ही स्थित रहते हैं ॥३५॥ यह इस प्रकार का पदार्थ है, ऐसे निश्चय से ही संवित् व्याप्त है, उसका वही अंग होता है। इसके असत् या सत् होने के विषय में कोई विशिष्टता नहीं है ॥३६॥ संवित् का यही स्वभाव है, शरीर के द्वारा ही संवित् अभिव्यक्त होती है, इस प्रकार भोग के निमित्त शरीर के उत्पन्न करने वाले माता-पिता आदि से कौन उपादान है और कौन निमित्त है ? इसके द्वारा इसका समाधान हुआ ॥३७॥

विदमेव विदुर्देहं स्वप्नादावितरेतरा।
संवित्काचित्संभवति नचाऽन्याऽस्ति शरीरता ॥३८

आश्रितस्वप्नसंदर्शस्तथेदं भासते जगत्।
समस्तकारणाभावात्सर्गादावन्यतात्र का ॥३९

एवं यदेव विमलं वेदनं ब्रह्मसंज्ञितम्।
तदेवेदं जगद्भाति तत्केव जगतोऽन्यता ॥४०

एवं पूर्वापरं शुद्धमविकार्यंजगत्स्थितेः।
लोकवेदमहाशास्त्रैरनुभूतमुदाहृतम् ॥४१

अपलाप्यैव ये मूढा अन्धकूपकभेकवत्।
समस्तभूतसंवित्तौ रूढ़पूर्णं महात्मभिः ॥४२

वर्तमानानुभवनमात्रमोहप्रमाणका:।
शरीरकारणा संविदिति मोहमुपागता: ।।४३
उन्मत्ता एव तेऽज्ञास्ते योग्या नाऽस्मत्कथासु ते ।
अक्षीबक्षीवयोर्मूढबुद्धयो: कैव संकथा ।।४४

इसीलिए स्वप्न और जाग्रत् में शरीर का आत्मरूप में अनुभव करते हैं, इस प्रकार भ्रान्तिरूपी संवित् ही शरीरता है, उससे अन्य नहीं है ।।३८।। सर्गारम्भ मे सब कारणों का अभाव होने से आश्रणीय स्वप्न-द्रष्टा संविदात्मा ही जगत्-रूप में भासमान है, इस अवस्था में इस संसार में स्वप्नवैधर्म्य रूपी भिन्नता कौन हो सकती है ? ।।३९।। इस प्रकार ब्रह्म संज्ञक विमल संवेदन ही इस जगत्-रूप में भासित है, इसलिए इस जगत् में ब्रह्म से भिन्नता ही कैसी है ? ।।४०।। इस प्रकार पूर्व और अपर सदैव शुद्ध, विकार रहित ब्रह्म के जगत्-रूप में स्थित होने से जगत् ब्रह्म ही है, लोक, वेद, महाशास्त्र रूपी प्रमाणों से अनुभव करके ही हम यहाँ ऐसा कह रहे हैं ।।४१।। यह जगत् संवित्मात्र है, यह धारणा सब प्राणियों की बुद्धि में जड़ जमाए हुए एवं दृढ़ अनुभव से भी सिद्ध है। तो भी जगत् के नित्य संवित्मात्र होने का प्रलाप करते हुए जो मूढ़ पुरुष अन्धे-कूप के मेंढक के समान नाम-रूप के अनुभव को ही प्रमाण मान कर अनित्य संवित्, जिसका कारण देह है, वह जड़ उपादान और जड़ात्मा को गुण मानते हुए मोह में फँसे अज्ञानीजन उन्मत्त हैं। वे इस ज्ञान कथा में भाग लेने के सर्वथा अयोग्य हैं। क्योंकि ठीक मस्तिष्क वालों और उन्मत्तों अथवा ज्ञानियों एवं मूर्खों के मध्य में चर्चा ही कैसी ? ।।४२-४४।।

यया विपश्चित्कथता सर्वसंशयसंक्षय: ।
न भवेत् त्रिषु लोकेषु ज्ञेया मूर्खकथैव सा ।।४५
प्रत्यक्षमात्रनिष्ठोऽसौ मूढास्थ इति वक्ति यत् ।
तेन नियुक्तिनोक्तेन शिलासदृशवृत्तिना ।।४६
प्रोक्ता सर्वविरुद्धेन सोऽज्ञ: कूपान्धदर्दुर: ।
पूर्वापरधियं त्यक्त्वा वर्तमाने मतिस्थित: ।।४७

वेदा लोकादयश्च ते पृष्टाः स्वानुभवान्विताम् ।
वदन्तीमां दृशं सर्वे यथा नश्यन्ति संशयाः ।।४८

संविदेव शरीरं चेच्छवं कस्मान्न चेतति ।
इति यस्य मतिस्तस्मै मूढायेदमिहोच्यते ।।४६
ब्रह्मणो ब्रह्मरूपस्य संकल्पनगरं ततम् ।
इदं तावज्जगद्भानं तव स्वप्नपुरं यथा ।।५०

जिस विद्वान् कहे जाने वाले पुरुष के उपदेशों से सब संशय दूर न हो सकें, वह इहलोक तथा परलोक में भी मूर्ख की कथा मात्र ही जाननी चाहिए ।।४५।। जो मूर्ख यह कहे कि यह प्रपंच प्रत्यक्ष प्रमाण वाला है, इसलिए श्रुति आदि द्वारा सिद्ध जगत् का ग्रहण करना उचित नहीं, वह अपने ही युक्तिहीन सर्वमत के विरुद्ध और अभिज्ञजनों के लिए कर्णकटु एवं पाषाण-वत् कठोर वचनों द्वारा विद्वज्जनों द्वारा अंधकूप का मेंढक एवं अज्ञानी माना गया है। क्योंकि वह विचार बुद्धि को छोड़ कर प्रत्यक्ष प्रमाण में विश्वास बुद्धि से ही पशु के समान स्थित है ।।४६-४७।। वेद एवं तत्वज्ञानी पुरुष, प्रश्न करने पर मेरे ही समान दृष्टि का संशय नाशक रूप से प्रतिपादन करने में समर्थ होते हैं ।।४८।। यदि प्रत्यगात्म संवित् को ही शरीरादि जगत् मान लें तो मृतदेह भी संवित् होने से चैतन्य क्यों नहीं रहता ? जिस मूढ़ श्रोता की इस प्रकार की शंका है, उसके लिए यहाँ हम कहते हैं ।।४६।। जिस प्रकार तुम्हारा स्वप्ननगर है, उसी प्रकार यह जगत् भी ब्रह्मरूपी परब्रह्म का स्वप्ननगर ही है ।।५०।।

तत्समस्तं सदेवेदं चिन्मात्रात्म निरन्तरम् ।
भवत्यत्र न ते भ्रान्तिः स्वे स्वप्ननगरे यथा ।।५१

तत्र तावद्दिशः शैलाः पृथ्व्यादिनगरादि च ।
सर्वं चिन्मयमाकाशमिति ते स्वानुभूतिमत् । ५२
संविद्व्योमघनं ब्रह्म तत्सांकल्पपुरं विराट् ।
शुद्धसंविन्मयो ब्रह्मा तदिदं जगदुच्यते ।।५३

ब्राह्मे संकल्पनगरे यद्यत्संकल्पितं यथा।
तथाऽनुभूयते तत्तत्त्वत्संकल्पपुरे यथा ॥५४

संकल्पनगरे यद्यद्यथा संकल्प्यते तथा।
तत्तथाऽस्त्येव च तदा त्वत्संकल्पपुरे यथा ॥५५

तस्माद्देहस्य नियतौ यथैतौ ब्रह्मणा चिता।
स्पन्दास्पन्दौ कल्पितौ द्वौ स तथैवाऽनुभूतवान् ॥५६

यद्यपि यह सब चिन्मात्र ही है, फिर भी जिस प्रकार स्वप्ननगर में चेतन भ्रान्ति नहीं होती, उसी प्रकार जड़ में भी नहीं होती ॥५१॥ स्वप्न में दिशाएँ, पर्वत, पृथिवी आदि, नगर आदि जो कुछ है, वह सब चिन्मयाकाश हो यह स्वानुभूति से सिद्ध है ॥५२॥ ब्रह्म संविदाकाशमय है, उसके संकल्प की पुरी भी विराट् है, ब्रह्मा शुद्ध संवित्मय है और उसके द्वारा निर्मित यह संसार भी शुद्ध संवित्-मय ही कहा गया है ॥५३॥ जिस प्रकार तुम अपने संकल्पनगर में जिस पदार्थ का जैसा-जैसा संकल्प करते हो, वैसा-वैसा ही अनुभव करते हो। उसी प्रकार ब्रह्म के संकल्पनगर रूपी इस संसार में चित् द्वारा जैसा-जैसा संकल्प किया जाता है, वैसा-वैसा ही अनुभव में आता है ॥५४॥ तुम्हारे संकल्पनगर में संकल्पों के अनुसार ही पदार्थ की स्थिति है, उसी के समान इस संकल्पनगर में भी जिसका जब जैसा संकल्प किया जाता है, उस समय वह वैसा ही रहता है ॥५५॥ इसीलिए मृतशरीर की चेष्टा जीवित शरीर के समान नहीं होती। वैसे तो इस प्रकार नियत इन चेष्टा और अचेष्टा दोनों की ही कल्पना हिरण्यगर्भ रूप चित् ने की है, और उसी के अनुसार उसने अनुभव किया है। इसीलिए मृतक में चेतना का अभिव्यंजन करने वाली चेष्टा प्राप्त नहीं हो सकती ॥५६॥

महाप्रलयपर्यन्ते पुनः सर्गः प्रवर्तते।
समस्तकारणाभावाद्द्रव्यं तावन्न विद्यते ॥५७

विमुक्तत्वात्प्रजेशस्य न च संभवति स्मृतिः ।
ब्रह्मैवेयमतो दीप्तिर्जगदित्येव भासते ॥५८
तस्मादाद्यात्मना भातं स्वमेव ब्रह्मणा स्वतः ।
जगत्संकल्पनगरमिति बुद्धं च खेन खम् ॥५९
यथा संकल्पनगरं चिन्मात्रं भाति केवलम् ।
तथैवाऽकारणं भाति चिन्मात्रोन्मेषणं जगत् ॥६०
शरीरमस्तु वा माऽस्तु यत्र यत्राऽस्ति चिन्नभः ।
वेत्त्यात्मानं तत्र तत्र द्वैताद्वैतमयं जगत् ॥६१

महाप्रलय की समाप्ति पर पुनः सर्गारम्भ होता है, किन्तु सभी कारणों का अभाव होने के कारण वह सृष्टि द्रव्य नहीं है। यदि पूर्व कल्प वाले प्रजापति के बनाये द्रव्यों का इस नये सर्ग में प्रयोग होने से वह निर्द्रव्य कैसे होगा? यह कहें तो भी अनुपयुक्त है क्योंकि पूर्व कल्प वाला प्रजापति ही नहीं रहा और उसका बनाया संसार भी पूर्ण विलीन होचुका तो पूर्ण संसार के प्रकारादि की स्मृति आदि निमित्त कारण नहीं हो सकते। तुम्हारा यह आशय हमारे सिद्धान्त से मिलता है, क्योंकि जगत् के रूप में जो भासता है, वह स्वयं प्रकाश ब्रह्म ही है ॥५७-५८॥ इसलिए हिरण्यगर्भ के रूप में सर्व प्रथम प्रजापति ब्रह्मा स्फुरित हुए और उन्होंने स्वयं ही आकाश रूपी संकल्प नगर को जगत् रूप से समझा ॥५९॥ जिस प्रकार चिन्मात्र रूपी संकल्पनगर का ही भान होता है, उसी प्रकार अकारण चिन्मात्र का उन्मेष ही जगद्रूप में भासमान है ॥६०॥ देह हो अथवा न हो, जहाँ-जहाँ चिदाकाश की विद्यमानता है, वहाँ-वहाँ वह द्वैत-अद्वैतमय विश्वरूप आत्मा को जानता है ॥६१॥

तस्माद्यथा स्वप्नपुरं यथा संकल्पपत्तनम् ।
तथा पश्यति चिद्व्योम मरणानन्तरं जगत् ॥६२
अपृथ्व्यादिमयं भाति पृथ्व्यादिमयवज्जगत् ।
यथेदमाप्रथमतो मृतस्याऽप्यखिलं तथा ॥६३

देशकालौ न सर्गेण प्रवुद्धस्येव तौ यथा ।
अणुमात्रमपि व्याप्तौ तथैव परलोकिनः ॥६४

इदं प्रबुद्धविषये स्वानुभूतमपि स्फुटम् ।
जगन्न विद्यते किंचित्कारणं गगने यथा ॥६५

अप्रबुद्धस्याऽसदेव यकेदं भाति भासुरम् ।
तथैव सर्गवद्भाति व्योमैव परलोकिनः ॥६६

चिदाकाश जिस प्रकार स्वप्ननगर या संकल्पनगर को देखता है वैसे ही मरण के पश्चात् जगत् को देखता है ॥६२॥ जिस प्रकार सर्ग आरम्भ से यह पृथिवी-रहित विश्व, पृथिवी आदि से युक्त प्रतीत होता है, उसी प्रकार मृतक का भी सम्पूर्ण विश्व पृथिवी आदि के रहित होकर भी पृथिवी आदि से युक्त ही भासमान होता है ॥६३॥ जैसे बुद्धिमान पुरुष के अथवा स्वप्न से निवृत्त हुए पुरुष के स्वप्नावस्था वाले देश और काल जाग्रत जगत् से सम्बद्ध नहीं रहते, वैसे ही परलोक-गत पुरुष के भी इस लोक के देशकाल परलोक में सम्बद्ध नहीं रहते ॥६४॥ अपने द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत होने पर भी यह संसार बुद्धिमान के लिए उसी प्रकार कुछ नहीं है, जिस प्रकार कि आकाश का कुछ कारण नहीं है ॥६५॥ अज्ञानी पुरुष को जैसे यह असत् जगत् भासमान है, वैसे ही परलोक को प्राप्त हुए जीव को चिदाकाश ही सृष्टि के समान लगता है ॥६६॥

द्युधराद्रियमाद्याढ्यं खमेव परलोकिनः ।
अभूतपूर्वमाभाति भूतपूर्ववदाततम् ॥६७

मृतोऽयं पुनरुत्पन्नो यमलोके शुभाशुभम् ।
भुञ्जेऽहमित्यतिघनं मृतो भ्रान्ति प्रपश्यति ॥६८

मोक्षोपायानादरिणामेप मोहो न शाम्यति ।
बोधादवासनत्वेन मोह एष प्रशाम्यति ॥६९

अप्रबुद्धस्य या संवित्सा धर्माधर्मवासना ।
ख एव खात्मिका भाति यत्तदेव जगत्स्थितम् ॥७०

न शून्यरूप न च सत्स्वरूपं
ब्रह्माभिधं भाति जगत्स्वरूपम् ।
तच्चाऽपरिज्ञानवशादनर्थ-
भूतं परिज्ञातवत्ः शिवात्म ।।७१

परलोक में गये हुए को यह चिदाकाश ही आकाश पृथिवी और यम आदि से युक्त पहिले से ही व्याप्त जैसा प्रतीत होता है ।।६७।। मैं मर कर पुनः जीव रूप से यमलोक को प्राप्त हुआ अपने शुभ-अशुभ कर्मों को भोगता हूँ, इस प्रकार की घोर भ्रान्ति को मृत-पुरुष देखता है ।।६८।। मोक्ष के उपायों का आदर न करने वाले पुरुषों का यह मोह कभी नहीं मिटता, बोध से वासना मिट जाती है, तो मोह भी शान्त होजाता है ।।६९।। अप्रबुद्ध पुरुष की संवित् ही धर्म-अधर्म रूपी वासना है, जो आकाश में ही आकाशरूप से प्रतीत होती है, वही यह जगद्रूप में स्थित है ।।७०।। यह जगत् न तो शून्य रूप है और न सत्-रूप है, अपितु जगत् के रूप में ब्रह्म संज्ञक चैतन्य ही है जो अज्ञान से अनर्थ रूप और ज्ञानी पुरुष के लिए आनन्द स्वरूप परम कल्याण ही है ।।७१।।

---

## ११५—सब रूपों में ब्रह्म ही स्थित है

शुभाशुभं यथोदेति प्रजानां गृहसंगमे ।
असंबद्धं रप्रतिघैर्द्रस्थैस्तदिद श्रृणु ।।१

ब्रह्मसंकल्पनगरं जगत्तावदिदं स्थितम् ।
यद्दश्यं दृश्यबोधेन ब्रह्मैव ब्रह्मबोधतः ।।२

तद्यत्संकल्पनगरे यदा संकल्प्यते यथा ।
तथाऽनुभूयते तत्तत्ताद्दग्विरचनं तदा ।।३

एवमस्मिन्गृहे याते संपन्नेवमियं प्रजा ।
एवं संकल्पसंपन्ने जगत्येवं भवत्यलम् ।।४

एतत्स्वसंकल्पपुरे यादृशं ते तथा स्थितम् ।
यथा संकल्पयसि यत्तत्तथा किल पश्यसि ॥५

वसिष्ठजी बोले—हे राजन्! प्रजाओं को अप्रकट, दूरस्थ होने से असम्बद्ध राज-आज्ञा आदि से अपने ही घर में जैसे शुभाशुभ की प्राप्ति होती है, वैसे सुनो ॥१॥ ब्रह्म ही अज्ञान से दृश्य प्रतीत होता है और ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म है, इसलिए यह विश्व ब्रह्म के संकल्पनगर के रूप में विद्यमान है ॥२॥ संकल्पनगर में जब जिस वस्तु का जैसा संकल्प किया जाय, उस समय वह वस्तु वैसी ही अनुभव में आयेगी ॥३॥ तुम्हारे संकल्पमय घर की सृष्टि तुम्हारे संकल्प से ही हुई है, उसी के समान ब्रह्मसंकल्प वाले इस विश्व की सृष्टि ब्रह्मसंकल्प से ही हुई है ॥४॥ अपने संकल्पनगर में तुम्हारा यह सब जैसे स्थित है और तुम उसमें जैसा संकल्प करते हो, उसे वैसा ही देखते हो ॥५॥

यथैव वरशापाभ्यां शुद्धसंविदवाप्यते ।
संवित्तथैव भवति ब्राह्ममेवेति कल्पनम् ॥६
प्रजाविधिनिषेधाभ्यामेकयाऽऽस्थाव्यवस्था ।
तथैव फलमाप्नोति ब्राह्ममेवेति कल्पनम् ॥७
दह्निनो ये जगत्यस्मिंस्तान्प्रत्यनुपलम्भतः ।
असदासीज्जगत्पूर्वं सत्यमित्युपलभ्यते ॥८
चिद्रूपब्रह्मसंकल्पवशादेवैतदङ्ग सत् ।
चिदुन्मेषनिमेषौ यौ तावेतौ प्रलयोदयौ ॥९
किं नोपलभ्यते पूर्वं किं पश्चादुपलभ्यते ।
जगच्चलद्वपुरिदं सुस्थिरारम्भभास्वरम् ॥१०

वर और शाप से संवित् जैसे उस-उस व्यवहार में समर्थ है वैसे ही ब्रह्म संवित् का होना समझो। क्योंकि वर और शाप भी तपस्वियों के द्वारा सिद्ध हों इस ब्रह्म-कल्पना से सम्बन्धित सत्य ही होता है ॥६॥ विधि-निषेध शास्त्रों द्वारा प्रबोधित धर्माधर्म से अपनी आस्था के अनुसार जो प्रजावर्ग धर्म-अधर्म का फल प्राप्त करता है, वह भी ब्रह्म के

उस प्रकार के संकल्प से ही उत्पन्न होता है ॥७॥ शरीरों की अभिव्यक्ति के पूर्व उपलब्धि न होने के कारण यह जगत् पहिले असत् रूप था, वही अभिव्यक्ति को प्राप्त होकर सत्यरूप प्रतीत होता है ॥८॥ इसका ब्रह्म संकल्प से कुछ समय तक सत्ता रूप से जो किंचित् भान होता है, अर्थात् सत्यरूप से प्रतीति होती है, वह उस ब्रह्म के उन्मेष-निमेष होने से संसार के उदय और प्रलय ही हैं ॥९॥ राजा ने कहा— हे ब्रह्मन् ! ब्रह्म के संकल्प से यदि संसार सत् है तो सुषुप्ति और प्रलयावस्था में प्रतीत न होकर जाग्रत् या सर्वकाल में ही क्यों दिखाई देता है ? सदैव विकार से ग्रस्त रहता हुआ यह विश्व भले प्रकार स्थिर हुए कार्य जैसा कैसा भासित है ? यह बताने का कष्ट करिये ॥१०॥

अस्मिंश्चिद्व्योमसंकल्पपुरस्थे भाव ईदृशः ।
यद्भूत्वा न भवत्येव पुनर्भवति च क्षणात् ॥११
बालसंकल्पपुरवद्व्योमकेशोण्ड्रकादिवत् ।
किलैते सदसद्रूपा भान्ति सर्गाश्चिदात्मनि ॥१२

त्वं संकल्पपुरं कृत्वा विनाशयसि तत्क्षणात् ।
स्वतोऽन्यसंविद्वशतः स्वस्वभावः स ते यथा ॥१३
चिद्व्योमकल्पनपुरे यदुन्मज्जनमज्जनम् ।
स्वभावकचनं तस्य तद्विद्धि विमलं तथा ॥१४

संविद्घनस्त्वनाद्यन्तव्योमैव त्रिजगन्नभः ।
तेनाऽसावद्य यन्नाम करोत्यपि च चेतति ॥१५
सदनावरणस्याऽस्य योजनानां शतेष्वपि ।
युगैरपि स्वप्न इव कार्यकृद्वर्तमानवत् ॥१६

इस चिदाकाश के संकल्पनगर में स्थित जगत् में ऐसा स्वभाव ही है कि यह सृष्टि में उत्पन्न होकर मोक्ष में प्रकट नहीं होता और फिर क्षणभर में ही प्रकट होजाता है ॥११॥ बालक के संकल्पनगर के समान और आकाशस्थित केशोण्डूक के समान यह सब सत्-रूप और असद्रूप सृष्टियाँ चिदात्मा में भासित हैं ॥१२॥ तुम संकल्पनगर को

बना कर अन्य संकल्प से तत्काल ही प्रलय संकल्प द्वारा उसे नष्ट कर देते हो, तुम्हारा यह ऐसा स्वभाव है, उसी के समान चिदाकाश के सकल्पनगर में जो उन्मेष-निमेष हैं, वह ब्रह्म का विमल स्वभाव है ॥१३-१४॥ त्रिजगदाकाश संवित्-मय मात्र होकर आदि और अन्त से रहित ब्रह्माकाश ही है। क्योंकि जगत् वह स्वयं ही है, इसलिए जो-जो संकल्प करता है, वह-वह कार्य करता है। उसके अनावृत सत्य संकल्प से सैकड़ों योजन में, अनेक युगों से व्याप्त कर्म परलोक आदि में निकट ही विद्यमान के समान, स्वप्न-सदृश ही कार्यकारी होते हैं ॥१५-१६॥

यथा मणौ प्रकचति प्रोन्मज्जननिमज्जने।
परावर्तः स्वभासाऽस्य चिन्मणौ जगतां तथा ॥१७
विधीनां प्रतिषेधानां लोकसंस्थाप्रयोजनम्।
सैव संविदि रूढत्वात्प्रेत्यापि फलदा स्थिता ॥१८
न कदाचन यात्यस्तमुदेति न कदाचन।
ब्रह्म ब्रह्मचिदाभानं सर्वदात्मन्यवस्थितम् ॥१९
यथा तु द्रष्टृदृश्यादिकल्पना कल्पनापुरम्।
स्वयं जगदिवाऽऽभाति जातमित्युच्यते तथा ॥२०
यदा स्वभावात्कचनं संहृत्याऽऽत्मनि तिष्ठति।
ब्रह्मचिद्गगनैकात्मा शान्त इत्युच्यते तथा ॥२१

जैसे मणि में उसकी चमक से ही उन्मज्जन और निमज्जन का अनुभव होता है, वैसे ही चिन्मणि में जगतों के सर्ग एवं प्रलय रूप विभिन्न परिवर्तन प्रतीत होते हैं ॥१७॥ विधि शास्त्र और निषेधशास्त्र, इनका प्रयोजन लोक मर्यादा की रक्षा मात्र ही है। ब्रह्म में उत्पन्न लोक-स्थिति परलोकगत प्राणी को फल देने वाली है ॥१८॥ ब्रह्म कभी भी उदय-अस्त को प्राप्त नहीं होता। ब्रह्मचिदाभास तो सदैव आत्मा में स्थित रहता है ॥१९॥ जिस प्रकार द्रष्टा और दृश्य आदि जगत् रूपी कल्पना-नगर, निरी कल्पना ही है, वैसे ही वह स्वयं जगत् जैसा

भासता है। वाणी द्वारा उसके जन्म का वर्णन करना भी अयथार्थ ही है ॥२०॥ जब चिदाकाशरूपी जीव स्वभाववश स्फुरण को छोड़ कर अपने ही रूप में स्थित होता है, तब उसकी उस अवस्था को शान्त कहते हैं ॥२१॥

कचनाकचने यस्य स्वभावो निर्मलोऽक्षया।
यथैतावात्मनो नान्यो स्पन्दास्पन्दौ नभस्वतः ॥२२

जरामरणहन्तृणि क्षणान्यत्र पृथक्पृथक्।
भवन्त्विति यथैतानि सन्ति त्वत्कल्पनापुरे ॥२३

ब्रह्मसंकल्पनगरे स्वभावा उदितास्तथा।
ओषधीनां पदार्थानां सर्वेषां च जगत्त्रये ॥२४

न संकल्पयिता राजन्संकल्पनगरे स्वयम्।
तृणं तृणं कल्पयति बालः क्रीडनकानिव ॥२५

जैसे स्पन्दन और अस्पन्दन वायु के स्वभाव से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही यह स्फुरण और स्फुरण-रहितता आत्मा के निर्मल और अविनाशी स्वभाव से भिन्न नहीं हैं ॥२२॥ तुम्हारे कल्पनापुर के सदृश यहाँ जरा, मरण और विनाश करने वाले मणि, मन्त्र, औषधि पृथक्-पृथक् प्रभाव वाले होकर ब्रह्म-संकल्प से ही आविर्भूत होते हैं, इसलिए इस त्रैलोक्य के सभी पदार्थ संकल्प से ही उत्पन्न हुए हैं ॥२३-२४॥ हे राजन्! अपने संकल्पनगररूपी त्रैलोक्य में ब्रह्म ही क्षण-क्षण में विविध वस्तुओं का संकल्प करता है, हम ऐसी कल्पना नहीं करते। बालक का क्रीडाओं के एक बार ही संकल्प करने के समान ही ब्रह्म अपने कार्यों की कल्पना करता है ॥२५॥

प्रत्येकं किल तत्राऽस्ति ब्रह्म चिन्मात्रतात्मनि ।
सर्वात्मिका सा यत्राऽऽस्तेयथाऽन्तर्भाति तत्तथा ॥२८

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यं
किंचिन्न किंचिच्च सदप्यसत्यम् ।
स्थितं यथा यत्र तदात्म तत्र
सर्वात्मभूभूं ततृणादिजातौ ॥२९

चिद्‌घन का यह स्वयं स्वभाव है कि वह जो कुछ संकल्प करता है वह सब पदार्थ क्षणभर में ही अपने अवयवों के साथ ही सिद्ध हो जाते हैं ॥२६॥ संकल्पित पदार्थ स्वभाववश विभिन्न रूप से अवस्थित होने पर भी ब्रह्म में चिदात्मरूप से भासित हैं, उसी के समान विभिन्न आकार के स्वभाव वाले होने पर सद्रूप से एकाकार में स्थित हैं ॥२७॥ उनमें से प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म चिन्मात्रता ही है, क्योंकि सर्वात्मक चित् जहाँ जैसे स्थित है वहाँ वैसे ही भासित है ॥२८॥ इस प्रकार अनादि, अमध्य, अनन्तवीर्य ब्रह्म सत् और असत् दोनों रूप में विद्यमान है। वह सर्वात्मक होने के कारण, जहाँ जो वस्तु है, वहाँ उसी स्वभाव में प्रसिद्ध होकर स्थित है ॥२९॥

---

## ११६—अन्य संकल्प से अन्य ब्रह्माण्ड

एकस्य जीवितं पुंसः सुहृदा मरणं द्विषा ।
मृत्वाऽर्थितं प्रयागादौ क्षेत्रे यत्तदिदं श्रृणु ॥१

क्षेत्राणामर्थधर्माणां सर्वेषां प्रति तं फलम् ।
ब्रह्मणा कल्पितं सर्गे स्वके सांकल्पपत्तने ॥२

यत्र पुण्यं यदर्थी च क्षत्रं ताभ्यां तथा कृतम् ।
यदि तद्विनियोज्यस्य तस्योन्नमति निष्कृतात् ॥३

तत्तस्मान्महतः पापाद्भागमेनोऽखिलं च वा ।
चितिशक्त्यात्म तत्पुण्यं परिभ्राम्योपशाम्यति ॥४

विनेयपापमल्पं चेत्क्षेत्रधर्मोऽधिकस्ततः ।
तत्पापं नाशयित्वा तच्छब्द एव विवल्गति ।।५

वसिष्ठजी बोले—हे राजन् ! इच्छित फल के प्रदान करने वाले प्रयाग आदि क्षेत्रों में एक पुरुष के मित्र ने ही उसके चिरजीवन की शुभकामना करते हुए अन्तिम साँस ली, परन्तु उसी के शत्रु ने उसके शीघ्र ही मर जाने की प्रार्थना कर मृत्यु का आह्वान किया तो दोनों की चिर जीवन और शीघ्र मरण रूपी विरुद्ध अभिलाषाओं की सम्पन्नता किस प्रकार हो सकती है, अपने इस प्रश्न का समाधान सुनो ।।१।। ब्रह्म ने अपने सर्ग रूपी संकल्पनगर में उन प्रयाग आदि कामनाप्रद क्षेत्रों तथा अर्थ, धर्म आदि के फलों का समर्थन उस अधिकारी पुरुष के हेतु ही किया है ।।२।। जिसमें जिसकी अभिलषित फल की सिद्धि के हेतु काम्य फलों के प्रदाता प्रयाग आदि क्षेत्र, उनमें किये गए धर्म—तप, जप, दान, स्नान, यज्ञ आदि तथा उन दोनों से, तीर्थ और पुण्य से संस्कृत हुए देह—यदि यह तीनों शास्त्र सम्मत कर्मों में रत रहने वाले अधिकारी के हैं, तो उससे यहाँ मेरे द्वारा किये गए पुण्य से मेरे इच्छित फल की उत्पत्ति अवश्य होगी। इस प्रकार विश्वास से अनुष्ठान किये गए प्रयाग आदि क्षेत्रों में मरण आदि से इच्छित फल अवश्य ही निष्कृत होता है ।।३।। धर्मात्मा एव अधिकारी पुरुष को जो उपरोक्त फल की उपलब्धि बताई गई है, उसके अतिरिक्त जो पापी किन्तु श्रद्धालु पुरुष हैं, उनका प्रयाग आदि पुण्य क्षेत्र में मरण होने से उत्पन्न हुए चिति-शक्ति स्वरूप वह पुण्य क्षेत्र के माहात्म्य के अनुसार ही पुरुष को उसके पापों से पृथक् कर स्वयं भी शान्ति को प्राप्त होता है ।।४।। पापी पुरुष में पाप की मात्रा न्यून हो और पुण्य क्षेत्र में किया जाने वाला स्नान दान, तप, आदि पुण्य अधिक मात्रा में हो तो वह प्रबल पुण्य ही उस पाप को पूर्णतया नष्ट कर श्रुति-प्रतिपादिक फल के प्रभाव का समर्थन करता है ।।५।।

क्षेत्रधर्मेण तेनाऽस्य विनेयस्य महीपते ।
शरीरे विदो सम्यक्चरः प्रतिभात्मिके ।।

इत्येवमादि पापानां पुण्यानां च फलं महत् ।
ब्रह्मसंकल्पकचितं यथा यद्यत्तथैव तद् ॥७
ब्रह्मोच्यतेऽसौ चिद्धातुः सोऽब्जजाद्यहमादि च ।
स यथाऽऽस्ते यथा तत्तत्तस्य संकल्पनं जगत् ॥८

प्रतिभेव विनेयस्य क्षेत्रपुण्येन तादृशी ।
तथैवोदेति सा धातुर्विपरीतवतो यथा ॥६

एकात्मनाऽहमद्यैप मृतोऽमी मम बान्धवाः ।
रुदन्तीमे परं लोकं प्राप्तोऽयमहमेककः ॥१०

किन्तु जहाँ ज्ञानी पुरुष का पाप-पुण्य क्षेत्रों में अर्जित धर्म के तुल्य होता है, वहाँ बल के तुल्य होने के कारण ही उस धर्म के कारण पाप में प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए पाप और पुण्य दोनों के भोग के लिए उसके दो देह और उनके चिदाभास भ्रान्त और प्रतिभामय स्फुरित होते हैं ॥६॥ पाप-पुण्य का इस प्रकार का जो महान फल, जिस प्रकार ब्रह्मसकल्प से स्फुरण को प्राप्त होता है, वह बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के यथावत् स्थित रहता है ॥७॥ वह चिद्धातु ही ब्रह्म है, वही ब्रह्मादि समष्टि जीव तथा अहमादि व्यष्टि जीव कहा गया है। वह जो-जो संकल्प करता है, उसका वह-वह संकल्प समष्टि-व्यष्टि उपाधि में उसी प्रकार के जगद्रूप में स्थित होता है ॥८॥ ब्रह्म-संकल्प के अनुसार ही शासन के योग्य व्यक्ति की उन-उन पुण्य-क्षेत्रों में अर्जित पुण्यादि के अनुसार ही फल-भोग रूप वाली प्रतिभा, स्वप्न के समान उसी प्रकार उदय को प्राप्त होती है, जिस प्रकार कि पुण्य के विरुद्ध अर्थात् पापी की प्रतिभा नरकादि के रूप में प्रकट होती है ॥६॥ वह सोचता है—अरे, मैं आज अकेला ही मरण को प्राप्त होगया, मेरे जो यह सगे सम्बन्धी अथवा बन्धु-बान्धव हैं वे जीवित रह कर मेरे लिए रुदन कर रहे हैं, मैं एकाकी ही परलोक को प्राप्त होगया हूं ॥१०॥

बन्धुनामपि तत्रैव तदैवाऽस्य तथैव च ।
प्रतिभा तादृशैवेति धातुक्षोभवतामिव ॥११

अत्युग्रैः पुण्यपापैः महात्मभिरीक्षितैः।
लक्ष्याण्यप्यन्यथा सन्ति नृणां चित्कल्पनावशात् ॥१२

अचेतनं शवीभूतं तेऽपि पश्यन्ति तं मृतम्।
रुदन्ति तं च दहने क्षिपन्ति सह बान्धवैः ॥१३

विनेयः स यथाऽन्येन संविद्रूपेण देहिना।
ऽजरामरणमात्मानं वेत्ति स्थितमदुःखितम् ॥१४

यथास्थितेन देहेन वेत्त्यसौ जीवितस्थितिम्।
मृतिं त्वदृश्येनाऽन्येन क्षेत्रपुण्यविदेरितः ॥१५

जिस प्रकार इस पुरुष का मरना प्रतिभा रूप है, उसी प्रकार इसके बन्धु-बान्धवों की मृत्यु पर भी रुदन एवं मृतक-कर्म आदि सब धातुक्षोभ युक्त व्यक्तियों के समान वैसी ही प्रतिभा समझो ॥११॥ किन्तु अति दारुण अथवा अत्योत्कृष्ट पुण्य होने पर क्षोभ को प्राप्त हुए उन पाप या पुण्यों से महात्माओं द्वारा निग्रह-अनुग्रह वाली दृष्टि से देखे जाने पर, अन्य पुरुषों द्वारा देखने या न देखने योग्य पुण्य या पापों के जो फल भूत देहादि होते हैं, उनका भाव चित्संकल्प से ही होता है ॥१२॥ सभी प्राणी कहीं अत्यधिक पाप या पुण्य से शासन के योग्य पुरुष को शवरूप में अचेतन पड़ा देखते, रुदन करते और बन्धु-बान्धवों के साथ जाकर उसका संस्कार करते हैं ॥१३॥ मित्र अथवा शत्रु के विरुद्ध कर्मों से शासन के योग्य एक उस मित्र पुरुष ने जो प्रयागादि क्षेत्र में अभिलाषा की थी, उसी के अनुसार वह अपने को जरा-मृत्यु-रहित तथा दुःख से मुक्त जानता है ॥१४॥ वह अपने यथा अवस्थित शरीर से जीवित होने का अनुभव करता है, तब उसके शत्रु का मनोरथ किस प्रकार पूर्ण होगा, इसका समाधान यह है कि प्रयागादि क्षेत्र में शत्रु का मरण कराने वाले पुण्यकर्मा शत्रु से बलात्-मरण के लिए प्रेरित होकर वह अन्य मित्र, बन्धु-बान्धवादि से न दिखाई पड़ने वाले देह से मरण का भी अनुभव करता है ॥१५॥

आविला संविदा संविच्छून्यया वेद्यते क्षणात् ।
नहि सन्नद्धगात्रस्य क्लेशोऽसन्नद्धभेदने ॥१६
पश्यन्ति बन्धवोऽप्येनं तथैवाऽमरतां गतम् ।
द्वयमित्येष लभते जीवितं मरणं समम् ॥१७
इदमप्रतिघारम्भं भ्रान्तिमात्रं जगत्त्रयम् ।
न संभवति को नाम भ्रान्तौ भ्रान्तिविपर्ययः ॥१८
संकल्पस्वप्नपुरयोर्या भ्रान्तिरनुभूयते ।
ततोऽधिकेयं न न्यूना जाग्रत्स्वप्नेऽनुभूयते ॥१९
धर्माधर्मौ कथं ब्रह्मन्कारण देहसंविदः ।
तस्यामूर्तौ कथं चैको द्विशरीरत्वमृच्छति ॥२०

शत्रु-कृत अभिचार के प्रतीकार से रक्षित शासन-योग्य संवित् शत्रु की कलुषित संवित् को तुरन्त जान लेती है। कवच एवं शस्त्रास्त्र से सुसज्जित शत्रु को, कवच एवं शस्त्रास्त्र रहित विश्वस्त पुरुष के देह को आहत करने अथवा भेदने में सरलता ही रह सकती है ॥१६॥ उस पुरुष को उसके बन्धु-बान्धव भी उसी प्रकार अमर देखते हैं। इस प्रकार उसे जीवन और मरण दोनों की ही एक साथ प्राप्ति होती है ॥१७॥ अप्रतिहित रूप से आविर्भाव को प्राप्त हुआ यह त्रिजगत् भ्रान्तिमात्र है। भ्रान्ति में क्या विपरीत भ्रान्ति नहीं उत्पन्न हो सकती? ॥१८॥ संकल्पनगर और स्वप्ननगर में अनुभव होने वाली भ्रान्ति से जाग्रत्रूप स्वप्न में अधिक भ्रान्ति का ही अनुभव होता है, न्यून भ्रान्ति का नहीं होता ॥१९॥ राजा ने कहा—हे ब्रह्मन्! धर्म और अधर्म ब्रह्मसंवित् के कारण किस प्रकार है? जब धर्म और अधर्म दोनों ही अमूर्त्त हैं तो उनमें से एक अन्य देह कैसे होजाता है? ॥२०॥

संकल्पनगरे ब्राह्मे जगत्यस्मिन्महामते ।
किं नाम नो संभवति सत्यं वाऽप्यसमञ्जसम् ॥२१
यथैव संकल्पपुरे यन्न संभवतीह हि ।
तन्नास्त्येव तदेतस्मिन्किं वाऽस्तु ब्रह्मकल्पने ॥२२

स्वप्नसंकल्पपुरयोरेका गच्छति लक्षताम् ।
तथा चैकैव चित्स्वप्ने सेनात्वमुपगच्छति ।।२३
सहस्राण्येकतां यान्ति तथा सैव सुषुप्तकम् ।
अन्यथा स्वप्नसंकल्पसेनानुभवसंस्मृतौ ।।२४
संकल्पस्वप्नपुरयोरिति को नाऽनुभूतवान् ।
संविदाकाशमात्रेऽस्मिञ्जगत्यनुभवात्मनि ।।२५
तस्मादस्मिश्चिदाकाशसंकल्पे जगदात्मनि ।
न संभवति किं नाम तत्संभवति वाऽपि किम् ।।२६

वसिष्ठजी ने कहा—हे महामते ! ब्रह्म के संकल्पनगर रूप से स्थित इस संसार में क्या सत्य-संगत और क्या असत्य-संगत नहीं हो सकता ? ।।२१।। जिस प्रकार हमारे संकल्पनगर में असंभव कुछ नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म के संकल्पनगर रूपी त्रिजगत् में भी कुछ असंभव नहीं है ।।२२।। जैसे स्वप्ननगर और संकल्पनगर में एक ही चित् लाखों रूप धारण कर लेती है, वैसे ही जाग्रत् रूप स्वप्न में एक ही चित् सेना के रूप में असंख्य होजाती है ।।२३।। जाग्रत् में चित् के एक से अनेक रूप होने के समान ही लाखों एक रूप वाली सुषुप्ति भी चित् होती है । एक ही चित् अनेक रूप धारण करती और अनेक रूप से एक रूप होजाती है । इसका स्वप्न और संकल्प में सेना के होने और समूह के एक होने में अन्यथा अनुभूति होती है ।।२४-२५।। इस सब का संकल्पनगर और स्वप्ननगर में किसे अनुभव नहीं है ? इस प्रकार इस जगद्रूप चिदाकाश-संकल्प में क्या संभव और क्या असंभव है ? ।।२६।।

एवमेवमिय भ्रान्तिर्भाति भास्वन्नभोमयम् ।
नेह किंचन सन्नाऽसन्न वाऽऽसदिह किंचन ।।२७
यथाऽनुभूयते यद्यत्तथा तत्त्वदर्शिनः ।
प्रबुद्धस्याऽत्र किं नाम तत्स एवाऽङ्गतेत्यलम् ।।२८
इह चेद्विहितो धर्मस्तत्स्वर्गोऽमृतपर्वताः ।
स्थिता इतीह संकल्पे कस्मान्ना प्राप्तवान्गिरीन् ।।

इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते ।
इतीह संकल्पपुरे सर्वमेवाऽसमञ्जसम् ॥३०
यदि स्यात्सुस्थिरं किंचिद्वस्तु तद्दृश्यको भवेत् ।
न्याय एपोऽखिलः किन्तु संवित्त्वात्स्वस्वकं स्थितः ॥३१
इत्येष कथितो न्यायः सिद्धास्वनुभवस्ततः ।
यतो जगन्ति संकल्पश्रितो ब्रह्मस्वरूपतः ॥३२

इस प्रकार यह भ्रान्ति भास्वर चिदाकाशमय ही भासती है । सत्, असत् या सदासत् कुछ भी नहीं है ॥२७॥ जिस-जिस का अनुभव है उस उसका वह वैसा ही है । तत्वदर्शी और प्रबुद्ध पुरुष इनमें असमंजस ही क्या हो सकता है ? ॥२८॥ स्वर्ग में स्थित मय झरने, सरिता, फल-पुष्पादि से युक्त देवोपभोग्य पर्वतादि का होने पर और तदनुसार संकल्प करके काम्य अनुष्ठान करने वाला वहाँ पहुँच कर उन-उन संकल्पों के अनुसार पर्वतादि को प्राप्त होने अनुभव क्यों नहीं करता ? ॥२९॥ इस संसार में किये गए कार्य फल भोग परलोक में मिलता है, इस प्रकार इस संकल्पनगर में जो अनुभूति है, वह सब असमंजस ही है ॥३०॥ यदि संसार में भूत आदि जो भी वस्तु है, उसमें विरोध होना असमंजस है या नहीं इस प्रकार से न्याय से अंकुठा होती है । परन्तु सभी द्रष्टाओं के संवि होने से स्वसंकल्प ही द्रश्यरूप में अवस्थित है, यह यथार्थ कुछ भी न है ॥३१॥ सब जगत् ब्रह्मरूप से अवस्थित चित् के संकल्प रूप हैं, इ लिए इस असमंजसता को दूर करने वाले न्याय की स्थिति स्वप्न औ संकल्प की कल्पनाओं के आधार पर है, उसकी योजना जगतों में जानी चाहिए ॥३२॥

तव संकल्पनगरे नास्त्येवाऽसंभवो यथा ।
सर्वार्थानां तथा ब्राह्मे संकल्पे नास्त्यसंभवः ॥३३
यद्यथा कल्पितं तत्र यावत्संकल्पमेव तत् ।
स्वभावेन तथैवाऽस्ति यतस्तत्संनिवेशवत् ॥३४

ततः संप्रेक्षणमिह संकरो न प्रवर्तते ।
विनाऽन्यचित्प्रयत्नेन भवत्यर्थस्तु नाऽन्यथा ॥३५
आकल्पमजसंकल्पे यथा भातं जगत्स्थितम् ।
पुनरन्येन संकल्परूपेणाऽन्यदुपैष्यति ॥३६
संकल्पात्म स्वयं भाति कल्पे कल्पे जगत्तथा ।
-तिजीवं चितिस्वप्ने स्वप्ने स्वाप्नपुरं यथा ॥३७
संकल्पपत्तनतनोर्न तदस्ति किंचि-
द्यद्यन्न संभवति तन्न चिदात्मनोऽस्मात् ।
नाऽन्यत्प्रकल्पयितुराद्यपरस्वरूपा-
द्ब्रह्मैव तेन सकलं जगदङ्ग विद्धि ॥३८

जिस प्रकार तुम्हारे संकल्पनगर में कोई भी पदार्थ असंभव नहीं है, वैसे ही ब्रह्म के संकल्पनगर में किसी भी पदार्थ का असंभव न होना समझो ॥३३॥ ब्रह्म-संकल्प में जिसकी जैसी कल्पना कीगई, वह संकल्प के रहने तक उस प्रकार के ही स्वभाव और सन्निवेश से युक्त रहती है ॥३४॥ उस प्रकार के सन्निवेश से ही यहाँ सब वस्तुएँ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा दिखाई देती हैं और कर्मेन्द्रियों का व्यवहार भी सांकर्यता से पृथक् रहता है । चित् के प्रयत्न से नियत आकार वाला पदार्थ, चित् के अन्य प्रयत्न बिना, अन्यथा नहीं हो सकता ॥३५॥ ब्रह्म-संकल्प में जगत् का जिस प्रकार अनुभव हुआ, वह उसी प्रकार प्रलय होने तक स्थित रहा और प्रलयोपरान्त अन्य संकल्प होने पर अन्य ब्रह्माण्ड की प्राप्ति होगी ॥३६॥ स्वप्न में स्वप्ननगर के अनुभव के समान ही कल्प कल्प में चितिरूप चितिस्वप्न में संकल्परूपी जगत् का ही प्रत्येक जीव के प्रति अनुभव होता है ।३७। हे नृपेन्द्र ! संकल्पनगर रूपी इस संसार में आप जो कुछ नहीं हो सकता समझते हो, वह समझना मिथ्या है, अर्थात् इसमें सभी कुछ हो सकता है । वह जो कुछ है, सब कल्पना करने वाले चिदात्मा ब्रह्म से पृथक् नहीं है, अतः आप सम्पूर्ण संसार को ब्रह्म ही जानो ॥३८॥

———

# ११७—ब्रह्म ही जगत् है

फलेऽक्षयेन्दुभारूपे प्राप्ते ध्यातृशतैर्नभः ।
यथा न शतपूर्णेन्दु तथेदं कथनं शृणु ॥१

चन्द्रबिम्बस्य ध्यातारः प्राप्ताः प्राप्तव्यसुस्थिताः ।
नेदं नभस्तलं प्राप्ता न चेमं शशिनं श्रिताः ॥२

क्वेवाऽन्यसंकल्पपुरमन्यः प्राप्नोति कथ्यताम् ।
संकल्पपुर्यामर्थाप्तिस्तज्जन्तावेव नाऽपरे ॥३

पृथक्पृथक्स्वसंकल्पसर्गखेष्वेव ते स्थिताः ।
चन्द्रास्तपन्ति तत्रैव कलाक्षयविवर्जिताः ॥४

विशेयमस्मिन्नेवेन्दाविति ध्याता निशाकरे ।
अस्मिन्नेव विशत्यन्तरात्मबुद्धिसुखोज्झितः ॥५

वसिष्ठजी बोले—हे राजन्! ध्यान करने वाले सैकड़ों व्यक्तियों के द्वारा अक्षय चन्द्रस्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर, जिस प्रकार आकाश में सैकड़ों चन्द्रमा नहीं हो सकते, उस प्रकार के मेरे कथन को श्रवण करो ॥१॥ यद्यपि अहंभाव से सत्यचन्द्रबिम्ब का ध्यान करने वाले पुरुष अपने चिर ध्यान के अभ्यास से अन्य भाव के भूलने के कारण चन्द्रत्व को प्राप्त हैं, तो भी वे न आकाशतल में पहुँचे और न चन्द्रत्व को ही प्राप्त हुए ॥२॥ अन्य के संकल्पनगर में अन्य का प्रविष्ट होना कहाँ देखा जाता है? संकल्पनगर के पदार्थों की प्राप्ति उसी संकल्पनगर वाले पुरुष को होगी, अन्य को नहीं हो सकती ॥३॥ अपनी-अपनी संकल्प-सृष्टियों के पृथक्-पृथक् आकाशों में अवस्थित अक्षय कला वाले वे चन्द्रमा, वहीं-वहीं प्रकाशित होते हैं ॥४॥ 'मैं इसी चन्द्रमा मे प्रवेश करूं' ऐसे ध्यान वाला एवं अन्तर में आत्मबुद्धि के सुख से शून्य जो ध्याता है, वह इसी चन्द्रमा में प्रवेश प्राप्त करता है ॥५॥

अहमिन्दुं प्रविष्टः स्यामिन्दुबिम्बसुखान्वितः ।
ध्यातेति तादृक्सुखभाग्भवतीति विनिश्चयः ॥६

यथाऽयमनुसंधत्ते स्वभावं संविदव्यया ।
तं तथैवाऽनुभवति भवेच्चेद् दृढनिश्चयः ॥७
यथेन्दुत्वं स्वसंकल्पात्सर्वध्यातुः पृथक्पृथक् ।
भात्येवमेव वनितालाभः काल्पनिकः स्वतः ॥८
या ध्याने ध्यातृलक्षाणां साध्वी भार्यात्वमागता ।
तत्कल्पनानुभवनं तेषां सत्त्वात्मनि स्थितम् ॥९
गृहादनिर्गतो जीवः सप्तद्वीपपतिः स्थितः ।
तस्याऽपि तत्काल्पनिकं राज्यं व्योम्नि स्वमन्दिरे ॥१०

'मैं चन्द्रबिम्ब के सुख से सम्पन्न होकर चन्द्रमा में प्रवेश करूँ' ऐसा ध्यान करने वाला उपासक इसी प्रकार का सुख प्राप्त करता है। अर्थात् उसका जैसा निश्चय हुआ वैसा ही पाया ॥६॥ ध्यान करने वाले के दृढ़ संकल्प के कारण उस स्वभाव की अविनाशिनी साक्षिसंवित् उसी प्रकार का अनुभव करती है, उससे विपरीत नहीं ॥७॥ जिस प्रकार सब ध्यान करने वालों को अपने-अपने संकल्प के अनुसार पृथक्-पृथक् चन्द्रत्व की अनुभूति होती है, उसी प्रकार अपनी कल्पना से ही स्त्रीलाभ की सिद्धि भी पृथक्-पृथक् होती है ॥८॥ ध्यान में जो साध्वी नारी लाखों ध्यान करने वालों की पत्नी बनी, उसकी कल्पना से उत्पन्न अनुभूति उनके अन्तःकरण में उपहित साक्षी में विद्यमान है ॥९॥ अपने घर से बाहर न निकलने वाला जो जीव वहीं सप्तद्वीपेश्वर होकर स्थित है, उसका वह कल्पनासिद्ध राज्य अपने ही चिदाकाश में प्रतीत होता है ॥१०॥

समस्तं कल्पनामात्रमिदमाद्यजजन्मनः ।
शून्यमप्रतिघं शान्तं तेष्वपि स्यात्किमन्यथा ॥११
दानोर्ध्वदैहिकतपोजपादीनां परत्र यत् ।
अमूर्तानां फलं मूर्तं तदिदं कथ्यते शृणु ॥१२
दानादिचिह्नतधियः परत्र स्वप्नवत्फलम् ।
पश्यन्त्यमूर्ता मूर्तामजं चिन्मूर्तिकल्पनात् ॥१३

इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते ।
इतीह संकल्पपुरे सर्वमेवाऽसमञ्जसम् ॥३०
यदि स्यात्सुस्थिरं किंचिद्वस्तु तद्दृश्यको भवेत् ।
न्याय एषोऽखिलः किन्तु संवित्त्वात्स्वस्वकं स्थितः ॥३१
इत्येष कथितो न्यायः सिद्धास्वनुभवस्ततः ।
यतो जगन्ति संकल्पश्रितो ब्रह्मस्वरूपतः ॥३२

इस प्रकार यह भ्रान्ति भास्वर चिदाकाशमय ही भासती है । यहाँ सत्, असत् या सदासत् कुछ भी नहीं है ॥२७॥ जिस-जिस का जैसा अनुभव है उस उसका वह वैसा ही है । तत्वदर्शी और प्रबुद्ध पुरुष को इसमें असमंजस ही क्या हो सकता है ? ॥२८॥ स्वर्ग में स्थित अमृतमय झरने, सरिता, फल-पुष्पादि से युक्त देवोपभोग्य पर्वतादि का ज्ञान होने पर और तदनुसार संकल्प करके काम्य अनुष्ठान करने वाला पुरुष वहाँ पहुँच कर उन-उन संकल्पों के अनुसार पर्वतादि को प्राप्त होने का अनुभव क्यों नहीं करता ? ॥२९॥ इस संसार में किये गए कार्य का फल भोग परलोक में मिलता है, इस प्रकार इस संकल्पनगर में जो कुछ अनुभूति है, वह सब असमंजस ही है ॥३०॥ यदि संसार में भूत भुवन आदि जो भी वस्तु है, उसमें विरोध होना असमंजस है या नहीं है, इस प्रकार से न्याय से अंकुठा होती है । परन्तु सभी द्रष्टाओं के संवित् होने से स्वसंकल्प ही दृश्यरूप में अवस्थित है, यह यथार्थ कुछ भी नहीं है ॥३१॥ सब जगत् ब्रह्मरूप से अवस्थित चित् के संकल्प रूप हैं, इसलिए इस असमंजसता को दूर करने वाले न्याय की स्थिति स्वप्न और संकल्प की कल्पनाओं के आधार पर है, उसकी योजना जगतों में की जानी चाहिए ॥३२॥

तव संकल्पनगरे नास्त्येवाऽसंभवो यथा ।
सर्वार्थानां तथा ब्राह्मे संकल्पे नास्त्यसंभवः ॥३३
यद्यथा कल्पितं तत्र यावत्संकल्पमेव तत् ।
स्वभावेन तथैवाऽस्ति यतस्तत्संनिवेशवत् ॥३४

ततः संप्रेक्षणमिह संकरो न प्रवर्तते ।
विनाऽन्यचित्प्रयत्नेन भवत्यर्थस्तु नाऽन्यथा ॥३५
आकल्पमजसंकल्पे यथा भातं जगत्स्थितम् ।
पुनरन्येन संकल्परूपेणाऽन्यदुपैष्यति ॥३६
संकल्पात्म स्वयं भाति कल्पे कल्पे जगत्तथा ।
प्रतिजीवं चितिस्वप्ने स्वप्ने स्वाप्नपुरं यथा ॥३७
संकल्पपत्तनतनोर्न तदस्ति किंचि-
द्यन्न संभवति तस्य चिदात्मनोऽस्मात् ।
नाऽन्यत्प्रकल्पयितुराद्यपरस्वरूपा-
द्ब्रह्मैव तेन सकलं जगदङ्ग विद्धि ॥३८

जिस प्रकार तुम्हारे संकल्पनगर में कोई भी पदार्थ असंभव नहीं है, वैसे ही ब्रह्म के संकल्पनगर में किसी भी पदार्थ का असंभव न होना समझो ॥३३॥ ब्रह्म-संकल्प में जिसकी जैसी कल्पना होगई, वह संकल्प के रहने तक उस प्रकार के ही स्वभाव और सन्निवेश से युक्त रहती है ॥३४॥ उस प्रकार के सन्निवेश से ही यहाँ सब वस्तुएँ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा दिखाई देती हैं और कर्मेन्द्रियों का व्यवहार भी सांकर्यता से पृथक् रहता है। चित् के प्रयत्न से नियत आकार वाला पदार्थ, चित् के अन्य प्रयत्न बिना, अन्यथा नहीं हो सकता ॥३५॥ ब्रह्म-संकल्प में जगत् का जिस प्रकार अनुभव हुआ, वह उसी प्रकार प्रलय होने तक स्थित रहा और प्रलयोपरान्त अन्य संकल्प होने पर अन्य ब्रह्माण्ड की प्राप्ति होगी ॥३६॥ स्वप्न में स्वप्ननगर के अनुभव के समान ही कल्प कल्प में चितिरूप चितिस्वप्न में संकल्परूपी जगत् का ही प्रत्येक जीव के प्रति अनुभव होता है। ३७। हे नृपेन्द्र! संकल्पनगर रूपी इस संसार में आप जो कुछ नहीं हो सकता समझते हो, वह समझना मिथ्या है, अर्थात् इसमें सभी कुछ हो सकता है। वह जो कुछ है, सब कल्पना करने वाले चिदात्मा ब्रह्म से पृथक् नहीं है, अतः आप सम्पूर्ण संसार को ब्रह्म ही जानो ॥३८॥

---

त्वयाऽर्थो देहशब्दस्य यो बुद्धः स महामते ।
तत्त्वज्ञं प्रति नास्त्येव शिलानृत्तमिवाऽम्बरे ॥१६
य एव ब्रह्मशब्दार्थो देहशब्दार्थ एव सः ।
नाऽर्थयोरनयोर्भेदो विद्यतेऽम्बवम्भसोरिव ॥२०

इस कल्पनायुक्त संसार में किये गए दान से पूर्व कहे हुए अकृतिम संकल्प ही परलोक में सब ओर चिन्मात्र रूपी भोग फल दान से ऐश्वर्य आदि के रूप में हो और दान-रहितता से दारिद्रय आदि के रूप में हो, इसमें कोई विरोध नहीं है ॥१६॥ हे महीपते ! आपने जो कुछ मुझसे पूछा, उस सबके विषय में मैंने कह दिया। यह सम्पूर्ण निराकार संसार चिन्मात्र की कल्पना ही समझो ॥१७॥ राजा ने कहा—हे भगवन् ! सर्गारम्भ में चिन्मात्र (देह-रहित जीव) और उसके द्वारा की गई शरीर की कल्पना किस प्रकार भासती है। शरीर के बिना चित् की अभिव्यक्ति संभव नहीं। भला कभी भित्ति के बिना दीप-प्रभा का प्रकाश टिक सकता है ? ॥१८॥ वसिष्ठजी ने कहा—हे महामते ! हे राजन् ! शरीर शब्द का जो अर्थ आपने जाना है, वह तत्वज्ञानी के प्रति उसी प्रकार असंभव है, जिस प्रकार कि आकाश में पत्थरों का नृत्य संभव नहीं है ॥१६॥ ब्रह्म शब्द का जो अर्थ है, वही अर्थ शरीर शब्द का है। जैसे अम्बु और अम्भस् शब्द का अर्थ जल ही होने से अभिन्न है, वैसे ही ब्रह्म और शरीर के अर्थ में अभिन्नता है ॥२०॥

यदेव ब्रह्मदेहोऽसौ स्वप्नाभः स्वप्न एव तु ।
त्वद्बोधायोच्यते युक्तिर्न तु तत्स्वप्न एव तु ॥२१
स्वप्नस्तवाऽनुभूतार्थस्तेनाऽतस्त्वं प्रबोध्यसे ।
नतु सर्गे चिदाभाते सादृश्यं स्वप्नभस्मना ॥२२
कस्तत्र नाम देहोऽयं कस्यैते स्वप्नधीः क्व वा ।
स्वप्नेन ज्ञावबुद्धेन भ्रमेणाऽज्ञोऽवबोध्यते ॥२३
तत्र जाग्रन्न च स्वप्नो न सुषुप्तं न चेतरत् ।
किमपीत्थमिदं भानं खमालं मौनमोमलम् ॥२४

अभातमेव भातीव यदद्येत्थमिदं तु तत् ।
प्राग्विभातं नथाऽत्यच्छं जाग्रतत्स्वप्नादि नो यथा ।।२५

स्वप्न-देह के समान यह देह ब्रह्म ही है । इसमें जो स्वप्न का दृष्टान्त दिया गया है, वह आपको सरलता से समझाने के लिए ही है, यथार्थ में तो स्वप्न-देह भी ब्रह्म है ।।२१।। स्वप्न के अर्थ का आपको अनुभव होने से ही स्वप्न का दृष्टान्त दिया है । स्वप्न रूपी भस्म के साथ चिद्रूप से भासित सृष्टि में समानता कभी नहीं हो सकती ।।२२।। स्वप्न में यह शरीर कौन है ? स्वप्न के यह पदार्थ किसके हैं ? अथवा स्वप्न-बुद्धि कहाँ है ? ज्ञानी अवबुद्ध ज्ञानरूपी स्वप्न के द्वारा अज्ञानीजन को प्रबोध करते हैं ।।२३।। ब्रह्मपद में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा अन्य कुछ भी नहीं है, अपितु मन और वाणी से अग्राह्य विराट्, विश्व एवं तैजस् और सर्व प्रलय होने पर भी एकमात्र अवशिष्ट रहने वाला, स्वयं प्रकाश, निर्मल, अवाच्य चिदाकाश ही इस जगद्रूप में प्रकाशित रहता है ।।२४।। जो आज यह संसार भासमान-सा लगता है, वह भासित नहीं है । सच्चिदानन्दरूप से पूर्व भासित हुआ भी वह स्वरूप से उसी प्रकार अभासित है । जैसे जाग्रत्, स्वप्न आदि कभी नहीं हैं, वैसा ही अत्यन्त स्वच्छ ब्रह्म भी है ।।२५।।

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
तन्मयं सर्वमेवेदं द्वैतमद्वैतमेव च ।।२६

अन्यत्र चिन्मयं स्वप्नं द्वैताद्वैतं शुभाशुभम् ।
निरावरणचिन्मात्रनभसीवोपमीयते ।।२७

शून्यमर्थोपलम्भश्च भानं चाऽभानमेव च ।
द्वैतमैक्यमसत्सच्च सर्वं चिद्गगनं परम् ।।२८

पूर्णात्पूर्णं प्रसरति पूर्णमेव स्थितं जगत् ।
न च भातं न चाऽभातं शिलावद्घोदरोपमम् ।।२९

यतो जगच्चिदुन्मेषो व्योमात्माऽप्रतिघं ततः ।
चिन्मात्रं यत्र यत्राऽस्ति तत्र तत्रोचितं जगत् ।।३०

जिस प्रकार संवित् एक देश से दूसरे देश में जाने पर मध्य में संवित् का रूप विषय-रहित रहता है, उसी प्रकार द्वैत-अद्वैत आदि विषय-रहित यह सभी कुछ चिन्मात्रयुक्त है ॥२६॥ अज्ञानी की दृष्टि से भिन्न अर्थात् ज्ञानी की दृष्टि में चिन्मय स्वप्न, द्वैत, अद्वैत, शुभ, अशुभ आदि जो कुछ भी है, उस सबकी तुलना निरावरण चिन्मात्र से की जाती हैं ॥२७॥ शून्य, अर्थों का उपलम्भ, भाव-अभाव अर्थात् सर्ग-प्रलय, द्वैत, ऐक्य, सत्, असत् सभी कुछ चिदाकाश है ॥२८॥ पूर्ण से विश्व उत्पन्न होता है और यह पूर्ण ही इस प्रकार स्थित है। इसका कभी भाव या अभाव हुआ ही नहीं। किन्तु शिलाबद्ध उदर के समान उसके घनीभूत मध्य जैसा यह चिन्मात्र घन है ॥२९॥ इस विश्व के चित् का उन्मेषमात्र होने के कारण यह निराकार चिद्व्योम मात्र ही है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ चिन्मात्र की स्थिति है, वहां-वहाँ विश्व का रहना भी उचित ही है ॥३०॥

चिद्व्योम चाऽस्ति सर्वत्र सर्वं चैतज्जगन्मयम् ।
सर्वं ब्रह्ममयं शान्तं जगदित्यपि शब्दितम् ॥३१
यथास्थिमिदं विश्व तथासंस्थमनामयम् ।
ब्रह्मैव निरवद्यात्म चित्संकल्पपुराकृति ॥३२
असंभवादन्ययुक्तेर्युक्तिरेषैव शोभना ।
अयुक्त्यनुभवं तूक्तं नार्थिनामिह शोभते ॥३३
लोके शास्त्रेऽथ वेदादौ यत्सिद्धं सिद्धमेव तत् ।
सदस्त्वसद्वाऽऽत्मनि तद्धातुं शक्यं न वा क्वचित् ॥३४
तदेवेत्थं परिज्ञातं ब्रह्मतामुपगच्छति ।
यदा तेन समं विश्वं स्थितमेव विलीयते ॥३५
न्यायेनैतदिहोक्तेन लोकवेदादि सिद्धयति ।
सर्वं सजीवन्मुक्तत्वमेष एवोचितस्ततः ॥३६

चिद्व्योम सर्वत्र और सर्व व्यापक है, यही जगन्मय है, इसी जगत् शब्द से कहा जाने पर भी यह सब ब्रह्ममय ही है ॥३१॥ चि

व्योम के संकल्परूप में यथा अवस्थित यह विश्व उसी प्रकार अनामय रूप, निरवद्यात्मक ब्रह्म ही है ॥३२॥ इस विषय में अन्य कोई युक्ति उचित नहीं होने के कारण यही युक्ति शोभामयी है। यहाँ युक्ति और अपने अनुभव के बिना किसी पुरुष का पुरुषार्थ की इच्छा करने वाले व्यक्तियों के प्रति उपदेश देना अशोभनीय होता है ॥३३॥ लोक, शास्त्र या वेदादि में युक्ति, प्रयाग एवं अनुभवादि से सिद्ध वस्तु ही सिद्ध तथा आत्याज्य है। इस प्रकार वेदादि से सिद्ध ब्रह्म को सद्रूप माने तथा असिद्ध द्वैत को असद्रूप समझे ॥३४॥ जब उपलब्ध ज्ञान के द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व यथा स्थित ही विलीनता को प्राप्त होजाता है, तब प्रथम ब्रह्मरूपता से भिन्न जाना हुआ विश्व ही ब्रह्मरूप से जाना जाकर ब्रह्मता को प्राप्त होजाता है ॥३५॥ मेरे द्वारा कहे गए न्याय से जीवन-मुक्तत्व सहित लोक एवं वेदादि रूप सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही सिद्ध हुआ। अतः मैंने यह जो न्याय प्रतिपादित किया है, वह परम पुरुषार्थ का साधक होने के कारण सर्वथा ग्रहणीय है ॥३६॥

परिज्ञातं चिदाकाश परिज्ञातपादपे ।
सोऽहं त्रिजगदित्येव बन्धमोक्षविनिर्णयः ॥३७॥

यथास्थितमिदं दृश्यं परिज्ञानाद्विलीयते ।
तज्ज्ञस्याऽस्तंगतस्यैव शिला नैनं तु शिष्यते ॥३८॥

लोके शास्त्रे च वेदे च यत्सिद्धं सिद्धमेव तत् ।
संवद्यते तदेवाऽनस्तदेव फलति स्फुटम् ॥३९॥

सकलार्थनिरासेन यद्यत्संवेद्यते चिरम् ।
तदेव प्राप्यतेऽवश्यं सवज्ञैवाऽन्यभावितम् ॥४०॥

यथाऽनुभूतं यत्तत्तथा नामाऽनुभूयते ।
तत्सत्यमस्त्वसत्यं वा यावल्लाभं तथा नु तत् ॥४१॥

इत्थं महाप्रश्नविचारणं ते
मयेदमुक्तं मतिमन्महात्मन् ।

अनेन गच्छाऽऽशु पथा निराधि-
निरामयो निर्व्यसनो भवोच्चैः ॥४२

केवल इस अपरिज्ञात संसार रूपी वृक्ष में परिज्ञात चिदाकाश ही है और उस परिज्ञात चिदाकाशरूप में त्रिजगत्रूपी बन्धन और मोक्ष मैं ही हूं अर्थात् जो अपरिज्ञात चिदाकाश हैं वह जगत् रूपी बन्धन एवं परिज्ञात चिदाकाश मोक्ष है, यही मेरा निर्णय है ॥३७॥ यह सम्पूर्ण यथास्थित दृश्य परिज्ञान से जल में डाले हुए लवण के समान विलीनता को प्राप्त होजाता है। इस प्रकार हृदयरूप में अस्त हुए ज्ञानी का शिला के समान मौन स्वरूप ही अवशिष्ट रह जाता है ॥३८॥ लोक, शास्त्र और वेद के द्वारा जो सिद्ध है, वह सिद्ध ही है। असंख्य विचारों द्वारा निश्चित वस्तु अपने अनुभव से भी जानी जाती है, इसलिए वही पुरुषार्थ रूप से फल देने वाली होती है ॥३९॥ सभी वस्तुओं के निरास द्वारा जिस-जिस का चिरकाल तक ध्यान किया जाय, उसकी प्राप्ति अवश्यंभावी है। उसी प्रकार अन्यभावित वस्तु की प्राप्ति लौकिक कार्यों में भी अवश्य होती है ॥४०॥ परन्तु, जिस वस्तु का जैसा अनुभव होगा, वह वैसी ही प्रतीत होगी। चाहे वह सत्य हो या असत्य, जब तक उसकी स्थिति रहती है, तब तक यथावत् ही रहती है ॥४१॥ हे मतिमान् ! हे महात्मन् ! तुम्हारे महान् प्रश्नों का मैंने यह विचार पूर्वक फलभूत समाधान कह दिया है। तुम इसी मार्ग पर चलो। इससे तुम आधि-व्याधि से रहित और इन्द्रियों के व्यसनों से बचते हुए उच्चता को प्राप्त करो ॥४२॥

---

## ११८—जगत् ब्रह्म ही है

इति तत्रोपविश्याहं पूजितस्तेन भूभुजा।
प्रयोजनं स्वं संपाद्य स्वर्गं तु गगनं प्लुतः ॥१

अद्यैतद्भवता प्रोक्तं मया मतिमतां वर ।
अनया सुदृशा शान्तमनाः खात्मा भविष्यसि ॥२
ब्रह्मैव तदिदं सर्वं निर्नामैवाऽमलं नभः ।
किमप्येवाऽजमाशान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् । ३
चिद्भानमात्रमित्युक्तं ब्रह्मेति कलिताभिधम् ।
परात्परमिति प्रोक्तं तत्तु निर्नामकं पदम् ॥४
सिद्धसाध्ययमब्रह्मविद्याधरदिवौकसाम् ।
ब्रह्मन्कथय दृश्यन्ते लोका लोकचराः कथम् ॥५

वसिष्ठजी बोले—हे रघुनन्दन ! उस राजा के द्वारा पूजित हुआ मैं उस कुशद्वीप की इलावती नगरी में स्थित होकर जब राजा प्रज्ञप्ति पर अनुग्रहरूप अपना प्रयोजन पूरा कर चुका, तब स्वर्ग में जाने के लिए गगनमार्ग द्वारा चल पड़ा ॥१॥ हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! आज यहाँ इस अयोध्या नगरी में अवस्थित हुए मैंने आपसे यह जो कुछ कहा है, उसके अनुसार अपनी श्रेष्ठ दृष्टि रखते हुए आप शान्त मन वाले और चिदाकाश-रूप हो जाओगे ॥२॥ क्योंकि यह सब कुछ वाणी से अगम्य, अजन्मा, परमशान्त, आदि-मध्य अन्त से सर्वथा शून्य है, इसलिए, ब्रह्माकाशरूप ही है ॥३॥ जो चिद्भानमात्र कहा गया है और जिसकी 'ब्रह्म' रूप से कल्पना की गई है, वह परात्पर कहा हुआ और नाम-रहित पद ही है ॥४॥ राम ने कहा—हे भगवन् ! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर और देवताओं के जो लोक हैं, उनके निवासी जीव किस प्रकार के दिखाई देते हैं, यह आप मेरे प्रति कहिए ॥५॥

सिद्धसाध्ययमब्रह्मविद्याधरदिवौकसाम् ।
अन्येषामपि भूतानामपूर्वाणां महात्मनाम् ॥६
प्रतिरात्रं प्रतिदिनं पुरः पश्चादुपर्यधः ।
पश्यस्यालोकयँल्लोकानपश्यंश्च न पश्यसि ॥७
एते लोकाः किलैतेषां नाऽभ्यासः स्थानदूरगाः ।
एते संकल्पलोकाख्या व्याप्तमेभिः किलाऽखिलम् ॥८

यथैते कल्पनालोका अयं लोकस्तथैव नः ।
यथा काल्पनिको वातो लोका लोकास्तथैव ते ॥९
संकल्पस्वप्नलोका ये तव भान्ति दिवानिशम् ।
त एव तादृशाश्चाऽन्ये संकल्पेन स्थिरीकृताः ॥१०

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा विद्याधर, देवता तथा अन्यान्य अपूर्व भूत महात्माओं के लोकों को प्रत्येक रात्रि, प्रत्येक दिवस, सम्मुख पीछे, ऊपर और नीचे वाली धारणाओं से देखने पर ही तुम देखते हो, यदि उक्त रीति से न देखो, तो कुछ भी नहीं देख सकते ॥६-७॥ सिद्ध-लोक, महर्लोक दो प्रकार के हैं—महर्लोक, जनोलोक तपोलोक और सत्यलोक । प्रथम प्रकार के यह लोक बहुत दूर हैं तथा दूसरे प्रकार के जो सिद्धों के लोक हैं, वे उनके संकल्प से निर्मित संकल्पलोक कहे जाते हैं । इनके सर्वत्र विद्यमान होने से सम्पूर्ण जगत् इनसे व्याप्त है । इन दोनों प्रकार के लोकों को धारणा के अभ्यास की आवश्यकता है, जो कि आपको नहीं है ॥८॥ जिस प्रकार वे सिद्धलोक कल्पनाजन्य हैं, उसी प्रकार यह लोक भी कल्पनामात्र ही है । जैसे काल्पनिक वात सर्वत्र भ्रमण-शील है, वैसे ही ये लोक भी घूमते, फिरते हैं । परन्तु यह लोक इससे भिन्न विशेषता वाला है । दिन-रात्रि जिन स्वप्नलोकों और संकल्पलोकों की प्रतीति होती है, वे ही सिद्धलोक हैं । उन्हीं के समान उन्होंने अन्यान्य लोकों की रचना करके संकल्प से उन्हें स्थिर किया है ॥९-१०॥

ध्यानेन त्वमपीतांश्चेत्स्थिरतां सुस्थिरात्मना ।
नयस्याशु तदेवैते स्थिरतां यान्त्यविघ्नतः ॥११
यथाभिमतविस्तारा यथाभिमतसंपदः ।
संकल्पमात्रवलितो जनः पश्यति सिद्धवत् ॥१२
किंतु ते स्थिरतां नीताः सिद्धैः स्वध्यानसंपदा ।
अस्थिरैर्ध्यानविश्रान्तौ तैर्दुःखैस्तदमी कृताः ॥१३
जगदप्रतिघं सर्वं शान्तचित्व्योम सर्वदा ।
यथा दृढ संविदितं तथैवाऽऽभाति नाऽन्यथा ॥१४

न भात्येवाऽसंविदितमस्ति नास्ति न चोद्यता ।
शून्यं ह्यप्रतिघं चैतत्पराकाशमरोधकम् ॥१५

हे राम ! यदि आप भी उसी प्रकार योगधारणा युक्त स्थिरीकृत ध्यान द्वारा संकल्पजन्य लोकों को स्थिर करने का यत्न करो तो वे भी निर्विघ्न रूप से स्थिर हो जायगे ।.१।॥ जैसी इच्छा हो वैसा ही उनका विस्तार और इच्छित सम्पत्तियों से परिपूर्ण कर सकते हैं । दृढ़ संकल्प से युक्त पुरुष उन्हें सिद्धों के समान ही स्थिर देख सकता है ॥१२॥ पूर्व जन्म में उत्पादित जिन पुण्य सम्पत्तियों स्वर्ग की प्राप्ति होती है, उन्हीं साधन रूपी सम्पत्तियों द्वारा सिद्धों ने उन लोकों को स्थिर किया है। इस प्रकार उनके वे लोक अनायास ही सिद्ध होगये हैं । परन्तु जिन्होंने अस्थिर ध्यान के अभ्यास में प्रयत्न किया है वे अत्यन्त दुःख-पूर्वक ही इन लोकों को स्थिर बना सकेंगे ॥१३॥ सम्पूर्ण जगत् सदैव निराकार, शान्त चिद्व्योम ही है । अपने-अपने दृढ़ निश्चय के अनुसार ही दृष्टि का स्फुरण होता है, उससे भिन्न नहीं होता ॥१४॥ निश्चय-शून्य जगत् का भान नहीं होता । जो जगत् अनिश्चित है, उसमें भाव या अभाव का तर्क उठ ही नहीं सकता । इसलिए शून्य, निराकार, रोध-रहित यह जगत् परमाकाश ही है ॥१५॥

चित्स्वभावतया भातं भारूपमिव दृश्यते ।
अस्मिश्चिदभिमानश्च विद्यते न स्वभावतः ॥१६

कार्यकारणभावाच्चेत्कथैवाऽत्र न विद्यते ।
व्योम्नोऽनन्तस्य सिद्धस्य किं कथं किल जायते ॥१७
यच्च जातमिवाऽऽभाति व्योम्नि व्योमैव तत्तथा ।
तत्रैकद्वित्वकलना कीदृशी स्यादरूपिणी ॥१८
तद्धि यादृशमेवाऽऽसीत्तादृगेवाऽवतिष्ठते ।
निर्विकारं यथा स्वप्ने व्योमैवाऽचलवद्भवेत् ॥१९
संकल्पे चित्रामाकारं यथोदेत्यद्रिलीलया ।
न च सोऽद्रिर्न तद्व्योम तथा ब्रह्म जगत्स्थितिः ॥२०

दृढ़ निश्चय से जिस वस्तु का भान होता है, वह चित्स्वभाव होने के कारण भारूप के समान दिखाई देती है। परन्तु इस असंविदित लोक में चित्सत्ता और स्फूर्ति की व्याप्ति स्वभावतः न होने से यह शून्य एवं आकार-रहित ही सिद्ध होता है ॥१६॥ यदि कहें कि कार्य-कारण भाव से इसकी अन्य सत्ता होगी, तो उसका यहाँ कहना ही क्या है? सर्गादि में प्रलीन हुए आकाश से अनन्त विश्व की उत्पत्ति क्या और किस प्रकार हो सकती है? ॥१७॥ आकाश में जो भूत, भुवन आदि उत्पन्न हुए दिखाई देते हैं, वह सब आकाश में आकाश की ही उस प्रकार की प्रतीति होती है इसलिए द्वैत-अद्वैत की कल्पना भी कठिन है ॥१८॥ वह जैसा था, वैसा ही रहता है, उसमें कभी किसी प्रकार के विकार की सम्प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार स्वप्न में अपने रूप को छोड़े बिना ही चिदाकाश स्वप्न-वस्तु का विवर्ताधिष्ठान है, उसी प्रकार वह अचल के समान ही है अर्थात् उसमें कारणता या विकार कुछ भी नहीं है ॥१९॥ चित्त संकल्प में जिस आकार की कल्पना करता हुआ पर्वत-लीला से उदय को प्राप्त होता है, वह असार ही है। यथार्थ में तो न वह आकाश है और न पर्वत ही है, उसी प्रकार ब्रह्म में, विश्व की स्थिति है ॥२०॥

काष्ठवन्मौनमास्थाय रटन्तोऽपि महाधियः।
इह व्यवहरन्त्येते वुधा दारुनरा इव ॥२१
यथा वारिणि वर्तन्ते तरङ्गावर्तवृत्तयः।
अनन्याः परिवर्तन्ते तथा ब्रह्मणि सृष्टयः ॥२२
यथा वायौ परिस्पन्दा यथा व्योमनि शून्यता।
अनन्याश्चाऽप्यमूर्ताश्च तथा ब्रह्मणि सृष्टयः ॥२३
यथा संकल्पनगरं शून्यमेव पुरः स्थितम्।
साकारमप्यनाकारं ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥२४
निरानुभूतमप्यर्थकार्यपीदं जगत्त्रयम्।
शून्यमेव निराकारं संकल्पनगरं यथा ॥२५

तद्ब्रह्म घनमाशान्तं चित्त्वाच्चेतत्यहं विदत् ।
निजं शून्यत्वमन्तस्थं व्योमेव विततान्तरम् ॥६

पवनः स्पन्दनमिव हुताशन इवोष्णताम् ।
स्वशैत्यमिव पूर्णेन्दुः सत्तामर्थं इवाऽऽत्मनः ॥७

वसिष्ठजी बोले—हे राम ! जो पुरुष, ब्रह्माकाश चित् होने के कारण अपने को अहंकार समष्टि स्वरूप हिरण्यगर्भ जानता है, उसका वैसा ज्ञान ही परमेष्ठि स्वरूपत्व अथवा हिरण्य-गर्भत्व है, उसका उदर ही यह त्रैलोक्य है ॥१॥ इस प्रकार न ब्रह्मा ही उत्पन्न हुआ और न यह दृष्ट जगत् ही। परब्रह्म आज ही यथा-पूर्व अवस्थित है ॥२॥ संवित् में अभिन्न जगद्रूप ही सत् है वह मृगतृष्णा के समान मिथ्या एवं दिखाई देता हुआ भी असत् ही है ॥३॥ आरम्भ से शून्य तक भ्रान्ति का ही अभ्युदय हुआ है अथवा वह भी नहीं हुआ। यह भ्रान्ति क्या है ? कहाँ से है ? यह जगत् निश्चय ही अनामय ब्रह्म है ॥४॥ जगद्रूप ब्रह्म जल से आवर्त है इसमें एकत्व और द्वित्व कौन-सा है ? आवर्त और जल में कोई भेद है क्या ? जब भेद ही नहीं है तब एकत्व भी कहाँ से आया ? क्योंकि एकत्व की सिद्धि भी द्वित्व पर आधारित है ॥५॥ वह विद्घन शान्त ब्रह्म चित् होने से 'अहम्' के द्वारा अहंकार समष्टि रूपत्व को उसी प्रकार जानता है, जिस प्रकार कि विस्तृत आकाश अपनी आन्तरिक शून्यता को जानता है ॥६॥ जैसे वायु को अपने स्पन्दनशील गुण का ज्ञान है, जैसे अग्नि को अपने उष्ण स्वभाव की जानकारी है और जैसे पूर्ण चन्द्र अपनी शीत-लता से परिचित है, वैसे ही ब्रह्म अपनी सत्ता के अर्थ से पूर्ण परिचित है ॥७॥

एतद्ब्रह्मान्कदा नाम तत्र चेतितवन्मुने ।
निरावृतमनाद्यन्त किमिदानीं प्रचेतति ॥८

एवमेतत्सर्वदैवतदहमाद्यपि चेतति ।
नह्यनादेरजस्याऽस्य काऽप्यपेक्षा स्वसंविदा ॥९

सर्गासर्गनभोरूपं ब्रह्म सर्वत्र सर्वदा ।
न कदाचिदिदं नेदं ज्ञातं नेदञ्च किंचन ॥१०

पवनस्पन्दनं चन्द्रशैत्यं शून्यत्वमम्बरम् ।
ब्रह्माहंत्वमनन्यात्म न कदाचिन्न चेतति ॥११

सर्वदैवेदृशी सत्ता न कदाचिदनीदृशी ।
जगद्यस्मादनाद्यन्त ब्रह्मात्मैव निरामयम् । १२

केवलं त्वमबुद्धत्वाच्छब्दश्रवणवेधितः ।
अद्वये ब्रह्मबोधेऽस्मिन्द्वितामभ्युपगच्छसि ॥१३

न कश्चित्किंचिदेवेह न कदाचिन्न चेतति ।
न कश्चिच्च तदन्यात्मा न कदाचिच्च चेतति ॥१४

इदं त्रिभुवनाभासमीदृशं भाति सर्वदा ।
शान्तं राम समं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन ॥१५

न कदाचन जायन्ते नभसः पादपाद्रयः ।
ब्रह्मणश्च जगन्तीति मत्वा शान्तिं परां व्रज ॥१६

उपदेश्योपदेशार्थं संदेहावसरेऽल्पधीः ।
यावन्न बुद्धस्तावत्त्व भेदमभ्युपगच्छसि ॥१७

बोध्यस्य तु विबुद्धस्य न शास्त्रादि न शब्दधीः ।
न भेदबुद्धिर्नो भेदः किमप्येष प्रजापतेः ॥१८

राम बोले—हे ब्रह्मन् ! हे मुने ! इसे अपने अहम् आदि का ज्ञान कब नहीं हुआ ? क्योंकि यह तो सदा आदि-अन्त-रहित तथा आवरण-हीन है, उसे सृष्टि काल से चेतता हुआ आपने कैसे कहा है ? ॥८॥ वसिष्ठजी बोले—यह ठीक है कि ब्रह्म सदैव अहमादि अहंकारसमष्टि से बोध को प्राप्त होता है, क्योंकि अनादि एवं जन्म-रहित उस चिन्मात्र को किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है ॥९॥ सर्ग-असर्ग एवं नभ स्वरूप ब्रह्म सदैव सर्वत्र विद्यमान रहता है, यह भ्रम-पूर्ण दृष्टि से कभी भी नहीं जाना जा सकता और ज्ञान-दृष्टि से देखने पर यह किंचित् भी नहीं है ॥१०॥ जैसे वायु में स्पन्दन, चन्द्रमा में शीतलता, आकाश में

व्योमात्मिकानामेतासां सत्तानामभिधानधीः ।
भविष्यत्युत्तरं कालं तदा त्वाकाशमेव तत् ॥२३
एतस्मिन्परिसंपन्ने दिक्कालकलनात्मनि ।
अहंभावे निराकारे व्योम तन्मात्रवेदिनि ॥२४
इदमाभाति भारूपं वेदनं दृश्यनाम यत् ।
भूत्वा ब्रह्मैव निर्बाधमब्रह्मेव विराजते ॥२५
ब्रह्मैव शान्तमजमेकमनादिमध्यं
व्योमैव जीवकलनामिव भावयित्वा ।
व्योम्न्येव पश्यति निरावरणे विसारि
दृश्यं स्वरूपमपि चाऽन्यदिवाऽऽत्मवित्वात् ॥२६

राम बोले—हे ब्रह्मन् ! मैं अपने प्रश्नों का निराकरण आपके द्वारा प्राप्त कर चुका हूँ। अब आप मेरे बोध के लिए सुझाए हुए समष्टि अहंकार आदि का निरूपण करिये ॥१९॥ उस परमपद में अहंकार चेतित होता है, तब क्या होता है ? आप सर्वज्ञ होने के कारण सब कुछ के ज्ञाता हैं। आपके उपदेश सुनने से अभी मैं तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥२०॥ वसिष्ठजी बोले—हे राम ! अहंकार के स्फुरण पर आकाश, दिशा, काल और त्रिविध परिच्छेद का अध्यास हुआ करता है ॥२१॥ आत्मा जब देह आदि में अहम् का आरोप करता है, तब वह शून्य स्थल में अपने न होने को भी मान लेता है, यही देह से उत्पन्न परिच्छेद है। इस प्रकार अपना आत्मा ही विभिन्न परिच्छेदों के क्रम से द्वैत रूपत्व से आकाश में उदय को प्राप्त होता है ॥२२॥ इसके पश्चात् व्योमात्मक पदार्थ-भेद आदि सत्ताओं का और भविष्य आदि काल वाचक शब्दों का अध्यास होता है, वह सब चिदाकाश ही है ॥२३॥ इस प्रकार इस परमपद में देश-काल आदि कल्पनाओं के सिद्ध होने पर दिखाई पड़ने वाले इस जगत् की प्रतीति होती है, उसमें अहम् भाव के कारण, आवर्तभाव से अकृत्रिम चित् की अभिव्यक्ति द्वारा जगदाकार रूप से निराकार ब्रह्म ही विराजता है ॥२४-२५॥ शान्त, अजन्मा,

एक, अनादि ब्रह्म ही जीव-भाव की कल्पना से अनावर्त चिदाकाश में, जब तक आत्मज्ञान द्वारा तत्त्व का बोध प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उस विस्तृत दृश्य को देखता है ॥२६॥

———

## १२०–गुरु-शिष्य सम्वाद

यथा यत्पृष्टवानद्य त्वं मामरिनिषूदन ।
शिष्येणेव सता पूर्वमहं पृष्टो गुरुस्त्वया ॥१
पुरा कल्पे हि कस्मिंश्चित्तत्त्वमात्मादिकात्मिका ।
आसीदियं चित्प्रतिभा गुरुशिष्यात्मना वने ॥२
गुरुस्तत्राऽहमभवं शिष्यस्त्वमभवस्तदा ।
पृष्टवान्मां त्वमग्रस्थ इदमुद्दामधीरधीः ॥३
सर्वस्थ भगवञ्छिन्धि मममममतिसंशयम् ।
किं नश्यति महाकल्पे किं वस्तु न विनश्यति ॥४
पुत्र शेपमशेपेण दृश्यमाशु विनश्यति ।
यथा तथा स्वप्नपुरं सौषुप्तीं स्थितिमीयुषः ॥५

वसिष्ठजी बोले—हे रिपुसूदन ! जो प्रश्न आज आपने किया है, वह पूर्व जन्म में भी किया था। उस समय मैं गुरु था और आप शिष्य थे ॥१॥ पूर्व कल्प की बात है, उस समय भी आपको वैराग्य उत्पन्न होगया था, तब आप मेरे पास वन में आकर प्रश्न करने लगे थे। अब के समान ही चित्प्रतिमा रूपी यह गुरु-शिष्य वार्ता उस समय भी हुई थी ॥२॥ उस समय मुझ गुरु से शिष्य रूप में मेरे सामने बैठे हुए आपने उदार बुद्धि होते हुए भी अज्ञानी के समान यह प्रश्न किया था ॥३॥ शिष्य ने कहा—हे भगवन् ! सम्पूर्ण लोक के विषय में मेरा जो यह संशय है, उसका निवारण कीजिए। महाकल्प की प्राप्ति पर कौन-सी वस्तु नाश को प्राप्त होती है और कौन-सी नष्ट नहीं होती ? ॥४॥ गुरु बोले—हे पुत्र ! जैसे सुषुप्तिअवस्था से जागने पर स्वप्ननगर

का विनाश होजाता है, वैसे ही यह दृश्यमान जगत् प्रलयकाल की प्राप्ति पर नष्ट होजाता है ॥५॥

निर्विशेषेण नश्यन्ति भुवः शैला दिशो दश ।
क्रिया कालः क्रमश्चैव न किंचिदवशिष्यते ॥६
नश्यन्ति सर्वभूतानि व्योमाऽपि परिणश्यति ।
स सर्वजगदाभासमुपलब्धुरसंभवात् ॥७
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्या ये हि कारणकारणम् ।
तेषामप्यतिकल्पान्ते नामाऽपीह न विद्यते ॥८
शिष्यते हि चिदाकाशमव्ययस्याऽनुमीयते ।
तत्कालशेषताऽनेन सर्गानुभवहेतुना ॥९
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
इदं तत्कथमाभोगि विद्यमान क्व गच्छति ॥१०

उस समय सम्पूर्ण पृथिवी, पर्वत, दशों दिशा, क्रिया, काल, सभी कुछ तो नष्ट होजाता है, शेष कुछ बचता ही नहीं ॥६॥ सभी भूत नाश को प्राप्त होजाते हैं सब लोकों के आभास के साथ आकाश भी अव्याकृत में लीन होजाता है। भोग्य की स्थिति भोक्ता के अधीन होने से प्रलय-काल में भोक्ता का रहना ही असंभव है ॥७॥ ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदि कारणों के भी कारण हैं, उनकी महा कल्पान्त में एवं विज्ञानोत्पन्न प्राकृतिक लय में स्थिति ही नहीं रहती, तो वे भोग्य वस्तु के भोक्ता भी कैसे रह सकते हैं? ॥८॥ जब अविनाशी चिद्वस्तु का विवर्त्त नष्ट होजाता है, तब चिदाकाश के ही अवशिष्ट रहने का आभास होता है। क्योंकि स्वयं में अध्यस्त जगत् के अनुभव में जो कारण-भूत चिदात्मा है उसी से सर्व प्रपंच-रहित अवशिष्ट प्रलयकाल की सिद्धि होती है। यदि प्रलय में उसका भी नष्ट होना मान लें तो साक्षि-रहित प्रलय की सिद्धि ही नहीं होती ॥९॥ शिष्य ने शंका की—जब असत् का अस्तित्व नहीं और सत् पदार्थ का अभाव नहीं, तब यह विद्य जगत् कहाँ चला जाता है ॥१०॥

न विनश्यत एवेदं ततः पुत्र न विद्यते ।
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ॥११

यत्तु वस्तुत एवाऽस्ति न कदाचन किंचन ।
तदभावात्म तद्भावा कथं नाम विनश्यति ॥१२

क्व स्थिरं मृगतृष्णाम्बु क्व स्थिरो द्वीन्दुविभ्रमः ।
क्व स्थिरा केशहग्व्योम्नि क्व भ्रान्त्यनुभवः स्थिरः ॥१३

सर्वं दृश्यमिदं पुत्र भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ।
स्वप्ने पुरमिवाऽऽभाति कथमेतन्न शाम्यति ॥१४

शाम्यतीदमशेषेण तथा सर्वत्र सर्वदा ।
यथा जाग्रद्धियो स्वप्नः स्वप्ने वा जागरो यथा ॥१५

गुरु बोले—हे पुत्र ! प्रत्यक्ष रूप से सावयव पदार्थ नष्ट होते देखे जाते हैं, इससे जगत् का नष्ट होना सिद्ध है । इसीलिए असत् की सत्ता नहीं रहती और सत् का अभाव नहीं होता ॥११॥ यथार्थ में जो कभी अभावात्मक नहीं है उस सत् का भाव अस्तित्वहीन किस प्रकार हो सकता है ? ॥१२॥ मृगतृष्णा का जल कहाँ है ? आकाश में कहीं दूसरे चन्द्रमा की स्थिति है ? आकाश में दिखाई देने वाला केशों का गोला कहीं है ? भ्रान्ति का अनुभव कहीं टिक सकता है ? हे वत्स ! यह सम्पूर्ण दृश्य भ्रान्ति रूप होने से असत्य ही है । स्वप्न में दिखाई पड़ने वाले नगर के समान यह भासित है तो नाश को प्राप्त क्यों नहीं होगा ! जो असत् है उसके नष्ट होने में आश्चर्य ही कैसा ? ॥१३-१४॥ यह उसी प्रकार नाश को प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार जाग्रति में स्वप्न या स्वप्नावस्था में जाग्रति का अभाव होजाता है ॥१५॥

यथा स्वप्नपुरं शान्तं न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ।
शान्तं तथा जगद्दृश्यं न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥१६

किमिदं भाति भगवन्न विभाति च किं पुनः ।
कस्येदं वस्तुनो रूपं चिद्व्योम्नो वितताकृतेः ॥१७

चिदाकाशमिदं पुत्र स्वच्छं कचकचायते ।
यन्नाम तज्जगद्भाति जगदन्यन्न विद्यते ॥१८

अस्यैतद्वस्तुनो रूपं चिद्व्योम्नो विततकृते: ।
रूपमत्यजदेवाऽच्छं यदित्थमत्रभासते ॥१९
कचना किंचनं सगक्षयात्माऽस्य: निजं वपु: ।
व्योमात्म शुक्लकृष्णं स्याद्ययाऽवयविनो वपु: ॥२०

जैसे जागने पर स्वप्न न जाने तुरंत ही कहाँ चला जाता है, वैसे ही बोध-बाधा को प्राप्त हुआ यह जगत् भी न जाने कहाँ जाकर अदृश्य होजाता है ॥१६॥ शिष्य ने कहा—हे भगवन् ! यह दिखाई पड़ता हुआ विश्व बोध की प्राप्ति पर अदृश्य कैसे हो जाता है ! यह कौन-से विस्तृत चिदाकाश का वस्तु स्वरूप है ? ॥१७॥ गुरु बोले—हे पुत्र ? जैसे चमक-दमक वाली सीप भ्रान्ति से कभी चाँदी जैसी दिखाई दे जाय, वैसे ही यह जगत् चिदाकाश का अत्यंत स्फुरण होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ॥१८॥ यह विश्व इस विस्तृत चिदाकाश वस्तु का स्वरूप है । वह चिदाकाश अपने स्वच्छ रूप में स्थित रहता हुआ भी जगत् रूप से भासित है ॥१९॥ अवयव-भेद से अवयवी के देहों में जैसे विभिन्नता की प्रतीति होती है, वैसे ही सृष्टि और प्रलय इस व्योमात्म के लक्षण ही हैं ॥२०॥

यथाऽयं त्वं सितोदान्तरेक एवाऽऽदित: कचै: ।
तथा ब्रह्म वमच्छात्म सर्गे सर्गक्षयेऽक्षयम् ॥२१
यथा स्वप्ने सुषुप्ते च निद्रैकैवाऽक्षयाऽनिशम् ।
सर्गऽस्मिन्प्रलये चैव ब्रह्मैकं चितिरव्ययम् ॥२२

यथा स्वप्ने जगद्दृष्टु: शान्तं शाम्यत्यशेषत: ।
तद्वदस्मज्जगादिदं शान्तं शाम्यत्यशेषत: ॥२३
तदन्यत्राऽस्ति खे खाद्यं तथेत्यङ्ग न विद्महे ।
अशङ्क्य परखे त्वेतदस्मच्चिद्व्योम्नि संभवात् ॥२४

यथेहाऽस्मच्चिदाकाशकचनं सर्गसंक्षये ।
तथाऽन्यत्संविदाकाशं नेत्थमित्यत्र का प्रमा ॥२५

वत्स ! स्वच्छ जल वाले सरोवर में प्रविष्ट होकर जब तुम अपनी परछाईं देखते हो, उसको भाव और अभाव रूपी भेद होने पर भी तुम और वह एक ही हो, वैसे ही ब्रह्म अपने सर्ग और प्रलय रूपी भेद से भी अक्षय और अभेद ही है ॥२१॥ जैसे स्वप्न अथवा सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं में एक अक्षय निद्रा ही रहती है, वैसे ही सर्ग या प्रलय दोनों में चिति रूप अव्यय ब्रह्म ही अवस्थित रहता है ॥२२॥ जिस प्रकार स्वप्न देखने वाले पुरुष का स्वप्न वाला संसार जागने पर अथवा निद्रा (सुषुप्ति) में दिखाई नहीं देता उसी प्रकार हमारा यह संसार भी ज्ञान उत्पन्न होने पर शान्त होजाता ॥२३॥ बाधित होने के कारण शून्य हुआ वह स्वप्नलोक अन्य स्थान पर भी वैसे ही रहता है, इसका ज्ञान हमें बोध दृष्टि से नहीं है। जीवाकाश में वह अन्य पुरुषों के साथ रहेगा, यह शंका इसलिए निर्मूल है कि हमारा वासनामय लोक चिदाकाश में ही सम्भव है। यदि उसे बाधित न मानें तो भी वह अन्य चिदाकाश में नहीं जा सकता ॥२४॥ जैसे बोध होने पर सर्ग का क्षय होजाता है, तब हमारा संविदाकाश स्फुरित होता है, वैसे ही बोध होने पर अन्य के संविदाकाश में शुद्ध चिदाकाश के स्फुरित न होने के विषय में क्या प्रमाण है ? ॥२५॥

एवं चेत्तद्यथा स्वप्ने द्रष्टुरन्यः स दृश्यधीः ।
विद्यते तद्वदन्यत्र मन्येऽस्ति जगदादिधीः ॥२६

एवमेतन्महाप्राज्ञ स्वरूपं तु न तज्जगत् ।
चिति भाति स्वरूपतत्तद्वदेव न भाति च ॥२७

न भाति न च तत्किंचिन्न च तत्किंचिदेव सत् ।
तच्चिदाकाशकाचनं के तत्र सदसद्दृशौ ॥२८

विद्यते तद्धि सर्वत्र सर्वं सर्वेण सर्वदा ।
न विद्यते च तत्किंचित्सर्वं सर्वत्र सर्वदा ॥२९

तत्सत्तत्सर्वदा सर्वमसच्चाऽसदिवाऽखिलम् ।
तन्मयं तच्चिदाकाशं न नाशि न च नाशि तत् ॥३०

शिष्य ने कहा—हे गुरुदेव ! यदि हमारी संविद् विषयक सृष्टि अन्य की सृष्टि में भासित नहीं होती तो स्वप्न देखने वाले से भिन्न अर्थात् जागे हुए पुरुष की दृश्य-बुद्धि से युक्त रहने वाले के समान ही प्रलयकाल में भी अन्य पुरुष में संसारादि दृश्य बुद्धि का होना समझता हूँ ॥२६॥ गुरु बोले—हे महाप्राज्ञ ! तुम ठीक कहते हो, इसीलिए, प्रलय में भी ऐन्दव जगतों के सद्भाव का ब्रह्मा को दर्शन होने विषयक चर्चा हमने की थी। यदि जगत् चित् का स्वरूप होता तो विशिष्ट नहीं होता। परन्तु जगत् चित् का स्वरूप न होकर चित् में अध्यस्त होने से देखने वालों को दिखाई देता है, किन्तु दूसरों को वैसा दिखाई नहीं देता। इसलिए उन पुरुषों के अनुसार ही स्वरूप व्यवस्थित होता है ॥२७॥ सब को समान अनुभूत न होने के कारण न वह तुच्छ है, न सत् ही है, अपितु उन-उन प्राणियों के चिदाकाश का स्फुरणमात्र ही है, तब उसके प्रति सत् या असत् दृष्टि का प्रश्न ही कैसा ? ॥२८॥ यदि उसे चिदाकाश के रूप से वैसा मानें तो उस अवस्था में सम्पूर्ण विश्व सर्वत्र है, किन्तु स्वरूप से वह कुछ भी नहीं है, उसकी सत्ता कभी कहीं है ही नहीं ॥२९॥ वह ब्रह्म सत् और असत् स्वरूप है, इसलिए यह विश्व भी सत्-असत् स्वरूप है तथा इस चिदाकाश के नाश-धान न होने के कारण यह जगत् भी नाश को प्राप्त नहीं होता ॥३०॥

यन्नाम सच्चिदाकाशं सर्गप्रलयरूपि तत् ।
तद्दुःखायाऽपरिज्ञातं परिज्ञातं परः शमः ॥३१

विद्यते सर्वथैवेदं सर्वं सत्वं सवदा ।
न विद्यते सर्वथा च सर्वं सर्वत्र सर्वदा ॥३२

एष देवो घटः शैलः पटः स्फोटस्तटो वटः ।
तृणमग्निः स्थावरं च जंगमं सर्वमेव च ॥३३

अस्ति नास्ति च शून्यं च क्रिया कालो नभो मही ।
भावाभावौ भवो भूतिर्नाशाः पाशाः शुभाशुभाः ॥३४
तन्नास्त्येव न यन्नाम नित्यमेकस्तथा बहिः ।
आदिमध्यमथाऽन्तं तु कालत्रितयमेव च ॥३५

वही चिदाकाश सर्ग और प्रलय रूप होता है, उसका ज्ञान होना ही दुःख का कारण है और ज्ञान होने पर तो दुःखों का शमन हो ही जाता है ॥३१॥ अपने-अपने ज्ञान के अनुसार ही यह चिदाकाश सत् और असत् है। ज्ञानी की दृष्टि में सदा सर्वत्र विद्यमान और अज्ञानी की दृष्टि में अविद्यमान रहता है ॥३२॥ घट, शैल, वस्त्र, शब्द, तट वट, तृण, अग्नि, स्थावर, जंगम आदि सब कुछ यही है, विद्यमान, अविद्यमान, शून्य, क्रिया, काल, गगन, पृथिवी, भाव, अभाव, भव, भूति, विनाश, पाश तथा शुभाशुभ यही सब कुछ है ॥३३-३४॥ जिस वस्तु का आदि, मध्य और अन्त तीनों कालों में नित्य एक ही चिद्व्योम उस प्रकार का रूप धारण न करे तो वह वस्तु है ही नहीं ॥३५॥

सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदैवाऽत्र विद्यते ।
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदाऽत्र न विद्यते ॥३६
यदेवं राम सर्वात्म सर्वमेवाऽस्ति सर्वदा ।
ब्रह्मात्मत्वात्स्वप्नसंवित्पुरन्यायेन वै तदा ॥३७
तृणं कर्तृ तृणं भोक्तृ ब्रह्मात्मत्वात्तृणं विभु ।
घटः कर्ता घटो भोक्ता घटः सर्वेश्वरेश्वरः ॥३८
पटः कर्ता पटो भोक्ता पटः सर्वेश्वरेश्वरः ।
दृशिः कर्ता दृशिर्भोक्ता दृशिः सर्वेश्वरेश्वरः ॥३९
गिरिः कर्ता गिरिर्भोक्ता गिरिः सर्वेश्वरेश्वरः ।
नरः कर्ता नरो भोक्ता नरः सर्वेश्वरेश्वरः ॥४०

होने के कारण स्वप्न में अनुभूत पुरी के समान सभी कुछ सर्वदा सर्वात्मक है तब ब्रह्मरूप होने के कारण तृण कर्त्ता भोक्ता एवं विभु है। घट भी कर्त्ता, भोक्ता और सब ईश्वरों का ईश्वर है ॥३७-३८॥ उसी प्रकार पट अर्थात् वस्त्र कर्त्ता भोक्ता और सर्वेश्वर है। द्रष्टा भी कर्त्ता, भोक्ता और सबों का ईश्वर है। पर्वत कर्त्ता है, पर्वत भोक्ता है, पर्वत सब ईश्वरों का ईश्वर भी है ॥३९-४०॥

प्रत्येक सर्ववस्तूनां कर्ता भोक्ता परात्परः।
अनादिनिधनो धाता सर्वं ब्रह्मात्मकं यतः ॥४१

तृणकुम्भादयस्त्वेते स्वया विभुतया विभुः।
एवंरूपा स्थिता रूप यद्विभातः क्षयोदयौ ॥४२
वाह्योऽर्थोऽस्ति स एवेह कर्ता भोक्ता तथाविधः।
विज्ञानमात्रमेवाऽस्ति कर्तृ भोक्तृ तथाविदाम् ॥४३

न कश्चिच्चैव कर्तेह न च भोक्ता तथाविदाम्।
कश्चिदीश्वर एवेह कर्ता भोक्ता तथाविदाम् ॥४४
सर्वमेव पदे तस्मिन्संभवत्युत्तमोत्तमे।
विधयः प्रतिषेधाश्च के ते सन्ति न सन्ति के ॥४५

इस प्रकार जितनी वस्तुएं हैं, उनमें प्रत्येक ही कर्त्ता, भोक्ता और उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है (अर्थात् प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी विशेषता है) तथा अनादि, अविनाशी एवं धाता है, क्योंकि यह सभी कुछ ब्रह्मात्मक ही है ॥४१॥ यह तृण और कुम्भ आदि प्रत्यगात्म रूप विभुता के कारण विभु ही हैं। जिस रूप में क्षय और प्रलय का भास होता है वह सब रूप इस प्रकार के विभुत्व से ही विद्यमान है ॥४२॥ विज्ञान से भिन्न वाह्य अर्थ वाली वुद्धि से वही कर्त्ता, वही भोक्ता है, किन्तु विज्ञान मात्र के मत वालों की दृष्टि में विज्ञान मात्र ही कर्त्ता एवं भोक्ता है। शून्य वादी लोग कर्त्ता और भोक्ता दोनों को ही शून्य (अर्थात् कुछ नहीं) मानते हैं। कुछ लोगों के मत मे ईश्वर ही कर्त्ता और भोक्ता है ॥४३-४४॥ उत्तमोत्तम सर्व शक्तिमान उस सर्वात्मक

पद में सभी कुछ संभव है। उस पद में उन-उन मतावलंबियों द्वारा अंगीकार किये हुए विचित्र पदार्थ प्रक्रिया के साधनादि विषयों और परस्पर के प्रतिषेधों का होना पृथक् पृथक् अविरोध रूप से संभव है ॥४५॥

शुद्धे दृष्टेव चिद्व्योम दृश्यतामिव भासयत् ।
स्वमात्मानं जगदिति पश्येत्तिष्ठेदनामयम् ॥४६
सर्वा दृशो विधिनिषेधदृशश्च सर्वाः
संकल्पवेदनविशेषसशेषपूर्वाः
सत्यात्मिकाः सततमेव न चैव सत्या
रूपं यथानुभवमत्र यतः स्वरूपम् ॥४७
इति त्वया शिष्यतया मदन्तिका-
च्छ्रुतं पुरा तेन न चाऽसि बुद्धवान् ।
ततोऽनुभूयान्यजगद्भवाद्भवा-
न्निहाद्य जातोऽसि तदेव पृच्छसि ॥४८
ज्ञानं सदेतदखिलं श्रुतमुत्तमं चि-
त्संसारदीर्घरजनीसितरश्मिबिम्बम् ।
जातस्त्वमभ्युदयवानमलैकबोध
उत्सार्य मोहमनुतिष्ठ यथागतं त्वम् ॥४९
तिष्ठंस्तदात्मनि परे विमलस्वभावे
सर्वात्मके तपति सर्वपदार्थमुक्तः ।
निर्वाणशान्तमतिरम्बरकोशकान्तो
धर्मेण राज्यमनुपालय तीर्णतृष्णः ॥५०

वह चिद्व्योम अपने विशुद्धात्मा में विभिन्न वासनाओं के अनुसार दृश्य-भावना करता हुआ द्रष्टा रूप से अपने रूप को ही जगद्रूप में देखता और उन-उन उपाधियों में अवस्थित रहता है ॥४६॥ सभी दृश्य और परस्पर अद्भुत निषेध दृष्टियां, विभिन्न संकल्प, अनुभव, वासनाओं आदि से युक्त होने से उन-उन व्यवहारों में उन-उन अर्थ-

क्रियाओं में समर्थ होने के कारण सत्यात्मक हैं, किन्तु आत्म-दृष्टि से देखने पर असत्य हैं, क्योंकि प्रत्यगात्मा निजानुभव के अनुकूल ही स्वरूप धारण करता है ॥४७॥ हे राम ! इस प्रकार पूर्व काल में आपने शिष्य रूप में मुझ गुरु के मुख से निकले इन वचनों का श्रवण किया था, फिर भी आपको बोध नहीं हो सका। उसी अज्ञान-दोष से पुनर्जन्म रूपी यह जगत् आपको प्राप्त हुआ है। इसीलिए जो आपने पूर्वजन्म में पूछा था, वही आज पूछ रहे हैं ॥४८॥ अब, इस जन्म में भी आपने इस श्रेष्ठ परमार्थ-ज्ञान को, जो जगद्रूपी घोर रात्रि के अंधकार को नष्ट करने वाले पूर्णचंद के समान है, मुझ से पूर्णतया सुन लिया है। अब आप अभ्युदय से उत्पन्न और बोध स्वरूप होगए हैं। अतः अब आप अपने प्रजापालनादि वंश-परम्परा के कार्य का मोह-रहित रूप से निर्वाह कीजिए ॥४९॥ आप सब दृश्य पदार्थों से मुक्त होकर सर्वत्र अपने यथार्थ, निर्मल आत्मा में स्थित होते हुए शान्त, निर्वाण रूप से आकाश कोश के समान तृष्णा-रहित होकर अपने राज्य का धर्म पूर्वक पालन करिये ॥५०॥



## १२१—कथा के अन्त में महोत्सव-वर्णन

इत्युक्तवत्यथ मुनौ नभसो ननाद
वर्षामृताभ्रमिव दुन्दुभिरामरो द्राक्।
शुक्लीकृताखिलककुब्वदना तुषार-
वर्षोपमा भुवि पपात च पुष्पवृष्टिः ॥१

किंजल्कजालदिवसान्तघनाङ्गरागा
वातावधूतसितकेसरगौरहारा।
पुष्पोदरोत्थमृदुसीकरशीतलाङ्गा
प्राप्ता स्वयं सुरपुरादिव पुण्यलक्ष्मीः ॥२

कल्पान्तकालकपिकम्पितशुष्कशाखा-
स्स्वर्गद्रुमात्पतितमाशु विडम्बयन्ती ।
तारागणं प्रथितभासमनल्पहास-
माशामुखप्रसृतभैरवमम्बरस्था ॥३
सा पुष्पवृष्टिरथ दुन्दुभिनादमर्ज-
त्किजल्कपुञ्जजलदा शममाजगाम ।
आपूरिताखिलसभा हिमहारिपुण्य-
पूरेण कौतुकविकासकरी क्षणेन ॥४
तानि दिव्यानि पुष्पाणि यथास्थानमधः स्थिताः ।
वसिष्ठाय नमस्कृत्वा सभ्याः संशोकितां जहुः ॥५
अहो नु मुविशात्मा नः संसारविततात्कृतेः ।
विश्रान्ताः स्मश्चिरं श्रान्ताः शुद्धा मेघा इवाऽचले ॥६
कर्मणामवधिः पूर्णो दृष्टः सीमान्त आपदाम् ।
ज्ञातं ज्ञेयमशेषेण विश्रान्ताः स्मः परे पदे ॥७

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे मुने ? वसिष्ठजी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर आकाश में वर्षाकारी मेघों की ध्वनि के समान दुंदुभियाँ बजने लगी और हिम-वर्षा के समान पुष्प-वर्षा होने लगी, जिससे सभी दिशाएँ श्वेत हो गई ॥१॥ उस वर्षा का रंग लाल केसर पुंज के समान अथवा सायंकालीन मेघों जैसा था। पुष्पों के भीतर से निकले हुए जलकण ही उनके शीतल अंग थे। वायु के द्वारा हिलते हुए श्वेत केसर ही मानों उनके मुक्ताहार थे। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता था कि पुष्प-लक्ष्मी ही साक्षात् मनुपुर रूप में उतर आई हो। २॥ वह पुष्प-वर्षा प्रलय रूपी बन्दर के द्वारा झकोरी हुई शुष्क शाखा और स्वर्ग रूपी वृक्ष से पृथिवी पर पतित तारों का, जिन्हें गिराने के लिए दिशाओं की ओर मुख करके भैरव झपटे, मन्द हास्य से मानों हंसी उड़ा रही थी ॥३॥ दुन्दुभि की ध्वनि से गर्जन करती हुए केसरराशि ही जिसका मेघ था, ऐसी पुष्पवृष्टि ने हिम के समान श्वेत पुष्पों से सम्पूर्ण सभा परिपूर्ण करदी था, वह कुछ देर में ही शान्त होगई ॥४॥ यथा स्थान बैठे हुए

सभाजनों ने उन दिव्य पुष्पों की अंजलियाँ भर-भर कर वसिष्ठजी को समर्पित कर नमस्कार किया, जिससे उनके सभी शोक नष्ट होगए ।।५।। तभी दशरथ महाराज ने विनय पूर्वक कहा—हे भगवन्! आपके उपदेश से, संसार के दुर्गम पथ से श्रान्त हुए हम परमपद में उसी प्रकार विश्राम को प्राप्त हो चुके हैं जिस प्रकार निःस्पन्द मेघ पर्वतों पर विश्राम प्राप्त करते हैं ।।६।। आपकी कृपा से हमारे कर्तव्य कर्मों की अवधि पूर्ण हो चुकी और हमारे दुःखों की चरम सीमा आ चुकी है। अब हम ज्ञेय को भले प्रकार जान कर परमपद में स्थित हैं

ध्यानलब्धपरव्योमचिरानुभवनभ्रमैः ।
धारणाधारविश्रान्त्या देहसन्त्यजनक्रमैः ।।८
सकल्पनवनिर्माणैः स्वप्नदृष्टजगज्ज्वरैः ।
शुक्तिरूप्यानुभवनैः स्वप्नात्ममृतिदर्शनैः ।।९
अनन्यैः पवनस्पन्दैरनन्यैः सलिलद्रवैः ।
इन्द्रजालपुरापूरैर्गन्धर्वनगरोत्करैः ।।१०
मायापूर्णपुराभोगैर्मृगतृष्णानदीरयैः ।
आयतो पवनस्पर्शैर्द्विचन्द्रानुभवोदयैः ।।११
मदभ्रंशपुरस्पन्दैर्मुधा त्ववनिकम्पनैः ।
बालयक्षाद्यनुभवैः खकेशोण्डुकदर्शनैः ।।१२
एवमादिभिरन्यैश्च दृष्टान्तैः स्वानुभूतिदैः ।
अहो नु मार्जिता दृश्यदृष्टिर्भगवता मम ।।१३

ध्यान जन्य अव्य व्योम में विहारादि की चिरकालीन अनुभूति के भ्रम से, धारणा से सर्वाश्रय ब्रह्म में विश्राम करने से, देहान्त के क्रमों से, सकल्प वाले नव निर्माणों से, स्वप्न में परिलक्षित संसारों के ताप से, शुक्ति रजत के अनुभव से, स्वप्न में अपना मरण देखने से, अनन्य पवन के स्पन्दनों से, अभिन्न जल के द्रवों से, इन्द्रजालात्मक पुरियों की परिपूर्णता से, गंधर्व नगरो से, माया से परिपूर्ण नगरों और मृग-तृष्णा रूपी नदी के वेगों से, सर्गोतर काल की वेगवान् झंझा के झटकों

से, द्विचन्द्रों के उदयानुभव से, मद से, नगरों के कम्पनों से, बालकों के यक्षादि के अनुभवों से, केशोण्डुक के दर्शन से तथा स्वानुभूत अन्यान्य दृष्टान्तों से आपने मेरी दृश्य-दृष्टि परिमार्जित कर दी है, इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ ॥८-१३॥

नष्टो मोहः पदं प्राप्तं त्वत्प्रसादान्मुनीश्वर।
संपन्नोऽहमह सत्यमत्यन्तमवदातधीः ॥१४
स्थितोऽस्मि गतसदेहः स्वभावे ब्रह्मरूपिणि।
निरावरणविज्ञानः करिष्ये वचनं तव ॥१५
स्मृत्वा स्मृत्वाऽमृतासेकसौख्यद वचनं तव।
अर्हितोऽपि च शान्तोऽपि हृष्यामीव मुहुर्मुहुः ॥१६
नैव मेऽद्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन।
यथास्थितोऽस्मि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरः ॥१७
उपायस्तु तथा तेन दृष्टिर्वाऽस्तीह कीदृशी।
अहो नु वितता भूमि। कष्टमेतादृशी दशा ॥१८
न शत्रुर्न च मित्रं मे न क्षेपं दुर्जनो जनः।
दुर्बोधेषा जगत्क्षुब्धा शान्ता सर्वार्थसुन्दरी ॥१९
कथमेतां जनो वेत्ति विना भवदनुग्रहम्।
विनैव सेतुं पोतं वा बालोऽब्धिं लङ्घयेत्कथम् ॥२०

श्रीराम बोले—हे मुनीश्वर ? आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैं परमपद को प्राप्त होगया हूँ। निर्मल बुद्धि से सम्पन्न होकर साक्षात् ब्रह्म ही होगया हूँ ॥१४॥ मेरे सभी सदेह नष्ट होचुके हैं और अपने स्वभावभूत ब्रह्म में स्थित होकर अज्ञान के पट से रहित होगया हूं। अब आपके आदेशानुसार सब व्यवहार करूँगा ॥१५॥ आपके उन वचनों का बारम्बार स्मरण करता हुआ, जो अमृत से सिंचन करने के समान एवं सुखदायी थे, मैं अपमानित होने पर शान्त रहता हुआ प्रसन्न के समान अवस्थित हूं ॥१६॥ आज मेरा यहाँ किसी कर्म या अकर्म से प्रयोजन नहीं है, तो भी मैं सब संतापों से मुक्त रहता

हुआ पहले के समान ही मैं अपने व्यवहार में स्थित हूँ ॥१७॥ उन उपायों के द्वारा किस दृष्टि से देखा जाय, जबकि यह संसार-दशा कष्ट देने वाली है, अहो ! मुझे तो ( उससे भिन्न ) अधिक विस्तार वाली भूमि ( अर्थात् सुखदायिनी भूमि ) प्राप्त हो गई है ॥१८॥ न कोई मेरा शत्रु है, न मित्र है, न क्षेत्र है, न दुर्जन अथवा सज्जन है। जब तक यह आत्मचित् दुर्बोध रही, तब तक दुःखदायिनी थी, किन्तु अब बोध होने पर तो सर्वार्थ सुन्दरी होगई है ॥१९॥ आपके अनुग्रह के बिना इस ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? कभी सेतु अथवा पोत ( जहाज ) के बिना कोई बालक समुद्र को भी लाँघ सकता है ? ॥२०॥

जन्मान्तरोपचितसंशयनाशनेन
जन्मान्तरोपचितपुण्यशतोदितेन ।
जातोद्यमे मुनिवचःपरिबोधनेन
जातोऽद्य मे मनसि चन्द्र इव प्रकाशः ॥२१
ईदृश्यां दृश्यमानायां दृशि दोषदशाशतैः ।
काष्ठवद्दृह्यते लोकः स्वदुर्भगतया तया ॥२२
अहो बत महत्पुण्यं श्रुतं ज्ञानं मुनेर्मुखात् ।
येन गङ्गासहस्रेण स्नाता इव वयं स्थिताः ॥२३
संपदामथ दृष्टीनां शास्त्राणामापदां गिराम् ।
देशानामथ दृष्टानां दृष्टः सीमान्त उत्तमः ॥२४
यन्न श्रुतं ब्रह्मलोके स्वर्गे भूमितले तथा ।
कर्णौ तज्ज्ञानमाकर्ण्य यातौ मेऽद्य पवित्रताम् ॥२५
हार्दं बाह्यं च तिमिरमपमृष्टवता त्वया ।
मुने परमभानुत्वं नूनं नः संप्रदर्शितम् ॥२६

लक्ष्मणजी बोले—जन्मान्तरों की प्रवृद्ध दुर्वासनाओं से उत्पन्न संशयों के नाशक तथा जन्मान्तरों में संचित सैकड़ों पुण्यफलों को उदित करने वाले मुनिवचनों से प्रबोध को प्राप्त हुए मेरे मन में आज चन्द्रमा

के समान परमानन्ददायक आत्म-प्रकाश उदित होगया है ॥२१॥ हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार : उपदेश आत्मदृष्टि के साक्षात्कार से दृश्य रूप होने पर भी दुर्भाग्यवश रागादि में पड़ कर सैकड़ों दोषों से युक्त दशा मे क ष्ठवत् दिन-रात्रि ज नते र ते है ॥२२॥ विश्वामित्रजी ने कहा—अहो ! मुनिवर वसिष्ठजी के मुख से जो पुण्यमय ज्ञान सुना है, उसके प्रभाव से हम सहस्र बार गंगा में स्नान करने के समान पवित्र होकर स्थित हैं ॥२३॥ श्रीराम ने कहा—सम्पत्तियों के उत्कर्ष वाली आनन्दमयी दृष्टियों से शास्त्रों की चरम सीमा से विनाश रूपी आपदाओं की चरम सीमा रूपी सर्व संसार का नाश देखा जाता है और सुखविश्रान्ति के कारण रूपी प्रदेशों की चरमसीमा रूप से परम विश्रान्ति का हेतुभूत परमात्मरूप प्रदेश देखा गया है ॥२४॥ नारदजी ने कहा—ब्रह्मलोक, स्वर्ग तथा पृथिवी पर भी जो श्रेष्ठ तत्व सुनने में नहीं आया, उस ज्ञान को सुनकर मेरे श्रोत्र परम पावन होगए हैं ॥२५॥ लक्ष्मणजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ? हमारे हृदय का बाह्यान्धकार दूर हो गया है, क्योंकि आप इस सूर्य की अपेक्षा परम सूर्य हैं, जिनसे सम्पूर्ण अंधकार नष्ट हो चुका है ॥२६॥

निर्वृतोऽस्मि प्रशान्तोऽस्मि प्राप्तोऽस्मि परमं पदम् ।
चिराय परिपूर्णोऽस्मि सुखमासे च केवलम् ॥२७

बहुजन्मोपलब्धेन पुण्येनाऽयं मुनीश्वरः ।
धीरः कथितवान्नस्तद्येन पावनतां गताः ॥२८

इति तेषु वदत्स्वत्र सभ्येषु सह भूभृता ।
वसिष्ठः स उवाचेदं ज्ञानपावनया गिरा ॥२९

राजन्रघुकुलेन्दो यदहं वच्मि तत्कुरु ।
इतिहासकथान्ते हि पूजनीया द्विजातयः ॥३०

तदद्य ब्राह्मणौघांस्त्वं सर्वकामैः प्रपूरय ।
वेदार्थसमनुष्ठानफलं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥३१

मोक्षोपायकथावस्तुसमाप्तौ द्विजपूजनम् ।
शक्तितः कीटकेनाऽपि कार्यं किमु महीभृता ।।३२

शत्रुघ्नजी बोले—हे ब्रह्मन् ? आपके प्रसाद से निरतिशय आनन्द को प्राप्त हुआ मैं अत्यन्त प्रशान्त हुआ परमपद में स्थित, पूर्णकाम एवं सुखरूप हूं ।।२७।। महाराज दशरथ बोले—बहुत जन्मों के संचित पुण्यों से सम्पन्न इन गुरुदेव ने हमें जो आध्यात्मोपदेश दिया है, उससे हम पवित्र होगए हैं ।।२८।। वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ? महाराज दशरथ के सहित सब सभासद जन इस प्रकार स्तुति वचन कह रहे थे तब वसिष्ठजी ने ज्ञान से पवित्र अपनी वाणी से कहा ।।२६।। हे राजन् ? हे रघुकुलरूपी चन्द्र ? मैं जो कहता हूं आप उसके अनुसार करिये । इतिहास-कथा की समाप्ति पर द्विजों का पूजन करना उचित है ।।३०।। इसलिए आप ब्राह्मणों की सब इच्छाओं को परिपूर्ण करिये, इससे आपको वेदार्थ के श्रवण का शाश्वत फल प्राप्त होगा ।।३१।। मोक्ष की उपायभूत कथा की समाप्ति के पश्चात् कीट के समान तुच्छ दरिद्र का भी कर्त्तव्य ब्राह्मण-पूजन करने का है तो आप जैसे पृथिवीपाल के तो कहने ही क्या हैं ।।३२।।

इति मौनं वचः श्रुत्वा सहस्राणि नृपो दश ।
दुतैराकारयामास द्विजानां वेदवादिनाम् ।।३३

मथुरायां सुराष्ट्रेषु गौडेषु च वसन्ति ये ।
तेभ्यः कुलेभ्यः सोऽभ्यर्च्य समानीय द्विजन्मनाम् ।।३४
अधिकात्यधिकज्ञानप्रकृतिद्विज भोजनः ।
तदा दशसहस्राणि भोजयामास भूपतिः ।।६५

यथाभिमतभोज्यान्नदानदक्षिणया तया ।
एवं संपूज्य तान्विप्रान्पितृन्देवान्नृपांस्तथा ।।३६
पौरामात्यांस्तथा भृत्यान्दीनान्धकृपणांश्चतान् ।।
तस्मिन्दशरथो राजा दिने सह सुहृज्जनैः ।।३७

लब्धसंसृतिसीमान्तश्चकारोत्सवमुत्तमम् ।
तथा नृपगृहे तस्मिन्कौशेयमणिकाञ्चने ।।३८
भूपिते नगरे चैव गीर्वाणनगसुन्दरे ।
ननृतुर्मत्तकामिन्यो विलासिन्यो गृहे गृहे ।।३९

मुनिवर का यह वचन राजा दशरथ ने दस सहस्र वेदवादी ब्राह्मणों को दूतों के द्वारा निमंत्रित किया ।।३३।। मथुरा, सौराष्ट और गौड़ आदि देशों के श्रेष्ठ ब्राह्मणों को पूजन करते हुए उनको प्रसन्नता सहित दस सहस्र ब्राह्मणों को विधि सहित भोजन कराया ।।३४-३५।। जिसको जो इच्छा थी उसे उसके अनुसार ही भोजन, अन्न, दक्षिणा आदि के द्वारा संतुष्ट किया तथा पितरों देवताओं, राजाओं, प्रजाजनों, अमात्यों, भृत्यों, दीनजनों, अन्धे आदि अंगहीनों का सत्कार कर संसार की सीमा को प्राप्त हुए महासागर दशरथ ने सुहृद्जनों के सहित श्रेष्ठ उत्सव मनाया। उस अवसर पर रेशमी वस्त्रों मणि-रत्नों और स्वर्ण से सजाये गये सुन्दर राजभवन में और सुमेरु के समान चमकती हुई अयोध्यापुरी में, यौवन से उन्मत कामनियों के नृत्य घर घर में हुए ।।३६-३९।।

लसद्वंशलताकांस्यवीणामुरजमर्दलम् ।
ताण्डवेनोद्धतारावमन्योन्येतरशेखराः ।।४०
क्षुब्धीकृतापणकरभ्रान्तिपल्लविताम्बराः ।
मुग्धाट्टहासविक्षिप्तदन्तेन्दुकिरणच्छटाः ।।४१
मदाकुलितहुंकारा लीलासु तरलस्वराः ।
एकपादतलाघातहेलाहतधरातलाः ।।४२
स्रग्दामतारविगलत्कुसुमासारपाण्डुराः ।
धारापातितविच्छिन्नहारमुक्तास्खलत्पदाः ।।४३
लीलाभरणसाकारं कामं ननृतुरङ्गनाः ।
पेठुः स्फुटपदं विप्रा वन्दिनोऽप्यङ्गनाश्च ताः ।।४४

पपुरुत्ताण्डवं पानं पानपा मदशालिनः ।
भोज्यं बुभुजिरे चित्रं भूषिता भोजनार्थिनः ॥४५

उस नृत्य में बांसुरी कांस्यताल, वीणा, मृदंग, अर्दल आदि वाद्यों के सहित ताण्डव नृत्य की ध्वनि उठ रही थी। नृत्य करने वालियों की चोटियां आभूषणों से सजी थीं। उनके हाथों के चलायमान होने से उनके वस्त्र फैले हुए पत्तों जैसे लग रहे थे। वे अपने हास्य, अट्टहास से, हुंकार भरती हुई तरल स्वर से युक्त मुग्धा थीं। वे एक पांव के तलुए के आघात से धरातल को व्याप्त कर रही थीं। वे पुष्प-मालों के झटकने से नक्षत्रों के समान बिखरती हुई पुष्प-वृष्टियों से श्वेत थीं, जिनके पांव जलधारा के समान गिराये जाते हारों पर पड़ कर फिसलते थे। वे अपने चंचल आभूषणों से मानों कामदेव को ही मूर्त्त रूप दे रही हों, उन ललनाओं का नृत्य, विप्रों के वेदपाठ और वन्दियों के प्रशस्ति गान तथा नारियों के गायन चल रहे थे। आसवादि तथा मादक द्रव्यों का पान चल रहा था, वस्त्राभूषण से युक्त भोजनार्थी ब्राह्मणों ने विविध व्यंजनों का ग्रहण किया ॥४०-४५॥

सुधादिपरिलेपेन रञ्जिता गृहभित्तयः ।
रेजू रामेन्दुभानेन पुष्पधूपविलेपनैः ॥४६
वासांसि वसिताश्चित्राण्युत्तमस्रग्विभूषणाः ।
चेरुः परिचराश्चेट्यश्चारुगन्धा नृपाध्वरे ॥४७
देहयष्टिषु संयोज्य वनिता यक्षकर्दमम् ।
जग्मुस्ताण्डवनर्तक्यः शृङ्गारात्माङ्गणान्तरम् ॥४८
भवबहुलनिशावसानहर्षा-
दिति घनमुत्सवमेव सप्तरात्रम् ।
दशरथनृपतिः सदानभोग-
श्रियमकरोत्पदमक्षयं समेता ॥४९

चूर्णक आदि से पुत कर स्वच्छ हुई घरों की भीतें, राम रूपी चन्द्रमा की देह-कान्ति रूपी ज्योत्स्ना से पुष्पों और रंगों के लेप से तथा

धूप से चमचमा रहीं थीं ॥४६॥ राजा दशरथ के उस उत्सव रूपी यज्ञ में विभिन्न प्रकार के परिधान धारण किये, और श्रेष्ठ मालाओं से विभूषित तथा मनोहर सुगन्ध से समन्वित परिचर और परिचारिकाएँ इधर-उधर चल फिर रहीं थीं ॥४७॥ कपूर, कस्तूरी, चंदन आदि से चर्चित देह वाली ताण्डव नृत्य करती हुई रमणियां अत्यंत सुमज्जित राजसभा के दूसरे आंगन में पहुँचीं ॥४८॥ बोध रूपी सूर्य के उदित होने पर अविनाशी पद को प्राप्त हुए महाराज दशरथ ने विश्वरूपी कृष्णपक्ष की रात्रि की समाप्ति से उत्पन्न प्रसन्नता के कारण दान, भोग और ऐश्वर्य से सम्पन्न महोत्सव निरन्तर सात रात्रि तक किया ॥४६॥



## १२२—शिष्यों द्वारा आत्मनिवेदन

एतत्ते कथितं राजन्कुम्भयोनेः सुभाषितम् ।
अमुना तत्त्वमार्गेण तत्पदं प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥१
भगवन्भवतो दृष्टिर्भवबन्धविनाशिनी ।
आलोकितो यया चाऽहमुत्तीर्णोऽस्मि भवाम्बुधेः ॥२
इत्युक्त्वाऽसौ ततो राजा विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
उवाच वचनं मां तु मधुरं श्लक्ष्णया गिरा ॥३
देवदूत नमस्तुभ्यं कुशलं चाऽस्तु ते विभो ।
सतां साप्तपदं मैत्रमित्युक्तं तत्त्वया कृतम् ॥४
इदानीं गच्छ भद्रं ते देवराजनिवेशनम् ।
अनेन श्रवणेनाऽहं निर्वृतो मुदितोऽपि च ॥५
श्रुतार्थं चिन्तयन्नत्र स्थास्यामि विगतज्वरः ।
इत्युक्तोऽहं ततो भद्रे परं विस्मयमागतः । ६
न श्रुतं पूर्वमेवैतज्ज्ञानसारं श्रुतं मया ।
तेनैव मुदितश्चाऽन्तः पीतामृत इवाऽधुना ॥७

वाल्मीकजी बोले—हे राजन् । मुनिवर वसिष्ठ का राम से और अगस्त्य का सुतीक्ष्ण से कहा हुआ यह उपदेश मैंने आपको सुनाया है, इस तत्वमार्ग के द्वारा आप उस सत्य पद को प्राप्त होंगे ॥१॥ राजा ने कहा—हे भगवन् ! आपकी भवरूपी बंधन को काटने वाली दृष्टि से मैं भवसागर से पार होगया हूं ॥२॥ देवदूत बोला—ऐसा कहकर राजा के नेत्र विकसित होगये और वह मधुर वाणी में कहने लगे ॥३॥ हे देवदूत ! हे विभो ! तुमको नमस्कार है, तुम्हारा कल्याण हो, सज्जनों की मैत्री सात कदम तक चलती है, यह कथन आपने चरितार्थ कर दिया ॥४॥ अब आप देवराज के भवन में जाइये आपका कल्याण हो । मैं भी इस कथा को सुन कर सब तापों से शून्य और अत्यन्त मुदित होगया हूं ॥५॥ अब मैं सब तापों से शून्य हुआ मुनि-मुख से श्रवण किये अर्थ का चिन्तन करता हुआ यहीं रहूँगा । राजा के इस प्रकार कहने पर मैंअत्यन्त विस्मय में डूब गया ॥६॥ यह पहिले कभी भी ना सुना हुआ शास्त्र सत्संगवश ही सुन सका हूं । इसके द्वारा प्रसन्न अन्त. करण वाला हुआ मैं अमृत पीकर तृप्त हुए के समान ही परितृप्त हो गया हूं ॥७॥

ततो वाल्मीकिमापृच्छ्य आगतोऽस्मि त्वदन्तिके ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं त्वया पृष्टं ममाऽनघे ।
इतः परं गमिष्यामि शक्रस्य सदनं प्रति ॥८॥
नमोऽस्तु ते महाभाग देवदूत त्वया मम ।
श्राविताद्थं विज्ञानात्परां निर्वृतिमागता ॥९
कृतार्था वीतशोकाऽस्मि स्थास्यामि विगतज्वरा ।
इदानीं गच्छ भद्रं ते यथेच्छं शक्रसंनिधौ ॥१०
ततः सा सुरुचिः श्रेष्ठा तमेवाऽर्थमचिन्तयत् ।
स्थिता सा हिमवत्पृष्ठे समीपे गन्धमादने ॥११
कच्चिदेतच्छ्रुतं पुत्र वसिष्ठस्योपदेशनम् ।
तत्सर्वमवधार्याऽथवयथेच्छसि तथा कुरु ॥१२

स्मृतिर्वाग्दृष्टिसत्ता च स्वप्ने वन्ध्यासुतेऽजले ।
मरीचिका यथा तद्वज्ज्ञानात्सांसारिकी स्थितिः ॥१३
मम नाऽस्ति कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः ॥१४

हे अनघ ! फिर वाल्मीकिजी से अनुमति लेकर मैं तुम्हें सदुपदेश देने के लिए तुम्हारे पास आया हूँ और तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे चुका हूँ । अब मैं इन्द्र भवन की ओर जारहा हूँ ॥८॥ अप्सरा ने कहा—हे महाभाग ! हे देवदूत ! तुमको नमस्कार है तुम्हारे द्वारा सुनाये हुए इस शास्त्र को सुनकर मैं भी दुःख शोक-रहित सुख में विश्रान्ति को पागई हूं, सभी ताप मुझसे दूर होगए हैं । अब तुम अपनी इच्छानुसार देवराज के पास जाओ, तुम्हारा कल्याण हो ॥९-१०॥ अग्निवेश्य ने कहा—फिर सुरुचि नाम की वह अप्सरा गन्धमादन के निकट हिमालय की पीठ पर बैठ कर देवदूत के उपदेशानुसार तत्वार्थ का चिन्तन करने लगी ॥११॥ हे पुत्र ! क्या तुमने मुनि वसिष्ठ का वह उपदेश सुना ? मोक्ष का साधना कर्म है अथवा ज्ञान ? तुम्हारे उस संशय का समूल नाश होचुका, अब तुम अपनी इच्छा के अनुसार करो ॥१२॥ कारुण्य बोला—हे भगवन् ! विषयों से मेरी स्मृति, वाणी और दृष्टि स्वप्न में दिखाई पड़ने वाले वन्ध्या-पुत्र के समान विषय-रहित होगई है । मरीचिका के समान मेरी सांसारिक स्थित होगई और मैं सब प्रकार के संदेहों से शून्य होचुका हूं । इस जगत् में मेरा कर्म या ज्ञान, किसी से भी कुछ प्रयोजन नहीं है । अब मैं यथा प्राप्त के अनुकूल व्यवहार करता रहूंगा, क्योंकि कर्म त्याग में ही मेरा क्या आग्रह है ? ॥१३-१४ ।

इत्युक्त्वा नाम कारुण्य अग्निवेश्यसुतः कृतो ।
प्राप्तकर्मा यथान्याय काले काले ह्युपाहरत् ।' १५
सदेहोऽत्र न कर्तव्यः सुतीक्ष्ण ज्ञानकर्मणि ।
संशयाद्भ्रश्यते स्वार्थात्संशयात्मा विनश्यति । १६

एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यमनेकार्थैकबोधनम् ।
नमस्कृत्य गुरुं प्राह अन्तिके विनयान्वितः ॥१७
नष्टमज्ञानतत्कार्यं प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम् ।
साक्षिणि स्फुरिताभासे ध्रुवे दीप इव क्रियाः ॥१८
मति यस्मिन्प्रवर्तन्ते चित्तहाः स्पन्दमूर्तयः ।
कटकाङ्गदकेयूरनूपुरैरिव काञ्चनम् ॥१६
पयसीव तरङ्गाली यस्मात्फुरति दृश्यभूः ।
तदेवेदं जगत्सर्वं पूर्णं पूर्णं व्यवस्थितम् ॥२०

अगस्ति ने कहा—अग्निवेश्य-पुत्र कारुण्य ने कह कर जब-जब जिस-जिस कर्म की आवश्यकता हुई, वही यथा न्याय करने लगा ॥१५॥ हे सुतीक्ष्ण ! ज्ञान और कर्म के विषय में कुछ सन्देह करना उचित नहीं है, क्योंकि संशय वाला जीव परामर्थरूपी स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। कहा गया है कि संशयात्मा विनाश को प्राप्त होता है ॥१६॥ मुनि अगस्त्य का यह वाक्य सुनकर सुतीक्ष्ण ने विनयपूर्वक नमस्कार करके गुरुजी से निवेदन किया ॥१७॥ सुतीक्ष्ण बोला—हे भगवन् ! आपकी कृपा से मेरा ज्ञान नष्ट होकर श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति होगई है। जैसे रंगशाला में दीपक के प्रकाश में ही अभिनयादि क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही ब्रह्म के स्वयं ज्योति होने से सब स्पन्दमूर्तियां तथा क्रियाएँ होती हैं। जैसे स्वर्ण ही कटक, अंगद, केयूर और नूपुरादि आभूषणों के रूप में या जल ही तरंग रूप में स्फुरित होता है, वही यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् पूर्ण रूप से व्यवस्थित है ॥१८-२०॥

यथाप्राप्तोऽनुवर्तीमि को लङ्घयति सद्वचः ।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन ज्ञातज्ञेयोऽस्मि संस्थितः ॥२
कृतार्थोऽहं नमस्तेऽस्तु दण्डवत्पतितो भुवि ।
गुरोरुत्तीर्णता केन शिष्याणामस्ति कर्मणा ॥२
कायवाङ् मानसा तस्माच्छिष्यैरात्मनिवेदनम् ।
गुरोरुत्तीर्णता सव न ऽन्या केनाऽपि कर्मणा ॥२३

स्वामिस्तव प्रसादेन उत्तीर्णोऽहं भवाम्बुधेः।
आपूरितजगज्जालं स्थितोऽस्मि गतसंशयः ॥२४

यत्सर्वं खल्विदं ब्राह्म तज्जलानित च स्फुटम्।
श्रुत्वा ह्युदीयते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥२५

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति
द्वन्द्वातीतं गगनसदृश तत्त्वमस्यादिलक्षणम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवसिष्ठं नताः स्मा ॥२६

इसलिए जब जैसा प्राप्त होता है, वैसे ही व्यवहार का मैं अनुसरण करता हूँ। सद्वचनों का उल्लंघन कौन कर सकता है? हे भगवन्! आपके प्रसाद से मैं ज्ञेय तत्व को जान कर भले प्रकार स्थित हूँ ॥२१॥ हे गुरो! मैं भूमि में दण्ड के समान गिर कर आपको नमस्कार करता हूँ। गुरु के उपकार से शिष्य किस प्रकार उऋण हो सकते हैं? उन्हें तो शरीर वाणी और मन से गुरु के सम्मुख आत्मा-निवेदन कर देना चाहियें, वही गुरु के उपकार से उऋण होना है, अन्य किसी भी कर्म से उऋण होना संभव नहीं है ॥२२-२३॥ हे स्वामिन्! आप की कृपा से मैं भव-वारिधि से पार हो गया और संशय-विहीन होकर जगत्-जाल को पूर्णानन्द से व्याप्त करके स्थित हूँ ॥२४॥ जो ब्रह्म अधिकारी जनों के लिए प्रत्यक्ष रूप से उपदिष्ट हैं, उस रूप वाले ब्रह्मात्मा के लिए नमस्कार है ॥२५॥ परम सुख के देने वाले ब्रह्मानन्द रूप, अद्वितीय ज्ञान मूर्ति, द्वन्द्वों से शून्य, आकाश के समान स्वच्छ, तत्वमसि आदि वाक्यों के लक्ष्यरूप, एक, नित्य, विमल, अचल, सब बुद्धियों के साक्षी, भव से अतीत तीनों गुणों से रहित उन महामुनि वसिष्ठजी को नमस्कार है ॥२६॥

---